© प्रकाशक

उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी

लखनऊ

प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशन संस्थान मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली द्वारा प्रकाशित श्री डब्ल्यू० डी० ह्विटने की अंग्रेजी पुस्तक Sanskrit Grammar द्वितीय संस्करण सन् १९६९ का हिंदी अनुवाद।

द्वितीय भाग
प्रथम संस्करण
१९७१

प्रथम भाग मूल्य : [redacted] रुपये
द्वितीय भाग मूल्य : [redacted] रुपये

मुद्रक
जीवन-शिक्षा मुद्रणालय
गोलघर, वाराणसी

प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (१९६४-६६) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने १९६८ में शिक्षा संबंधी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और १८ जनवरी, १९६८ को संसद के दोनों सदनों द्वारा इस संबंध में एक संकल्प पारित किया गया। उस संकल्प के अनुपालन में शिक्षा एवं युवक-सेवा-मंत्रालय भारत सरकार ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्व-विद्यालय-स्तरीय पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया। उस कार्यक्रम के अंतर्गत भारत सरकार की शत-प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रंथ अकादमी की स्थापना की गयी। इस राज्य में भी विश्वविद्यालय स्तर की प्रामाणिक पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए हिंदी ग्रंथ अकादमी की स्थापना ७ जनवरी, १९७० को की गयी।

२—प्रामाणिक ग्रंथ-निर्माण की योजना के अंतर्गत यह अकादमी विश्व-विद्यालय स्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्य पुस्तकों को हिंदी में अनूदित करा रही है और अनेक विषयों में मौलिक पुस्तकों की भी रचना करा रही है। प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

३—उपर्युक्त योजना के अंतर्गत वे पांडुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही हैं जो भारत सरकार की मानक ग्रंथ-योजना के अंतर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अभिकरणों द्वारा तैयार की गयी थीं।

४—प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अंतर्गत इस अकादमी द्वारा दो भागों में मुद्रित करायी गयी है। इसका अनुवाद डॉ० मुनीश्वर झा ने किया है और इसका विषय-संपादन प्रो० पी० एन० पट्टाभिराम शास्त्री द्वारा किया गया है। इस सहयोग के लिए उ० प्र० हिंदी ग्रंथ अकादमी उनका आभार मानती है।

५—मुझे आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर न केवल विद्यार्थियों वरन् शिक्षकों द्वारा भी होगा। उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए हिंदी में मानक ग्रंथों के अभाव की बात कही जाती रही है। इस योजना से इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिंदी में परिवर्तित हो सकेगा।

अध्यक्ष

उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्रस्तावना

हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रंथ अधिक-से-अधिक संख्या में तैयार किये जायँ। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ में सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य-सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करा रहा है, प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा-संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

'संस्कृत व्याकरण' नामक पुस्तक आयोग द्वारा प्रस्तुत की जा रही है, इसके मूल लेखक श्री डब्ल्यू डी० ह्विटने और अनुवादक डॉ० मुनीश्वर झा हैं। आशा है, भारत सरकार द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

जी० जे० सोमयाजी

नई दिल्ली,

अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

प्राक्कथन

प्रथम संस्करण

जून १८७५ में एक या दो दिनों के लिए लिप्जीग में रहने का अवसर जब मुझे मिला, तो ब्रीटकाप्फ और हार्टेल महोदयों द्वारा आयोजित भारत-यूरोपीय पुस्तक-माला में संस्कृत व्याकरण की रचना प्रस्तुत करने के लिए अप्रत्याशित ढंग से मुझे आमंत्रण मिला। थोड़े चिंतन के वाद और मित्रों से विचार-विमर्श करने के वाद मैंने भार स्वीकार किया, और तव से नियमित कार्यों का संपादन कर अवशिष्ट समय को, पूर्व स्वीकृत दायित्वों को सँभालकर, मैंने इसमें लगाया है। यों तो विलंब दीर्घकालिक प्रतीत होता है, पर यह अपरिहार्य्य था, तथा मैंने जान-बूझकर प्रस्तुत ग्रंथ के हित में इसे और भी अधिक अर्से का वनाया है। इस प्रकार की प्रत्येक स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि वर्तमान परमावश्यकता की समुचित पूर्ति तथा अधिक समय लेकर विषय के प्रति अपेक्षाकृत पूर्णतर न्याय, दोनों में समन्वय किया जाय, और यह जान पड़ा कि तात्कालिक व्यवहृत पुस्तकों में—जिनमें कुछ अनेक दृष्टियों से उत्तम कोटि की हैं—यत्किंचित् भिन्न स्तर पर संस्कृत व्याकरण की रचना प्रस्तावित ग्रंथ का अविलंब प्रणयन लेकर अपेक्षित थी।

इस व्याकरण के प्रस्तुतीकरण में निम्नलिखित उद्देश्य विशेष रूप से ध्यान में रहे हैं :—

(१) मुख्य रूप से भाषा के तथ्यों को उपस्थित करना, जिस प्रकार साहित्य में ये स्वतः प्रयुक्त देखे जाते हैं, तथा गौण रूप से जैसा कि ये देशी वैयाकरणों द्वारा रखे गये हैं। प्राचीनतम यूरोपीय व्याकरण विषय के प्रयोजन के चलते अपने देशी पूर्ववर्तियों पर मुख्यतः आधृत हैं और इस प्रकार एक पारंपरिक प्रणाली वन गयी है जिसका पालन स्पष्टता और समानुपातिकता की एवं वैज्ञानिक तथ्य को भुलाकर प्रायः यत्किंचित् पूरी तत्परता से हुआ है। फलतः, भारतीय संप्रदायों के व्याकरण शास्त्र के गंभीरतर अध्ययन के प्रति मेरा ध्यान नहीं गया है : इनके नियमों को मैंने पाश्चात्य शिक्षार्थियों के लिए उपलब्ध पाश्चात्य व्याकरणों के अनुरूप रखा है।

(२) उपस्थापन में प्राचीनतर भाषा के रूपों और रचनाओं को, जिस प्रकार वेद और ब्राह्मणों में प्राप्त हैं, सम्मिलित करना भी। ग्रासमैन वाला

ऋग्वेद की उत्तम शब्दानुक्रमणी और अथर्ववेद लेकर मेरी अपनी पाण्डुलिपि से (जिसे शीघ्र प्रकाशित करने की आशा मैं करता हूँ)[1] वैदिक सामग्री का विपुल अंश पूर्ण विस्तार के साथ मुझे उपलब्ध हुआ है, और जिसको मैंने छात्रों और मित्रों के अल्प सहयोग लेकर अन्य वैदिक ग्रंथों और ब्राह्मण काल की विभिन्न पुस्तकों से, मुद्रित और हस्तलिखित दोनों ही, यथासंभव पूर्ण करने का प्रयत्न किया है।

(३) भाषा को सर्वत्र स्वरयुक्त जैसा मानना। संस्कृत स्वराघात की प्रकृति, संयोग और रूप-विधान लेकर उसके परिवर्तन और शब्दविशेषों का सुर, उनके संबंध में जो कुछ ज्ञात है, उसके किसी अंश को यहाँ नहीं छोड़ा गया है—इन सबमें प्राचीनतर स्वचिह्नित ग्रंथों द्वारा प्रतिपादित तथ्य को विशेष रूप से आधार बनाया गया है।

(४) सभी उल्लेखों, वर्गीकरणों तथा अन्य विवरणों को भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों के संगत रूप में ढालना। इस प्रक्रिया में संस्कृत व्याकरण के चिरप्रयुक्त और सुपरिचित वर्गों और शब्दों के कुछ का परित्याग आवश्यक हो गया है—उदाहरणार्थ,—"विशिष्ट कालों" और "सामान्य कालों" के नामकरण और वर्गीकरण (जो इतना अप्रामाणिक है कि इसके इतने दिनों तक सुरक्षित रहने पर किसी को आश्चर्य मात्र हो सकता है), धातुरूप गणों के क्रम और पारिभाषिक शब्द विधान, पदमध्य और पदांत संधि के तथ्यों के निरूपण में पृथक्करण, इत्यादि। किंतु प्राचीन से नवीन में संक्रमण को सहज उपस्थित करने का प्रयास रखा गया है, और ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये परिवर्तन विना शर्त स्वीकृत होंगे। साथ ही, भाषा की प्रकृति के परिबोध के लिए इसके तथ्यों को नियत रूप में रखकर प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से देशी व्याकरण विशेषतः त्रुटिपूर्ण और भ्रामक हैं।

भाषा के शिक्षार्थी की व्यावहारिक आवश्यकताओं की ओर नियमतः ध्यान रखा गया है, और अपेक्षित विन्यास द्वारा और छापे की विभिन्न आकृतियों के प्रयोग द्वारा ऐसा प्रयास किया गया है कि पुस्तक उसके लिए उपादेय हो, जिसका उद्देश्य मात्र श्रेण्य संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करना है, क्योंकि वे ऐसे हैं जिनमें प्राचीनतर रूप सम्मिलित नहीं हैं। यूरोपीय वर्णमाला में सभी संस्कृत शब्दों के लिप्यन्तरण की विधि, जो यूरोपीय संस्कृत व्याकरणों में सामान्य हो गयी है, वस्तुतः सर्वत्र रखी गयी है, साथ ही, यूरोपीय बड़े छापे से भिन्न अन्य किसी

१—१८८१ में यह अमेरिकी प्राच्य समिति के १२ खण्ड के रूप में प्रकाशित की गयी।

द्वारा संस्कृत के छोटे छापे को प्रस्तुत करने की कठिनाई के चलते यह लघुतर आकृतियों में ही प्रयुक्त है।

जबकि भाषा के तत्त्वों का निरूपण इस प्रकार ऐतिहासिक बनाया गया है, भाषा की ही सीमाओं के अंतर्गत मैंने अन्य संबद्ध भाषाओं के तुल्य रूपों और प्रक्रियाओं द्वारा इसे तुलनात्मक बनाने का साहस नहीं किया है। ऐसा करना, यहाँ प्रयासीकृत से विशेष, ग्रंथ को वस्तु और निर्माणकाल दोनों ही दृष्टियों से इसकी निर्धारित सीमाओं से अधिक दूर विस्तारित कर देता। इसलिए इस अंश को छोड़ने का निश्चय कर मैंने सर्वत्र नियमित रूप से ऐसा ध्यान रखा है। इसी कारण तथा अन्य कारणों से रूपों की उत्पत्तिमूलक व्याख्याएँ भी छोड़ दी गयी हैं जिनका उल्लेख प्रायः ही अपेक्षित है।

वस्तुतः व्याकरण अधिकांश रूप में अपने पूर्ववर्तियों पर आधृत होता है, और अन्य विद्वानों से प्राप्त सभी सहयोगों के विस्तृत उल्लेख की चेष्टा करना सारहीन होगा। किलहॉर्न की अत्यधिक विद्वत्पूर्ण और प्रामाणिक संक्षिप्त संचय, मोनीयर विलियम्स का पूर्ण और उत्तम ग्रंथ, बॉप का लघुतर व्याकरण (शिक्षण और विधि का एक आश्चर्य रूप, जिस समय यह प्रस्तुत किया गया था) तथा बेनफे और मूलर के ग्रंथ, इन सबों का उपयोग मैंने सर्वत्र किया है। जहाँ तक भाषा की सामग्री का प्रश्न है, वहाँ वस्तुतः बोटलिंक और रॉथ के वृहत् पीटर्सबर्ग कोष से अधिक सहयोग अन्यत्र संभव नहीं हुआ है, जो कोष संस्कृत भाषा लेकर सभी जिज्ञासाओं को नया स्वरूप देता है। जो कुछ मैंने उसमें अथवा मेरे द्वारा या मेरे लिए अन्य व्यक्तियों द्वारा बनाये विशिष्ट संग्रहों में नहीं पाया है, उसे मैंने प्रस्तुत पुस्तक में 'अनुद्धरणीय' कहा है—यह एक ऐसी सामयिक संज्ञा है जो भविष्य शोधों के परिणामस्वरूप सविस्तार सहज संशोधनीय होगी। जहाँ तक क्रिया का, उसके रूपों और उनके वर्गीकरण और प्रयोगों का संबंध है, मुझे, जैसा कि किसी को हो सकता था, डेलब्रुक से उसके अल्टीन्डिशेस् भेर्बुम् और उसके विभिन्न वाक्य-विन्यासविषयक निबंधों को लेकर सर्वाधिक सहयोग प्राप्त हुआ है। प्रोफेसर अमेरो और एडग्रेन मेरे अपने ही पुरातन छात्रों ने भी इसमें तथा अन्य विषयों में मुझे सहायता दी है, इस रूप और परिणाम में कि उसकी सार्वजनिक आभारोक्ति अपेक्षित है। पूर्वतम भाषा के शब्दरूप लेकर महत्त्वपूर्ण वस्तुविवेचन में मैंने अपने प्राक्तन छात्र प्रोफेसर लैन्मैन्न के अमेरिकी प्राच्य समिति की पत्रिका में प्रकाशित विस्तृत निबंध का (इसी ग्रंथ के समकाल प्रकाशित तथा विषय के अंत तक प्रायः, किंतु नित्य रूप से नहीं, मेरे द्वारा प्रयुक्त) प्रचुर उपयोग किया है, इस विषय में मेरा

निरूपण उसी पर आधृत है। अपने अध्यापक, बर्लिन के वेबर, के प्रति मेरे अनेक आभारों का ज्ञापन भी अपेक्षित है—उनके अन्य अनुग्रहों के साथ मैं ब्राह्मणकाल के कुछ अप्रकाशित ग्रंथों की उनके द्वारा बनायी गयी प्रतिलिपियों के, जो अन्यथा मेरे लिए अलभ्य होतीं, उपयोग के लिए उनका ऋणी हूँ, और उनकी बड़ी कृपा थी कि उन्होंने मेरे ग्रंथ को इसकी अपरिपक्व स्थिति में मेरे साथ देखा और मूल्यवान सुझावों से मुझे अनुगृहीत किया। इस अंतिम अनुग्रह के लिए मैं प्रो० डेलब्रूक को समानरूप से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने व्याकरण के प्रूफ पत्रों को जब कभी प्रेस से उपलब्ध होते थे, उसी उद्देश्य से देखने का कष्ट उठाया है। महत्त्वपूर्ण मैत्रायणी-संहिता[1] (दुर्भाग्यवश अत्यंत अपूर्ण) की जो कुछ सहायता मैंने ली है, उसके लिए डॉ० एल० फोन श्रोदर का ऋणी हूँ।

अपने ग्रंथ की त्रुटियों के विषय में, मैं समझता हूँ, किसी भी आलोचक, चाहे कठोर से कठोर भी, की अपेक्षा मैं कम सचेत नहीं हूँ। यदि कहीं अभीष्ट लक्ष्य लेकर अन्य संस्करण का सुयोग हुआ, तो मेरा प्रयास इसको परिमार्जित और परिपूर्ण करना होगा, और किसी प्रकार की शुद्धियों या सुझावों के लिए, जिनसे संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन में इसे अधिक उपयुक्त साधन बनाने का सुयोग मुझे मिलेगा, मैं कृतज्ञ बना रहूँगा।

गोठा, जुलाई १८७९। डब्ल्यू० डी० डब्ल्यू

१—अब उनके द्वारा पूर्ण रूप में प्रकाशित, १८८१-६

प्राक्कथन

द्वितीय संस्करण

इस व्याकरण के नवीन संस्करण को प्रस्तुत करने में मैंने मध्यवर्ती वर्षों में अपने द्वारा संगृहीत नवीन सामग्री[1] का, और साथ ही दूसरों द्वारा संगृहीत[2] जहाँ तक मुझे उपलब्ध हो सकी और मेरे प्रयोजन के अनुरूप बन पड़ी, उपयोग किया है, तथा विभिन्न दिशाओं से अनुकूल सुझावों का लाभ मुझे प्राप्त हुआ है, जिनके लिए मैं कृतज्ञतापूर्ण आभार ज्ञापन करना चाहता हूँ। इस प्रकार की सहायता से प्रथम संस्करण की कुछ त्रुटियों और अभावों को शोधित और स्थापित करने में ही मैं संवद्ध कतिपय विषयों को अधिक स्पष्टता के साथ उद्घाटित कर सका हूँ।

विभिन्न विद्वानों द्वारा ग्रंथ लेकर दिये गये निर्देशों की प्रयोज्यता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इसका प्रच्छेदन सर्वत्र अपरिवर्तित रखा गया है, अग्रिम निर्देश की अधिक सुविधा के लिए परिच्छेदन के उपविभाग वर्णों द्वारा (यदाकदा पूर्व वर्णाङ्कण को परिवर्तित कर) अधिक पूर्ण रूप से निर्धारित किये गये हैं, तथा परिच्छेद संख्याएँ ऊपरी हाशिये के भीतरी किनारे के बजाय वाहरी किनारे में रखी गयी हैं।

प्रकाशन के स्थान से मेरी दूरता के चलते एक से अधिक प्रूफों को देखना मेरे लिए संभव नहीं हुआ है। किंतु मेरा विश्वास है कि मेरे संशोधन में अपने संशोधन को (अन्य उपयोगी सुझावों के साथ) युक्त कर प्रो० लैन्मन्न की सदयता और मुद्रकों की सतर्कता के चलते मुद्रणालय की कुछ त्रुटियों द्वारा विरूप प्राप्त पाठ को संरक्षित करने में सहायता मिलेगी।

मेरे वश के बाहर की कुछ परिस्थितियों के चलते इस संशोधन की पूर्ति में एक या दो वर्षों का विलंब हो गया है, तथा कुछ अंशों में जितनी मेरी इच्छा थी, उससे कम यह अपूर्ण रह गया है।

न्यू-हैभेन, सेप्टे० १८८८ डब्ल्यू० डी० डब्ल्यू।

१—१८८५ में इस नवीन सामग्री का एक अंश मेरे द्वारा व्याकरण के परिशिष्ट के रूप में 'संस्कृत भाषा की धातुएँ, क्रियारूप और मूल शब्द' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है।

२—विशेष रूप से उल्लेखनीय है हाल्त्समैन्न का 'महाभारत से वस्तु-संग्रह', वह भी (१८८४ में) इस ग्रंथ के पूरक के रूप में प्रकाशित हुआ है, साथ ही बोटलिंक का 'रामायण के वृहत्तर अर्थ' से समान संग्रह।

भूमिका

भारतीय साहित्य का संक्षिप्त विवरण

यहाँ भारतीय साहित्य के इतिहास की ऐसी रूपरेखा प्रस्तुत करना अपेक्षित प्रतीत होता है जो प्रस्तूयमान व्याकरण में वर्णित भाषा के विभिन्न काल खण्डों और रूपों का एक-दूसरे के साथ संबंध, और संदर्भ में उद्‌धृत कृतियों की अवस्थिति ज्ञापित करे।

"संस्कृत" संज्ञा (**संस्कृत,** १०८७ ई०, अलंकृत, विस्तारित, परिपूर्णीकृत), जो सामान्यतः भारत की समग्र प्राचीन और धार्मिक भाषा के लिए प्रयुक्त है, अधिक उपयुक्तता के साथ उसी विभाषा की है जो स्वदेशी वैयाकरणों के परिश्रम से संस्थापित और व्यवस्थित होकर, अधिकतम समान कालखण्ड के अंतराल में यूरोप में लैटिन के समान ही, शिक्षित और पुरोहित जाति के लिखित और भाषित विनिमय-माध्यम के रूप में गत दो सहस्र वर्षों या अधिक से कृत्रिम जीवन जीती रही है; तथा जो वर्तमान काल में भी वही कार्य कर रही है। इस प्रकार एक ओर तो वह परवर्ती और व्युत्पन्न विभाषाओं से भिन्न है, उन विभाषाओं से, यथा प्राकृत, भाषा के वे रूप जिनकी तिथि निर्धार्य्य कृतियाँ ईसा पूर्व तीसरी सदी से प्राप्त हैं, और जो शिलालेखों तथा मुद्राओं से, संस्कृत रूपकों (द्रष्टव्य नीचे) में अशिक्षित पात्रों की वाणी से और सीमित साहित्य से निरूपित हैं; पालि, एक प्राकृत विभाषा जो बृहत्तर भारत में बुद्धवाद की धार्मिक भाषा बनी, और जो अब भी उसी प्रकार व्यवहृत है, और पुनः परवर्ती और परिवर्तित बोलियाँ जो आधुनिक भारत की भाषाओं का संक्रमण रूपायित करती हैं; तथा दूसरी ओर वह प्राचीनतर विभाषाओं से अथवा आचार-साहित्य, वेद और ब्राह्मण में प्रस्तुत भाषा के रूपों से अपेक्षाकृत न्यून विलक्षणता और विस्तृतता के साथ भिन्न होती है।

अभिव्यक्ति के प्रामाणिक रूप के प्राज्ञ विवरण द्वारा स्थिरीकरण का यह तथ्य, जो अब से शिक्षित वर्ग के वाग्व्यवहार में नियमानुरूप प्रयुक्त होना चाहिए, भारतीय भाषाशास्त्री इतिहास में मौलिक है, और स्वदेशी व्याकरणिक साहित्य ने जिस तरह भाषारूप निर्धारित किया है, उसी तरह उसने बहुत अंशों में यूरोपीय विद्वानों द्वारा व्याकरण-विधान को भी निश्चित किया है।

प्राज्ञ-गतिविधि के इतिहास का बहुलांश अस्पष्ट है, और प्राथमिक परिणाम से संवद्ध विधेयों को लेकर भी मत विभिन्न हैं। व्याकरण-विज्ञान के विकास की अंतिम कृतियाँ ही हमें सुरक्षित रूप में प्राप्त हैं; और यद्यपि वे स्पष्टतः प्राज्ञश्रमों की दीर्घ शृंखला के परिपुष्ट परिणाम हैं, परवर्ती अभिलेख अप्राप्य रूप से नष्ट हो गये हैं। संस्कृत के निर्माण के देश और काल अज्ञात हैं; और जहाँ तक इसके अवसर का संबंध है, हमें मात्र अपनी अनुमितियों और संभावनाओं का आश्रय लेना पड़ता है। तो भी, यह सर्वथा सहज प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीयों की व्याकरणबुद्धि पारंपरिक धर्मग्रंथों के उनके अध्ययन से और समसामयिक प्रयोग के साथ इसकी विभिन्न भाषा के साथ उनकी तुलना से प्रचुर मात्रा में जागृत हुई थी। यह निश्चित है कि उन ग्रंथों (शाखाओं, शाब्दिक अर्थ में डालो) का ध्वनिशास्त्रीय तथा अन्य व्याकरण संबंधी अध्ययन ब्राह्मण संप्रदायों में उत्साह और सतर्कता से किया गया; यह हमें अनेक ध्वनिशास्त्रीय व्याकरण-ग्रंथों के, **प्रातिशाख्यों (प्रतिशाखम्** प्रत्येक विभिन्न ग्रंथ से संवद्ध)—जिनमें प्रत्येक किसी न किसी मुख्य वैदिक ग्रंथ को आधिकारिक रूप में रखता है और उसकी रूप-संबंधी सभी विशेषताओं का निरूपण करता है—प्राप्त होने से प्रमाणित होता है; अपने ही अनुसंधानों की यथार्थता और गहनता तथा जिन प्रमाणों को वे उद्धृत करते हैं उनकी संख्या, दोनों ही रूपों से ये स्पष्टतः घोषित करते हैं कि एक जीवंत वैज्ञानिक कार्य-कलाप लंबे अर्से तक चलता रहा। दूसरी ओर प्राज्ञ-वर्ग की शुद्ध भाषा और साधारण जनता की परिवर्तित विभाषाओं के बीच भेदों की स्थिति ने इस गतिविधि में कौन-सा अंश ग्रहण किया है, यह निश्चित करना सरल नहीं है; किंतु यह व्यावहारिक नहीं है कि एक भाषा अपने संगत प्रयोगों को विधिवत् स्थिर कर ले जब तक कि इसके अंतर्गम्यमान विकारों द्वारा आपत्ति का स्पष्ट अनुभव न हो जाय।

संस्कृत व्याकरण के सामान्य संप्रदाय के प्रयास वैयाकरण पाणिनि को पाकर शिरोबिंदु पर पहुँच गये, जिनकी पाठ-पुस्तक, जहाँ भाषा के तथ्य लगभग चार हजार बीजगणितात्मक सूत्रों-जैसे नियमों (जिनके निर्देश और नियोजन में निश्चितता और असंदिग्धता को नष्ट कर मात्र संक्षिप्तता ध्यान में रखी गयी है) के अत्यधिक विलक्षण और दुर्गम्य रूप में निबद्ध हैं, आने वाले सब समय के लिए शुद्ध भाषा का प्रामाणिक, प्रायः पवित्र, आदर्श बन गयी। उनके समय के संबंध में वस्तुतः कुछ भी निश्चित और विश्वसनीय ज्ञात नहीं है; किन्तु बड़ी संभावना के साथ खिष्टीय शती से (दो से चार शतक) पूर्व किसी समय उनका होना माना जाता है। उनके अनेक टीकाकार हुए हैं और

इन व्याख्याताओं के हाथ उनके संशोधन और पूर्णीकरण थोड़ी मात्रा में हुए; किंतु वे कभी पराजित अथवा अभिभूत नहीं हुए हैं। उनकी रचना की मुख्य और सर्वाधिक प्रामाणिक टीका **महाभाष्य,** बड़ी व्याख्या, के नाम से अभिहित है जो पतंजलिकृत है।

भाषा, चाहे वह जनभाषा क्यों न हो, जो लिखने और बोलने में व्यापक और निरंतर प्रयोग लेकर आती है, मुख्यतया सीधी परंपरा, गुरु से शिष्य के प्रति संगमन और प्राप्त ग्रंथों के अध्ययन तथा अनुकरण के चलते ही, न कि व्याकरणिक नियमों के अनुगमन से, जीवंत रहती हैं; तथापि व्याकरण का नियामक के रूप में अस्तित्व, और विशेषतः एकमात्र का, जो अकाट्य और निर्देशपरक मूल्य वाला समझा जाता है, सबल नियामक प्रभाव को उत्पन्न किए बिना नहीं रह सकता। इससे जो कुछ उसके निर्देशों के प्रतिकूल होता है, चाहे शिथिल प्रयोगवाला ही क्यों न हो, उसका परिहार क्रमिक वृद्धि से हो जाता है; और साथ ही, ग्रंथों के निरंतर उत्पादन में जो कुछ उनमें उससे अविहित था, उसका क्रमिक लोप हो जाता है। इस प्रकार भारत का संपूर्ण आधुनिक साहित्य पाणिनि-प्रभावित है, कहना चाहिए कि उनके और उनके संप्रदाय द्वारा बनाये गये ढाँचे में आविष्ट है। इस प्रक्रिया की कृत्रिमता की सीमाएँ क्या हैं, यह अभी तक ज्ञात नहीं है। भारतीय व्याकरण के विशिष्ट शिक्षार्थियों का ध्यान (और विषय इतना दुर्बोध और कठिन है कि इसके ऐसे विशिष्ट अधिकारियों की, जो इस प्रकार के सामान्य तथ्यों पर प्रामाणिक विचार दे सकें, संख्या अत्यधिक न्यून है) पाणिनि के अनुरूप संस्कृत के निर्धारण की ओर या व्याकरण से भाषा की व्याख्या करने की ओर ही अभी तक सबसे मुख्य रहा है। तथा, स्वतः यथेष्ट रूप से, भारत में अथवा अन्यत्र जहाँ कहीं प्रमुख प्रयोजन भाषा को शुद्ध-शुद्ध बोलने और लिखने का है, अर्थात् यथा वैयाकरणों ने मान्यता दी है, यही प्रवृत्ति का उचित पथ है। किंतु यह भाषा को जानने का ठीक-ठीक तरीका नहीं है। ऐसा समय अविलंब आना चाहिए, अथवा ऐसा समय आ भी चुका है, जब प्रयास इसके विपरीत भाषा द्वारा व्याकरण की व्याख्या करना होगा—पाणिनि के नियमों की (जिनमें ऐसे कम नहीं हैं जो संदिग्ध या कभी-कभी विसंगत भी प्रतीत होते हैं) यथार्थता का परीक्षण यथासंभव विस्तार के साथ करना, यह निर्धारण करना कि उनके लिए कौन और कितनी प्रयोगसरणि सर्वत्र आधारभूत है, और प्रयोग-साहित्य में कौन अवशेष, जो स्वभावतः प्रामाणिक स्वरूप वाले हैं, यद्यपि उनके द्वारा अप्रामाणित हैं, बचाये जा सकते हैं।

फलतः "श्रेण्य" अथवा 'उत्तर" भापा का, यथा प्रस्तुत व्याकरण में नीचे निरंतर प्रयुक्त है, तात्पर्य उन साहित्यिक कृतियों की भाषा से है जो देशी व्याकरण के नियमों के अनुरूप लिखी गयी है—वस्तुतः समग्र ख्यात संस्कृत साहित्य। क्योंकि इसके कुछ अंश निस्संदेह पाणिनि के पूर्ववर्ती हैं, किंतु यह कहना असंभव है कि किन अंशों में या कितनी मात्रा में ये व्याकरण के समतलीकरण प्रभाव से मुक्त रहे हैं। समग्र को ही कृत्रिम साहित्य कहा जा सकता है क्योंकि यह एक ऐसे ध्वनि-रूप में (द्रष्टव्य व्याकरण, १०१ अ) लिखित है जो कथमपि यथार्थ जानपदिक और जीवंत नहीं हो सकता है। इसका प्रायः संपूर्ण अंश छंदोबद्ध है—केवल काव्य ग्रंथ ही नहीं; अपितु, आख्यान, इतिहास (यदि इस नाम के उपयुक्त किसी का अस्तित्व माना जाय) और प्रत्येक प्रकार के वैज्ञानिक ग्रंथ छंद में निबद्ध हैं; गद्य और गद्य साहित्य कठिनता से उपलब्ध हैं (मुख्य अपवाद वृहदाकार टीकाओं के अतिरिक्त थोड़े-से आख्यान हैं, यथा दशकुमारचरित और वासवदत्ता)। भाषात्मक इतिहास लेकर इसमें जो कुछ है नगण्य है, किंतु केवल शैली का इतिहास प्राप्त है और यहाँ भी अधिकांशतः कृत्रिम ह्रास, कृत्रिमता की वृद्धि और भाषा के अधिक अवांछनीय तत्त्वों का समुच्चय, यथा क्रियापदों के स्थान में कृदन्तक्रियारूपों और कर्मवाच्य रचनाओं का प्रयोग तथा वाक्यों के लिए सामासिकों का प्रतिस्थापन।

उत्तर साहित्य की ऐसी स्थिति होने से यह विशेष गुरुतर महत्त्व लेकर है कि हमें ऐसा पूर्वतर साहित्य प्राप्त है जिसके विपय में कृत्रिमता का संदेह नहीं उठता है, अथवा उठता भी है तो अल्पमात्रा में ही; यह साहित्य जनभापा का यथार्थ स्वरूप बनाये हुए है और इसमें गद्य तथा पद्य का बाहुल्य है।

भारतीय जनता की अतिप्राचीनतम साहित्यिक उर्वरता के प्रतिफलन सूक्त हैं, जिसके द्वारा उन्होंने, जबकि केवल देश के प्रवेश मार्ग का अतिक्रमण उन्होंने किया था और जब उनकी भौगोलिक परिधि सहायक नदियों से युक्त सिंधु के नदी-क्षेत्र तक ही सीमित थी, अपने देवों, प्रकृति की देव-रूप शक्तियों की स्तुति की, और उनके अपेक्षाकृत सरल पूजन की विधियों को संबद्ध किया। किस काल में ये बनाये गये और गाये गये, यह किसी प्रकार की स्थिरता के साथ निर्धारित नहीं किया जा सकता है—यह ई० पूर्व २००० तक का प्राचीन हो सकता है। मौखिक परंपरा द्वारा चिरकाल तक ये आते रहे, बड़ी सतर्कता से सुरक्षित रहे; तथा परवर्ती पीढ़ियों द्वारा योगों और अनुकरणों के चलते परिवर्द्धित हुए, निकाय निरंतर बढ़ता रहा, और आचारों, आस्थाओं और धार्मिक विधानों के परिवर्तन के परिणामस्वरूप विभिन्न ढंग से प्रयुक्त होता रहा—चुने

संदर्भों में गाये जाने पर, पूजन विधियों में अन्य तथ्य के साथ मिश्रित किये जाने पर और उत्सव की प्रयोजन-पूर्ति के लिए अल्पाधिक मात्रा में विरूपण लेकर व्यवहृत होने पर जो अमित विस्तार और गहनता को प्राप्त करता गया। और, साथ ही साथ इस इतिहास के क्रम में सूक्त-सामग्री की, विशेषतः उसके प्राचीनतम और सर्वाधिक प्रामाणिक अंश की, एक वृहत् संहिता लगभग एक हजार सूक्तों और दश हजार मंत्रों से अधिक वाली वनी, जो ऋषि-रचयिताओं और सूक्त के विषय, प्रसार और विषय के अनुसार क्रमवद्ध की गयी है। यह संग्रह **ऋग्वेद,** (ऋच्), मंत्रों या सूक्तों का वेद है। अन्य संग्रह भी पारम्परिक वस्तु के इसी सामान्य निकाय से निर्मित हुए; निस्संदेह ये परवर्ती काल के थे, यद्यपि इस काल के पारस्परिक संबंध अव तक इतने अस्पष्ट वने हुए हैं कि इनके प्रसंग में पूर्ण विश्वास के साथ हमारा कोई भी कथन संभव नहीं है। इस प्रकार, **साम-वेद,** (सामन्) गीतों का वेद, प्रायः इसके पष्ठांश को लेकर है, इसके मंत्र प्रायः सव-के-सव ऋग्वेद में भी प्राप्त हैं, किंतु यहाँ कतिपय पाठांतर हो गये हैं :—ये ऐसे मंत्र हैं जो सोम-यज्ञों के अवसर पर गाने के लिए संगृहीत हुए थे। पुनः, वे संग्रह जो **यजुर्वेद,** (यजुस्) याज्ञिक मंत्रों का वेद, की व्यापक संज्ञा से अभिहित हैं—इनमें केवल पद्य नहीं आये हैं, किंतु अनेक गद्य-वाक्य भी, प्रथम के साथ ये उसी क्रम में संयुक्त हैं–जिसमें ये व्यावहारिक दृष्टि से यज्ञों में उच्चरित होते थे, ये वस्तुतः पूजन-संबंधी संग्रह थे। इनकी विभिन्न शाखाएँ उपलब्ध हैं, जिनकी अपनी पारस्परिक विभिन्नताएँ होती हैं—**वाजसनेयि-संहिता** (यत्किंचित् दो विपय पाठ, **साध्यन्दिन** और **काण्व**) जो यदा-कदा शुक्ल-यजुर्वेद के नाम से अभिहित हैं, तथा कृष्ण यजुर्वेद के अनेक और अत्यंत भिन्न ग्रंथ, यथा **तैत्तिरीय-संहिता, मैत्रायणी-संहिता, कपिष्ठल-संहिता,** और **काठक** (अंतिम दो अव तक अप्रकाशित ही हैं)। अंत में ऋग्वेद की तरह एक और अन्य ऐतिहासिक संहिता प्राप्त है, किंतु यह मुख्यतः परवर्ती और अपेक्षाकृत न्यून प्रामाणिक सामग्री वाली है, और यह **अथर्ववेद,** अथर्वणों (आख्यानिक पुरोहित वंश) का वेद, के नाम से (अन्य अपेक्षाकृत न्यून प्रचलित नामों के अतिरिक्त) अभिहित है, यह प्रायः ऋग्वेद के आधे से अधिक मोटी है और इसमें उसी के अनुरूप विषय का कुछ भाग प्राप्त है तथा साथ ही कतिपय संक्षिप्त गद्य स्थल भी हैं। शास्त्रसंमत साहित्य में इस अंतिम संहिता को अति सामान्य रूप से वेद की संज्ञा नहीं दी जाती है, किंतु हमारे लिए ऋग्वेद के वाद यह सवों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें सूक्त-सामग्री (अथवा **मंत्र,** जैसा कि

यह गद्य **ब्राह्मण** से पृथक् उल्लिखित है) सर्वाधिक मात्रा में आती है, और भापा की दृष्टि से जो, यद्यपि अन्य की अपेक्षा कम प्राचीन है, यथार्थ वैदिक ही है। इसके दो पाठ विद्यमान हैं, जिनमें केवल एक की एकमात्र पाण्डुलिपि प्राप्त है।

उसी प्रकार की सामग्री, जो महत्त्वहीन नहीं है और जो विभिन्न काल की है (यद्यपि निस्संदेह यह मुख्यतः वैदिक उर्वरता के सर्वाधिक उत्तरकाल की होती है, तथा आंशिक रूप से संभवतया और भी अधिक नवीन काल की अनुकरणमूलक कृति है) उन ग्रंथों में छितरायी हुई है, जिनका विवरण आगे चलकर **ब्राह्मणों** और **सूत्रों**-जैसा होगा। एकत्रीकरण, परीक्षण और तुलनीकरण लेकर यह अभी वैदिक अध्ययन के परमावश्यक उपयोगों का विषय बनी हुई है।

उपर्युक्त वैदिक साहित्य के सभी मौलिक विभागों की अपनी साम्प्रदायिक शाखाएँ हैं, इनमें प्रत्येक का निजी ग्रंथ है जहाँ अन्य शाखाओं के ग्रंथों से भिन्नताएँ देखी जाती हैं—किंतु ऊपर उल्लिखित का अस्तित्व ही अब तक ज्ञात है, और दूसरों की उपलब्धि का अवसर प्रत्येक वर्ष और कम होता जाता है।

अपने धार्मिक ग्रंथों के संरक्षण को लेकर सम्प्रदायों का प्रयास अनुपम है, और इस प्रकार की सफलता उपलब्ध हुई है कि प्रत्येक सम्प्रदाय का ग्रंथ, चाहे अन्य सम्प्रदायों के ग्रंथों से इसकी विभिन्नताएँ कितनी क्यों न हों, वस्तुतः पाठांतरों के बिना प्राप्त है, अपनी सभी वैभापिक विशिष्टताओं तथा अविकृत और अभ्रांत ध्वनिशास्त्रीय रूप के अपने सूक्ष्मतम और सर्वाधिक विशिष्ट लक्षणों के साथ सुरक्षित है। यहाँ इसका उल्लेख करना प्रासंगिक नहीं है कि साम्प्रदायिकों की धार्मिक सतर्कता के साथ, किस साधन द्वारा यह निश्चितता—पाठ के रूपों, विशिष्टताओं और इनसे सम्बद्ध विवेचनों की तालिकाओं, तथा अन्य तत्त्वों में—प्राप्त हुई। प्रत्येक ग्रंथ को लेकर इस प्रकार की सतर्कता कब आरम्भ हुई, और कौन-सा मौलिक स्वरूप इसके पूर्व नष्ट हुआ अथवा इसके बावजूद लुप्त हो गया, यह निर्धारित नहीं किया जा सकता है। किंतु यह निश्चित है कि वैदिक अभिलेख प्राचीन भारतीय भापा के (साथ ही, प्राचीन भारतीय विश्वासों और संस्थानों के) स्वरूप का बहुत ही शुद्ध और विश्वसनीय चित्र सर्वोपरि उपस्थित करते हैं, उस भापा के, जो स्वाभाविक और अविकृत थी और जो श्रेण्य संस्कृत के काल से बहुत पूर्व की होती है। प्रस्तुत ग्रंथ परवर्ती से इसकी विभिन्नताओं को विस्तार में स्पष्ट करने का प्रयास करता है।

कृष्ण यजुर्वेद मंत्रों और याज्ञिक सूत्रों और वाक्यों के साथ-साथ लम्बे गद्य-खंड आते हैं जिनमें धार्मिक क्रियाएँ वर्णित हैं, उनका अर्थ और विस्तारों

का कारण और सम्बद्ध वाक्यों की सार्थकता विवेचित और व्याख्यात हैं, दृष्टान्तस्वरूप कथाएँ वर्णित या निर्मित हैं, और व्युत्पत्तिमूलक अथवा अन्य विभिन्न कल्पनाएँ प्रतिपादित हैं। इस प्रकार की विषयवस्तु **ब्राह्मण** (स्पष्टतः ब्रह्मन् या पूजन से संबंधित) कहलाती है। शुक्ल यजुर्वेद में यह संहिता या मंत्रों और वाक्यों के ग्रंथ के साथ-साथ स्वतंत्र ग्रंथ में अलग की गयी है और इसे **शतपथ-ब्राह्मण,** सौ मार्गों का ब्राह्मण कहते हैं। इसी प्रकार के अन्य संग्रह वैदिकशास्त्र की अन्य विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध प्राप्त होते हैं, और इनके लिए शाखा अथवा अन्य किसी भेदक शीर्ष को पहले जोड़कर ब्राह्मण की सामान्य संज्ञा होती है। इस प्रकार ऋग्वेद की शाखाओं के **ऐतरेय** और **कौषीतकि-ब्राह्मण** होते हैं, सामवेद के **पंचविंश** और **षड्विंश** और अन्य छोटे ग्रंथ हैं, अथर्ववेद का **गोपथ ब्राह्मण** है; सामवेद का **जैमिनीय** या **तवलकार-ब्राह्मण** हाल ही में (बर्नेल) भारतवर्ष में उपलब्ध हुआ है; **तैत्तिरीय ब्राह्मण** समाननाम वाली संहिता की तरह मंत्र और ब्राह्मण के मिश्रित का संग्रह है, किंतु परिशिष्ट-जैसा और उत्तरकाल वाला। ये ग्रंथ समान रूप से शाखाओं द्वारा आचार ग्रंथों के रूप में गृहीत हैं, और इनके अनुयायी इनको उसी बड़ी सतर्कता से सीखते हैं जो **संहिताओं** में दृष्ट हैं, और पाठ-संरक्षण लेकर इनकी स्थिति उसी प्रकार उत्कृष्ट है। कुछ अंशों में एक जैसी विषय-वस्तु इनमें प्राप्त होती है—एक ऐसा तथ्य है कि जिसके स्वरूप अभी तक पूर्णतः ज्ञात नहीं हुए हैं।

अपनी विषयवस्तु के अधिकांश की निस्सारता के बावजूद ब्राह्मण भारतीय प्रतिष्ठानों के इतिहास में अपने प्रभावों के चलते अत्यधिक उपादेय हैं; और भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से ये कम महत्त्व के नहीं हैं, क्योंकि ये बहुत अंशों में श्रेण्य और वैदिक की मध्यवर्ती भाषा का प्रतिनिधित्व करते हैं, और एक बड़े पैमाने पर गद्य शैली का आदर्श उपस्थित करते हैं, और वह भी एक ऐसी शैली का, जो मुख्यतः स्वाभाविक और सहज विकसित है और जो प्राचीनतम और सर्वाधिक प्रारम्भिक भारत-यूरोपीय गद्य है।

ब्राह्मणों के साथ समान स्वरूप वाले उत्तरकालिक परिशिष्ट ग्रंथ कभी-कभी प्राप्त होते हैं जो **आरण्यक** (आरण्यक-प्रकरण) कहे जाते हैं—यथा; **ऐतरेय-आरण्यक, तैत्तिरीय-आरण्यक, बृहद्-आरण्यक,** इत्यादि। और इनके कुछ में से, या ब्राह्मणों से भी प्राचीनतम उपनिषदें (गोष्ठियाँ, धार्मिक विषयों पर आख्यान) निकली हैं—किंतु जो प्रवर्धित होती रहीं और अपेक्षाकृत आधुनिक काल तक परिवर्धित हुई हैं। उपनिषदें उन सरणियों की एक में

आती हैं जिससे ब्राह्मण साहित्य उत्तरकालिक अध्यात्म-साहित्य में परिणत होता है।

संक्रमण की अन्य दिशा **सूत्रों** (पंक्तियों, नियमों) में सूचित है। इस प्रकार की संज्ञा वाले ब्राह्मणों के सजातीय इस दृष्टि में होते हैं कि ये वैदिक शास्त्र की शाखाओं में संबद्ध हैं और उनसे इनका नामकरण होता है, और ये धार्मिक विधियों का विवरण प्रस्तुत करते हैं—किंतु इनका विवेचन प्रक्रिया के रूप में होता है, न कि सैद्धांतिक व्याख्या के रूप में। इनमें भी विशिष्ट मंत्र या मंत्र-विषय आता है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। कहीं (**श्रौत** या **कल्प सूत्र**) ये विशिष्ट याज्ञिक विधियों को निरूपित करते हैं जो ब्राह्मणों के विषय हैं, कहीं (**गृह्य-सूत्र**) ये धार्मिक गृहस्थ के साधारण कर्त्तव्यों का निर्देश करते हैं, कहीं (**सामयाचारिक सूत्र**) ये उन सामान्य कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हैं जो मान्य आचरण के अनुरूप जीवन के लिए अपेक्षित हैं। और अंतिम दो से, या विशेषतः अंतिम से, **धर्मशास्त्रों** का सहज विकास होता है जो उत्तरकाल के साहित्य में विशिष्ट स्थान रखते हैं—इनमें प्राचीनतम और सर्वाधिक उल्लेख्य वह है जो मनु है (बहुतों के विचार में मानव वैदिक सम्प्रदाय का प्रतिफलन) के नाम से प्रसिद्ध है; जिसमें याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र और अनेक दूसरे जोड़े जाते हैं।

इस विकास के कालक्रम या रचनाओं के किसी विभाग की तिथि, विशेषरूप से किसी एक कृति की तिथि के विषय में जितना ही कम कहा जाय, उतना अच्छा है। भारतीय साहित्य के इतिहास में सभी तिथियाँ खूटियाँ हैं जो फिर से नीचे लुढ़काने के लिए खड़ी की गयी हैं। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण रचना में हमें प्राप्त होने वाले रूप तक आते-आते इतने अल्पाधिक परिमाणक परिवर्तन हुए हैं कि मूल-रचना का प्रश्न अंतिम संस्करण के साथ उलझा हुआ है। यह स्थिति उपरिनिर्दिष्ट मनु के धर्मशास्त्र की है जिसे ख्यात संस्कृत साहित्य की प्राचीनतम रचनाओं में से एक, यदि प्राचीनतम नहीं, माने जाने के लिए सप्रतिष्ठित आधार प्राप्त हैं (इसको विभिन्न ढंग से ईसा के पूर्व छः सदियों के काल से आरम्भ कर ईसा के बाद चार तक रखा गया है)। पुनः यही स्थिति और भी अधिक विलक्षण मात्रा में **महाभारत** के बृहत् पौराणिक महाकाव्य की है। इसकी मूल-रचना निस्संदेह अति प्राचीन काल की है; किंतु यह एक ऐसा ग्रंथ बन गया है जिसमें विभिन्न स्वरूप और विभिन्न काल की सामग्रियाँ आपस में गूँथ गयी हैं तब तक जब कि यह विषमरूप निकाय क्षत्रिय जाति के लिए बन गया है, जिसके संघटक खण्डों को अलग करना कठिन है। **नलोपाख्यान** और

दार्शनिक काव्य **भगवद्गीता** इसकी कथाओं में सर्वोपरि उल्लेखनीय हैं। दूसरा सर्वाधिक महनीय काव्य, **रामायण** अन्य प्रकार की रचना है : यद्यपि हमारे काल तक आते-आते इसमें भी अल्पाधिक मात्रा में परिवर्तन हुए हैं, किंतु यह मुख्यतः एक ही रचयिता (वाल्मीकि) की कृति है और यह सामान्यतया आंशिक रूप में रूपकात्मक मानी जाती है, जो दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति और प्रभुत्व का प्रतिनिधित्व करती है। इसके बाद विभिन्न काल और ग्रंथ-कारिता के कतिपय गौण महाकाव्य आते हैं, यथा **रघुवंश** (नाटककार कालिदास की कृति के रूप में स्वीकृत), **माघकाव्य**, **भट्टिकाव्य** (अन्तिम अनेक रूपनिर्माणों को जो वैयाकरणों द्वारा मान्य होते हुए भी साहित्य में स्थान प्राप्त नहीं हैं, यथासंभव प्रयोग द्वारा उदाहृत करने की व्याकरणिक प्रवृत्ति लेकर मुख्यतः लिखित है)।

पुराण, अधिकांशतः विपुलकाय वाले ग्रंथों का वृहत् वर्ग, समीचीन ढंग से वृहत् महाकाव्यों के साथ ही उल्लिखित होते हैं। ये स्वरूप में अर्थ-ऐतिहासिक और शैक्षणिक हैं, जो आधुनिक काल के हैं और गौण महत्त्व वाले हैं। वास्तविक इतिहास संस्कृत में अप्राप्त हैं, न तो इससे संबद्ध ग्रंथों में से किसी में कोई सतर्क ऐतिहासिक तत्त्व ही है।

गीतिकाव्य कतिपय रचनाओं में निरूपित हैं, जिनमें कुछ, जैसे **मेघदूत** और **गीतगोविन्द**, नगण्य कोटिक महत्त्व के नहीं हैं।

नाट्य-साहित्य और भी अधिक उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है। हिन्दुओं की नाटकीय प्रवृत्ति और क्षमता के प्रथम निदर्शन वेद के कुछ सूक्तों में प्राप्त हैं, जहाँ आधिदैविक अथवा पौराणिक स्थिति की कल्पना नाटकीय ढंग से की गयी है और संवाद-रूप में रखी गयी है। सुपरिचित उदाहरण सरमा और पणियों का यम और उसकी बहन यमीक, वसिष्ठ और नदियों का, अग्नि और अन्य देवों का संवाद हैं; किंतु परिनिष्ठित नाटक और इनके मध्यवर्ती रूप उपलब्ध नहीं हैं। परिनिष्ठित नाटक के आरम्भों का काल उस समय का है जब वास्तविक जीवन में उन्नततर और शिक्षित व्यक्ति संस्कृत का प्रयोग करने लगे और निम्नतर और अशिक्षित लोग इससे व्युत्पन्न जनप्रिय विभाषा प्राकृतों का, और उनका संवाद इसी वस्तुस्थिति को निरूपित करता है। किंतु तदनन्तर शिक्षण (इसे मिथ्या पाण्डित्य नहीं कहा जा सकता है) प्रतिष्ठित हुआ, और नया तत्त्व रूढ़ हो गया, संस्कृत व्याकरण के साथ प्राकृत व्याकरण का उदय हुआ, जिसके नियमों के अनु-सार प्राकृत संस्कृत-प्रभावापन्न बन गयी, और उपलब्ध नाटकों में से कोई भी प्राकृत के जनभाषा-प्रयोग के काल में रखा नहीं जा सकता है, उनके अधिकांश

या सबके-सब निस्संदेह उत्तरकाल के हैं । रूपक प्रणेताओं में कालिदास निर्वाध श्रेष्ठ हैं, और उनका **शकुन्तला** नाटक स्पष्टतः उनकी सर्वोत्तम कृति है । उनका काल अत्यन्त अन्वेषण और विवाद का विषय बना हुआ है; यह निस्संदेह हमारे संवत् की कुछ शताब्दियों के बाद का है । कालिदास की रचना के साथ एकमात्र उल्लेख अन्य ग्रंथ शूद्रक का **मृच्छकटी** है, वह भी संदिग्ध काल की रचना है, किंतु प्राप्त नाटकों में प्राचीनतम माना जाता है ।

आंशिक नाटकीयस्वरूप कल्पित कथा-साहित्य में प्राप्त है, जहाँ पशु क्रियाशील और भाषणशील दिखाये जाते हैं । इस विभाग का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ **पंचतंत्र** और आंशिक रूप से उसी पर आधृत, अपेक्षाकृत नवीन और जनप्रिय **हितोपदेश** (शिक्षा-सुभाषित, शुभ का शिक्षण) हैं—**पंचतंत्र,** जिसने फारसी और सामी रूपान्तरों द्वारा समग्र विश्व में अपना प्रसार पाया है और जो प्रत्येक यूरोपीय भाषा के कल्पित कथा साहित्य में महत्त्वपूर्ण अंश का योगदान करता है ।

संस्कृत वैज्ञानिक साहित्य के प्रमुख विभागों के दो, धर्मशास्त्रिक और व्याकरणिक, पर्याप्त रूप में ऊपर उल्लिखित हो चुके हैं, अवशिष्टों में सर्वाधिक प्रसिद्ध अब तक दार्शनिक है । दार्शनिक चिंतन के आरम्भ वेद के उत्तरकालिक सूक्तों के कुछ में ही देखे जाते हैं, अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में ब्राह्मणों और आरण्यकों में और पुनः विशेष रूप से उपनिषदों में । दर्शन-सरणियों के विकास और ऐतिहासिक संबंध और उनके आधार-ग्रंथों का काल ऐसे विषय हैं जो अब भी अत्यन्त अस्पष्ट बने हुए हैं । मुख्य कोटि की छः सरणियाँ हैं और ये आस्तिक मानी गयी हैं, यद्यपि मान्य धार्मिक-सिद्धान्तों के अनुरूप ये वस्तुतः नहीं होती हैं । इनमें सभी समान लक्ष्य की खोज में हैं, विभिन्न क्रमिक शरीरों की प्राप्ति की अनिवार्यता से जीवात्मा की मुक्ति तथा विश्वात्मा के साथ उसका संयोग, किन्तु साधन को लेकर जिसके द्वारा इस उद्देश्य को ये प्राप्त करना चाहती हैं, ये भिन्न होती हैं ।

हिन्दुओं की खगोल विद्या यूनानियों की विद्या की प्रतिच्छाया है, और इसका साहित्य अप्राचीन काल का है, किंतु गणितज्ञों के रूप में, अंकगणित और रेखागणित को लेकर, उन्होंने विशेष स्वतंत्रता दिखलायी है । उनकी आयुर्विद्या, यद्यपि इनके आरम्भ सहवर्ती मंत्रों के साथ औषधीय वनस्पतियों के प्रयोग को लेकर वेद काल के ही होते हैं, गौण महत्त्व वाली है, और उसका यथार्थ साहित्य कथमपि प्राचीन नहीं है ।

———

संक्षिप्त-रूप[१]

अ० प्रा०	अथर्व-प्रातिशाख्य ।	गो० ब्रा०	गोपथ-ब्राह्मण ।
अ० वे०	अथर्व-वेद ।	छा० उ०	छान्दोग्य-उपनिषद् ।
अ० सं०	अभिजात संस्कृत ।	जै० उ० ब्रा०	जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण ।
आ० गृ० सू०	आश्वलायन-गृह्य-सूत्र ।	जै० ब्रा०	जैमिनीय-ब्राह्मण ।
आपस्त०	आपस्तम्ब-सूत्र ।	त्रिभा०	त्रिभाष्य-रत्न (तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की टीका)।
आ० श्रौ० सू०	आश्वलायन-श्रौत-सूत्र ।	तै० आ०	तैत्तिरीय-आरण्यक ।
उपनि०	उपनिषद् ।	तै० प्रा०	तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य ।
ऋ० प्रा०	ऋग्वेद-प्रातिशाख्य	तै० ब्रा०	तैत्तिरीय-ब्राह्मण ।
ए०	एपीक (रामा०-महाभा०)	तै० सं०	तैत्तिरीय-संहिता ।
ऐ० आ०	ऐतरेय-आरण्यक ।	द० कु० च०	दशकुमार चरित ।
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय-ब्राह्मण ।	निरु०	निरुक्त ।
क० स० सा०	कथासरित्सागर	नैष०	नैषधीय ।
कठ० उ०	कठ-उपनिषद्	पं० ब्रा०	पंचविंश (या ताण्डय) ब्राह्मण ।
कपिष्०	कपिष्ठल-संहिता ।	पंच०	पंचतन्त्र ।
का०	काठक ।	पा० गृ० सू०	पारस्कर-गृह्य-सूत्र ।
का० श्रौ० सू०	कात्यायन-श्रौत-सूत्र ।	प्र० उ०	प्रश्न-उपनिषद् ।
के० उ०	केन-उपनिषद् ।	बौ० र०	बौटलिंक और रथ ।
कौ० ब्रा०	कौषीतकि (या शांखायन) ब्राह्मण ।	ब्रा०	ब्राह्मण ।
कौ० ब्रा० उ०	कौषीतकि-ब्राह्मण-उपनिषद् ।	बृ० आ० उ०	बृहद्-आरण्यक-उपनिषद् ।
कौ० सू०	कौशिक-सूत्र	भ० गी०	भगवद्-गीता ।
गो० गृ० सू०	गोभिलीय-गृह्य-सूत्र ।	भा० पु०	भागवत पुराण ।

१. सुविधार्थ मूल पुस्तक में दिये गये संक्षिप्त-रूपों को देवनागरी-वर्णमाला के क्रम में रखा गया है ।

महाभा०	महाभारत ।	मनु०	मनु ।
मुण्ड० उ०	मुण्डक-उपनिपद् ।	वा० सं० काण्व	वाजसनेयि-संहिता-काण्व पाठ ।
मेघ०	मेघदूत ।	विक्र०	विक्रमोर्वशी ।
मै० उ०	मैत्री-उपनिषद् ।	वे०	वेद (ऋ० वे०, अ० वे०, सा० वे०) ।
मै० सं०	मैत्रायणी-संहिता ।	वेता०	वेताल पंच-विंशती ।
या०	याज्ञवल्क्य	श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण ।
रघु०	रघुवंश	शत्रु०	शत्रुंजय माहात्म्य ।
रामा०	रामायण ।	शा० कु०	शाकुन्तल ।
रा० त०	राजतरंगिणी ।	शां० गृ० सू०	शाङ्खायन-गृह्य-सूत्र ।
रामा० महाभा०	रामायण-महाभारत	शां० श्रौ० सू०	शाङ्खायन-श्रौत-सूत्र ।
		श्वे० उ०	श्वेताश्वतर-उपनिषद् ।
ला० श्रौ० सू०	लाट्यायन-श्रौत-सूत्र ।	ष० ब्रा०	षड्विंश-ब्राह्मण ।
व० बृ० सं०	वराह-बृहत्-संहिता ।	सा० वे०	सामवेद ।
वशि०	वशिष्ठ	स्प्र०	इण्डिश स्प्रश० (बौटलिंक)
वा० प्रा०	वाजसनेयि-प्रातिशाख्य ।	हरि०	हरिवंश ।
वा० सं०	वाजसनेयि-संहिता ।	हितोप०	हितोपदेश ।

———

अ नु क्र म

संस्कृत व्याकरण

द्वितीय भाग

[क्रियारूप, वर्तमान प्रक्रिया, परोक्ष प्रक्रिया, लुङ् प्रक्रियाएँ, भविष्य प्रक्रियाएँ, धातुज विशेषण और संज्ञाएँ, प्रत्ययान्त अथवा यौगिक क्रियारूप, यौगिक और सामासिक क्रियारूप, अव्यय, सविभक्तिक शब्दों का प्रत्यय-विधान, सामासिक प्रातिपदिकों का रूप निर्माण, परिशिष्ट ।]

अध्याय—८

क्रियारूप

५२७—क्रियारूप या क्रियारूप-विधान के विषय के अन्तर्गत परिवार की अन्य भाषाओं की तरह वाच्य, काल, प्रकार, वचन और पुरुष के भेद होते हैं।

अ—पुनः, क्रिया-मूल के सरलतर या साधारण क्रियारूप के अतिरिक्त अल्पाधिक मात्रा में पूर्णतः विकसित यौगिक या व्युत्पन्न क्रियारूप प्राप्त हैं।

५२८—तिङ्-प्रयोग। ग्रीक की तरह यहाँ दो तिङ्-प्रयोग (वाच्य) होते हैं, कर्तृ और स्व, जो पुरुष-तिङ्-चिह्नों के भेद से पृथक् किये जाते हैं। यह भेद व्यापक है—ऐसा कोई कर्तृ-तिङन्तरूप नहीं है जिसका तद्रूपी स्व-तिङन्तरूप नहीं हो, और उसी प्रकार ऐसा कोई स्व-तिङन्तरूप नहीं है जिसका कर्तृ-तिङन्त-रूप नहीं हो, और यह आंशिक रूप से कालवाची कृदन्त-क्रियारूपों में (किन्तु तुमर्थरूप में नहीं) प्राप्त होता है।

५२९—भारतीय वैयाकरण कर्तृ-तिङन्तरूप को परस्मैपद, दूसरे के लिए आत्मनेपद, कहते हैं और स्व-तिङन्तरूप को आत्मनेपदम् अपने आप के लिए पद कहा जाता है—इन पदों के रूपान्तर त्रान्जितिभ और रिफ्लेक्सिम समीचीन होंगे। पुनः इस प्रकार का अभिप्रेत अन्तर वस्तुतः पर और स्व वोधक रूपों के पार्थक्य के मौलिक आधार को लेकर होता है, किन्तु भाषा की प्राप्त वस्तुस्थिति में 'परस्मै' और 'आत्मने' अर्थ की विपरीतता अनल्पमात्रा में मलिन हो गयी है, या सर्वथा लुप्त हो गयी है।

अ—रामा० महामा० में परस्मैपद और आत्मनेपद के भेद में खूब ह्रास हुआ है, पद-प्रयोग की प्रवृत्ति छन्द की आवश्यकताओं से ही परिचालित है।

५३०—कुछ क्रियाओं के रूप दोनों ही पदों में चलते हैं, कुछ के रूप केवल एक में; कभी-कभी कुछ कालों के रूप एक पद में होते हैं, तो अन्य कालों के रूप केवल दूसरे प्रकार में अथवा दोनों में, एक ही तिङ्प्रयोग में साधारणतः रूप रखने वाली क्रिया के कादाचित्क रूप अन्य तिङ्प्रयोग में मिलते हैं; और कभी-कभी क्रिया के साथ विशेष उपसर्गों के योग से तिङ्-प्रयोग परिवर्तित होता है।

५३१—आत्मनेपदरूप वर्तमान-प्रक्रिया (जिसके लिए विशिष्ट कर्मवाच्य रूपविधान होता है, दे० नीचे ७६८ मु० वि०) से अन्यत्र और कभी-कभी उस प्रक्रिया के अंतर्गत भी कर्म-भाव वाच्य के अर्थ में तथाविध प्रयुक्त हो सकते हैं।

५३२—काल निम्नलिखित होते हैं :—

१ (अ)—वर्तमान, साथ ही (२) अनद्यतन जो रूप लेकर इससे घनिष्ठ संवद्ध है और जिसमें पूर्व आगम होता है; (३) अ—परोक्ष जो अभ्यास द्वारा वना है, (वेद में इससे युक्त है, (४) तथा-कथित परिपूर्णभूत जो इससे पूर्वाश्लिष्ट आगम के साथ वना हुआ है); ५—भूत जिसके तीन विभिन्न रूप-निर्माण होते हैं—अ-सरल; आ-अभ्यस्त; (इ) सिनात्मक या पिन्ध्वनिवाला; ६—भविष्यत्, इसके साथ ७—हेतु-हेतुमद्, आगमयुक्त काल, जिसका संवंध इसके साथ वही रहता है जो अनद्यतन का वर्तमान के साथ; और ८—यौगिक, द्वितीय भविष्यत् (जो वेद में नहीं मिलता)।

अ—अनद्यतन, परोक्ष, परिपूर्णभूत और—भूत-जैसे कालों में जो भेद (प्रचलित प्रयोग के अनुसार) यहाँ किये गये हैं; ये नाम परिवार की अन्य भाषाओं, विशेष रूप ग्रीक, के तथा-कथित कालों की निर्माण-विधि के अनुरूप पड़ते हैं, इनसे सूचित काल के भेदों के अनुरूप नहीं। संस्कृत भाषा के किसी युग में अनद्यतन इम्परफेक्ट या परिपूर्ण भूत प्लुपरफेक्ट काल का भाव नहीं मिलता है, और वैदिक भाषा को छोड़कर अन्यत्र कहीं परफेक्ट-परोक्ष का ही, जहाँ एरोइस्ट-भूत में ही यह अर्थ समाविष्ट है, उत्तरकाल में अनद्यतन, परोक्ष और भूत तो अस्पष्ट भूत काल या प्रेटराइट वन गये हैं, दे० नीचे विभिन्न कालों के प्रसंग में।

५३३—**प्रकार**। प्रकार लेकर श्रेण्य संस्कृत और वेद की प्राचीनतर भाषा-और अल्प मात्रा में ब्राह्मणों की भाषा—के वीच भेद विशेषतः अधिक होता है।

अ—वेद में वर्तमान काल से उसके निश्चयार्थक रूप-विधान के अतिरिक्त विविध रूप-निर्माण वाला लेट्, विधिलिङ् और लोट् (मध्यम और अन्य पुरुषों में) प्राप्त होते हैं। ये ही तीन प्रकार, यद्यपि अपेक्षाकृत कम प्रयोग में, परोक्ष के भी मिलते हैं, और ये एँरोइस्टों से भी होते है जहाँ सरल लुङ् से विशेष पुनरावर्तन प्राप्त है। भविष्यत् में कोई प्रकार नहीं पाया जाता है (एक या दो कादाचित्क प्रयोग विलकुल अपवाद रूप होते हैं)।

आ—श्रेण्य संस्कृत में वर्तमान के निश्चयार्थक के साथ विधिलिङ् और अनुज्ञार्थ भी प्राप्त होते हैं, किन्तु जिनमें से अन्तिम के उत्तमपुरुष रूप प्राचीन लेट् के अवशेष होते हैं। इसी प्रकार लुङ् का भी यत्किञ्चित् विशिष्ट रूप विधान

वाला विधिलिङ् रूप मिलता है जिसे सामान्यतया प्रिकेटिव (या आशीर्लिङ्) कहा जाता है।

५३४—पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों की भाषा में समान रूप से वर्तमान, परोक्ष और भविष्यत् कालों में से प्रत्येक से परस्मैपदी और आत्मनेपदी कालवाची कृदन्त-क्रियारूप युग्म होता है, और वेद में ऐसे कालवाची कृदन्त-क्रियारूप लुङ् में भी प्राप्त होते हैं।

५३५—**काल-प्रक्रियाएँ**। इस प्रकार अपने साथ आने वाले प्रकारों और कालवाची कृदन्त-क्रियारूपों को लेकर काल कुछ सुनिर्दिष्ट वर्गों या प्रक्रियाओं में विभक्त होते हैं :

१—वर्तमान-प्रक्रिया—वर्तमानकाल इसके प्रकार—इसका कालवाची कृदन्त-क्रियारूप और इसका भूत-रूप जिसे हमने लङ् की संज्ञा दी है, इसके अंतर्गत होते हैं।

२—परोक्ष-प्रक्रिया—परोक्ष काल (वेद में इसके प्रकार और इसका तथाकथित परिपूर्णभूत प्रेटराइट) और इसका कालवाची कृदन्तक्रियारूप समाविष्ट हैं।

३—भूत या लुङ्-प्रक्रिया, अथवा सरल, अभ्यस्त और सिजागम वाली श्रेणियाँ—यहाँ लुङ् काल और इसके साथ उत्तरकालिक भाषा में आनेवाला इसका आशीर्लिङ् (किन्तु वेद में इसके विभिन्न प्रकार और इसका कालवाची कृदन्तक्रियारूप) आते हैं।

४—भविष्यत्-प्रक्रियाएँ—१—प्राचीन अथवा सिनात्मक भविष्यत्, अपने साथ आने वाले प्रेटराइट, हेतुहेतुमद् और अपने कालवाची कृदन्तक्रियारूप के साथ, और २—नूतन यौगिक भविष्यत्।

५३६—वचन और पुरुष। क्रिया में वस्तुतः संज्ञा के साथ वे ही तीन वचन आते हैं; यथा—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन; और प्रत्येक वचन में इसके तीन पुरुष होते हैं, उत्तम, मध्यम और अन्य। इनके सब प्रत्येक काल और प्रकार में बनते हैं, अपवादरूप लोट् वचनों के उत्तमपुरुष वे रूप होते हैं जो लेट् से प्राप्त हैं।

५३७—**क्रियामूलक विशेषण और संज्ञाएँ** :—कालवाची कृदन्त-क्रियारूप। काल-प्रक्रियाओं में आने वाले कालवाची कृदन्त क्रिया-रूपों का उल्लेख ऊपर (५३४) हो चुका है। इनके अतिरिक्त सीधे क्रिया की धातु से आने वाला कालवाची कृदन्त क्रिया रूप होता है जो व्यापक रूप से भूत और कर्म-

वाच्य (या कभी-कभी उदासीन) अर्थ वाला है। अनेक पृथक् रूप निर्माणों के भविष्यकालिक कर्मवाच्य-कृदन्त क्रियारूप या जेरन्दीभ भी बनाये जाते हैं।

५३८—**तुमर्थक कृदन्तरूप**। प्राचीनतर भाषा में अनेक प्रकार की प्रत्ययान्त भाव-वाचक संज्ञाएँ—केवल कुछ विकीर्ण स्थलों में ही काल प्रक्रियाओं से किसी प्रकार संबद्ध—तुमर्थक अथवा अर्ध-तुमर्थक भाव में प्रयुक्त हैं, अधिक समय ये चतुर्थी विभक्ति में होती हैं और कभी-कभी द्वितीया विभक्ति में, षष्ठी और पंचमी में और (खूब विरले) सप्तमी विभक्ति में। श्रेण्य संस्कृत में एकमात्र तुमर्थक रूप बच गया है जो द्वितीया विभक्तिरूप वाला है और वहाँ काल प्रक्रियाओं के साथ किसी प्रकार का संबंध नहीं है।

५३९—**पूर्वकालिक क्रियारूप**। तथा-कथित पूर्वकालिक क्रियारूप (या) तुमर्थक की तरह व्युत्पन्न संज्ञा का अपरिवर्तित रूप, सामान्य क्रिया-प्रक्रिया का अंग है जो पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों की भाषा में प्राप्त है और जो उत्तर विशेष रूप से उत्तरकाल में अतिप्रचलित है जहाँ इसके केवल दो रूप मिलते हैं—एक सरल क्रियाओं के लिए और दूसरा सामासिक क्रियाओं के लिए। इसकी प्रयोगिता निर्विभक्तिक कर्तृवाच्य कालवाची कृदन्त क्रियारूप या अनिश्चित रूप की होती है, किन्तु इसमें व्यापकरूप से भूतकाल का लक्षण भी निहित है।

अ—अन्य प्रकार का पूर्वकालिक क्रियारूप द्वितीया-विभक्ति रूप में क्रिया-विशेषण की तरह प्रयुक्त पाया जाता है, किन्तु यह पूर्वतर उत्तर दोनों कालों में विरल ही है।

५४०—यौगिक क्रियारूप। यौगिक या प्रत्ययान्त धातुरूप इस प्रकार होते हैं—(१) कर्म, भाव वाच्य, (२) यङन्त, (३) सन्नन्त और (४) णिजन्त। इनमें क्रिया-प्रकृति शुद्ध धातु में सीमित न होकर रूप विधान की सम्पूर्ण प्रक्रिया में समाविष्ट होती है। तो भी, यहाँ वर्तमान प्रक्रिया का स्वरूप स्पष्टतः देखा जाता है जो कि अल्पाधिक ढंग से सम्पूर्ण क्रियारूप में विस्तारित है, और कर्म-भाव-वाच्य इतने विशुद्ध रूप से वर्तमान प्रक्रिया में आता है कि इसका वर्णन क्रिया के रूप-विधान के उस अंश से संबद्ध अध्याय में होगा।

अ—इसी सामान्य प्रसंग में नामधातु मूलक क्रियारूप का विषय अथवा क्रिया-प्रकृतियों में संज्ञा और विशेषण प्रातिपदिकों का परिवर्तन आता है। पुनः सामासिक क्रियारूप का, जहाँ या तो धातुओं से पूर्व उपसर्गों का पूर्व योग होता है या संज्ञा और विशेषण-प्रातिपदिकों में सहायक क्रियाओं का योग। इसी प्रकार अन्त में यौगिक क्रियारूप का अथवा क्रियामूलक संज्ञाओं और विशेषणों के साथ सहायकों के शिथिलतर संयोजन का विषय आता है।

५४१—वास्तविक (क्रियार्थक या पुरुषार्थक) क्रियारूप का लक्षण इसका तिङ्-प्रत्यय है। इसीसे वचन और पुरुष को,—और आंशिक रूप से प्रकार और काल को भी—लेकर इसका स्वरूप निर्धारित होता है। किन्तु प्रकार और काल के भेद मुख्यतः काल और प्रकार प्रकृतियों के, जिनमें शुद्ध धातु के बजाय तिङ्-प्रत्यय जोड़े जाते हैं, रूप निर्माण द्वारा होते हैं।

अ—इस अध्याय में तिङ्-प्रत्ययों का सामान्य विवरण प्रस्तुत किया जायगा, और साथ ही काल-प्रकृतियों से प्रकार-प्रकृतियों के निर्माण का और आगम और अभ्यास जैसे काल-प्रकृतियों के निर्माण विधायक तत्त्वों का भी, जो एकाधिक काल-प्रक्रियाओं में प्राप्त हैं। तदनंतर परवर्ती अध्यायों में प्रत्येक काल-प्रक्रिया का स्वतंत्र विवेचन दिया जायगा और उसकी प्रकृतियों, काल और प्रकार दोनों प्रकृतियों के निर्माण की विधियाँ, और साथ ही, तिङ्-प्रत्ययों के साथ उनका संयोजन विस्तार से वर्णित और उदाहृत होंगे। पुनः परिशिष्ट इ में कुछ आदर्श क्रियाओं का सम्पूर्ण क्रियारूप व्यवस्थित विन्यास में दिखलाया जायगा।

तिङ्-प्रत्यय

५४२—क्रियामूलक रूपविधान के तिङ्-प्रत्यय, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, परस्मैपद और आत्मनेपद लेकर सर्वत्र भिन्न होते हैं। ग्रीक की तरह ये प्रत्यय एक ही पद में एक ही पुरुष के लिए सामान्यतः दो विभिन्न प्रकार के रूपों के भी हैं—एक परिपूर्ण जिसे मुख्य कहते हैं, दूसरा संक्षिप्ततर जिसे गौण कहते हैं। अपेक्षाकृत कम व्यापक भेद भी मिलते हैं जो अन्य उपाधियों पर निर्भर करते हैं।

अ—रामा० महाभा० में मुख्य और गौण परस्मैपदी तिङ्-प्रत्ययों का विनिमय, विशेषरूप से **मस्, वस्, थ** के लिए **म, व, त** का आदेश, असामान्य नहीं है।

आ—प्रत्येक पुरुष और वचन वाले तिङ्-प्रत्ययों के सभी प्रभेदों का संक्षिप्त विवरण यहाँ इस प्रकार होता है।

५४३—**एकवचन—उत्तम पुरुष**। अ—परस्मैपद में मुख्य तिङ्-प्रत्यय **मि** है। किन्तु लेट् (उत्तरकालिक लोट्) में इसकी जगह **नि** होता है; और प्राचीनतम वेद में यह **नि** कभी-कभी अनुपलब्ध है, और यह पुरुष-रूप **आ** अन्तवाला होता है (जैसा कि **आनि** का **नि** लुप्त हो गया हो)। गौण प्रत्यय वस्तुतः **म्** है, किन्तु इस **म्** से पूर्व, जहाँ काल-प्रकृति स्वतः अ अन्तवाची नहीं होती है वहाँ नियमित रूप से आने वाला, **अ** इतने नियत भाव से जुड़ता है (ऋ० वे० में **वर्म्** या **वरम्** के लिए **वम्** एकबार, और **अभूम्** मै० सं०

अवधीम् तै० सं० प्रभृति, **सनेम** तै० ब्रा० विरल असंगतियाँ हैं) कि इसे **म्** की अपेक्षा अम् प्रत्यय मानना उपयुक्त है। परन्तु लिट् में यह न **मि** है, न **म्**, इसका तिङ्प्रत्यय मात्र अ (कभी-कभी आ, २४८ इ) अथवा आ—अन्तवाली धातुओं से **औ** होता है।

आ—आत्मनेपद मुख्य तिङ्-प्रत्यय दूसरे पुरुषों के सादृश्य के आधार पर नियमित रूप से **मे** होगा। किन्तु भाषा के किसी युग में **म्** का कोई अवशेष किसी काल या प्रकार में नहीं देखा जाता हैं; अ अन्तवाली प्रकृतियों से और इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों से वर्तमान तथा परोक्ष मुख्य तिङ्प्रत्यय **ए** होता है; और इसके अनुरूप गौण प्रत्यय **इ** है जो कि अ–प्रकृतियों के अन्त्य के साथ मिलकर **ए** हो जाता है। किन्तु विधि लिङ् में इ की जगह **अ** प्राप्त है; और लेट् (उत्तरकालिक लोट्) मे **ए** के लिए **ऐ** आता है।

५४४—**मध्यम पुरुष**। अ—परस्मैपद में मुख्य तिङ् **सि** होता है जो गौण के रूप में **स्** में लघूकृत है; धातुमूलक अन्त्य व्यंजन के बाद इस **स्** के लोप के लिए दे० नीचे ५५५। किन्तु यहाँ लिट् और लोट् में अन्य रूपों के सादृश्य का पूर्ण परिहार है। लिट् तिङ्प्रत्यय नित्य रूप से थ (या था, २४८ इ) होता है। लोट् अपेक्षाकृत का नियमित है। इस तिङ्-प्रत्यय का पूर्णतम रूप धि होता है जो पुनः अधिक समय हि में क्षीण हो जाता है; और क्रियाओं की एक बड़ी संख्या में (जिनमें सभी अ-प्रकृतियाँ भाषा के प्रत्येक युग में सन्निविष्ट हैं) कोई तिङ्प्रत्यय प्राप्त नहीं है, किन्तु मात्र प्रकृति पुरुषबोधक रूप की तरह आती है। क्रियाओं के खूब छोटे वर्ग में (७२२–३) **आन** तिङ्-प्रत्यय मिलता है। एक वैकल्पिक तिङ्-प्रत्यय **तात्** भी है; और यह लोट् के दूसरे पुरुषों में भी, विकीर्ण भाव से यद-कदा प्रयुक्त होता है (द्रष्टव्य नीचे, ५७०–१)।

आ—आत्मनेपद में लट् और लिट् दोनों का मुख्य तिङ्-प्रत्यय **से** होता है। गौण का कोई प्रत्यक्ष संबंध इससे नहीं है और वह **थास्** है; और लोट् में केवल **स्व** (या **स्वा**, २४८ इ) पाया जाता है। वेद में जिसका पाठ अधिक समय सुअ की तरह अपेक्षित है। प्राचीनतर भाषा के लेट् में **से** कभी-कभी **सै** में सबलीकृत है।

५४५—अन्य पुरुष—अ—परस्मैपद मुख्य तिङ् **ति** है; गौण **त्**। धातुमूलक अन्त्य व्यंजन के बाद द्वितीय के लोप के लिए द्रष्टव्य नीचे ५५५। किन्तु लोट् में इसकी जगह एक विशिष्ट तिङ्-प्रत्यय **तु** मिलता है; और लिट् में कोई भी

विलक्षण व्यंजन नहीं रहता है, और अन्य पुरुष में वही तिङ्-प्रत्यय प्राप्त है जो उत्तम पुरुष में।

आ—आत्मनेपद मुख्य तिङ्-प्रत्यय **ते** होता है; इसका तद्रूपी गौण प्रत्यय **त** है। प्राचीनतर भाषा में लेट् का **ते** बहुधा **तै** में सवलीकृत है। लिट् में आत्मनेपद अन्यपुरुष के साथ परस्मैपद की तरह उत्तम पुरुषवाला प्रत्यय ही, उदाहरणार्थ, मात्र **ए** प्राप्त है; और प्राचीनतर भाषा में अन्य पुरुष लट् रूप अपने तिङ्-प्रत्यय के भेदक-खण्ड को बहुधा खो देता है और रूप में उत्तम पुरुष के सम हो जाता है (और मै० सं० में **अदुग्ध** के लिए **अदुह** प्राप्त है)। संभवतः अन्यपुरुष कर्मणि एवं भावे लुङ् का **इ** (८४२ मु० वि०) गौण तिङ् के रूप में इस **ए** का अनुरूपी होता है। लोट् का तिङ्-प्रत्यय ताम् (अथवा वेद में कदाचित् **आम्**) है।

५४६—**द्विवचन : उत्तम पुरुष**। परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों का उत्तम पुरुष द्विवचन रूप अपने सभी प्रभेदों के साथ तद्रूपी बहुवचन के बिलकुल अनुरूप होता है, केवल उसके **म्** के स्थान में यहाँ **व्** का आदेश है इस प्रकार, **वस्** (प्रयोग में कोई **वसि** प्राप्त नहीं है), **व, वहे, वहि, वहै**। वस्तुतः यह पुरुष रूप अपेक्षाकृत असामान्य प्रयोगवाला होता है, और **वस्** अन्तवाला कोई रूप वेद से तो उद्धरणीय नहीं है।

५४७—**मध्यम** और **अन्यपुरुष**। अ—परस्मैपद में **थस्** मध्यम पुरुष का मुख्य तिङ्-प्रत्यय होता है, और **तस्** अन्य पुरुष का; तथा **थ्** और **त्** का यह संबंध लिट् में भी प्राप्त है, और आत्मनेपदी तिङ्-प्रत्ययों की सम्पूर्ण कोटि में विद्यमान है। लिट् तिङ्-प्रत्यय मुख्य होते हैं, किन्तु स्वर जैसे **अ** के स्थान में **उ** रहता है; तथा अ का पूर्वागम इतनी नित्यता से है कि इनका स्वरूप **अथुस्** और **अतुस्**-जैसा माना जाता है। इन दो पुरुषों में मुख्य प्रत्ययों के साथ गौण तिङ्-प्रत्ययों का कोई स्पष्ट संबंध परिलक्षित नहीं होता है; ये **तम्** और **ताम्** होते हैं; और लोट् में भी ये प्रयुक्त हैं।

आ—आत्मनेपद में दीर्घ आ—किन्तु जो अ-प्रकृतियों के अ के साथ मिलकर ए हो जाता है—मध्यम और अन्य पुरुषों के सभी द्विवचन तिङ्-प्रत्ययों से पूर्व जुड़ता है, जिससे कि यह इनका अभिन्न अंश बन जाता है (**दीधीताम्** अ० वे० और **जिहीथाम्** श० प्रा० विकीर्ण विसंगतियाँ हैं)। लट् और लिट् मुख्य तिङ्-प्रत्यय **आथाम्** और **आताम्** (अथवा मूलान्त्य अ के साथ ए प्रभृति) होते हैं।

इ—ऋ० वे० में **ऐथे** और **ऐते** अन्तवाले कुछ रूप प्राप्त हैं जो स्पष्टतः लेट्

सवलीकरण के चलते **एथे** और **एते** से होते हैं (इन सवों का विवेचन विस्तार से नीचे हुआ है, द्रष्टव्य ६१५, ७०१, ७३७, ७५२, ८३६, १००८, १०४३)।

५४८—**बहुवचन-उत्तमपुरुष**। अ—परस्मैपद तिङ्-प्रत्यय का पूर्वतम रूप **मसि** होता है जो प्राचीनतम भाषा में संक्षिप्ततर **मस्** की अपेक्षा अधिक व्यवहृत है (ऋ० वे० में पाँच और एक के अनुपात से, किन्तु अ० वे० में केवल तीन और चार के अनुपात से)। श्रेण्य संस्कृत में **मस्** एकमात्र मुख्य तिङ्-प्रत्यय है; किन्तु गौण संक्षेपीकृत **म** भी लिट् और लेट् (लोट्) में मिलता है। वेद में **म** बहुधा **मा** (२४८ इ), विशेष रूप से लिट् में, हो जाता है।

आ—आत्मनेपद मुख्य तिङ्प्रत्यय **महे** है। **महि** के गौणरूप में इसका लघुभाव होता है; और दूसरी ओर लेट् (लोट्) में इसका **महै**-जैसा वृद्धिभाव (वेद में नित्य नहीं) नियमित रूप से होता है।

५४९—**मध्यमपुरुष**। अ—परस्मैपद मुख्य तिङ्-प्रत्यय **थ** होता है। गौण प्रत्यय—लोट् वाला भी—**त** (वेद में केवल एक-बार लोट् में **ता**) है। किन्तु लिट् में किसी प्रकार का भेदक व्यंजन प्राप्त नहीं होता है, और प्रत्यय मात्र अ है। वेद में संदिग्ध उत्पत्तिवाला अक्षर **न** दोनों प्रकारों के प्रत्ययों में बहुधा जुड़ता है, जिससे **थन** (यदा-कदा **थना**) और **तन** प्राप्त होते हैं। जिन रूपों में ऐसा होता है, उनका विस्तृत विवेचन नीचे विभिन्न रूप निर्माणों के अन्तर्गत होगा; प्रथम सामान्य क्रियारूप के पुरुषरूपों को छोड़कर अन्यत्र योग बहुत विरले किया जाता है।

आ—आत्मनेपद मुख्य प्रत्यय **ध्वे** है जो लिट् और लट् में प्राप्त हैं। प्राचीनतर भाषा के लेट् में यह कभी-कभी **ध्वै** में सवलीकृत है, गौण (और लोट्) तिङ् प्रत्यय **ध्वम्** (ऋ० वे० में एक बार **ध्व**) होता है; और **ध्वात्** एकवार लोट् (५००) में मिलता है। वेद में इन सब तिङ्प्रत्ययों के **व्** का विघटन **उ** में कभी-कभी अपेक्षित है और प्रत्यय द्व्यक्षर बन जाता है। इन प्रत्ययों के **ध्** के ह् में परिवर्तन के लिए देखिए ऊपर २२६ इ।

५५०—**अन्य पुरुष**। अ—परस्मैपद में पूर्ण मुख्य प्रत्यय **अन्ति** होता है, और तद्रूपी आत्मनेपद प्रत्यय **अन्ते**। आत्मनेपद गौण प्रत्यय अन्त है जिसका अनुरूप परस्मैपदी अन्त् होना चाहिए; किन्तु अन्त्य न् के सुश्राव्य विकास के चलते (२०७) इस **त्** के मात्र संदिग्ध अवशेष सुरक्षित हैं; तिङ्-प्रत्यय **अन्** होता है। लोट् में **अन्तु** और **अन्ताम्** **अन्ति** और **अन्ते** का स्थान ग्रहण करते हैं। इन सभी प्रत्ययों का आदि अ उत्तमपुरुष एकवचन वाले **अम्** के तुल्य है, जो काल प्रकृति के अन्त्य अ के बाद लुप्त हो जाता है।

आ—इसी प्रकार **अन्ति, अन्तु, अन्ते, अन्ताम्** सबके-सब अपने नासिक्य के लोप से दुर्बल हो सकते हैं, जिससे ये **अति** प्रभृति हो जाते हैं। परस्मैपद में यह दुर्बलीकरण केवल अभ्यस्त अभिन्न प्रकृतियों के (और कुछ उन धातुओं के, जो अभ्यस्त-जैसी मानी जाती हैं, ६३९ पु० वि०) के बाद होता है; आत्मनेपद में यह अ–अन्तवाली प्रकृतियों को छोड़कर अन्य सभी काल-प्रकृतियों के बाद संभव है।

इ—पुनः, परस्मैपद गौण तिङ्-प्रत्यय अन् के लिए **उस्** का (अथवा **उर्,** १६९ आ; जेन्द का सादृश्य दूसरे पक्ष में है) आदेश होता है; यह उन्हीं अभ्यास-वाली क्रियाओं में प्रयुक्त है जो **अन्ति** को **अति** प्रभृति में परिवर्तित करती हैं, और यह इस प्रकार **अन्** के दुर्बलतर समरूप की तरह होता है। यही **उस्** लिट् में, विधिलिङ् (लेट् में नहीं) अ से भिन्न अन्त्य वाली प्रकृति के लुङ् रूपों में और आ–अन्तवाली धातु प्रकृतियों के लङ् में और कुछ अन्य स्थलों में (६२१) नित्य प्रयुक्त है।

ई—भाषा के सभी युगों में आत्मनेपदी लिट् से विशिष्ट लिङ्प्रत्यय **रे** प्राप्त होता है, और इस पुरुष में मिलता-जुलता **रन्** विधिलिङ् में मिलता है। वेद में भेदक व्यंजन **र्** वाले अन्य तिङ्प्रत्ययों के भेद देखे जाते हैं, यथा **रे** (और **इरे**) और **रते** लट् में; **रत** विधिलिङ् (वर्तमान और भूत दोनों के) में; **रिरे** लिट् में; **रन्त, रन्** और **रम्** लुङों (और एक या दो लङों) में; **राम्** और **रताम्** लोट् में; **र्** दुह् के लङ् में (मै० सं०)। उत्तरकालिक भाषा में भी एक या दो क्रियाओं से (६२९) **रते, रताम्** और **रत** तीनों पाये जाते हैं।

५५१—नीचे सुविधार्थ तालिका में श्रेण्य या उत्तरकालिक भाषा में स्वीकृत प्रत्ययों का निबंधन प्रस्तुत किया जाता है; यथा अ। वर्तमान निश्चयार्थ और भविष्यत् में (तथा आंशिक रूप से अभिप्रायार्थ में प्रयुक्त होने वाले नियमित मुख्य तिङ्-प्रत्यय; और आ। अनद्यतन, हेतुहेतुमद्, लुङ्–भूत, विधिलिङ् (और आंशिक रूप से अभिप्रायार्थ) में आने वाले नियमित गौण प्रत्यय; पुनः विशेष निबंधनों में। इ—परोक्ष तिङ्प्रत्यय (प्रधान रूप से मुख्य, विशेषतः आत्मनेपद में); और ई। आज्ञार्थ तिङ्-प्रत्यय (प्रधान रूप से गौण)। उत्तम पुरुष के तथाकथित आज्ञार्थ तिङ्प्रत्ययों से पूर्व **आ** जुड़ता है जो वस्तुतः उनका एक अंश है, यों तो जहाँ अभिप्रायार्थ का प्रकार चिह्न निश्चित रूप से विद्यमान है जिससे ये व्युत्पन्न हैं।

५५२—पुनः, प्रत्ययों में से कुछ स्वरांकित हैं और कुछ स्वरहीन छोड़ दिये गये हैं। दूसरी कोटि में वे आते हैं जो किसी भी स्थिति में उदात्त नहीं होते;

प्रथम कोटि वाले क्रियाओं के अनेक वर्गों में उदात्त होते हैं, यों तो सबों में कदापि नहीं। जैसा कि देखा जायगा, स्वरहीन प्रत्यय सामान्यतया परस्मैपद एकवचन वाले होते हैं; किन्तु लोट् मध्यम एकव० में प्रत्यय स्वर युक्त होता है, तथा दूसरी ओर, परस्मैपद और आत्मनेपद लोट् उत्तम पुरुष की सम्पूर्ण कोटियों में प्रत्यय उदात्तहीन होते हैं (यह लेट्-रूपनिर्माण का लक्षण है जिसका प्रतिनिधित्व वे करते हैं)।

५५३—इस प्रकार नियमित प्रत्ययों के निवंधन यों होते हैं :

अ—मुख्य तिङ्-प्रत्यय

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	मि	वस्	मस्	ए	वहे	महे
म०	सि	थस्	थ	से	आथे	ध्वे
अ०	ति	तस्	अन्ति, अति	ते	आते	अन्ते, अते

आ—गौण तिङ्-प्रत्यय

	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	अम्	व	म	इ, अ	वहि	महि
म०	स्	तम्	त	थास्	आथाम्	ध्वम्
अ०	त्	ताम्	अन्, उस्	त	आताम्	अन्त, अत, रन्

इ—परोक्ष तिङ्-प्रत्यय

उ०	अ	व	म	ए	वहे	महे
म०	थ	अथुस्	अ	से	आथे	ध्वे
अ०	अ	अतुस्	उस्	ए	आते	रे

ई—आज्ञार्थ तिङ्-प्रत्यय

उ०	आनि	आव	आम	ऐ	आवहै	आमहै
म०	धि, हि	-तम्	त	स्व	आथाम्	ध्वम्
अ०	तु	ताम्	अन्तु, अतु	ताम्	आताम्	अन्ताम्, अताम्

५५४—सामान्यतया यह नियम विहित है कि उदात्त प्रत्यय, यदि द्व्यक्षर हो, प्रथम अक्षर पर उदात्तत्व रखता है—तथा नियत संयोजन-स्वर इस दृष्टि में प्रत्ययों के अभिन्न अंग की तरह माने जाते हैं। परन्तु निश्चयार्थ आत्मनेपद लट्

के अन्य पुरुष बहुवचन प्रत्यय अते से ऋ० वे० में अतें स्वरपात अनेक क्रियाओं में (द्रष्टव्य ६१३, ६८५, ६९९, ७१९) पाया जाता है; और अन्य प्रत्ययों में कादाचित्क प्रयोग मिलता है, यथा महे (दे० ७१९, ७३५)।

५५५—मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष एकवचन के गौण प्रत्यय जहाँ युक्त व्यंजन स्वर रहित होता है, नियत रूप से लुप्त होंगे (१५०) यदि धातु या प्रकृति जिससे ये जुड़ते हैं, हलन्त हो। तथा इस नियम का पालन सामान्यतया होता है; फिर भी नित्य भाव से नहीं। इस प्रकार :

अ—दन्त्य व्यंजन अन्तवाली धातु का अन्त्य हल् मध्यमपुरुष में युक्त स् की जगह कभी कभी लुप्त हो जाता है; और दूसरी ओर स् अन्तवाली धातु या प्रकृति अन्य पुरुष में युक्त त् के वजाय इस स् को कभी-कभी खो देती है—दोनों ही स्थितियों में स् और स् अथवा त् और त् के स्थान में स् और त् का सामान्य संबंध इन पुरुषरूपों में बना रहता है। उपलब्ध उदाहरण होते हैं—मध्यम० पुं० एकव० **अवेस्** (पर अन्यपु० एकव० **अवेत्**) √(**विद्**) ऐ० ब्रा०; अन्यपु० एकव० **अकत्**, √(**कृ**), श० ब्रा०; **अघत्**, √(**घस्**), जै० ब्रा०; आ० श्रौ० सू०; **अचकात्** √(**चकास्**) राजत०; **अशात्** √ (**शास्**), ऐ० ब्रा०; महाभा०, रामा०; **अस्रत्** √(**स्रस्**), वा० सं०; **अहिनत्** √(**हिंस्**) श० ब्रा० तै० ब्रा०, गो० ब्रा०। **अयास्** और **स्रास्** (१४६ अ) स्—लुङ् रूपों की तुलना कीजिए, जहाँ उसी प्रकार का प्रभाव परिलक्षित है; तथा पुनः **अजैत्** आदि (८८९ अ) और **यास्** (८३७) के लिए आशीर्लिङ् यात्। अन्य किसी व्यंजन का ऐसा लोप अत्यधिक विरल है; अ० वे० में—**नक्** के लिए **अभनस्**, √(**भञ्ज्**) एकबार प्राप्त है। पुनः कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ उत्तमपुरुष एकवचनरूप अन्यपुरुष के सदृश अनियमित ढंग से बना लिया जाता है, यथा—**अतृणम्** (**अतृणत्** की तरह); √ (**तृद्**) के० उ०, **अच्छिन्नम्** (**अच्छिनत्** के तुल्य) √ (**छिद्**) महाभा०; पुनः **अम्** की जगह **स्** अंतवाले उत्तमपुरुष एकवचनरूप की तुलना कीजिए, ५४३ अ।

आ—इसी प्रकार अ या इ या ई संयोजन-स्वर प्रत्यय के पूर्व कभी-कभी रखा जाता है; देखिये नीचे ६२१ आ, ६३१, ८१९, ८८०, १००४ अ, १०६८ अ।

इ—प्राचीनतर भाषा में यह इ थोड़े से विकीर्ण स्थलों में ए में परिवर्तित हो जाता है, दे० नीचे ८०४ आ, ९३६, १०६८ अ।

५५६—रूप के परिवर्तन जिन्हें धातुएँ और प्रकृतियाँ इन प्रत्ययों के साथ अपने संयोगों में प्राप्त करती हैं, विस्तार से नीचे विभिन्न रूपनिर्माणों के

अंतर्गत निर्दिष्ट होंगे। पेशगी के तौर में विशेष दृष्टि से इनमें सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण, क्रियाओं के व्यापक वर्गों में पाया जाने वाला प्रकृति के सबलतर और दुर्बलतर रूप का भेद यहाँ रखा जा सकता है, यह स्वरपात से संबद्ध है—यदि स्वरपात इस पर हो या उदात्तहीन प्रत्यय से पूर्व हो, तो प्रकृति सबलतर रूप की होती है, और यदि उदात्त तिङ्-प्रत्यय पर हो, तो दुर्बलतर रूप की होगी।

अ—निबंधन में उदात्त-रूप जैसे अंकित तिङ्प्रत्ययों में मध्यमपुरुष बहुव० का **त** वेद में बहुधा अनुदात्त माना जाता है, सुर प्रकृति पर रहता है जो सबलीकृत होती है। अपेक्षाकृत कम समय मध्यमपुरुष द्विव० का **तम्** उसी रूप में गृहीत है; अन्य प्रत्यय यदा-कदा ही। नीचे विभिन्न रूप निर्माणों के अंतर्गत विस्तृत विवेचन दिये जाते हैं।

अभिप्रायार्थक प्रकार या लेट्

५५७—(जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) अभिप्रायार्थक प्रकार के अंश ही उत्तरकालिक या श्रेण्य संस्कृत में बच गये हैं, उदाहरणार्थ, तथाकथित उत्तम पुरुष लोट् में और निषेधार्थक **मा** के बाद आगमविहीन लङ् और लङ् क्रिया-पुरुषरूपों के प्रयोग में (५७९)। किन्तु प्राचीनतम भाषा में यह अत्यधिक प्रचलित रूप था, जो ऋ० वे० में विधिलिङ् की अपेक्षा तीन या चार गुना अधिक सामान्य है, और लगभग यही स्थिति अ० वे० में है; किन्तु ब्राह्मणों में ही यह अपेक्षाकृत असामान्य हो जाता है। इसके रूप प्रभेद खूब होते हैं और कभी-कभी भ्रामक।

५५८—इसके सामान्य और नियमित रूपनिर्माण मे एक विशिष्ट प्रकार-प्रकृति लेट् के लिए काल-प्रकृति में अ जोड़कर बनाई जाती है, जो अ काल-प्रकृति के अन्त्य **अ** से मिलकर **आ** अंतवाली होती है। स्वरपात काल-प्रकृति पर होता है, जो फलतः सबलरूप है। इस प्रकार सबल वर्तमान-प्रकृति **दोह्** √(दुह्) से लेट्-प्रकृति **दोह** बनती है; **जुहो** √(हु) से **जुहव**; **युनज्** √(युज्) से **युनज**; **सुनो** √(सु) से **सुनव**, **भव** √(भू) से **भवा**; **तुद** √(तुद्) से **तुदा**, **उच्य** (कर्मवाच्य, √(वच्) से **उच्या** इत्यादि।

५५९—इस प्रकार बनी हुई प्रकृति के रूप सामान्यतया उसी ढंग से चलते हैं जिस तरह अ-प्रकृति के रूप निश्चयार्थ में; वहाँ नियत उदात्त होता है और उत्तम पुरुष के प्रत्ययों से पूर्व अ के लिए आ (७३३ ओ) होता है—किन्तु प्रत्यय प्रभृति लेकर निम्नलिखित विशिष्टताएँ होती हैं।

५६०—अ—परस्मैपद उत्तम पुरुष एकव० में नि प्रत्यय-जैसा आता है।

यथा—दोंहानि, युनंजानि, भंवानि। किन्तु ऋ० वे० में कभी-कभी केवल आ प्राप्त जैसे—अंया, ब्रंवा।

आ—उत्तमपुरुष द्विव० उत्तम० वहुव० और अन्य वहुव० में तिङ्-प्रत्यय गौण होते हैं; यथा—दोंहाव, दोंहाम, दोंहन्; भंवाव, भंवाम, भंवान्।

इ—मध्यम० और अन्य० द्विव० में और मध्यम० वहुव० में प्रत्यय मुख्य होते हैं। यथा—दोंहथस्, दोंहतस् दोंहथ; भंवाथस्, भंवातस्, भंवाथ।

ई—मध्यम० और अन्य० के एकव० में प्रत्यय या तो मुख्य होते हैं या गौण। यथा—दोंहसि या दोंहस्, दोंहति या दोंहत्; भंवासि या भंवास्, भंवाति या भंवात्।

उ—यदा-कदा, दोहरे प्रकार-चिह्न अ (अ-अन्तवाली काल-प्रकृतियों से बने अतिसंख्यक लेट्-रूपों के सम होने से) के साथ रूप अ-प्रकृतियों से भिन्न प्रकृतियों द्वारा प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, अस् से अंसाथ; ए √(इ) से अंयास्, अंयात्, अंयान्।

५६१—आत्मनेपद में मुख्य तिङ्-प्रत्ययों की जगह गौण वाले रूप अधिक विरल होते हैं; ये केवल अन्य० वहुव० में (जहाँ से मुख्य की अपेक्षा अधिक व्यवहृत हैं) और अन्य० एकव० के एक या दो प्रयोगों में प्राप्त हैं (और ऐ० ब्रा० में अस्याथास् एक वार मिलता है)।

अ—आत्मनेपदी लेट्-रूपविधान का विलक्षण वैशिष्ट्य तिङ्-प्रत्ययों में ए का ऐ में आत्यन्तिक वृद्धिभाव है। उत्तरकालकी अपेक्षा पूर्वतमकालिक भाषा में ही यह कम सामान्य है। उत्तम० एकव० में केवल ऐ तिङ्प्रत्यय-जैसा ऋ० वे० में भी मिलता है, और उत्तम० द्विव० में भी (विरल प्रयोग लेकर) केवल आवहै पाया जाता है। उत्तम० वहु० में आमहै का प्रसार ऋ० वे० और अ० वे० (आमहे के कुछ प्रयोग प्राप्त हैं) में है और उत्तरकाल में केवल यही व्यवहृत है। मध्यम० एकव० में से के लिए सै ऋ० वे० में अनुपलब्ध है, किन्तु अ० वे० और ब्राह्मणों में एकमात्र रूप है। अन्य० एकव० में ते के लिए तै ऋ० वे० में एक वार आता है, और अ० वे० प्रधानरूप है और मात्र रूप उत्तर-काल में। मध्यम० वहुव० में ध्वे के लिए ध्वै ऋ० वे० के एक शब्द में प्राप्त है, और ब्राह्मणों के कुछ प्रयोगों में। अन्य० वहुव० में न्ते के लिए न्तै (दुर्लभ प्रयोग वाला) ब्राह्मण-रूप है; यह न तो ऋ० वे० में मिलता है, न अ० वे० में। थे और ते के लिए उस प्रकार के द्विव० तिङ्-प्रत्यय थै और तै कहीं नहीं पाये जाते हैं, किन्तु ऋ० वे० के कुछ शब्दों (नव, ऊपर ५४७ इ)

ऐथे और **ऐते** व्यवहृत हैं जो **एथे** और **एते** के लेट्—वृद्धिभाव की तरह लगते हैं (यद्यपि एक निश्चयार्थक रूप **कृण्वैते** में प्राप्त है)। **ऐ**-तिङ्प्रत्ययों से पूर्व अच् नित्य दीर्घ आ होता है; किन्तु **आन्तै** के स्थान में **अन्तै** दो या तीन प्रयोगों में मिलता है, और **आतै** के लिए **अतै** एक या दो वार (तै० सं०, ऐ० ब्रा०)।

५६२—इस प्रकार लेट् प्रकार—चिह्न के संयोजन में लेट् तिङ्-प्रत्यय यों होते हैं :

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	**आनि**	**आव**	**आम**	**ऐ**	**आवहै** **आवहे**	**आमहै** **आमहे**
म०	**असि** **अस्**	**अथस्**	**अथ**	**असे** **आसै**	**ऐथे**	**अध्वे** **आध्वै**
अ०	**अति** **अत्**	**अतस्**	**अन्**	**अते** **आतै**	**ऐते**	**अन्ते, अन्त** **आन्तै**

अ—पुनः काल-प्रकृति के अन्त्य अ के अग्रिम संयोग में इन सब तिङ्-प्रत्ययों का आदि **अ आ** हो जाता है। इस प्रकार उदाहरण हैं—मध्यम० **आसि** या **आस्, आथस्, आथ, आसे, आध्वे**।

५६३—मुख्य, सवलीकृत मुख्य और गौण ने—तिङ्-प्रत्ययों से वने अपने त्रिविध रूप में प्रकार-चिह्न से युक्त इस शुद्ध लेट् के अतिरिक्त लङ् और लुङ् के निश्चयार्थ रूपों को भी 'अपूर्ण लेट्' और 'शुद्धेतर लेट्' जैसे लेट् की संज्ञा दी जाती है, जब कि ये लङ् और लुङ्रूप आगम, प्रकारार्थ में प्रयुक्त होते हैं (नीचे ५९७)। ऐसा प्रयोग ऋ० वे० में खूब सामान्य था, किन्तु यह शीघ्र ही म्रियमाण होने लगा जिससे ब्राह्मण भापा में और उत्तरकाल में निषेधार्थक **मा** के वाद के प्रयोग को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है।

अ—लेट् के सामान्य प्रयोगों के लिए दे० नीचे ५७४ मु० वि०।

विधिलिङ्

५६४ अ—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वेदों की भापा में विधिलिङ् अपेक्षाकृत विरल प्रयोग वाला होता है; किन्तु शीघ्र ही इसकी पुनरावर्तन अधिक हो जाता है, और ब्राह्मणों में ही लेट् की संख्या से वहुत अधिक हो जाता है और तदनन्तर यह प्रायः सम्पूर्ण भावसे इसका स्थान ग्रहण कर लेता है।

आ—भाषा के सभी कालों में इसके रूपनिर्माण की विधि समान है।

५६५ अ—अ-अंत वाली काल-प्रकृति से या दूसरे किसी अंत वाली काल-प्रकृति से जुड़ने पर विधिलिङ् का प्रकार चिह्न परस्मैपद में विभिन्न होता है। दूसरी स्थिति में यह **या** उदात्तस्वर सम्पन्न होता है; यह **या** काल-प्रकृति के दुर्बलतर रूप में जोड़ा जाता है और तब यह गौण तिङ्-प्रत्ययों की नियमित कोटियों का ग्रहण करता है, अन्य पुरुष वहुव० में **अन्** की जगह **उस्** के साथ और इससे पूर्व आ के लोप के साथ आता है। **अ**–प्रकृतिके वाद यह **ई** हो जाता है, जो अनुदात्त होता है; यह **ई** अन्त्य **अ** से मिलकर **ए** हो जाता है (तदनंतर यह अ के स्वरघात के अनुसार उदात्त या अनुदात्त होता है); और अजादि तिङ्-प्रत्ययों (**अम्, उस्**) से पूर्व **ए** मध्यागमित सुश्राव्य **य्** के चलते अपरिवर्तित वना रहता है।

आ—आत्मनेपद में प्रकार चिह्न नित्य **इ** होता है और यह उत्तम एकव० में **अ** और अन्य वहुव० में **रन्** गौण तिङ्-प्रत्ययों का ग्रहण करता है। अ–प्रकृति के वाद **ए** के साथ इसके संयोजन के नियम, द्वितीय का स्वरपात और स्वरादि तिङ्-प्रत्यय से पूर्व **य्** के मध्यागम के चलते इसका संरक्षण—सब-के-सब परस्मैपद के तुल्य ही होते हैं। अन्य किसी अन्त्य के वाद प्रकृति का दुर्बलतर रूप गृहीत है, और स्वरपात तिङ्-प्रत्यय पर होता है। (अपवादस्वरूप क्रियाओं का एक वर्ग है जहाँ यह काल-प्रकृति पर पड़ता है, देखिए ६४५); तथा **ई** (जैसा कि **ए** में मिल जाने पर) स्वर तिङ्-प्रत्ययों (**अ, आथाम्, आताम्**) से पूर्व मध्यागत **य्** का ग्रहण करता है।

ई—वस्तुतः, रूप से यह वतलाना असंभव है कि **इ** अ–प्रकृति मिलकर **ए** हो गया है, या **ई**; किंतु **ई** की अपेक्षा **इ** को मानने में विशेष तथ्य नहीं प्रतीत होता है, जो **ई** आत्मनेपद में प्रकृतियों के अन्य वर्ग में स्वतः उपलब्ध है।

५६६—इस प्रकार विधिलिङ् के मिले हुए प्रकार चिह्न और तिङ्-प्रत्यय अपने दोनों प्रकारों के रूप में **अ**–प्रकृतियों और अन्य प्रकृतियों के लिए इस प्रकार होते हैं :

अ—अ से भिन्न प्रकृतियों के लिए

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	**याम्**	**याव**	**याम**	**ईय**	**ईवहि**	**ईमहि**
म०	**यास्**	**यातम्**	**यात**	**ईथास्**	**ईयाथाम्**	**ईध्वम्**
अ०	**यात्**	**याताम्**	**युस्**	**ईत**	**ईयाताम्**	**ईरन्**

आ—अ-प्रकृतियों के अन्त्य के साथ मिलने पर

उ०	एयम्	एव	एम	एय	एवहि	एमहि
म०	एस्	एतम्	एत	एथास्	एयाथाम्	एध्वम्
अ०	एत्	एताम्	एयुस्	एत	एयाताम्	एरन्

इ—वेद में **या** अधिक समय **इआ** में विघटित हो जाता है।

ई—**सनेयम्** के स्थान में संकुचित **सनेम्** तै० ब्रा० और आपस्त० में प्राप्त होता है। **रत** अन्तवाले कुछ वैदिक आत्मनेपदी अन्य० बहुव० रूप विभिन्न रूप-निर्माणों के अन्तर्गत नीचे उल्लिखित होंगे।

५६७—**आशीर्लिङ्**। आशीर्लिङ् रूप इस प्रकार के होते हैं कि विधिलिङ् चिह्न और तिङ्प्रत्यय के मध्य ऊष्म ध्वनि का आगम होता है। ये प्राय: केवल लुङ्प्रकृतियों से बनाये जाते हैं, और, यों तो वैयाकरणों के अनुसार प्रत्येक धातु से इनका निर्माण संभव है—सिजागम लुङ् से आत्मनेपदी रूप शुद्ध लुङ् से परस्मैपदी आशीर्लिङ् रूप होते हैं, ये वस्तुतः भाषा के प्रत्येक काल में तथा विशेष रूप से उत्तरकाल में विरल प्रयोग वाले हैं।

अ—परस्मैपद में मध्यागम **स्** तिङन्त रूपों की संपूर्ण श्रेणी में आता है; आत्मनेपद में यह केवल मध्यम० और अन्य के एकव० और द्विव० में और मध्यम० के बहुव० में विहित है, किन्तु केवल मध्यम० और अन्य० एकवचन से उद्धरणीय हैं। परस्मैपद मध्यम० एकव० में युक्त **स्** के नित्य लोप के कारण आशीर्लिङ्रूप सरल विधिलिङ् से भिन्न नहीं होता; परस्मैपदी अन्य० एकव० में इसी प्रकार की स्थिति उत्तरकालिक भाषा में होती है जहाँ (तुलनीय ५५५ अ) आशीर्लिङ्-चिह्न की जगह तिङन्त-प्रत्यय **त्** सुरक्षित है; किन्तु ऋ० वे० में सामान्यतः और अन्य वैदिक ग्रंथों में अंशतः शुद्ध तिङ्-प्रत्यय यास् (**यास्त्** के लिए) प्राप्त है। आत्मनेपदी मध्यम० बहुव० में **ढ्** के लिए देखिए २२६ इ।

आ—स्वरपात सरल विधिलिङ् की तरह होता है।

५६८—अतएव उत्तरकाल की भाषा में व्यवहृत आशीर्लिङ् प्रत्यय (कोष्ठक में जो सरल विधिलिङ् के अनुरूपी प्रत्यय रखे गये हैं) इस प्रकार होते हैं :—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	यासम्	यास्व	यास्म	(ईय)	(ईवहि)	(ईमहि)
म०	(यास्)	यास्तम्	यास्त	ईष्ठास्	ईयास्थाम्	ईढ्वम्
अ०	(यात्)	यास्ताम्	यासुस्	ईष्ट	ईयास्ताम्	(ईरन्)

अ—आशीर्लिङ् के विषय में विशेष द्रष्टव्य ९२१ मु० वि० ।

आ—विधिलिङ् के सामान्य प्रयोगों के लिए देखिए नीचे ५७३ मु० वि० ।

लोट्

५६९—लोट का कोई प्रकार चिह्न नहीं है; सीधे कालप्रकृति में अपने तिङ्प्रत्ययों के जुड़ने से यह बनाया जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसा कि अन्य प्रत्ययों को जोड़कर निश्चयार्थ काल बनाये जाते हैं ।

अ—अतएव मध्यम० और अन्य० द्विवचन और मध्यम० बहुव० में इसके रूप लुप्त आगम के साथ उसी प्रकृति के आगम-भूत के रूपों से अभिन्न होते हैं ।

आ—विभिन्न तिङ्प्रत्ययों—विशेष रूप से मध्यम० एकवचन वाले, जहाँ विभिन्नता खूब मिलती है—के नियम नीचे विभिन्न काल-श्रेणियों के प्रसंग में दिये जायेंगे। किन्तु **तात्** तिङ्प्रत्यय प्रयोग की दृष्टि से इतना अधिक विशिष्ट है कि इसकी थोड़ी व्याख्या यहाँ अपेक्षित हो जाती है ।

५७०—तात् अंतवाला लेट् । लोट् रूप, जिसमें सामान्यतया मध्यम० एकव० की प्रयोगिता विद्यमान होती है, किन्तु कभी-कभी दूसरे पुरुषों और वचनों की भी, वर्तमान कालप्रकृति में **तात्** जोड़कर बनाया जाता है—उसके दुर्बल रूप में, यदि उसमें दुर्बल और सबल रूप का अन्तर हो ।

अ—उदाहरण होते हैं :—**ब्रूतात्, हतात्, वित्तात्; पिपृतात्, जहीतात्, धत्तात्; कृणुतात्, कुरुतात्; गृह्णीतात्, जानीतात्, अवतात्, रक्षतात्, वसतात्; विशतात्, सृजतात्; अस्यतात्, नश्यतात्, छ्यतात्; क्रियतात्; गमयतात्, च्यावयतात्, वारयतात्, ईप्सतात्; जागृतात्** । नासिक्य-वर्ग वाली क्रिया (६९०) से कोई उदाहरण नहीं पाया गया है, न तो यहाँ दिये गये उदाहरणों से भिन्न कोई उदाहरण कर्मवाच्य, यङन्त या सन्नन्त से । कुछ उदात्त प्रयोगों से यह संकेत मिलता है कि रूपनिर्माण में उदात्तित तिङ्प्रत्यय (५५२) से बनने वाले रूप के सामान्य नियम का पालन होता है ।

आ—**तात्** अंतवाला लोट् प्राचीनतर भाषा में अतिविरल रूपनिर्माण नहीं होता है; यह (वे० ब्रा० और सू० में) लगभग पचास धातुओं से बना है और इसके लगभग एक सौ पचास प्रयोग हुए हैं उत्तरकाल में यह अत्यन्त असामान्य हो जाता है। फलतः महाभा० में केवल एक उदाहरण पाया गया है और एक रामा० में; और अन्य अपेक्षाकृत नूतन ग्रंथों में तद्रूप अत्यल्प प्रयोग आते हैं ।

५७१—जहाँ तक इसके अर्थ का प्रश्न है, इस रूप में इसकी प्रकार-प्रयोगिता से युक्त एक विशिष्ट काल-प्रयोगिता व्यापक रूप से ब्राह्मणों में और निर्दिष्ट रूप से, किन्तु अपेक्षाकृत कम स्पष्ट रूप से, वैदिक संहिताओं में उपलब्ध होती है जिससे फलतः वर्तमान की अपेक्षा परवर्ती काल में व्यादेश सूचित होता है। यह (टो और टोटो अंतवाले लेटिन रूपों की तरह) उत्तरकालिक या भविष्य अनुज्ञार्थ है।

अ—उदाहरण हैं :—इहैवं मा तिष्ठन्तमभ्येहीति ब्रूहि तां तु न आंगताम् प्रतिप्रंब्रूतात् (श० ब्रा०) उसे कहो, "जब तक मैं यहीं हूँ मेरे पास आ जाय", और (इसके बाद) हम सबों को सूचित करना कि वह आ गयी है। यंद् ऊर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्तात् (ऋ० वे०) जब तुम ऊपर रहोगे, (तब) यहाँ धन देना। (और उसी प्रकार अनेक स्थलों में), उत्कूलमुद्वहो भवोऽदुह्य प्रतिधावतात् (अ० वे०) आरोह तक ले जाओ; पहुँचा कर फिर लौट आओ; वनस्पतिरधि त्वा स्थास्यति तस्य वित्तात् (तै० स०) वनस्पति तेरे ऊपर पहुँचेगी, (तब) उसे जानना।

आ—मध्यम० एकव० से भिन्न इसके प्रयोग के उदाहरण इस प्रकार हैं : उत्तम० एकव०, आव्युषं जागृतादहम् (अ० वे०, एक मात्र प्रयोग) उषःकाल तक मुझे देखने दो; अन्य० एकव०, पुनर् माऽऽविशताद् रयिः (तै० सं०) मेरे पास धन फिर आवे; अथ तस्य राजा मूर्धानं वि पातयतात् (श० ब्रा०) अब राजा उसका मस्तक उड़ा देगा; मध्यम० द्विव०, नासत्यावब्रुवन् देवाः पुनरावहताद् इति (ऋ० वे०) देवों ने दो अश्विनों से कहा—"उन्हें फिर लाओ"। मध्यम० बहुव०, आपः······देवेषु नः सुकृतो ब्रूतात् (तै० सं०) हे जल, देवताओं से हमें सत्कर्मी कहो। उत्तरकालिक भाषा व्यापक प्रयोगिता अन्य० एकव० वाली होती है; यथा—भवान् प्रसादं कुरुतात् (महाभा०) आप अनुग्रह करें; एनम् भवान् अभिरक्षतात् (द० कु० च०) आप इसकी रक्षा करें।

इ—देशी वैयाकरणों के अनुसार तात् अन्तवाले लोट् का प्रयोग आशीर्वचन अर्थ लेकर होता है। इस प्रकार का कोई प्रयोग उद्धरणीय नहीं देखा जाता है।

ई—विभिन्न ब्राह्मणों और सूत्रों में अनेक बार आवृत्त होने वाले और मध्यम० बहुव० जैसे कतिपय तात् अन्तवाले रूपों को रखने वाले एक अवतरण में वारयतात् की जगह वारयध्वात् कुछ ग्रंथों (काटक०, ऐ० आ० श्री० सू० शौ०, श्री० सू०) में पाठ है। ध्वात् तिङ्प्रत्यय वाला अन्य कोई प्रयोग नहीं प्राप्त है।

प्रकारों के प्रयोग

५७२—तीनों प्रकारों में आज्ञार्थक ही कार्य लेकर सर्वाधिक स्पष्ट और सीमित है, तथा भाषा के समग्र इतिहास में प्रयोग की दृष्टि से सर्वाधिक अपरिवर्तित है। यह आज्ञा या विधि के अर्थ को प्रकट करता है—वक्ता की इच्छा अपने से भिन्न किसी दूसरे व्यक्ति पर अथवा अन्य किसी वस्तु पर प्रयोग करने का प्रयत्न होता है।

अ—परन्तु (अन्य भाषाओं की तरह संस्कृत में) यह एक ही अर्थ में कदापि नित्य नहीं है; आज्ञा निर्देश, आमन्त्रण, प्रार्थना, प्रकृष्ट अभिलाषा-भाव में रूपान्तरित होती है। लोट् कभी-कभी अनुमान या स्वीकृति को द्योतित करता है; और यदा-कदा गर्भित प्रयोग चलते यह हेतुहेतुमद् अथवा सापेक्ष भाव वाले को व्यक्त करता है; किन्तु गौण उपवाक्य-निर्माण में इसका नियमित प्रयोग नहीं आता है।

आ—लोट् यदा-कदा प्रश्नवोधक वाक्य में प्रयुक्त होता है। यथा—**ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यताम्** (रघु०) वोलो, किसको अव मैं वियुक्त करूँ ? **कथमेते गुणवन्तः क्रियन्ताम्** (हितो०) इन्हें किस प्रकार गुणवान् वनाऊँ ? **कस्मै पिण्डः प्रदीयताम्** (वेताल०) किसे पिण्ड दिया जाय ?

५७३—विधिलिङ् अपने मुख्य कार्य की दृष्टि से आग्रह अथवा इच्छा को व्यक्त करने में आता है; प्राचीनतम भाषा में इसका व्यापक प्रयोग प्रधान उपवाक्यों में वही है जिसे **आप्टेटिव** या इच्छार्थक की संज्ञा यथार्थतः होती है।

अ—किन्तु एक ओर इच्छार्थ निवेदन या प्रार्थना में सहज परिणत होता है जिससे विधिलिङ् मृदुभूत लोट् हो जाता है, और दूसरी ओर, क्या सामान्यतः इष्ट या उपयुक्त है, क्या होना चाहिए या क्या अपेक्षित है, आदि अर्थों को यह द्योतित करता है, और इस प्रकार यह निर्धारण का प्रकार वन जाता है; अथवा पुनः क्या हो सकता है अथवा क्या संभाव्य है, क्या संभावनीय अथवा सामान्य है, आदि अर्थों को द्योतित करने में यह क्षीण हो जाता है, और तव अन्ततोगत्वा यह वस्तु-स्थिति का मृदुभूत कथन वन जाता है।

आ—पुनः, गौण उपवाक्यों में विधिलिङ् संवंध वोधक सर्वनामों और संयोजकों के साथ प्रयोगों के व्यापक और वर्धमान वैविध्य के चलते हेतुहेतुमद् और सापेक्ष भाव की अभिव्यक्ति का नियमित साधन वन जाता है।

इ—तथाकथित आशीर्लिङ् रूप (५६७) साधारणतया यथार्थ विधिलिङ् के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु उत्तरकाल की भाषा में ये कभी-कभी विधिलिङ् के अन्य प्रयोगों में भी देखे जाते हैं। यथा—**नहि प्रपश्यामि ममापनुद्यात्**

यच्छोकम् (भ० गीता) क्योंकि मैं नहीं समझता कि क्या मेरे शोक को दूर कर देगा। **यद् भूयासुर्विभूतयः** (भाग० पु०) यदि परिवर्तन हों। और **मा** के साथ भी यदा-कदा देखिए ५७९ आ।

५७४—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भाषा के इतिहास में लेट् प्रारंभिक काल में लुप्तप्राय है, श्रेण्य प्रयोग में इसके दो ही अवशेष रह जाते हैं :—लोट् अर्थ में इसके उत्तमपुरुष रूपों का प्रयोग, अथवा वक्ता से संबद्ध प्रयोजन या आग्रह सूचित करता है अथवा उसकी ओर से अलंघनीय अभिप्राय ज्ञापन करना है; और वारण और निषेधमूलक लेट्-अर्थ में निषेधार्थ निपात **मा** के साथ आगम विहीन रूपों (५७९) का प्रयोग प्राप्त है।

अ—इस प्रकार लेट् की सामान्य प्रयोगिता प्रारंभ से वही थी जो इन अवशेषों से सूचित लगती है—इसका मौलिक अर्थ संभवतः अधिग्रहण का है, लोट् की अपेक्षा कम किन्तु विधिलिङ् की अपेक्षा अधिक अलंघनीय किन्तु यह अर्थ विधिलिङ् अर्थ के अनुरूप संक्रमणों और रूपान्तरणों का विषय है; और प्राचीनतम भाषा में लेट् और विधिलिङ् प्रधान उपवाक्यों में अपने प्रयोगों को लेकर खूब समान्तरित होते हैं और आश्रित उपवाक्यों में तो कदाचित् ही पृथक् हैं। पुनः इन दोनों के प्रयोग संरक्षण और सूक्ष्मतर एवं स्पष्टतर अर्थ निर्वाह (जैसा कि ग्रीक में) के बदले लेट् धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है, और केवल विधिलिङ् से दोनों के कार्य गृहीत हो जाते हैं।

५७५—अतएव लोट्, लेट् और विधिलिङ् का भेद अपने मौलिक और सर्वाधिक विशिष्ट प्रयोगों में आंशिक है :—अनुज्ञा, अधिग्रहण, इच्छा; और इसके मध्य विभाजन की कोई स्थिर रेखा नहीं रहती है; ये अल्पाधिक मात्रा में एक दूसरे के विनिमय योग्य होते हैं और प्रधान उपवाक्यों में संयोज्य हैं।

अ—इस प्रकार अ० वे० में हमें लोट् के ऐसे प्रयोग मिलते हैं :—**शतं जीव शरदः** सौ वर्ष तुम जीओ; **उभौ तौ जीवतां जरदष्टी** वे दोनों वृद्धावस्था प्राप्त करने के लिए जीवित रहें; लेट् के, **अद्य जीवानि** आज मैं जीवित रहूँ; **शतं जीवाति शरदः** वह सौ वर्ष जीयेगा; विधिलिङ् के, **जीवेम शरदां शतानि** हम सौ वर्ष जीवित रहें; **सर्वमायुर् जीव्यासम्** (आशीर्लिङ्), मैं अपने जीवन की सम्पूर्ण अवधि तक रह सकूँ। यहाँ अर्थ के कदाचित् प्रत्यक्ष परिवर्तन के बिना प्रकार परस्पर विनिमेय हो जायेंगे।

आ—पुनः प्रधान उपवाक्यों में अपने वाले विभिन्न प्रकारों के उदाहरण होते हैं :—**इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु** (अ० वे०) हे अग्नि, यह नारी पति पावे; पुत्रों को

उत्पन्न कर यह महिषी बनेगी; पति पाकर आनन्द में यह राज करे; **गोपाय नः स्वस्तये प्रबुधे नः पुनर् ददः** (तै० सं०) हमारे मंगम के लिए हमें रक्षा करो; पुनर्जागरण के लिए हमें वरदान दो; **स्यान् नः सूनुः...सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे** (ऋ० वे०) हमें पुत्र हो, तेरा यह अनुग्रह हमें प्राप्त हो। ऐसी अवस्था खूब विरल नहीं है जहाँ विभिन्न ग्रंथों में एक ही अवतरण के रूपान्तर विभिन्न पाठों के रूप में विभिन्न प्रकार मिलते हैं।

इ—वस्तुतः, इन प्रकारों के पूर्वतम प्रयोग में ऐसा कुछ नहीं है जिससे सिद्ध हो सके कि ये मूलतः समान रूपों के विशिष्ट प्रयोग—यथा सामान्य भविष्यार्थ वाले—नहीं हों।

५७६—प्राचीनतर भाषा में प्रधान उपवाक्यों में आनेवाले लेट् और विधिलिङ् के अपेक्षाकृत कम विलक्षण प्रयोग के उदाहरणों के लिए ये उद्धृत किये जा सकते हैं :—**आ घा ता गच्छान् उत्तरा युगानि** (ऋ० वे०) वे आने वाले युग निस्संदेह आयेंगे; **यद्.... न मरा इति, मन्यसे** (ऋ० वे०) यदि तुम सोचते हो कि 'मैं न मरूँगा'; **न ता नशन्ति न दभाति तस्करः** (ऋ० वे०) वे नष्ट नहीं होते हैं; कोई चोर उन्हें हानि नहीं पहुँचा सकता है; **कस्मै देवाय हविषा विधेम** (ऋ० वे०) किस देव को हम हविष्य दें ? **अग्निना रयिमश्नवत्.... दिवे दिवे** (ऋ० वे०) अग्नि से.... कोई प्रत्येक दिन धन पा सकता है; **उतैनाम् ब्रह्मणे दद्यात् तथा अयोना शिवा स्यात्** (अ० वे०) फिर भी इसे ब्राह्मण को देना चाहिए, इस प्रकार यह कल्याणी और मंगलमयी होगी; **अहरहर् दद्यात्** (श० ब्रा०) प्रतिदिन दान देना चाहिए।

५७७—उत्तरकालिक भाषा में विधिलिङ् के प्रयोग विभिन्न रूपों के हैं जो पूर्वतर काल में दोनों प्रकारों के युक्त रूप से अधिकृत संपूर्ण क्षेत्र को समाविष्ट कर लेते हैं। एक ही ग्रंथ (महाभा०) से कुछ उदाहरण इनको स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होंगे : **उच्छिष्टं नैव भुञ्जीयां न कुर्याम् पादधावनम्** मैं न उच्छिष्ट (यज्ञ के अवशेष) को खाऊँगा, मैं न पादप्रक्षालन करूँगा; **ज्ञातीन् व्रजेत्** वह अपने संबंधियों के पास जाय; **नैवं सा कर्हिचित् कुर्यात्** वह इस प्रकार कभी नहीं करे; **कथं विद्यां नलं नृपम्** कैसे राजा नल को जान सकूँगी ? **उत्सर्गे संशयः स्यात् तु विंदेताऽपि सुखं क्वचित्** किन्तु उसके परित्याग में संशय हो सकता है; कहीं वह सुख प्राप्त कर सकती है; **कथं वासो विकर्तेयम् न च बुध्येत मे प्रिया** कैसे मैं वस्त्र को काट दूँ और मेरी प्रिया उठे नहीं।

५७८—तथाकथित लोट् की तरह उत्तम पुरुष लेट् रूपों के उत्तरकालीन प्रयोग में पूर्वतरकाल से किसी प्रकार का परिवर्तन निर्माण लेकर नहीं होता है,

किन्तु केवल प्रयोग के एक ही भेद में सीमा प्राप्त है। यथा—**दीव्याव** हम दोनों जूआ खेलें; **किं करवाणि ते** तेरे लिए मैं क्या करूँ ?

५७९—वारणार्थक या निषेधार्थक लोट् भाषा के पूर्वतम काल से नियमतः और सामान्यतः आगमहीन भूतरूप, व्यापकतया लुङ्, के साथ **मा** निपात के द्वारा व्यक्त किया जाता है।

अ—उदाहरणार्थ—**प्र पत मे॑ह र॑स्थाः** (अ० वे०) भाग जाओ, यहाँ मत ठहरो; **द्विषंश्च मह्॑यं रध्यतु मा चाऽहं द्विषते रधम्** (अ० वे०) शत्रु मेरा विषय बने और मैं शत्रु का विषय न बनूँ; **उर्वश्याम् अ॑भयं ज्यो॑तिरिन्द्र मा॑नो दीर्घा॑ अभिनशन् तमिस्राः** (ऋ० वे०) हे इन्द्र ! मैं व्यापक भयहीन ज्योति पा लूँ, मेरे ऊपर घना अंधकार न पड़े; **मा॑न आ॑युः प्र॑ मोषीः** (ऋ० वे०) मेरा जीवन न हरो; **समाश्वसिहि मा शुचः** (महा०) शान्त हो जाओ शोक मत करो। **मा भैषीः** अथवा **भैः** (महाभा० रामा०) मत डरो; **मा भूत् कालस्य पर्ययः** (रामा०) काल का परिवर्तन न हो। लङ् के साथ उदाहरण होते हैं : **मा॑ विभेर् न॑ मरिष्यसि** (ऋ० वे०) डरो नहीं, तुम नहीं मरोगे; **मा॑ स्मैतान्त् स॑खीन् कुरुथाः** (अ० वे०) उन्हें मित्र मत बनाओ; **मा पुत्रमनुतप्यथाः** (महाभा०) पुत्र के लिए शोक न करो। लङ् और लुङ् के प्रयोग का अनुपात पुनरावर्तन की दृष्टि से ऋ० वे० प्रायः एक और पाँच का है अ० वे० में इससे भी कम, लगभग एक और छः का होता है; और यद्यपि लङ् के प्रयोग सभी वैदिक ग्रंथों से उद्धरणीय हैं, ये आपवादिक और असामान्य हैं, जब कि रामा० महाभा० में और उनके बाद ये अत्यधिक विरल हो जाते हैं।

आ—ऋ० वे० में **मा॑** से युक्त एकमात्र विधिलिङ् **भुजेम** निषेधार्थ रूप में प्रयुक्त है; प्राचीनतर भाषा में अन्य कोई उदाहरण नहीं मिलता है और उत्तर-काल में भी यह प्रयोग खूब असामान्य है। एक या दो उदाहरणों में भी आशी-र्लिङ् (**भूयात्**, ब्रा०, पञ्च) **मा** के बाद आता है।

इ—ऋ० वे० में **मा** के साथ लोट् स्पष्टतः एक बार मिलता है; किन्तु पाठ संभवतः भ्रष्ट है। अन्य कोई ऐसा उदाहरण (**सृप** तै० आ० १-१४ को छोड़कर, निस्संदेह **सृपस्** के लिए भ्रामक पाठ) प्राचीनतर भाषा में उपलब्ध नहीं है; किन्तु रामा० महाभा० में तथा परवर्ती काल में ऐसी रचना आरंभ हो जाती है, और यह निषेध का सामान्य रूप बन जाता है। उदाहरणार्थ, **मा प्रयच्छेश्वरे धनम्** (हितो०) धनवान् को धन न दो; **सखि मैवं वद** (वेता०) सखि ! ऐसा मत बोलो।

ई—श० ब्रा० (११-५-१) में **मा** के साथ एकमात्र यथार्थ लेट्रूप, **निं पद्यासै,** प्रतीत होता है; संभवतः पाठ में कुछ भ्रान्ति है।

उ—रामा० महाभा० में और उत्तरकाल में **मा** के बाद लुङ्रूप आगम के अभाव के बिना यदा-कदा उपलब्ध होता है। जैसे—**मा त्वां कालोऽत्यगात्** (महाभा०) काल तुम्हारा अतिक्रमण नहीं करे; **मा वालिपथम् अन्वगाः** (रामा०) वालिमार्ग का अनुसरण मत करो। किन्तु इसी प्रकार की असंगति प्राचीनतर भाषा में भी दो या तीन बार आती है, यथा—**व्यपप्तत्** (श० ब्रा०) **अगास्** (तै० आ०) **अनशत्** (कौ० सू०)।

५८०—किन्तु निषेधार्थ में **न** नहीं के साथ विधिलिङ् का भी प्रयोग वेद में प्राप्त होता है, और आगे चलकर सामान्य प्रयोग बन जाता है। यथा—**न रिष्येम कदाचन** (ऋ० वे०) हम कभी क्षति न पावें; **न चातिसृजेन् न जुहुयात्** (ऋ० वे०) और यदि वह अनुमति न दे, वह यजन न करे; **तद् उ तथा न कुर्यात्** (श० ब्रा०) किन्तु वह इस प्रकार इसे न करे; **न दिवा शयीत** (शां० गृ० सू०), दिन में कोई न सोये; **न त्वां विद्युर् जनाः** (महाभा०) तुम्हें लोग न जानें। उत्तरकालिक भाषा में यह नियोगार्थ विधिलिङ् का सहसंबंधी बन जाता है; और ये दोनों अत्यधिक सामान्य हैं; फलतः नियोगार्थ लक्षण वाले कथन में विधिलिङ्रूप निश्चयार्थ और आज्ञार्थ दोनों की अपेक्षा अधिक संख्यक हो सकते हैं (उदाहरणस्वरूप, जैसी स्थिति मनु में है)।

५८१—सभी आश्रित वाक्यनिर्माणों में लेट् और विधिलिङ् के बीच निश्चित भेद करना प्राचीनतम भाषा में भी विशेष कठिन होता है; इन दोनों में किसी एक के प्रयोग की विधि प्रायः ही प्राप्त होती है जहाँ दूसरे से व्यावहारिक तुल्य-रूप उपलब्ध नहीं हो—और फलतः उत्तरकालिक भाषा में उस प्रकार के प्रयोग केवल विधिलिङ् से निरूपित होते हैं। इसके निर्देशार्थ कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

अ—सामान्यतया संबंधबोधक सर्वनामों और संयोजकों के बाद—**या व्यूषुर्याश्च नूनं व्युच्छान्** (ऋ० वे०) जो (यहाँ) चमके हैं; और जो अब चमकेंगे; **यो नो जायाता अस्माकं स एकोऽसत्** (तै० सं०) जो कोई (इससे) चमकेगा, वह हम सबों में एक हो; **यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्** (अ० वे०) जो कोई प्रत्यक्ष रूप से जानेगा, वह विद्वान् पुरोहित बने; **पुत्राणाम्**.... **जातानां जनयाश्च यान्** (ऋ० वे०), जनमे हुए पुत्रों का और जिन्हें तुम जनमाते हो; **यस्य**.... **अतिथिर्गृहान् आगच्छेत्** (अ० वे०), जिसके घर वह अतिथि बन कर आवे; **यतरथा कामयेत तथा कुर्यात्** (श० ब्रा०) जिस प्रकार वह इच्छा करे, उसी प्रकार वह करे; **यर्हि होता यजमानस्य नाम गृह्णीयात् तर्हि ब्रूयात्** (तै० सं०) जब होता

यजमान का नाम लेगा, तब वह बोले; **स्वरूपं यदा द्रष्टुम् इच्छेथाः** (महाभा०) जब तुम अपने ही रूप को देखने की इच्छा करोगे।

आ—अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से हेतुहेतुमद् वाक्य-निर्माण में : **यजाम देवान् यदि शक्नवाम** (ऋ० वे०) यदि हम समर्थ तो होंगे, हम देवों को बलि देंगे; **यद् अग्ने स्याम अहं त्वं त्वं वा घा स्या अहं स्युष्टे सत्या इहाशिषः** (ऋ० वे०) हे अग्नि, यदि मैं तुम होता अथवा यदि तुम मैं होते, तुम्हारे आशीर्वाद यहीं सत्य हो जायेंगे; **यो द्याम् अतिसर्पात् परस्तान् न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः** (अ० वे०) यद्यपि कोई द्युलोक से बहुत दूर निकल जाय, वह राजा वरुण से नहीं बच सकेगा; **यदनाश्वान् उपवसेत् क्षोधुकः स्याद् यदश्नीयाद् रुद्रोऽस्य पशूनभि मन्येत** (तै० सं०) यदि वह उपवास करता रहा, वह भूखा मर जायगा, यदि वह खा ले, तो रुद्र उसके पशुओं पर आक्रमण करेंगे; **प्रार्थयेद् यदि मां कश्चिद् दण्ड्यः स मे पुमान् भवेत्** (महाभा०) यदि मुझे जो कोई पुरुष चाहेगा, उसे दण्ड मिलेगा। विधिलिङ् के ऐसे और इसी प्रकार के अन्य वाक्य-निर्माण ब्राह्मणों और उत्तर-काल में खूब सामान्य हैं।

इ—अन्त्य उपवाक्यों में—**यथाहं शत्रुहोऽसानि** (अ० वे०) जिससे मैं अपने शत्रुओं का घातक बनूँ; **गृणाना यथा पिबाथो अन्धः** (ऋ० वे०) इस तरह स्तूयमान होकर तुम रसपान करो; **उरौ यथा तव शर्मन् मदेम** (ऋ० वे०) जिससे कि हम तुम्हारी रक्षा में आनन्द ले सकें; **उप जानीत यथेयम् पुनरागच्छेत्** (श० ब्रा०), उपाय करो जिससे वह फिर आये; **कृपां कुर्याद् यथा मयि** (महाभा०) जिससे वह मुझ पर अनुकम्पा करे। वेद में यह लेट् के सर्वाधिक सामान्य प्रयोगों में से एक है; और **नेद्** इस निमित्त न, अन्यथा के साथ अपने संबन्ध सूचक निषेध-रूप में (सर्वत्र बाद में उदात्त क्रियापद) यह ब्राह्मणों में विरल नहीं होता है।

ई—अन्त्य उपवाक्यों में यथा के बाद निश्चयार्थक प्रकार भी खूब सामान्य रूप से प्रयुक्त है। उदाहरणार्थ—**यथायं पुरुषोऽन्तरिक्षमनुचरति** (श० ब्रा०), जिससे कि यह पुरुष अन्तरिक्ष को पार कर ले; **यथा न विघ्नः क्रियते** (रामा०) जिससे कोई विघ्न उत्पन्न न हो जाय; **यथाऽयं नश्यति तथा विधेयम्** (हितो०) जिससे यह नष्ट हो जाय वैसा करना चाहिए।

उ—लेट् और विधिलिङ् के कार्य-कारण प्रयोग के साथ पुनः तथाकथित हेतुहेतुमद् काल या लृङ् का प्रयोग तुलनीय है, दे० नीचे ९५०।

ऊ—जैसा कि ऊपर दिये गये उदाहरणों में से अनेक द्वारा स्पष्ट है, पूर्वखण्ड और उत्तरखण्ड वाले हेतुहेतुमद् वाक्य में सब समय दोनों उपवाक्यों के प्रत्येक में तुल्य प्रकार, चाहे लेट् या विधिलिङ् (अथवा लृङ्), प्रयुक्त करना सामान्य है। प्राचीनतर भाषा के लिए यह प्रायः या पूर्णतः नित्य नियम होता है।

५८२—लट् प्रक्रिया के और (प्राचीनतर भाषा में), लिट् और लुङ् प्रक्रियाओं के प्रकारों के बीच अर्थ का कोई भेद स्थिर नहीं हुआ है।

कालवाची कृदन्तक्रियारूप

५८३—परस्मैपदी और आत्मनेपदी कालवाची कृदन्तक्रियारूप यौगिक भविष्यत् और (उत्तरकालिक भाषा में) लुङ् को छोड़कर सभी काल प्रक्रियाओं से बनाये जाते हैं (और लुङ् कालवाची कृदन्त-प्रक्रियारूप आरम्भ से ही असामान्य हैं)।

अ—काल-प्रक्रियाओं से असंवद्ध कालवाची कृदन्तक्रियारूपों का विवेचन अध्याय—१३ (९५२ मु० वि०) में है।

५८४—सामान्य कृदन्तक्रियारूप प्रत्यय परस्मैपद के लिए **अन्त्** (दुर्बल-रूप **अत्**; स्त्री० **अन्ती** या **अती**, देखिये ऊपर ४४९) और आत्मनेपद के लिए **आन** (स्त्री० **आना**) होते हैं। किन्तु—

अ—अ अंतवाले काल-प्रकृति के वाद परस्मैपदी कृदन्तक्रियाप्रत्यय वस्तुतः न्त् है, दो 'अ' में से एक अ मूल-अन्त्य और प्रत्यय के मिलने में लुप्त हो जाता है।

अ—अन्तवाले काल-प्रकृति से परे आत्मनेपदी कृदन्तक्रियाप्रत्यय **आन** की जगह **मान** होता है। किन्तु क्रमशः **मान** और **आन** के प्रयोग-विधि के कादाचित्क अपवाद उपलब्ध होते हैं जिनका निर्देश विभिन्न रूप निर्माणों के प्रसंग में नीचे होगा। इस प्रकार के अपवाद विशेषरूप से णिजन्त में विशेषतः अधिक आते हैं। द्रष्टव्य १०४३ मु० वि०।

इ—परोक्ष के साथ परस्मैपद में विशिष्ट प्रत्यय **वांस्** (दुर्बलतम रूप **उष्**, मध्यरूप **वत्**; स्त्री० **उषी**, इस कृदन्तक्रियारूप के रूप विधान के लिए दे० ऊपर ४५८ मु० वि०) होता है।

ई—प्रकृति प्रभृति के रूप और विशिष्ट अपवादों को लेकर विवरण के लिए परवर्ती अध्यायों को देखिये।

आगम

५८५—आगम ह्रस्व **अ** है जो काल-प्रकृति से पूर्व जोड़ा जाता है—यदि काल-प्रकृति स्वर से आरम्भ होती है, तो यह उस स्वर में मिलकर अनियमित रूप से गुरुतर या वृद्धि सन्धिस्वर हो जाता है (१३६ अ)। यह सब समय (निरपवाद रूप से) अपने अंगी क्रियारूप का उदात्त युक्त अंश है।

अ—वेद में आगम कुछ रूपों में दीर्घ **आ** होता है। यथा—आनत्, आवर्, आवृणि, आवृणक्, आविध्यत्, आयुनक्, आयुक्त, आयुक्षाताम्, आरिणक्, आरैक् (और यस्त आविधत्, ऋ० वे० २-१-७-९२)।

५८६—आगम भूतकाल का चिह्न है। इसलिए आगम-भूत काल-प्रकृतियों की प्रत्येक से, जिससे क्रियारूप की प्रक्रिया निष्पन्न होती है, बताया जाता है। यथा—वर्तमान प्रकृति से अनद्यतन, परोक्ष प्रकृति से परिपूर्ण परोक्ष (केवल वेद में), भविष्य प्रकृति से हेतुहेतुमद्; किन्तु लुङ् में इस प्रकार का भूत तद्रूपी निश्चयार्थ वर्तमान के विना होता है।

५८७—पूर्वकाल की भाषा में, विशेषरूप से ऋ० वे० में, आगम-कालों के तुल्य रूपों का प्रयोग अत्यधिक सामान्य है, केवल उनमें आगम का अभाव होता है। इस प्रकार के रूप सामान्यतया आगम के साथ-साथ संबद्ध कालों के विशिष्ट स्वरूप को खो देते हैं; और तदनन्तर ये आंशिक रूप से प्रकारार्थ को छोड़कर वर्तमान के अथवा भूत के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं; तथा आंशिक रूप से प्रकारार्थ में लेट् के अथवा विधिलिङ् के अर्थ के साथ—विशेषतः नियमित रूप से बहुधा निषेधार्थ **मा** निपात के बाद (५७९), और यह अन्तिम निर्दिष्ट प्रयोग उत्तरकालिक भाषा में भी सुरक्षित है।

अ—ऋ० वे० में आगम-रहित रूप आगम-युक्त रूपों के आधे से ऊपर अधिक संख्या में प्राप्त हैं (लगभग २००० और ३३००), और ये लट्, लिट् और लुङ्-प्रक्रियाओं से बने हुए हैं; किन्तु आधे से अधिक लुङ् से इनके प्रकार-विहीन और प्रकारयुक्त प्रयोगों की संख्या प्रायः समान है। प्रकार-विहीन प्रयुक्त रूपों की प्रयोगिता बहुधा वर्तमान की अपेक्षा अधिक भूत की है। प्रकारार्थ लेकर प्रयुक्त रूपों में प्रायः एक तिहाई रूप तो निषेधार्थक **मा** से अन्वित हैं; शेष यथार्थ लेट् की बजाय द्विगुण मात्रा में विधिलिङ् की प्रयोगिता लिए हुए हैं।

आ—अ० वे० में संख्यात्मक संबंध बहुत भिन्न होते हैं। आगम-विहीन रूप आगम-युक्त रूपों की एक तिहाई संख्या से भी कम हैं (लगभग ४७५ और १४५० के अनुपात में), और ये अधिकतर (चार-पाँच से अधिक) लुङ्

रूपात्मक होते हैं। अप्रकारार्थ रूप प्रकारार्थ रूपों का दशम हैं। प्रकारार्थ लेकर प्रयुक्त रूपों के पाँच में से चार लगभग निषेधार्थ **मा** से अन्वित हैं; शेष में मुख्यतः विधिलिङ् की प्रयोगिता विद्यमान है। पुनः, ब्राह्मणों की भाषा में (उनमें आने वाले मंत्र वाक्यों को छोड़कर) आगम का लोप थोड़े-से कादाचित्क विकीर्ण प्रयोगों में सीमित है और यही स्थिति उत्तरकाल में बनी रहती है।

इ—आगमविहीन रूपों की स्वर-प्रक्रिया सर्वत्र उस प्रकार के रूपनिर्माण वाले आगमरहित कालों के अनुरूप होती है। उदाहरण विभिन्न कालों के प्रसंग में नीचे दिये जायेंगे।

ई—निषेधार्थक **मा** के साथ आगमविहीन लुङ्रूपों के अतिरिक्त उत्तरकाल में यदा-कदा आगमविहीन लङ् रूप (खूब विरले लुङ् रूप) भी पाये जाते हैं, जिनकी प्रयोगिता ऐसी होती है जैसे कि ये आगमरहित रूप हों, और ये अधिकांशतः छन्द रूप की अनुज्ञप्ति के उदाहरण हैं। ये विशेषरूप से रामा० महाभा० में प्राप्त होते हैं (जिनमें से इनके लगभग विंशक उद्धरणीय हैं)।

अभ्यास

५८८—धातुओं से अभ्यास द्वारा, स्वतः अथवा अन्य निर्माणात्मक अवयवों के साथ, क्रियारूप और शब्द-रूप विषयक प्रकृतियों की व्युत्पत्ति के विषय में कहा जा चुका है (२५९); और रूप-निर्माण जिनमें अभ्यास बनता है विशेषीकृत हैं—ये (क्रियाओं के एक विशिष्ट वर्ग का) लट्, लिट् (प्रायः सभी का) और लुङ् (बड़ी संख्या में) सरल क्रिया-रूपनिर्माण में होते हैं; और यङन्त और सन्नन्त यौगिक क्रियारूपों में अपनी प्रकृतियों के साथ इसी तत्त्व को रखते हैं।

५८९—अभ्यास का सामान्य नियम धातु में उसके एक अंश का द्वित्व होकर पूर्व योग है—यदि धातु व्यंजन से आरंभ होती है, तो आदि व्यंजन और स्वर; यदि स्वर से आरंभ होती है तो वह स्वर या तो स्वतः अथवा परवर्ती व्यंजन के सहित। किन्तु विवरण के विभेद अत्यधिक होते हैं। इस प्रकार स्वर के विषय में द्रष्टव्य है कि यह लट्, लिट् और सन्नन्त में नियमित रूप से धात्वक्षर की अपेक्षा अभ्यास में ह्रस्वतर और लघुतर होता है, लुङ् में दीर्घतर और यङन्त में वर्धित है। आदि—व्यंजन को लेकर वैविध्य अपेक्षाकृत कम होते हैं और ये मुख्यतः यङन्त में सीमित हैं; दूसरों के लिए कुछ सामान्य नियम यहाँ निर्दिष्ट दिये जा सकते हैं, अन्य सभी विवरण स्वतंत्र रूपनिर्माणों के वर्णन के प्रसंग में प्रस्तुत करने के लिए छोड़ दिये जाते हैं।

५९०—अभ्यास बनाने वाले अक्षर का व्यंजन सामान्यतया धातु का प्रथम व्यंजन होता है; यथा—√(प्रछ) से **पप्रछ**; √(श्रि)से **शिश्रि** √(बुध) से **बुबुध्**। किन्तु—

अ—अभ्यास में महाप्राण-ध्वनि का परिवर्तन अल्पप्राण-ध्वनि में होता है; जैसे—√(धा) से **दधा**; √(भृ) से **बिभृ**।

आ—कण्ठ्य-ध्वनि का अथवा ह् को तालव्य होता है। यथा—√(कृ) से **चकृ**; √(खिद्) से **चिखिद्**; √(ग्रभ्) से **जग्रभ्**; √(ह्) से **जह्**।

इ—दूसरी ओर कण्ठ्य-ध्वनि में धातुमूलक अक्षर वाले तालव्य का कादाचित्क प्रतिवर्तन ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है (२१६ ओ)।

ई—आदि दो व्यंजनों में द्वितीय यदि ऐसा निरनुनासिक स्पर्श हो जिससे पूर्व ऊष्मध्वनि हो, तो प्रथम की जगह वही अभ्यस्त होगा। उदाहरणार्थ—√(स्तृ) से **तस्तृ**; √(स्था) से **तस्था**; √(स्कन्द्) से **चस्कन्द्**; √(स्खल्) से **चस्खल्**; √(श्चुत्) से **चुश्चुत्**; √(स्पृध्) से **पस्पृध्**; √(स्फुट्) से **पुस्फुट्**—किन्तु √(स्ना) से **सस्ना**, √(स्मृ) से **सस्मृ**; √(स्नु) से **सुस्नु**, √(श्लिष्) से **शिश्लिष्**।

क्रिया का स्वराघात

५९१—क्रियारूपों के स्वराघात को लेकर ऊपर जो उल्लेख किये गये हैं और जो कुछ नीचे दिये जायेंगे उन परिस्थितियों में लागू होते हैं जहाँ क्रिया वस्तुतः उदात्तयुक्त होती है।

अ—किन्तु वैयाकरणों के मतानुसार और स्वरचिह्नित ग्रंथों की परिपाटी के अनुसार क्रिया अधिकांश प्रयोगों में अनुदात्त या सुरविहीन होती है।

आ—वस्तुतः ऐसी स्थिति क्रिया के शुद्ध रूपों, तिङन्त या तथाकथित परिमित क्रियारूपों में होती है। क्रियामूलक संज्ञाएँ और विशेषण या तुमर्थक क्रियारूप और कालवाची कृदन्तक्रियारूप अन्य संज्ञाओं और विशेषणों की तरह स्वराघात के समान नियमों के विषय ही होते हैं।

५९२—अधिकांश प्रयोगों को लेकर सामान्य नियम यह है कि प्रधान उपवाक्य में क्रिया उदात्तरहित होती है। अपवादरूप क्रिया वही होती है जो उपवाक्य के आरंभ में आती है या वह जो छान्दस ग्रन्थ में पाद के आरंभ में आती है।

अ—क्रिया तथा संबोधन विभक्तिरूप (ऊपर ३१४ ई) के स्वराघात के प्रसंग में पाद का आरम्भ वाक्यादि माना जाता है चाहे पूर्ववर्ती के साथ पाद का जो भी वाक्यात्मक संबंध हो।

आ—उदात्तरहित क्रिया के उदाहरण होते हैं : अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम् मैं पुरोहित-रूप अग्नि की स्तुति करता हूँ; स इद् दे॒वेषु॑ गच्छति वह निस्संदेह देवों के पास जाता है; अग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व हे अग्नि, प्राप्ति योग्य बनो; इदमिन्द्र शृणुहि सोमप हे सोमपायी इन्द्र ! इसे सुनो; नम॑स्ते रुद्र कृण्मः हे रुद्र, हम तुम्हें प्रणाम करते हैं; यज॑मानस्य पशून् पाहि यजमान के पशुओं की रक्षा करो।

इ—अतः दो मुख्य अवस्थाएँ होती हैं जहाँ क्रिया अपना उदात्त सुरक्षित रखती है :

५९३—प्रथमतः, जब क्रिया उपवाक्य के आरंभ में—तथा पद्य के पाद के आरंभ में—होती है, तो यह उदात्त ही होती है।

अ—वाक्य के शीर्ष में उदात्तयुक्त क्रिया के उदाहरण हैं : गद्यवाले—शु॑न्धध्वं दैव्या॑य क॒र्मणे दिव्य कर्म के लिए पवित्र बनो; आप्नोतीमं लोकम् वह इस लोक को प्राप्त करता है; पद्यवाले—जहाँ वाक्य का शीर्ष पाद का भी शीर्ष होता है—स्यामेद् इन्द्रस्य शर्म॑णि हम इन्द्र की रक्षा में रहें; दर्शय मा यातुधानान् मुझे मायावियों को दिखलाओ; गमद् वाजेभिरा स नः सुन्दर वस्तुओं के साथ वह हमारे पास आवे;—पद्य वाले, जहाँ उपवाक्य का शीर्ष पाद के बीच में होता है, तेषां पाहि श्रुधी हवम् उनका पान करो, हमारी पुकार सुनो; सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः माता सो जाय, पिता सो जाय, कुत्ता सो जाय, मालिक सो जाय; विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान् विश्वकर्मन् तुम्हें नमस्कार है, हमारी रक्षा करो; युवाम्.... राज्ञा ऊचे दुहिता पृच्छे वां नरा राजा की पुत्री ने तुम्हें कहा—हे मनुष्यों, मैं तुम्हारी स्तुति करती हूँ; वयं ते वय इन्द्र विद्धि षु णः प्रभरामहे हे इन्द्र ! हम तुम्हें पोषण अर्पित करते हैं, हमें जानो।

आ—पाद के शीर्ष में जब कि यह वाक्य का शीर्ष नहीं होता है, उदात्तयुक्त क्रिया के उदाहरण होते हैं—अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् इसलिए हम लोग तुम्हारे सर्वाधिक आत्मीय अनुग्रहों को पावें; धाताऽस्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् विधाता इस लड़की को मनोनुकूल पति दें; यातुधानस्य सोमप जहि प्रजाम् हे सोमपायी, मायावी की सन्तान को मार दो।

५९४—इस प्रसंग में कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं :—

अ—चूँकि संबोधन वाक्य का, जिसके साथ जुड़ा होता है, तात्त्विक अंश नहीं है; अपितु, इसका बाह्य अनुबंध मात्र होता है, ऐसी क्रिया जो आदि-संबोधन अथवा एकाधिक संबोधनों के बाद आती है, उदात्त होती है, जैसा कि यह स्वतः

पाद या उपवाक्य का आरंभ हो। इस प्रकार, आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम् हे श्रवणीय कर्ण वाले, हमारी पुकार सुनो; सीते वन्दामहे त्वा हे सीता! हम तुम्हारी वंदना करते हैं; विश्वे देवा वसवो रक्षतेमम् हे विश्वदेव, हे वसुओं, इस पुरुष की रक्षा करो; उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः हे देव! उसकी तरह जिसने अपराध किया है, हे देव! उसे पुनः जीवित करो।

आ—यदि एकाधिक क्रियाएँ वाक्यार्थ लेकर अपने से संबद्ध एक या अधिक शब्दों के बाद आती हैं, तो केवल प्रथम अपना उदात्तत्व खो देती है, अन्य इस प्रकार गृहीत होती हैं जैसा कि ये पृथक् उपवाक्यों में आरंभिक क्रियाएँ हों, इनके पूर्व समानाधिकरण रूप विवक्षित रहते हैं। यथा—तरणिरिज् जयति क्षेति पुष्यति अच्छी तरह वह जीतता है; शासन करता है और पुष्टि पाता है; अमित्रान्— पराच इन्द्र प्र मृणा जहीच हे इन्द्र! हमारे शत्रुओं को दूर भगाओ और उन्हें मार डालो; अस्मभ्यं जेषि योत्सि च हमारे लिए विजयी बनो और युद्ध करो; अग्नीषोमा हविषः प्रस्थितस्य वीतं हर्यतं वृषणा जुषेथाम् हे अग्नि और सोम, आहूत हविष्यका ग्रहण करो, चखो, हे वीर देव! आनंद लो।

इ—इसी प्रकार (किन्तु अपेक्षाकृत कम स्थलों में) कर्तृ रूप अथवा कर्म रूप अनुबंध जो दो क्रियाओं के बीच में आता है और जो दोनों से अर्थतः संबद्ध रहता है, प्रथम के साथ ही गृहीत होता है, और द्वितीय आदि उदात्त होती है। यथा—जहि प्रजां नयस्व च सन्तान को नष्ट कर दो और (उसे) यहाँ लाओ; शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना सौभाग्यवती हमें सुने, (और वह) कृपा करके (हमें) देखे।

ई—यह तो मान्य नियम-जैसा बन गया है कि एक क्रिया के बाद अव्यवहित रूप से आने वाली दूसरी क्रिया उदात्त होती है। यथा—स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिः (श० ब्रा०) जो कोई इस रूप में उसकी उपासना करता है, वह संतान और पशुओं से परिपूर्ण हो जाता है।

५९५—द्वितीयतः गौण उपवाक्य में क्रिया उदात्त होती है, चाहे उसका जैसा स्थान हो।

अ—अत्यधिक संख्यक स्थलों में उपवाक्य की परनिर्भरता संबंधबोधक सर्वनाम य अथवा इसके प्रत्ययान्त रूपों या सामासिकों में से एक द्वारा प्रतिबंधित होती है। यथा—यं यज्ञं परिभूरसि जिस यज्ञ की रक्षा तुम करते हो; ओ ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान् वे आ रहे हैं जो बाद में उसे देखेंगे; सह यन् मे अस्ति तेन उसके साथ जो मेरा है; यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः जहाँ से हमारे

पूर्वपिता प्रस्थान कर गये; अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यहीं मुझे मरने दो यदि मैं मायावी हूँ; यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति जैसे दिन एक के वाद एक क्रमिक रूप से आते हैं; यावदिदं भुवनम् विश्वमस्ति जितना वड़ा यह संपूर्ण लोक है; यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु जिस इच्छा से हम तुम्हें आहुति देते हैं, वह हमें प्राप्त हो; यतमस्तितृप्सात् जो कुछ भोग करने की इच्छा कोई रखता है।

आ—वस्तुतः वाक्य में संवंधवोधक शव्द की उपस्थिति मात्र से क्रिया उदात्त नहीं हो जाती है; यह तभी संभव है जव यह यथार्थतः गौण उपवाक्य का विधेय रूप हो। यथा—अप त्ये तायवो यथा यन्ति वे चोर की तरह निकल भागते हैं (जैसा कि चोर भागते हैं); यत् स्था जगच्च रेजते जो कुछ अचर और चर (है) काँपता है; यथाकामं नि पद्यते अपनी इच्छा से वह लेट जाता है।

इ—निपात च जवकि इसका अर्थ 'यदि' होता है और चेद् (च + इद्) 'यदि' क्रिया को उदात्त वना देते हैं। उदाहरणार्थ, ब्रह्मा चेद् धस्तमग्रहीत् यदि व्रह्मा ने उसका हाथ पकड़ा है; त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे हे सोम ! यदि तुम हमें जीवित रखना चाहते हो, तो हम नहीं मरेंगे; आ च गच्छान् मित्रमेना दधाम यदि वह यहाँ आयेगा, हम उसे मित्र वनायेंगे।

ई—खूव कम अवतरण ऐसे होते हैं जहाँ गौण विधायक शव्द के अभाव में भी उपवाक्य का तात्त्विक अधीनभाव क्रिया में उदात्तत्व ला देता है। यथा—संमश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु जव हमारे अश्व-पक्षयुक्त, जन संग्राम में आते हैं, हे इन्द्र ! हमारे पक्ष के रथी विजयी वनें। कदाचित्, जव कोई लोट्रूप दूसरे लोट्रूप के वाद इस तरह है कि इसका व्यापार द्वितीय का परिणाम रूप प्रतीत हो, तो वह उदात्त हो जाता है। यथा—आ गहि कण्वेषु सु सचा पिब यहाँ शीघ्र आओ, कन्वों के साथ ही पान करो (अर्थात् पीने के लिए)।

उ—कुछ अन्य निपात अपने ईषत् गौण-प्रभाव के चलते क्रिया को उदात्त युक्त वनाते हैं। इस प्रकार विशेष रूप से 'हि' (अपने निषेधार्थ के साथ, नहि) जो अपनी सर्वाधिक पूर्ण प्रयोगिता में क्योंकि का अर्थ द्योतित करता है, किन्तु जो इस अर्थ से प्रतिज्ञापनार्थ में अधिवर्तित हो जाता है; इससे संवद्ध क्रिया या क्रियाएँ नित्य उदात्त होती हैं। यथा—वि तं मुञ्चन्तां विमुचो हि सन्ति वे उसे छोड़ दें, क्योंकि वे मुक्तिदाता हैं; यच्चिद् धि—अनाशस्ता इव स्मसि

यदि हम वस्तुतः हैं जैसे कि अज्ञात हों;—नेद् भी (न + इद्) जिसका अ॰ नहीं तो, जो नहीं, है : यथा—नेत् त्वा तपाति सूरो अर्चिषा जिससे कि सूर्य तुम्हें अपनी रश्मि से जला न दे; विराजं नेद् विच्छिनदानीति अपने आप को कहते हुए—"यदि मैं विराज को काट न दूँ" (इस प्रकार के उदाहरण ब्राह्मणों में अधिक मिलते हैं);—और प्रश्नबोधक कुविद् क्या जो? यथा—उक्थेभिः कुविद् आगमत् क्या वह हमारी स्तुतियों के लिए यहाँ आयेगा?

५९६—किंतु, पुनः बहुत समय पूर्ववर्ती उपवाक्य की क्रिया प्रतिस्थापनात्मक निर्माण में उदात्त युक्त होती है।

अ—कभी-कभी दो उपवाक्यों का संबंध पूर्वखण्ड और उपसंहार-खण्ड के संबंध-जैसा सहज गृहीत हो सकता है; किंतु अधिक समय तो इस प्रकार का संबंध खूब अस्पष्ट होता है; और प्रतिस्थापन-स्वरूप साधारण समन्वय के के जैसे हो जाते हैं, उन दोनों के मध्य की रेखा मनमानी खीची-जैसी लगती है।

आ—कतिपय स्थलों में प्रतिस्थापन-भाव सहसंबंधी शब्दों की—विशेष-रूप से अन्य-अन्य, एक-एक, वा-वा, च-च, दो उपवाक्यों में उपस्थिति के चलते स्पष्टतर हो जाता है। यथा—प्र-प्रान्ये यन्ति पर्यन्य आसते कुछ आगे बढ़ते जाते हैं, दूसरे इधर उधर बैठ जाते हैं (जैसा कि मानो, जब कुछ आगे बढ़ते हैं, इत्यादि); उद् वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वम् या तो निकाल फेंक दो या भर दो; सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेमम् हे अग्नि, स्वतः प्रज्वलित हो जाओ, और इसको बढ़ा भी दो। किंतु इस प्रकार के योग के बिना भी ऐसा प्रयोग होता है; जैसे—प्राजाताः प्रजा जनयति परि प्रजाता गृह्णाति अजनमे बच्चे को वह जनमाता है, जनमते ही अंक लगाता है; अप युष्मद् अक्रमीन् नास्मानुपावर्तते (यद्यपि) वह तुमसे दूर चली गयी है, वह हमारे पास नहीं आयी है; नान्धोऽध्वर्युर भवति न यज्ञं रक्षांसि घ्नन्ति अध्वर्यु अंधा नहीं होता है, दानव यज्ञ का ध्वंस नहीं करते हैं; केन सोमा गृह्यन्ते केन हूयन्ते किससे (एक ओर) सोम गृहीत होते हैं? किससे (दूसरी ओर) ये आहूत होते हैं।

५९७—जब दो परिस्थापनात्मक उपवाक्यों की एक ही क्रिया हो, तो दूसरे में यह बहुधा लुप्त कर दी जाती है। इस प्रकार, उर्वी चासि वस्वी चाऽसि तुम चौड़ी हो और तुम अच्छी भी हो, जैसे पूर्ण-वाक्य प्रयोग के साथ-साथ अग्निर मुष्मिँ लोक आसीद् यमोऽस्मिन् उस लोक में अग्नि था, इस लोक में यम (था); अस्थनान्याः प्रजाः प्रतितिष्ठन्ति मांसेनान्याः अस्थि से कुछ जीव सुस्थित हैं, मांस से दूसरे; द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष

चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् हमारे सब कुछ की रक्षा करो जो कि द्विपाद है, और उसकी भी, जो चतुष्पाद है—जैसे अपूर्ण वाक्य-प्रयोग भी अपेक्षाकृत अधिक समय प्राप्त होते हैं।

अ—दो प्रतिस्थापनात्मक उपवाक्यों के प्रथम में क्रिया का स्वराघात ऐसा नियम है जिसका पालन वेद की अपेक्षा ब्राह्मणों में अधिक दृढता से होता है, और ऋ० वे० में सर्वाधिक कम दृढता से। यथा—ऋ० वे० में, अभि द्याम् महिना भुवम् (भुवम् नहीं) अभि माम् पृथिवीम् महीम् महत्त्व में मैं द्युलोक से बड़ा हूँ, इस महती पृथिवी से भी; और साथ ही, इन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः इन्द्र जानता है, और भीषण अंगिरस भी।

५९८—कुछ अल्पाधिक संदिग्ध स्थल होते हैं जहाँ क्रियारूप संभवतः प्रावल्य के चलते उदात्त होता है।

अ—इस प्रकार, यदा-कदा चन जिस किसी प्रकार के पूर्व और किल, अङ्ग, एव तथा (श० ब्रा० में नियमित रूप से) हन्त जैसे प्रतिज्ञापनार्थ के साथ। यथा—हन्तेमाम् पृथिवीं विभजामहै, चलो! इस पृथ्वी को हम लोग बाँट लें।

अध्याय—९

वर्तमान-प्रक्रिया

५९९—वतमान प्रक्रिया अथवा वर्तमान-प्रकृति से बनने वाले रूपों की प्रक्रिया (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) निश्चयार्थ वर्तमान-काल से बनती है, जिसमें लेट् (विशेष करके श्रेण्य संस्कृत में लुप्त), विधिलिङ्, लोट् और कालवाची कृदन्तक्रियारूप तथा एक भूतकाल भी, आगम-भूत जिसे हम (ग्रीक के सादृश्य से) इम्पर्फेक्ट की संज्ञा देते हैं, सम्मिलित हैं।

अ—ये रूप संस्कृत व्याकरणों में **सार्वधातुक** कालों के नाम से बहुधा अभिहित हैं, जब कि अन्य काल-प्रक्रियाएँ **'आर्धधातुक काल'** कही जाती हैं—जैसा कि प्रथम विशेष ढंग से बनी काल-प्रकृति या रूपान्तरित धातु से बने हैं जब कि द्वितीय सब-के-सब स्वतः धातु से आपाततः निष्पन्न होते हैं। इस प्रकार के नामकरण और भेद को सुरक्षित रखने में कोई तथ्य नहीं है, क्योंकि एक तो **सार्वधातुक** काल क्रियाओं के एक वर्ग में सीधे धातु से होते हैं, और दूसरी ओर अन्य काल प्रक्रियाएँ अधिकांशतः प्रकृतियों से बनती हैं—और लुङ् के प्रसंग में वर्तमान-प्रकृतियों—जैसी विविध रूप वाली प्रकृतियों से।

६००—व्यावहारिक दृष्टि से वर्तमान प्रक्रिया सम्पूर्ण क्रियारूप का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रधान अंश है, क्योंकि भाषा के आदिमकाल से इसके रूप अन्य सभी प्रक्रियाओं के सम्मलित रूपों की अपेक्षा अत्यधिक प्रयुक्त हैं।

अ—इस प्रकार वेद में इस प्रक्रिया के तिङन्त रूपों के प्रयोग अन्य सबों के प्रयोगों के साथ तीन एक के अनुपात में होते हैं, ऐतरेय ब्राह्मण में पाँच एक, हितोपदेश में छः एक, शकुन्तला में आठ एक और मनु में तीन एक-जैसे हैं।

६०१—पुनः चूँकि विभिन्न धातुओं में उनकी वर्तमान प्रकृति के निर्माण की विधि में बहुत वैविध्य प्राप्त हैं, उनके सर्वाधिक विलक्षण भेद के रूप में यही उनके प्रधान वर्गीकरण का आधार है; और क्रिया को हम इस या उस धातुरूप या गणवाली कहते हैं जिस विधि से इसकी वर्तमान प्रकृति बनाई जाती है अथवा रूपायित होती है।

६०२—थोड़ी-सी अल्पसंख्यक क्रियाओं में वर्तमान-प्रकृति धातु के तुल्य होती हैं। पुनः इसके अतिरिक्तभाव धातु से वर्तमान प्रकृति बनाने की अल्पा-

धिक मात्रा में सात विभिन्न विधियाँ (कर्मवाच्य भाव-वाच्य और णिजन्त को छोड़कर) हैं, प्रत्येक विधि विपुलतर या लघुतर संख्यावाली क्रियाओं में प्रयुक्त होती है। ये गण या धातुगण हैं जैसा कि देशी भारतीय वैयाकरणों ने माना है। उनके हाथ ये पूर्णतः कृत्रिम और अव्यवस्थित क्रम में रखे गये हैं (जिनका आधार कभी ज्ञात नहीं हुआ है); और यूरोपीय ग्रंथों में इन्हें इसी क्रम के अनुसार संज्ञित करने की रीति है अथवा भारतीय निर्देशानुसार उस धातु द्वारा जो कि भारतीय तालिकाओं में प्रत्येक गण के शीर्ष में प्राप्त है। एक भिन्न स्थापन और नामकरण यहाँ प्रस्तुत होगा। उदाहरणार्थ यह इस प्रकार होगा— ये गण दो अधिक सामान्य वर्गों, या क्रियारूपों में (जैसा कि यूरोपीय व्याकरणों में साधारण है) विभक्त होंगे, जो दोनों वर्ग विशिष्ट वर्गों को पृथक् करने वाले भेदों की अपेक्षा अधिक व्यापक भेदों द्वारा एक दूसरे से विभक्त हैं।

६०३—प्रथम अथवा अ—हीन क्रियारूप के गण यों होते हैं :

१—धातु-गण (भारतीय वैयाकरणों का द्वितीय अथवा **अदादि गण**); इसकी वर्तमान-प्रकृति स्वतः धातु के अनुरूप होती है। यथा **अद्** खाना; **ई** जाना; **आस्** बैठना; या जाना; **द्विष्** द्वेष करना, **दुह्** दूहना।

२—द्वित्वापन्न गण—(तृतीय अथवा **हु गण**) वर्तमान प्रकृति बनाने के लिए धातु का द्वित्व होता है। यथा—√(**हु**) हवन करना से **जुहु**; √(**दा**) देना से **ददा**; √(**भृ**) धारण करना से **बिभृ**।

३—नासिक्य वर्ग (सप्तम अथवा **रुधादि** गण); सबल रूपों में न अक्षर-जैसा विस्तारित होकर नासिक्य धातु में अन्त्य व्यंजन से पूर्व आता है। यथा √(**रुध्**) रोकना से **रुन्ध्** (या रुणध्); √(**युज्**) जोड़ना से **युञ्ज्** (या **युनज्**)।

४—अ-नु-वर्ग (पंचम या **स्वादि गण**); नु अक्षर धातु में जोड़ा जाता है। यथा—√ (**सु**)—निचोड़ना से **सुनु**; √(**आप्**) पाना से **आप्नु**।

आ—बहुत थोड़ी (केवल आधे दर्जन की) धातुओं से, जो पहले से न् अन्तवाली है, और बहुत प्रचलित तथा अत्यंत अनियमित ढंग से रूपायित होने वाली एक धातु से जो तथाविध अन्तवाली नहीं होती है (**कृ** बनाना) वर्तमान-प्रकृति बनाने में केवल **उ** जुड़ता है। यह भारतीय वैयाकरणों का अष्टम या **तनादि** गण होता है, हम इसे उपवर्ग, उ—वर्ग जैसा, सहज प्रतिष्ठित कर सकते हैं। यथा—**√तन** फैलाना से **तनु**।

५—ना-वर्ग (नवम या **क्र्यादि गण**); धातु में ना अक्षर (अथवा, नी

दुर्बलरूपों में) जोड़ा जाता है। यथा—√(क्री) खरीदना से **क्रीणा** (अथवा **क्रीणी**); √(स्तभ्) स्थापित करना से **स्तभ्ना** (या **स्तभ्नी**)।

६०४—इन वर्गों में समानरूप से सर्वाधिक मौलिक लक्षण—जैसा स्वर विचलन प्राप्त होता है; स्वरपात कभी तिङ्प्रत्यय पर होता है और कभी धातु या वर्ग-चिह्न पर। इसके साथ स्वतः प्रकृति में परिवर्तक आता है, जहाँ सबलतर या पूर्णतर रूप होता है यदि स्वरपात प्रकृति पर होता है, और दुर्बलतर अथवा संक्षिप्ततर रूप यदि स्वरपात प्रत्यय पर होता है। ये रूप क्रमशः सबल और दुर्बल रूप—जैसे भेद किये जाते हैं (आंशिक रूप से दोनों का निरूपण ऊपर हो चुका है)। साथ ही, इन वर्गों का परस्मैपदी विधिलिङ् इनका मध्यम पुरुष एकव० लोट्, इनका आत्मनेपदी अन्य पु० बहुव० और इनका आत्मनेपदी कालवाची कृदन्तक्रियारूप दूसरों से भिन्न प्रकार वाले होते हैं।

६०५—द्वितीय अथवा अ—क्रियारूप के वर्गों में वर्तमान-प्रकृति अ अन्तवाली होती है, और स्वरपात का नियत स्थान होता है जो नित्य रूप से प्रकृति के उसी अक्षर पर स्थिर रहता है और तिङ्प्रत्ययों पर कभी स्थानांतरित नहीं होता है। पुनः, विधि लिङ्, मध्यम० एकव० लोट्, आत्मनेपदी अन्य० बहुव० और आत्मनेपदी कालवाची कृदन्तक्रियारूप (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) अन्य क्रियारूप से भिन्न होते हैं।

६०६—इस क्रिया रूप के वर्ग इस प्रकार होते हैं :

(६) अ—वर्ग अथवा अनुदात्त अ—वर्ग (प्रथम या **भ्वादिगण**), युक्त वर्ग-चिह्न मात्र **अ** होता है, और उदात्त संपन्न धातु **गुण** द्वारा (यदि इसकी प्राप्ति संभव है) नित्य सबलीकृत हो जाती है। यथा—√(भू) होना से **भ॑व**, √(नी) ले जाना से **न॑य**; √(बुध्) जगाना से **बो॑ध**, √(वद्) बोलना से **व॑द**।

(७) अ॑—वर्ग अथवा उदात्तयुक्त **अ**—वर्ग (षष्ठ या **तुदादि** गण), पूर्ववर्ग की तरह युक्त-वर्गचिह्न **अ** है; किंतु इसमें उदात्त स्वर होता है और अनुदात्त धातु अ—सबलीकृत रहती है। यथा—√(तुद्) प्रेरणा देना से **तुद॑**; √(सृज्) छोड़ देना से **सृज॑**, √(सू) जन्म देना से **सुव॑**।

(८) **य**—वर्ग (चतुर्थ अथवा **दिवादि** गण); **य** धातु में जुड़ता है और उदात्त धात्वंश पर होता है। यथा, √(दिव्) (अविक संगत रूप से **दीव्**, द्रष्टव्य ७६५) खेलना से **दी॑व्य**; √(नह्) बाँधना से **न॑ह्य**; √(क्रुध्) क्रुध होना से **क्रु॑ध्य**।

(९) कर्मवाच्य-भाववाच्य क्रियारूप भी वस्तुतः केवल वर्तमान-प्रक्रिया है जहाँ ऐसा वर्ग-चिह्न मिलता है जो अन्य प्रक्रियाओं में नहीं आता है; यद्यपि

विशिष्ट अर्थ के चलते और सभी सकर्मक क्रियाओं से आत्मनेपद वाले रूप होने के कारण यह अन्य वर्गों से स्पष्टतः भिन्न होता है। अतएव इसके रूपविधान का विवेचन य—वर्ग के बाद ही प्रस्तुत करना संगत होगा, जिसके साथ यह प्रायः सर्वाधिक संबद्ध है और उससे उसी प्रकार भिन्न होता है जिस प्रकार अ́-वर्ग अ-वर्ग से। इस प्रकार धातु में उदात्तित य́ जोड़कर इसकी प्रकृति बनाई जाती है। यथा—√(अद्) खाना से अद्य́, √(रुध्) रोकना से रुध्य́; √(बुध्) जगाना से बुध्य́, √(तुद्) प्रेरणा देना से तुद्य́।

६०७—भारतीय वैयाकरण दशम वर्ग या **चुरादि गण** मानते हैं, जहाँ सबलीकृत धातु में अ́य वर्ग-चिह्न जुड़ा रहता है (इस प्रकार, √(चुर्) से चोर́य), और अन्य अ—मूलों की तरह रूप विधान होता है। किंतु, यह प्रकृति चूँकि वर्तमान-प्रक्रिया में सीमित नहीं होती है, अपितु क्रियारूप के अवशिष्ट अंशों में भी प्राप्त है—पुनः जब कि इसमें णिजन्तार्थ भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है और इस अर्थ को लेकर बहुसंख्यक धातुओं से यह बनाया जा सकता है—यौगिक क्रियारूपों (अध्याय १४, मु० वि० १०४१) के साथ ही इसका पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

६०८—थोड़ी संख्या वाली धातुओं से वर्तमान-प्रक्रिया छ् जोड़ती हैं अथवा अपने अन्त्य व्यंजन के स्थान में छ् का आदेश करती हैं, और छ या छ́ अन्त-वाली प्रकृति बनाती हैं जिनके रूप तब अन्य अ—प्रकृति की तरह चलते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह वस्तुतः अवशिष्ट चिह्नों के अनुरूप यथार्थ वर्ग-चिह्न है, किंतु इस विकरण की क्रियाएँ इतनी कम हैं और रूप निर्माण में इतनी अनियमित हैं कि उनको एक में एक साथ रखना संगत नहीं है, अपितु अन्य वर्गों में समाविष्ट होनेवाले विशेष उदाहरणों के रूप में उन्हें ग्रहण करना समीचीन होगा।

अ—छ जोड़ने वाली धातुएँ ऋ और यु हैं, जिनसे ऋच्छ́ और यु́च्छ प्रकृतियाँ बनती हैं।

आ—जिन धातुओं के अन्त्य के लिए छ् आदेश होता है, वे **इष्**, **उष्** (या **वस्** चमकना) **गम्**, **यम्** हैं, इनसे इच्छ́, उच्छ́, गच्छ́, यच्छ́, प्रकृतियाँ बनाई जाती हैं।

इ—तथा-कथित छ् अन्त वाली धातुओं में से अनेक अल्पाधिक मात्रा में स्पष्टतः प्रकृतियाँ होती हैं जिनका प्रयोग वर्तमान से अन्य कालों की प्रक्रियाओं में विस्तारित हुआ है।

६०९—उत्तरकाल की भाषा में भी धातुएँ अपनी वर्तमान-प्रकृति के रूप-

निर्माण की एक विधि में पूर्णतः सीमित नहीं हैं, किंतु कभी-कभी दो या अधिक विभिन्न क्रियारूप-वर्गों में स्थित मानी जाती हैं। पुनः रूपनिर्माण का ऐसा वैविध्य वेद में विशेष रूप से आता है, वहाँ प्रयुक्त धातुओं के एक वृहत् अनुपात से यह स्पष्ट है; किंतु ब्राह्मणों में ही ऐसी स्थिति आ जाती है जो इस दिशा में श्रेण्य भाषा से लगभग मिलती जुलती है। विभिन्न वर्तमान-रूपनिर्माणों में अर्थ की विभिन्नताएँ कभी-कभी प्राप्त होती हैं; तथापि अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण विभिन्नताएँ समान रूपनिर्माण में बहुधा नहीं आती हैं और ऐसी भी स्थिति प्राप्त नहीं होती जिससे कि वर्तमानों के पृथक् वर्गों में मूलतः आने वाली प्रयोगिता का अंतर स्पष्ट हो सके। यदि इस प्रकार का कोई तथ्य निर्धारित करना है, तो यह यौगिक क्रियारूपों से संभव है, जो वर्तमान-प्रक्रियाओं से किसी प्रकार की स्थिर रेखा के विना पृथक्कृत होते हैं।

६१०—ऊपर निर्दिष्ट क्रम में विभिन्न वर्गों का ग्रहण हम करेंगे जिससे सविस्तर और सोदाहरण इनकी वर्तमान-प्रक्रियाओं का सम्यक् वर्णन और प्रत्येक वर्ग में आने वाली अनियमितताओं का परिचय हो सके।

१—धातु-वर्ग (द्वितीय, अदादि गण)

६११—इस वर्ग में कोई वर्ग-चिह्न नहीं होता है; धातु स्वतः वर्तमान प्रकृति भी होती है, और इसमें तिङ्प्रत्यय सीधे जोड़े जाते हैं—किंतु लोट् और विधि लिङ् में संबद्ध प्रकार-चिह्न के साथ युक्त हैं, तथा—लङ् में धातु से पूर्व आगम लगाया जाता है।

अ—उदात्तयुक्त तिङ्प्रत्ययों (५५२) का उदात्त नियमित रूप से बना रहता है—केवल लङ् में यह आगम पर होता है—और इनसे पूर्व धातु अपरिवर्तित बनी रहती है; अनुदात्त तिङ्प्रत्ययों से पूर्व धातु गुण सबल भाव को प्राप्त करती है।

आ—प्रथम तीन वर्गों में ही ऐसा होता है कि तिङ्-प्रत्यय धातु के अन्त्य व्यंजन के अव्यवहित संपर्क में आते हैं, और व्यंजन संधि के नियम द्रष्टव्य और प्रयोजनीय हैं। फलतः इन वर्गों में संयोजन की विधियों को स्पष्ट करने के लिए अतिरिक्त रूपावली दी जायगी।

१—वर्तमान निश्चयार्थ रूप

६१२—तिङ्प्रत्यय मुख्य (आत्मनेपदी अन्य० बहुव० में अते के साथ) हैं जो मात्र धातु में जोड़े जाते हैं। धातु पर उदात्त स्वर रहता है और परस्मैपदी तीनों पुरुष एकव० में धातु का गुणभाव, यदि इसकी प्राप्ति संभव हो, होता है।

रूप विधान के उदाहरण : अ—परस्मैपदी धातु इ जाना—धातु-प्रकृति का सबल रूप एं; दुर्बल रूप इ; आत्मनेपदी धातु आस् बैठना, प्रकृति आस् (अनियमित ढंग से सर्वत्र उदात्तस्वर युक्त, ६२८)।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	एमि	इवस्	इमस्	आसे	आस्वहे	आस्महे
म०	एषि	इथस्	इथ	आस्से	आसाथे	आद्ध्वे
अ०	एति	इतस्	यन्ति	आस्ते	आसाते	आसते

आ—धातु द्विष् द्वेष करना :—सबल प्रकृति-रूप द्वेष् दुर्बल द्विष्। अन्त्य ष् से संबंध संधि के नियमों के लिए दे० २२६।

उ०	द्वेष्मि	द्विष्वस्	द्विष्मस्	द्विषे	द्विष्वहे	द्विष्महे
म०	द्वेक्षि	द्विष्ठस्	द्विष्ठ	द्विक्षे	द्विषाथे	द्विड्ढ्वे
अ०	द्वेष्टि	द्विष्टस्	द्विषन्ति	द्विष्टे	द्विषाते	द्विषते

इ—धातु दुह् दूध दूहना :—सबल प्रकृति—रूप दोह्; दुर्बल दुह्। अन्त्य ह् विषयक सन्धि के नियमों के लिए और ध् में आदि के परिवर्तन के लिए द्रष्टव्य २२२ अ, १५५, १६०।

उ०	दोह्मि	दुह्वस्	दुह्मस्	दुहे	दुह्वहे	दुह्महे
म०	धोक्षि	दुग्धस्	दुग्ध	धुक्षे	दुहाथे	धुग्ध्वे
अ०	दोग्धि	दुग्धस्	दुहन्ति	दुग्धे	दुहाते	दुहते

इ—धातु लिह् चाटना—सबल प्रकृति लेह् ; दुर्बल लिह्। अन्त्य ह् की सन्धि के नियमों के लिए देखिये २२२ आ।

उ०	लेह्मि	लिह्वस्	लिह्मस्	लिहे	लिह्वहे	लिह्महे
म०	लेक्षि	लीढस्	लीढ	लिक्षे	लिहाथे	लीढ्वे
अ०	लेढि	लीढस्	लिहन्ति	लीढे	लिहाते	लिहते

६१३—रूप में उत्तम० एकव० के संपाती अन्य० एकव० के उदाहरण प्राचीनतर भाषा (वे० और ब्रा० दोनों) में विरल नहीं हैं। सर्वाधिक प्रयुक्त उदाहरण होते हैं :—ईशे, दुहे, विदे, शये; अपेक्षाकृत कादाचित्क हैं—चिते, ब्रुवे, हुवे। मध्यम० बहुव० के थ में न जोड़ा जाता है—स्थन, पाथन, याथन। ऋ० वे० में आत्मनेपदी अन्य० बहुव० का अनियमित स्वरपात रिहते, दुहते में पाया जाता है। उसी पुरुष के उदाहरण रे और रते अन्तवाले भी होते हैं; यथा (नीचे निर्दिष्टों के अतिरिक्त, ६२९–३०, ६३५) विद्रे

और सहायक **अच्** के साथ **अर्हिरे** (अन्यथा इन्हें द्वित्वाभाव वाले परोक्ष रूप ही माने, ७९० आ)।

२—वर्तमान लेट्

६१४—इस वर्ग के लेट् रूप प्राचीनतर भाषा में असामान्य नहीं हैं, और प्रायः सभी रूप जो रूपनिर्माण में संभव हैं वेद से या ब्राह्मण से उद्धरणीय है। फलतः संपूर्ण रूपतालिका नीचे दी जाती है, अनुद्धरणीय कुछ रूप कोष्ठों के अंदर आवेष्टित किये गये हैं। आदर्शों के रूप में (ऊपर की तरह) हम परस्मैपद के के लिए धातु **इ** जाना को और आत्मनेपद के लिए धातु **आस्** बैठना को ले सकते हैं, जिन दोनों से बहुत-से रूप उपलब्ध हैं (यद्यपि न इन दोनों से, न किन्हीं दूसरी धातुओं से वास्तविक प्रयोग में संपूर्ण सूची प्राप्त हो सकती है)।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	अयानि अया	अयाव	अयाम	आसै	आसावहै आसावहे	आसामहै आसामहे
म०	अयसि अयस्	अयथस्	अयथ	आससे आसासै	आसैथे	आसध्वे आसाध्वै
अ०	अयति अयत्	अयतस्	अयन्	आसते आसातै	आसैते	(आसन्ते)-न्त आसान्तै

६१५—ऋ० वे० में उत्तम० के रूपों को छोड़कर अन्य कोई आत्मनेपदी रूप **ऐ** अन्तवाला नहीं है। **आ** अन्तवाला परस्मैपदी उत्तम० एकव० रूप केवल ऋ० वे० के **अया, ब्रवा, स्तवा** में मिलता है। मुख्य तिङ्-प्रत्ययों के मध्यम० और अन्य० एकवचन रूप ब्राह्मणों में असामान्य हैं। अ० वे० और ब्रा० में अनियमित ढंग से बने दीर्घ आ वाले रूप अ अन्तवाली वर्तमान प्रकृतियों से बने रूपों की तरह विरल नहीं है। यथा—**अयास्, अयात्, अयान्; असात्, ब्रवात्; ब्रवायस्; असाथ, अयाथ, ब्रवाथ, हनाथ; अदान्, दोहान्।** गौण तिङ्-प्रत्ययों से युक्त आत्मनेपदी रूपों में **हनन्त** अन्य० बहुव० और **ईशत** अन्य० एकव० (निषेधार्थक **मा** के बाद) होते हैं जो विकीर्ण उदाहरण हैं। **ऐते** अंतवाला द्विव० रूप केवल **ब्रवैते** मिलता है।

३—वर्तमान विधिलिङ्

६१६—इस प्रकार (या परस्मैपद में, ई आत्मनेपद में) के प्रकार-चिह्न युक्त तिङ्प्रत्यय सम्पूर्णतः ऊपर (५६६) दिये गये हैं। प्रकृति-रूप अनुदात्त और असबलीकृत धातु है।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	इयाम्	इयाव	इयाम	आसीय	आसीवहि	आसीमहि
म०	इयास्	इयातम्	इयात	आसीथास्	आसीयाथाम्	आसीध्वम्
अ०	इयात्	इयाताम्	इयुस्	आसीत	आसीयाताम्	आसीरन्

अ—इसी ढंग से √द्विष् से द्विष्याम् और द्विषीय; √दुह् से दुह्याम् और दुहीय; √लिह् से लिह्याम् और लिहीय। रूपविधान इतना नियमित होता है कि ऊपर दिया गया उदाहरण पर्याप्त है, केवल द्विषीय अपेक्षित है जिससे आत्मनेपद वाला सामान्य स्वरपात परिलक्षित हो जाय। इस प्रकार एकव० रूप द्विषीय, द्विषीथास्, द्विषीत; द्विव० द्विषीवहि, द्विषीयाथाम्। द्विषीयाताम्; बहुव० द्विषीमहि, द्विषीध्वम्, द्विषीरन्।

आ—ऋ० वे० में परस्मैपदी मध्यम० बहुव० से तन (स्यातन में) एक वार प्राप्त है।

४—वर्तमान लोट्

६१७—मध्यम० और अन्य पुरुषों में लोट् धातु-प्रकृति में निजी तिङ्प्रत्ययों (आत्मनेपदी अन्य० बहुव० में अताम् को लेकर) को सीधे जोड़ता है। परस्मैपद अन्य० एकव० में प्रकृति उदात्तित और सवलीकृत होती है; अन्यत्र स्वरपात प्रत्यय पर होता है और धातु अपरिवर्तित रहती है। उत्तरकाल के तथाकथित उत्तम० रूप प्राचीन लेट् से प्राप्त हैं और इसमें प्रकृति सवल और उदात्त वनी रहती है; ऊपर जहाँ ये दिये गये हैं (६१४ अ) वहाँ से ये पुनः रखे जाते हैं। परस्मैपदी मध्यम० एकव० में (परवर्ती दो वर्गों की तरह) तिङ्प्रत्यय नियमित रूप से धि होता है यदि धातु व्यंजनान्त हो, और हि, यदि यह स्वरान्त हो। उदाहरण स्वरूप हम प्रयोजनार्थ पूर्व प्रयुक्त धातुओं को रखते हैं।

अ—इस प्रकार इ और आस् धातुओं से :—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	अयानि	अयाव	अयाम	आसै	आसावहै	आसामहै
म०	इहि	इतम्	इत	आस्स्व	आसाथाम्	आद्ध्वम्
अ०	एतु	इताम्	यन्तु	आस्ताम्	आसाताम्	आसताम्

आ—द्विष् और दुह् और लिह् धातुओं से :—

उ०	द्वेषाणि	द्वेषाव	द्वेषाम	द्वेषै	द्वेषावहै	द्वेषामहै
म०	द्विड्ढि	द्विष्टम्	द्विष्ट	द्विक्ष्व	द्विषाथाम्	द्विड्ढ्वम्
अ०	द्वेष्टु	द्विष्टाम्	द्विषन्तु	द्विष्टाम्	द्विषाताम्	द्विषताम्
उ०	दोहानि	दोहाव	दोहाम	दोहै	दोहावहै	दोहामहै
म०	दुग्धि	दुग्धम्	दुग्ध	धुक्ष्व	दुहाथाम्	धुग्ध्वम्
अ०	दोग्धु	दुग्धाम्	दुहन्तु	दुग्धाम्	दुहाताम्	दुहताम्
उ०	लेहानि	लेहाव	लेहाम	लेहै	लेहावहै	लेहामहै
म०	लीढि	लीढम्	लीढ	लिक्ष्व	लिहाथाम्	लीढ्वम्
अ०	लेढु	लीढाम्	लिहन्तु	लीढाम्	लिहाताम्	लिहताम्

६१८—प्राचीनतर भाषा में इस वर्ग की कुछ क्रियाओं से परस्मैपदी मध्यम० तिङ्प्रत्यय तात् प्राप्त होता है। यथा—**वित्तात्, वीतात्, ब्रूतात्, हतात्, यातात्, स्तुतात्**। आत्मनेपदी अन्य० एकव० में दो या तीन धातुओं से तिङ्-प्रत्यय **आम्** प्राचीनतर भाषा में मिलता है। जैसे—**दुहाम्** (केवल ऋ०वे० प्रयोग), **विदाम्ः शयाम्**; अन्य० बहुव० के लिए अ० वे० में **दुह्राम्** और **दुह्रताम्** प्राप्त हैं। मध्यम० बहुव० में **त** के लिए **तन** का प्रयोग वेद में खूब मिलता है, उदाहरणार्थ **इतन, यातनः अत्तन** इत्यादि। पुनः उसी पुरुष में हमें सबल (और उदात्तित) प्रकृति के उदाहरण मिलते हैं—**स्तोत एत एतन, ब्रवीतन, शास्तन, हन्तन**।

५—वर्तमानकालवाची कृदन्तक्रियारूप

६१९ अ—परस्मैपदी कृदन्तक्रियारूप का प्रत्यय **अन्त्** (दुर्बल प्रकृति-रूप **अत्**) है जो असबलीकृत धातु में जोड़ा जाता है। मोटे तौर पर यह अन्य० बहुव० से अन्त्य **इ** को लुप्त कर बनाया जा सकता है। इस प्रकार ऊपर रूपायित क्रियाओं से परस्मैपदी कृदन्तक्रियारूप **यन्त्, दुहन्त्, द्विषन्त्, लिहन्त्** होते हैं। स्त्रीलिंग प्रकृति सामान्यतया अती अन्तवाली होती है; यथा—**यती, दुहती, द्विषती, लिहती**; किंतु **आ** अन्तवाली धातुओं से **आन्ती** या **आती** अंतवाली (४४९ ए)।

आ—आत्मनेपदी कृदन्तक्रियारूप का प्रत्यय **आन** होता है जो अवर्धित धातु में जुड़ता है। यथा—**दूयान, दुहान, द्विषाण, लिहान**।

इ—**आस्** धातु से विसंगत और विकीर्ण रूप **आसीन** (ऋ० वे० में **आसान** भी) होता है।

ई—किंतु इन कृदन्तक्रियारूपों में से अनेक से प्राचीनतर भाषा में दोहरा

स्वरपात मिलता है, या तो प्रत्यय पर या धातुमूलक अक्षर पर। उदाहरणार्थ—ईशानं और ईशान, ओहानं, और ओहान, दुहानं और दुहान (साथ ही, दुघान), रिहाणं और रिहाण, विदानं और विदान, सुवानं और सुवान, स्तुवान और स्तवानं और स्तवान—अंतिम में आंशिक रूप से धातु का सवल रूप भी प्राप्त है।

६—लङ्

६२०—यह काल आगम के पूर्व योग द्वारा वर्धित धातु में गौण तिङ् प्रत्ययों को जोड़ता है। परस्मैपदी तीनों पुरुषों के एकवचन में धातु का गुण-सवलीकरण (यदि इसकी प्राप्ति संभव है) होता है, यद्यपि स्वरपात सदा आगम पर बना रहता है। रूपविधान के उदाहरण होते हैं :

अ—इ और आस् धातुओं से :—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	आयम्	ऐव	ऐम	आसि	आस्वहि	आस्महि
म०	ऐस्	ऐतम्	ऐत	आस्थास्	आसाथाम्	आद्ध्वम्
अ०	ऐत्	ऐताम्	आयन्	आस्त	आसाताम्	आसत

आ—द्विष् और दुह् और लिह् धातुओं से :—

उ०	अद्वेषम्	अद्विष्व	अद्विष्म	अद्विषि	अद्विष्वहि	अद्विष्महि
म०	अद्वेट्	अद्विष्टम्	अद्विष्ट	अद्विष्ठास्	अद्विषाथाम्	अद्विड्ढ्वम्
अ०	अद्वेट्	अद्विष्टाम्	अद्विषन्	अद्विष्ठ	अद्विषाताम्	अद्विषत
उ०	अदोहम्	अदुह्व	अदुह्म	अदुहि	अदुह्वहि	अदुह्महि
म०	अधोक्	अदुग्धम्	अदुग्ध	अदुग्धास्	अदुहाथाम्	अधुग्ध्वम्
अ०	अधोक्	अदुग्धाम्	अदुहन्	अदुग्ध	अदुहाताम्	अदुहत
उ०	अलेहम्	अलिह्व	अलिह्म	अलिहि	अलिह्वहि	अलिह्महि
म०	अलेट्	अलीढम	अलीढ	अलीढास्	अलिहाथाम्	अलीढ्वम्
अ०	अलेट्	अलीढाम्	अलिहन्	अलीढ	अलिहाताम्	अलिहत

६२१—अ—उत्तरकाल की भाषा में **आ** अंतवाली धातुओं के परस्मैपदी अन्य० वहुव० में **अन्** की जगह **उस्** विकल्पभाव से आता है (इसके पूर्व आ लुप्त हो जाता है), और प्राचीनतर भाषा में इनमें ऐसा नित्य है। यथा, √(या) से अयुस्; √(पा) रक्षा करना से अपुस्; √(भा) से अभुस

√(विद्) जानना, चक्ष्, द्विष्, दुह्, मृज् जैसी कुछ व्यंजनांत धातुओं में भी यह प्रत्यय विहित है और प्राप्त है। ऋ० वे० में अत्विषुस् आया है।

आ—वेद में परस्मैपदी मध्यम० बहुव० तन प्रत्यय अयातन, असस्तन, ऐतन, अब्रवीतन में पाया जाता है। सबल प्रकृति उत्तम० बहुव० होम और मध्यम० अब्रवीत और अब्रवीतन में देखा जाता है।

इ—मध्यम० और अन्य० के एकवचन में लाक्षणिक तिङ्प्रत्ययों की रक्षा के लिए अद् धातु से अ का आगम होता है। यथा—आदस्, आदत्। धातु अस् से ई का आगम, जैसे आसीस्, आसीत् (द्रष्टव्य नीचे, ६३६)। विशेप तुलनीय ६३१-४।

६२२—प्राचीनतर भाषा में इस काल के आगमविहीन तिङन्तरूपों के प्रयोग का उल्लेख ऊपर (५४७) हो चुका है। इस वर्ग के आगमरहित लङ्-रूप वेद में असामान्य ही हैं—यथा हन्, वस् मध्यम० एकव०; हन्, वेत्, स्तौत्, दन् (?) अन्य एकव० ब्रुवन्, दुहुस्, चक्षुस् अन्य बहुव०; वस्त, सूत आत्मनेपदी अन्य० एकव०।

६२३—लुङ् का प्रथम या धातु रूप अपने रूपनिर्माण में इस लङ् के तुल्य होता है। द्रष्टव्य नीचे ८२९ मु० वि०।

६२४—वेद में (किंतु ऋ० वे० के अन्यत्र कठिनता से) (उदात्त और सबलीकृत) धातु से तिङ्-प्रत्यय सि लगाकर बने कुछ मध्यम० एकव० रूप पाये जाते हैं जिनमें लङ् की प्रयोगिता विद्यमान है। ये आंशिक रूप में प्रकृत-धातुओं से संबद्ध धातुरूप ही हैं। इस प्रकार जोषि (जोषिष के लिए, √(जुष्) से), धक्षि, पर्षि √ (पृ) पूर्ण करना) प्रासि, भक्षि, रत्सि, सत्सि, होषि; किन्तु इनके अधिकांश में तो इनके साथ-साथ धातु-वर्तमान के अथवा कभी-कभी धातु-लुङ् के (एक या अनेक) रूप होते हैं। यथा—क्षेषि (√(क्षि) शासन करना), जेषि, दर्षि, नक्षि (√(नश्) प्राप्त करना), नेषि, मत्सि, मासि (√(मा) मापना), यक्षि, यंसि, वासि, योत्सि, रासि वक्षि (√(वह्), वेषि, श्रोषि, सक्षि। इनका आकारित लक्षण बहुत कुछ संदिग्ध हैं; किन्तु ये संभवतः धातुवर्ग के निश्चययार्थ मूलक तिडन्तरूप होते हैं, जो लङ् की तरह प्रयुक्त हैं।

६२५—इस वर्ग के रूप पूर्वतरकालिक भाषा में अथवा उत्तरकालिक में अथवा दोनों में लगभग १५० धातुओं से बने हैं, यथा—भाषा के समग्र जीवन में प्रायः ५० से, मात्र प्राचीनतर काल (वेद, ब्राह्मण और सूत्र) में ८० से और केवल उत्तरकाल (रामा० महाभा० और श्रेण्य) में (लगभग १५)

कुछ से[1]। किन्तु इन धातुओं में से अनेक किसी अन्य वर्ग के अपेक्षाकृत अधिक सामान्य क्रियारूप के अतिरिक्त केवल विकीर्ण धातुरूप रखती हैं; न तो सब स्थलों में धातु-लुङ्रूपों से धातु-लट् को स्पष्टतः पृथक् करना संभव है।

अ—इस वर्ग की धातुओं से प्रथम धातुरूप के अन्य वर्गों को तरह द्वितीय अथवा अ—क्रियारूप में अंतरण देखे जाते हैं, जहाँ इनकी सवल या दुर्वल प्रकृति में अथवा दोनों में भी **अ** लगाकर धातु-प्रकृति बनाई जाती है। यथा—√(मृज) से **मार्ज** (६२७) और **मृज** दोनों ही। इस प्रकार के अंतरण प्राचीनतम भाषा में प्राप्त हैं, किंतु उत्तरकाल में ये सामान्यतया अपेक्षाकृत अधिक व्यवहृत हैं जिससे पूर्वतर प्रकार के आदेश स्वरूप अथवा उसके साथ वर्तमान रूपविधान का एक नया प्रकार वहुधा स्थापित हो जाता है।

आ—कतिपय धातुओं में रूपविधान की अनियमितताएँ प्राप्त होती हैं, निम्न परिच्छेदों में ये मुख्य रूप से निर्दिष्ट हैं।

धातु-वर्ग की अनियमितताएँ

६२६—वर्ग की **उ** अन्त वाली धातुएँ अपने सवल रूपों में व्यंजनादि तिङ्-प्रत्यय से पूर्व गुण सवलीकरण की जगह वृद्धि भाव ग्रहण करती हैं। इस प्रकार √(स्तु) से **स्तौमि, अस्तौत्** प्रभृति; किंतु **अस्तवम्, अस्तवानि** इत्यादि।

अ—वास्तविक प्रयोग में जिन धातुओं के साथ यह विलक्षणता देखी जाती है, वे हैं—**क्ष्णु, यु** जोड़ना, **सु** (या **सू**) प्रेरणा देना, **स्कु, स्तु, स्नु** (ये पूर्वतर भाषा में प्राप्त हैं), **नु, रु,** और **हनु**। ऋ० वे० में एक बार **स्तोषि** और **अनावन्** प्राप्त हैं। ६३३ भी तुलनीय।

६२७—**मृज्** धातु भी अपने सवल रूपों में वृद्धि स्वर रखती है, यथा—**मार्ज्मि, अमार्जम्, अमार्ट्** (१५० आ), और इसी प्रकार का सवल भाव दुर्वल रूपों में स्वरादि तिङ्प्रत्ययों से पूर्व विहित माना जाता है, जैसे—**मार्जन्तु, अमार्जन्;** किन्तु एकमात्र उद्धरणीय प्रयोग **मार्जीत** (ला० श्रौ० सू०) है। अ—प्रकृतियों के रूप अ० वे० में ही आने लगते हैं।

अ—अन्य काल-प्रक्रियाओं में भी तथा व्युत्पत्ति में मृज् से वहुधा गुण-सवलीकरण के स्थान में वृद्धि देखी जाती है।

---

१. क्रियारूप की पद्धति के विभिन्न अंशों के विषय में संख्याओं को लेकर इस प्रकार के उल्लेख लेखक के प्रस्तुत व्याकरण के पूरक से हैं, जिस पूरक का नाम है "संस्कृत भाषा की धातुएँ, क्रिया-स्वरूप और कृदन्त व्युत्पन्न", जहाँ धातुओं की सूचियों और रूपों प्रभृति को लेकर विस्तृत विवेचन भी दिये गये हैं।

६२८—कतिपय धातुओं से सबल और दुर्बल दोनों रूपों में उदात्त सर्वत्र धातु मूलक अक्षर पर होता है। यथा—वे सभी जो दीर्घ स्वर से आरंभ होती हैं, आस्, ईड्, ईर्, ईश्; और साथ ही, चक्ष्, तक्ष्, त्रा, निंस्, वस् वस्त्र धारण करना, शिञ्ज्, शी लेटना, और सू। तक्ष् और त्रा (त्रा भी वैदिक रूपों में) को छोड़कर अन्य इन सबों के रूप साधारणतया केवल आत्मनेपद में चलते हैं। वेद में इसी प्रकार के अनियमित उदात्तवाले रूप यदा-कदा अन्य क्रियाओं से भी मिलते हैं; यथा—मंत्स्व, यंक्ष्व, संक्ष्व, सांक्ष्व, ऋंधत्। तथाविध उदात्त से युक्त आत्मनेपदी कृदन्तक्रियारूप ऊपर (६१९ ई) निर्दिष्ट हो चुके हैं।

६२९—विगत परिच्छेद में उल्लिखित धातुओं में से शी लेटना का गुणभाव नित्य है; यथा—शंये, शेंषे, शंयीय, शंयान इत्यादि। इसके रूपविधान की अन्य अनियमितताएँ (आंशिक रूप से हम देख चुके हैं) होती हैं: अन्य० बहुव० रूप शेंरते (अ० वे० प्रभृति में शेंरे भी मिलता है), शेरताम्, अंशेरत (ऋ० वे० में अंशेरन् भी है), अन्य एकव० लट् शंये (रामा०) और लोट् शंयाम्। विकीर्ण परस्मैपदी रूप अंशयत् प्राचीनतर भाषा में सामान्य हैं; अन्य अ-रूप, परस्मैपदी और आत्मनेपदी दोनों ही, उत्तरकाल में आते हैं।

६३०—इन्हीं धातुओं में से ईड् और ईश् कुछ तिङ्प्रत्ययों से पूर्व संयोजन-स्वर इ को मध्यागमित करती हैं: यथा—ईंशिषे, ईंशिध्वे, ईंडिष्व (केवल ये तीन रूप प्राचीनतर भाषा में प्राप्त हैं); किन्तु ऋ० वे० में ईंशिषे के अतिरिक्त ईंक्षे होता है, श्वेत० उप० में ईंष्टे के लिए एक बार ईशिते प्राप्त है। अन्य० बहुव० ईंशिरे भी (अपने उदात्तत्व के चलते) स्पष्टतः लिट् की अपेक्षा लट् है। मै० सं० में अन्य० एकवचन लङ् ऐश (अदुह की तरह, ६३५) एक बार मिलता है।

६३१—मध्यम० और अन्य० एकव० लङ् के स् और त् को छोड़कर अन्य सभी व्यंजन-आदि वाले तिङ्प्रत्ययों से पूर्व रुद् रोना, स्वप् सोना, अन् सांस लेना और श्वस् फूँकना धातुओं में संयोजन स्वर का मध्य सर्ग ई होता है, मध्यम० और अन्य० एकव० में उसकी जगह या तो अ या ई मध्यागमित होता है। यथा—स्वंपिमि, श्वंसिपि, अंनिदि और आंनत् या आंनीत्। पुनः अन्य रूपों में अंतिम तीन का स्वरपात या तो धातु पर हो सकता है या तिङ्-प्रत्यय पर—यथा, स्वंपन्तु और श्वंसन्तु (अ० वे०), अथवा स्वपंन्तु प्रभृति। अ० वे० में स्वंपितु के लिए स्वंप्तु प्राप्त है।

अ—प्राचीनतर भाषा में √(वम्) से भी उसी प्रकार के मध्यम प्रत्यय लगते हैं; यथा—**वमिति, अवमीत्**; तथा अन्य उदाहरण यदा-कदा प्राप्त हैं, जैसे—**जनिष्व, वसिष्व** (√(वस्) वस्त्र धारण करना), **श्नथिहि, स्तनिहि** (सभी ऋ० वे० वाले), **यमिति** (जै० ब्रा०), **शोचिमि** (महाभा०)। दूसरी ओर √(अन्) के रूप पूर्वकाल में अ-प्रकृति से बनते हैं; यथा—**अनति** (अ० वे०), वर्तमान कालवाची कृदन्तक्रियारूप **अनत्** (श० ब्रा०); विधि लिङ् **अनेत्** (ऐ० ब्रा०)।

६३२—धातु **ब्रू** बोलना, कहना (अत्यधिक प्रयोगवाली) धातु के बाद, सवलीकृत होने पर, तिङ्प्रत्यय के आदि व्यंजन से पूर्व ई संयोजन-स्वर ग्रहण करती है; यथा—**ब्रवीमि, ब्रवीषि, ब्रवीति, अब्रवीस्, अब्रवीत्**; किंतु **ब्रूमस्, ब्रूयाम्, अब्रवम्, अब्रुवन्** इत्यादि। विशिष्ट कादाचित्क अनियमितताएँ **ब्रूमि, ब्रवीहि, अब्रुवस्, अब्रूवन्, ब्रुयात्**, तथा अ-प्रकृति से विकीर्ण रूप हैं। लेट् द्विव० **ब्रवैते** ऊपर (६१५) निर्दिष्ट हो चुका है; साथ ही, **अब्रवीत, अब्रवीतन** (६२१ अ)।

६३३—**उ** अंतवाली कुछ धातुओं के रूप **ब्रू** का तरह विहित हैं; उदाहरणस्वरूप **कु, तु, रु** और **स्तु**; तथा उस प्रकार से बने रूप का कादाचित्क प्रयोग प्राप्त होता है (प्राचीनतर भाषा में केवल **तवीति** देखा गया है; उत्तरकाल में केवल **स्तवीमि**, एक बार)।

६३४—**अम्** धातु (कठिनता से उत्तरकाल की भाषा में प्राप्त) से संयोजन-स्वर **ई** आता है : यथा—**अमीषि** (ऋ० वे०), **अमीति**, और **अमीष्व** तथा **असीष्व** (तै० सं०)। √(शम्) से **शमीष्व** (वा० सं०, **शमिष्व** तै० सं०) और **शमीध्वम्** (तै० ब्रा० प्रभृति) मिलते हैं।

६३५—प्राचीनतर भाषा में √(दुह्) की अनियमितताएँ ऊपर आंशिक रूप से निर्दिष्ट हो चुकी हैं : आत्मनेपद अन्य० बहुव० निश्चयार्थक **दुह्रते, दुह्रे** और **दुह्रते**; अन्य० एकव० लोट् **दुहाम्**; बहुव० **दुह्राम्** और **दुह्रताम्**; परस्मै० अन्य० एकव० लङ् **अदुहत्** (जो उत्तरकाल की भाषा में भी प्राप्त है), अन्य० बहुव० **अदुह्रन्** (**अदुहन्** और **दुहुस्** के साथ); आत्मने० वर्तमानकाल वाची कृदन्तक्रियारूप **दुघान**, और (अन्यत्र पूर्णतः अप्राप्त) विधिलिङ्रूप **दुहीयत्** और **दुहीयन्** (मात्र ऋ० वे०)। मै० सं० में **अदुह** अन्य० एकव० और **अदुह्र** आत्मनेपदी अन्य० बहुव० लङ् प्राप्त हैं जो स्पष्टतः लट् **दुहे** (६१३) और **दुह्रे** के अनुरूप बनाये गये हैं, जिस प्रकार **अदुग्ध** और **अदुहत दुग्धे**

और दुहते के अनुरूप होते हैं। तुलनीय ऐश (६३०) जो इसी प्रकार अन्य० एकव० ईशे से संवद्ध है।

इस वर्ग की कुछ धातुएँ अपने दुर्वल रूपों में संक्षेपीकृत अथवा दुर्वलीकृत होती हैं : यथा—

६३६—दुर्वल रूपों में (जहाँ आगम के संयोजन से सुरक्षित है, उसे छोड़कर) धातु अस् होना, अपना स्वर खो देती है। इसका मध्यम० एकव० निश्चयार्थक रूप (अस्सि के स्थान में) अ॑सि होता है; इसका मध्यम० एकव० लोट् एधि॑ (अनियमित रूप से अस्धि से प्राप्त) है। मध्यम और अन्य० एकव० लङ् में ई का मध्यागम ऊपर देखा जा चुका है।

अ—अतएव अत्यंत प्रचलित इस क्रिया के रूप इस प्रकार होते हैं :

	लट्			विधिलिङ्		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	अ॑स्मि	स्व॑स्	स्म॑स्	स्या॑म्	स्या॑व	स्या॑म
म०	अ॑सि	स्थ॑स्	स्थ॑	स्या॑स्	स्या॑तम्	स्या॑त
अ०	अ॑स्ति	स्त॑स्	स॑न्ति	स्या॑त्	स्या॑ताम्	स्यु॑स्
	लोट्			लङ्		
उ०	अ॑सानि	अ॑साव	अ॑साम	आ॑सम्	आ॑स्व	आ॑स्म
म०	एधि॑	स्त॑म	स्त॑	आ॑सीस्	आ॑स्तम्	आ॑स्त
अ०	अ॑स्तु	स्ता॑म्	स॑न्तु	आ॑सीत्	आ॑स्ताम्	आ॑सन्

कालवाची कृदन्तक्रियारूप सन्त् (स्त्री० सती॑) है।

आ—वर्तमान प्रक्रिया के रूपों को छोड़कर इस धातु से केवल लिट् आ॑स प्रभृति (८००) वने हैं जिनका रूप विधान पूर्णतः नियमित है।

इ—वैदिक लेट्रूप, जो अस् प्रकृति से वने हैं, नियमित होते हैं। ये अधिक प्रयुक्त होते हैं और उत्तरकालिक ग्रंथों में भी ये (विशेपतः असत्) मिलते हैं। वैदिक मंत्र में सिआ॑म् प्रभृति (विधिलिङ्) विघटन सामान्य हैं। मध्यम० और अन्य एकव० लङ् में अपेक्षाकृत अधिक नियमित आस् (आस्-स्, आस-त् के लिए) पाया जाता है। मध्यम० वहुव० स्थ॑न ऊपर (६१३) निर्दिष्ट हुआ है।

ई—वैयाकरण कुछ उपसर्गों (वि+अति) के साथ अस् के आत्मनेपदी रूपों का विधान करते हैं, किन्तु ये उद्धरणीय नहीं हैं; स्सहे और स्यास्महे (?) रामा० महाभा० में आते हैं, किन्तु क्रिया-पदों को लेकर रामा० महाभा० की

सामान्य संभ्रान्ति के निदर्शन मात्र (५२९ अ) हैं। मुख्य और गौण तिङ्-प्रत्ययों की संभ्रान्तियाँ—यथा **स्व** और **स्म** (विरल नहीं) और दूसरी ओर **स्यावस्** और **स्यामस्**—भी रामा० महाभा० की होती हैं। **तृ** (**तर्**) अंत-वाली कर्त्रर्थ संज्ञा के साथ (उत्तम० और मध्यम० पुरुषों में) आत्मनेपदी निश्चयार्थक लट् का समास आत्मनेपद वाले यौगिक भविष्यत् बनाने के लिए माना गया है (किंतु दे० नीचे, ९४७)। उत्तम० एकव० निश्चयार्थक **हे** होता है; शेष परस्मैपदी रूपों के साथ आत्मनेपदी रूपों के सामान्य संबंध में हैं (मध्यम० वाले—**से, ध्वे, स्व, ध्वम्,** धातु के ही सम्पूर्ण लोप के साथ)।

६३७—धातु **हन्** पीड़ा देना, हत्या करना की प्रक्रिया बहुत-कुछ शब्द-रूप की अन् अन्त संज्ञा-प्रकृतियों—जैसी (४२१) होती है। दुर्बल रूपों में इसका **न्** तिङ्-प्रत्ययों के (**म्** और **व्** को छोड़कर) आदि-व्यंजन से पूर्व (विधिलिङ् में नहीं) और इसका **अ** आदि-स्वर से पूर्व लुप्त हो जाता है—तथा द्वितीय स्थिति में इसका **ह्**, **न्** के संयोग से **घ्** में (तुलनीय ४०२) परिवर्तित हो जाता है। अतएव उदाहरणार्थ :—

	लट्			लङ्		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	हन्मि	हन्वस्	हन्मस्	अहनम्	अहन्व	अहन्म
म०	हन्सि	हथस्	हथ	अहन्	अहतम्	अहत
अ०	हन्ति	हतस्	घ्नन्ति	अहन्	अहताम्	अघ्नन्

अ—इसका कृदन्त क्रियारूप **घ्नन्त्** (स्त्री० **घ्नती**) होता है। इसका मध्यम० एकव० लोट् **जहि** (असंगत विषमीकरण द्वारा, साभ्यास रूपों के आदर्श पर) है।

आ—इस धातु के आत्मनेपदी रूप ब्राह्मणों में बहुत आते हैं, और प्रयोग में आने वाले सामान्यतः समान नियमों के अनुसार बनाये गये हैं :—यथा—**हते, हन्महे, घ्नते; अहत, अघ्नाताम्, अघ्नत** (ऐ० ब्रा० में **अहत** भी); **घ्नीत** (किन्तु **हनीत** भी)। **हन** और **घ्न** अंतरण रूप प्रकृतियों के रूप आरंभिक काल से मिलते हैं।

६३८—दुर्बल रूपों में धातु **वश्** उत्कण्ठित होना नियमित और सामान्य रूप से **उश्** (यथा लिट् में, ७९४ आ) में संकुचित हो जाती है; यथा—**उश्मसि** (वे०—स्पष्टतः संक्षेपीकृत होने से एक बार ऋ० वे० में **श्मसि** प्राप्त है), **उशन्ति,** कृदन्त-क्रियारूप **उशन्त्, उशान**। (कृदन्त-क्रियारूप को छोड़-

कर) आत्मनेपदी रूप नहीं मिलते हैं; न तो लङ् के दुर्बल रूप जो **औश्व, औष्टस्** प्रभृति–जैसे दिये गये हैं।

अ—इसी ढंग में धातु **वस्** वस्त्र धारण करना से ऋ० वे० में कृदन्तक्रिया-रूप **उषाणं** प्राप्त है।

६३९—**शास्** शासन करना धातु से अभ्यस्त क्रिया की कुछ विलक्षणताएँ देखी जाती हैं, जहाँ (६४६) परस्मैपदी कृदन्त-क्रियारूप में और सभी अन्य० बहुव० रूपों में **त्** से पूर्व **न्** का अभाव है। इसके परस्मैपदी रूपों में से कुछ—यथा व्यंजनादि तिङ्-प्रत्ययों वाले दुर्बल रूप (विधिलिङ् को संमिलित कर)—दुर्बलीकृत स्वर वाली प्रकृति **शिष्** से निष्पन्न (यथा लुङ्रूप ८५४ और कुछ प्रत्ययान्त शब्द) कहे जाते हैं; किन्तु विधिलिङ् (**शिष्याम्** प्रभृति, उप० सू० और उत्तरकाल) को छोड़कर अन्य ऐसे रूप उद्धरणीय नहीं है।

अ—अन्य० एकव० लङ् **अशात्** (५५५ अ) होता है और यही रूप मध्यम० एकव० के लिए भी विहित माना जाता है। मध्यम० एकव० लोट् **शाधि** (स के पूर्ण लोप के साथ) है; और ऋ० वे० में सबल मध्यम० बहुव० रूप **शास्तन** (असंगत स्वरपात के साथ) प्राप्त है; तथा शास् प्रकृति से अ-रूप यदा-कदा मिलते हैं।

आ—आत्मनेपदी रूपविधान नियमित है और स्वरपात (स्पष्टतः) धातु-मूलक अक्षर पर नित्य होता है (**शास्ते, शासते, शासान**)।

इ—इसी ढंग से (ऋ० वे० में) धातु **दाश्** पूजा करना से कृदन्तक्रिया-रूप **दाशत् दाशन्त्** नहीं) है।

६४०—तथाकथित दोहरी धातु **जक्ष्** खाना, हँसना क्रमशः **घस्** और **हस्** का स्पष्ट अभ्यास है। इसके परस्मैपदी अन्य० बहु० रूपों और कृदन्तक्रियारूप में न् का अभाव रहता है और स्वरपात स्वरादि तिङ्प्रत्ययों से पूर्व धातु पर है, जो अभ्यस्त क्रियाओं में होते हैं, तथा इसमें **रुद्** प्रभृति (ऊपर ६३१) की तरह इ–संयोजन स्वर भी आता है। अन्त्य सोष्म ध्वनि के पूर्ण लोप से बने इसके रूपों और व्युत्पन्नों के लिए द्रष्टव्य २३३ ऊ।

६४१—देशी वैयाकरण कुछ अन्य स्पष्ट अभ्यस्त क्रियाओं की प्रक्रिया इस प्रकार देते हैं जैसे कि ये सरल हों और ये इसी क्रियारूप के अंतर्गत रखी जाती हैं, ऐसी क्रियाएँ भृशार्थक अभ्यस्त **जागृ** (१०२० अ) **दरिद्रा** (१०२४ अ) और **देवी** (१०२४ अ) **दीधी** प्रभृति (६७८) और **चकास्** (६७७) होती हैं।

२—साभ्यास वर्ग (तृतीय, ह्वादि गण)

६४२—यह वर्ग धातु में अभ्यास के पूर्वसर्ग के साथ अपनी वर्तमान-प्रकृति बनाता है।

६४३—अ—अभ्यास के व्यंजन के संबंध में सामान्य नियम जो ऊपर (५९०) दिये जा चुके हैं, लागू होते हैं।

आ—अभ्यास वाले अक्षर में दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाता है: यथा—√(दा) से **ददा**; √(भी) से **बिभी**; √(हू) से **जुहू**। ऋ स्वर अभ्यास में कभी नहीं आता है, अपितु इ में परिवर्तित हो जाता है; यथा—√(भृ) से **बिभृ**; √(पृच्) से **पिपृच्**।

उन धातुओं के लिए जिनमें अ और आ भी अनियमित रूप से अभ्यास में इ हो जाते हैं; देखिए नीचे ६६०। अतएव वृत (वे० ब्रा०) से **ववर्ति** आदि प्राप्त होते हैं, **चक्रन्त्** (ऋ० वे०) खूब संदिग्ध है।

ई—इस वर्ग की एकमात्र धातु आदि स्वर के साथ **ऋ** (या अर्) है; अभ्यास रूप में इसका **इ** होता है जो मध्यस्थापित **य्** द्वारा धातु से पृथक् रखा जाता है। इस प्रकार **इयर्** या **इयृ** (द्वितीय वास्तविक प्रयोग में उपलब्ध नहीं है)।

६४४—इस वर्ग को वर्तमान प्रकृति में (प्रथम अथवा अ-विहीन क्रियारूप के अन्य वर्गों की तरह) दोहरा रूप प्राप्त है :—गुणीकृत धात्वच् के साथ सबलतर रूप, और गुणविहीन दुर्बलतररूप। इस प्रकार **हु** के दो रूप **जुहो** और **जुहु** होते हैं, √(भी) से ये **बिभे** और **बिभी** हैं। पुनः इनके प्रयोग का नियम वही होता है जो इस क्रियारूप के अन्य वर्गों में है—सबल रूप अनुदात्त तिङ्-प्रत्ययों से पूर्व प्राप्त होता है (५५२) और दुर्बलरूप उदात्तवालों से पूर्व।

६४५—प्रथम सामान्य क्रियारूप के सभी सादृश्यों के अनुसार हम अपेक्षा करते हैं कि धात्वक्षर पर स्वरपात पाया जाय, यदि यह सबलीकृत हो। किंतु इस वर्ग की धातुओं की अल्पसंख्यक धातुओं में ही ऐसी स्थिति वस्तुतः मिलती है। उदाहरणार्थ—**हु, भी** (प्राचीनतर भाषा में कोई भी प्रामाणिक रूप नहीं मिलता), **मद्** (बहुत विरल), **जन्** (इस वर्ग के कोई रूप नहीं मिलते)। **चि** देखना (वे० में), **यु** पृथक् करना (केवल प्राचीनतर भाषा में) और **भृ** उत्तरकाल की भाषा में (वे० में यह अधिक संख्यक है; किन्तु ऋ० वे० में **बिभर्ति** एक वार प्राप्त है और अ० वे० में दो बार; तथा यह, उत्तरकालीन स्वरपात, ब्राह्मणों में भी मिलता है); और ऋ० वे० में **इयर्षि** एक बार पाया

जाता है। सभी अवशिष्टों में—स्पष्टतः नवीन अन्तरण के चलते—यह धातु मूलक अक्षर की वजाय साभ्यास पर रहता है। पुनः दोनों ही वर्गों में स्वरपात विसंगत रूप से उन दुर्वल रूपों में, जहाँ तिङ्प्रत्यय अजादि होता है, पीछे द्वित्व पर पड़ता है, जब कि अन्य दुर्वल रूपों में यह तिङ्-प्रत्यय पर होता है (किंतु तुलनीय ६६६ अ)।

अ—स्पष्टतः (लिखितस्वरपात वाले उदाहरण इतने कम हैं कि तथ्य का निर्धारण सन्तोषजनक संभव नहीं) आत्मनेपदी विधिलिङ् प्रत्यय **ईय** प्रभृति (५६६) अभ्यास पर होता है।

६४६—परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों के अन्य० वहुव० तिङ्प्रत्ययों में **न्** इस वर्ग की क्रियाओं से लुप्त हो जाता है, और लङ् में **अन्** के स्थान में **उस्** है—तथा इसके पूर्व धातुमूलक स्वर में गुणभाव होता है।

१—लट्

६४७—प्रकृति और प्रत्ययों का योग वैसा ही होता है जैसा पूर्ववर्ती वर्ग में। रूपविधान के उदाहरण :—√(हु) हवन करना, सवल प्रकृतिरूप **जुहो॑**, दुर्वल रूप **जुहु** (या **जु॑हु**)।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	जुहो॑मि	जुहुव॑स्	जुहुम॑स्	जु॑ह्वे	जुहुव॑हे	जुहुम॑हे
म०	जुहो॑षि	जुहुथ॑स्	जुहुथ॑	जुहुषे॑	जु॑ह्वाथे	जुहुध्वे॑
अ०	जुहो॑ति	जुहुत॑स्	जु॑ह्वति	जुहुते॑	जु॑ह्वाते	जु॑ह्वते

अ—धातु भृ धारण करना (वैदिक स्वरपात के साथ उपस्थित), सवल प्रकृतिरूप **बि॑भर्** ; दुर्वल **बिभृ** (या **बि॑भृ**)।

उ०	बि॑भर्मि	बिभृव॑स्	बिभृम॑स्	बि॑भ्रे	बिभृव॑हे	बिभृम॑हे
म०	बि॑भर्षि	बिभृथ॑स्	बिभृथ॑	बिभृषे॑	बि॑भ्राथे	बिभृध्वे॑
अ०	बि॑भर्ति	बिभृत॑स्	बि॑भ्रति	बिभृते॑	बि॑भ्राते	बि॑भ्रते

इ—**जुहु** का **उ** (**नु** और **उ** वर्ग-चिह्नों की तरह, देखिये नीचे, ६९७ अ) उत्तम० द्विव० और वहुव० तिङ्-प्रत्ययों के व् और म् से पूर्व लुप्त विहित माना गया है; यथा—जुह्व॑स् , जुह्व॑हे इत्यादि; किन्तु इस प्रकार के कोई रूप उद्धरणीय नहीं हैं।

२—वर्तमान लेट्

६४८—प्राचीनतर भाषा के उन लेट् रूपों के जिन्हें वर्तमान-प्रक्रिया के

अंतर्गत मानना चाहिए, और उन रूपों के जिन्हें लिट् में—अथवा कुछ अवस्थाओं में उन रूपों, जिन्हें अभ्यस्त लुङ् और यङन्त रखना चाहिए, बीच स्पष्ट रेखा खींचना संभव नहीं है। यहाँ केवल वे ही निर्दिष्ट होंगे जो स्पष्टतः इस वर्ग में आते हैं; अपेक्षाकृत अधिक संदिग्ध प्रयोग लिट्–प्रक्रिया में रखे जायेंगे। उत्तम० रूपों को (जो उत्तरकालिक भाषा में लोट्—जैसे प्रयोग में बने रहते हैं) छोड़कर अन्यत्र असंदिग्ध रूप में अभ्यस्त वर्तमान प्रक्रिया वाली धातुओं से लेट्—रूप प्रचुर प्रयोग में नहीं आते हैं।

६४९—लेट् प्रकार प्रकृति सामान्यतया प्रकार चिह्न **अ** और तथाविध सबलीकरण की प्राप्ति होने पर धात्वच् के गुण द्वारा निर्मित होती है। थोड़े से प्राप्त उदात्तयुक्त रूपों के साक्ष्य से स्पष्ट है कि स्वरपात सबल निश्चयार्थक रूपों के तुल्य पड़ता है, यथा—√(हु) से प्रकृति **जुहव** होगी; √(भृ) से **बिभर** (किंतु उत्तरकाल में **बिभर** यह होगी)। प्रकार-चिह्न से पूर्व धातुमूलक अन्त्य आ अन्य स्थलों के सादृश्य के अनुरूप लुप्त हो जायगा; यथा—√(दा) से **दद**, √(धा) से **दध** (वास्तविक प्रयोग में आने वाले सभी रूप **दद्** और **दध्** यौगिक धातुओं से व्युत्पाद्य होंगे)।

६५०—सैद्धांतिक संपूर्ण रूप तालिका प्रस्तुत न कर प्राचीनतर भाषा के सभी उद्धरणीय रूपों (उदात्त युक्त, जहाँ कहीं तथाविध प्राप्त हैं) का उल्लेख करना ही समीचीन होगा।

अ—इस प्रकार उत्तम० रूपों में परस्मैपदी **जुहवानि, बिभराणि, ददानि, दधानि, जहानि; जुहवाम, दधाम, जहाम;** आत्मनेपदी **दधै, मिसै; दधावहै, जुहवामहै, ददामहे, ददामहै, दधामहै** हमें प्राप्त होते हैं।

आ—दूसरे पुरुष रूपों में मुख्य तिङ्प्रत्ययों के साथ परस्मैपदी **बिभराशि** (दोहरे प्रकार-चिह्न के साथ, ५६० उ) **दधथस्, जुहवाथ** (वहीं) **जुहुवथ,** आत्मनेपदी **दधसे; दधते, ररते, दधातै, ददातै;** गौण तिङ्-प्रत्ययों के साथ **दधस्, विवेषस्, जुहवत्, बिभरत्, युयवत्, दधत्, दधनत्, बभसत्; दधन्, युयवन्, जुहवन्**—हमें मिलते हैं।

३—वर्तमान विधिलिङ्

६५१—इस प्रकार के बनाने में प्रकार-चिह्न और पुरुषवाची तिङों से बने विधिलिङ् अन्त्य-प्रत्यय, जो ऊपर (५६६ अ) दिये गये हैं, असबलीकृत प्रकृति में जोड़े जाते हैं। स्वरपात उसी रूप में होता है जैसा कि ऊपर कहा गया है (६४५ अ)। रूपविधान इतना नियमित होता है कि एक ही क्रिया के उत्तम० रूपों से अधिक को यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक है।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	जुहुयाम्	जुहुयाव	जुहुयाम	जुह्वीय	जुह्वीवहि	जुह्वीमहि
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

४—वर्तमान लोट्

६५२—तिङ्-प्रत्यय और धातु के साथ इनके संयोजन का ढंग ऊपर निर्दिष्ट हो चुके हैं। परस्मैपदी मध्यम० एकव० में स्वर के बाद प्रत्यय हि होता है, किन्तु व्यंजन के बाद धि—तथापि (स्पष्टतः दो उत्तरोत्तर अक्षरों में ह् के आवर्तन के परिहार के लिए) हु से जुहुधि बनता है; और स्वर के बाद धि के अन्य उदाहरण वेद में प्राप्त हैं।

६५३—अ—रूप विधान का उदाहरण :—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	जुहवानि	जुहवाव	जुहवाम	जुहवै	जुहवावहै	जुहवामहै
म०	जुहुधि	जुहुतम्	जुहुत	जुहुष्व	जुह्वाथाम्	जुहुध्वम्
अ०	जुहोतु	जुहुताम्	जुह्वतु	जुहुताम्	जुह्वाताम्	जुह्वताम्

आ—अन्य कोटि की क्रियाएँ यहाँ निश्चयार्थक लट् की तरह अपने सबल रूपों के स्वरपात में ही भिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, सभी उत्तम० रूपों (उधाररूप में लिये गये लेट्) और परस्मैपदी अन्य० एकव० में, इस प्रकार (प्राचीनतर भाषा में) बिभराणि इत्यादि, बिभर्तु, बिभरै प्रभृति।

६५४—रूपविधान की वैदिक अनियमितताएँ होती हैं :

(१) मध्यम० में सबल रूपों का कादाचित्क प्रयोग, यथा युयोधि; शिशाधि (साथ ही, शिशीहि); युयोतम् (युयुतम्); इयर्त, ददात और ददातन, दधात और दधातन (द्रष्टव्य नीचे, ६६८); (२) स्वर के बाद हि के स्थान में धि का प्रयोग (केवल दो उदाहरणों में, जो ऊपर उद्धृत हुए हैं); (३) परस्मैपदी मध्यम० बहुव० में तन तिङ्प्रत्यय, यथा—उपर्युक्तों के अतिरिक्त **जिगातन, धत्तन, ममत्तन, विवक्तन, दिदिष्टन, बिभीतन; जुजुष्टन, जुहुतन, ववृत्तन** में—अन्य वर्गों की अपेक्षा इस वर्ग में ऐसे प्रयोग आनुपातिक दृष्टि से अधिक संख्यावाले होते हैं; (४) परस्मै० मध्यम० एकव० में तात् प्रत्यय—**दत्तात्, धत्तात्, पिपृतात्, जहीतात्** में।

५—वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप

६५५—और जगह की तरह परस्मैपदी कृदन्तक्रियारूप-प्रकृति अन्य निश्चयार्थ बहुव० से इ को लुप्त कर सहज बनाई जा सकती है; यथा—**जु॑ह्वत्**, **बिभ्रत्**। रूप विधान में इससे सबल और दुर्बल रूपों (४४४) का भेद नहीं होता है। स्त्रीलिंग प्रकृति **अती**—अंतवाली होती है। आत्मनेपदी कृदन्तक्रियारूप नियमित रूप से बनाये जाते हैं; यथा—**जु॑ह्वान**, **बि॑भ्राण**।

अ—ऋ० वे० के **पिपान॑** (√(**पा**) पीना) में अनियमित स्वराघात देखा जाता है।

६—लङ्

६५६—जैसा कि कहा जा चुका है, इस वर्ग का अन्य० बहुव० रूप **उस्** अन्त्य प्रत्यय ग्रहण करता है, और इसके पूर्व धातुमूलक अन्त्य स्वर का गुणभाव होता है। निश्चयार्थ वर्तमान की तरह यहाँ सबल रूप तीन परस्मैपदी एकवचन तिङन्तरूप होते हैं।

६५७—रूपविधान के उदाहरण :—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	**अ॑जुहवम्**	**अ॑जुहुव**	**अ॑जुहुम**	**अ॑जुह्वि**	**आ॑जुहुवहि**	**अ॑जुहुमहि**
म०	**अ॑जुहोस्**	**अ॑जुहुतम्**	**अ॑जुहुत**	**अ॑जुहुथास्**	**अ॑जुह्वाथाम्**	**अ॑जुहुध्वम्**
अ०	**अ॑जुहोत्**	**अ॑जुहुताम्**	**अ॑जुहवुस्**	**अ॑जुहुत**	**अ॑जुह्वाताम्**	**अ॑जुह्वत**

अ—√(**भृ**) से परस्मैपदी मध्यम० और अन्य० **अ॑बिभर्** (**अबिभरस्** और **अबिभर्-त्**) हैं—और इसी प्रकार उन सब स्थलों में जहाँ सबल प्रकृति व्यंजनांत होती है। परस्मैपदी अन्य० बहुव० **अ॑बिभरुस** है; और इस प्रकार के अन्य रूप **अबिभयुस**, **अचिकयुस्**, **असुबवुस्**।

आ—मै० सं० में एक बार प्राप्त **अबिभुस्** निस्संदेह भ्रामक पाठ है।

६५८—परस्मैपदी मध्यम० बहुव० की सामान्य वैदिक अनियमितताएँ—सबल रूप और **तन** तिङ्प्रत्यय—इस काल में भी आती हैं; यथा—**अ॑ददात**, **अ॑दधात**; **अ॑दत्तन**, **अ॑जहातन**। ऋ० वे० में एक बार आत्मने० अन्य० एकव० **अपिपृत** के लिए **अपिप्रत** और परस्मै० अन्य० बहुव० के अविभरुस् के लिए **अबिभ्रन्** होते हैं। आगमविहीन रूपों के उदाहरण होते हैं :—**शिशास्**, **विवे॑स्**, **जि॑गात्**; **जि॑हीत**, **शि॑शीत**, **जि॑हत**; और अनियमित सबलीकरण के साथ, **युयोम** (अ० वे०), **युयोथास्**, **युयोत**।

६५९—वे धातुएँ जो अभ्यास द्वारा अपनी वर्तमान प्रकृति बनती हैं, एक खूब छोटे वर्ग की होती हैं, विशेषरूप से नव्य भाषा में; सब मिलाकर ये प्रायः ५० हैं और इनकी केवल एक तिहाई (१६) उत्तरकाल में प्राप्त हैं। तथापि, इस वर्ग की निश्चित सीमाओं का निर्धारण अत्यंत कठिन है क्योंकि अन्य साभ्यास क्रियारूपों और क्रियारूपों के अवयवों के रूपों से इनके रूपों को सर्वदा विभिन्न करने की असंभावना (ऊपर निर्दिष्ट, लेट् के अंतर्गत, ६४८) है।

अ—उपर्युक्त काल-रूपविधान की अनियमितताओं के अतिरिक्त अन्य इस प्रकार देखी जा सकती हैं।

अभ्यासयुक्त वर्ग की अनियमितताएँ

६६०—**ॠ** या **अर्** अंतवाली—यथा **ॠ, घृ** (सामान्यतया घर जैसी लिखित), **तृ, पृ, भृ, सृ, हृ, पृच्**—धातुओं के अतिरिक्त धातुमूलक स्वर के रूप में अ या आ वाली निम्न धातुएँ अभ्यासाक्षर में अ की जगह इ ग्रहण करती हैं—**गा** जाना, **मा** मापना, **मा** गरजना, **शा, हा** हटाना (आत्मने०), **वच्, सच्; पश्** में इ और अ दोनों प्राप्त हैं; **रा** से ऋ० वे० में एकवार इ है **स्था, पा** पीना **घ्रा, हन्, हि** के लिए दे० नीचे (६७०–४)।

६६१—इस वर्ग की अनेक आकारांत धातुएँ दुर्बल रूपों में **आ** को **ई** में (कभी-कभी इ में भी) परिवर्तित कर देती हैं और तदनंतर स्वरादि प्रत्ययों से पूर्व इसे बिल्कुल लुप्त कर देती हैं।

अ—यह ना-वर्ग के वर्ग-चिह्न के स्वर की प्रक्रिया के घनिष्ठ सादृश्य के अनुरूप है, नीचे ७१७

ये धातुएँ होती हैं :

६६२—**शा** तेज करना, परस्मै० और आत्मने० यथा—
शिशाति, शिशीमसि, शिशीहि (**शिशाधि** भी; ऊपर ६५४), **शिशातु, अशिशात्, शिशीते, शिशीत**।

६६३—**मा** चिल्लाना; परस्मै०, और **मा** मापना, आत्मने० (कभी-कभी परस्मै० भी); यथा—**मिमाति, मिमीयात्; मिमीते, मिमते, अमिमीत; मिमीहि, मिमातु**। ऋ० वे० में एक वार (**मिमति** के लिए) **मिमन्ति** अन्य० बहुव० आया है।

६६४—**हा** हटाना, आत्मने०; यथा—**जिहीते, जिहीध्वे, जिहते, जिहताम्; अजिहीत, अजिहत**। श० ब्रा० में (**जिहाथाम्** के लिए) **जिहीथाम्** प्राप्त है।

६६५—**हा** छोड़ना, परस्मै० (मूलतः पूर्वकोटि के अनुरूप) पुनः **ई** को इ में ह्रस्वित कर सकती हैं : यथा—**जहाति, जहीत, जहीतात्** (अ० वे०); **जहिमस्** (अ० वे०) **जहितस्** (तै० ब्रा०), **जहितम्** (तै० आ०), **अजहिताम्** (तै० सं०, ऐ० ब्रा०)। विधिलिङ् धातुमूलक स्वर सर्वथा लुप्त हो जाता है : यथा—**जह्याम्, जह्युस्** (अ० वे०)। वैयाकरणों के अनुसार लोट् मध्यम० एकव० **जहीहि** या **जहिहि** या **जहाहि** होता है, किंतु केवल प्रथम उद्धरणीय है।

अ—**जह**, अ-प्रकृति से इस धातु के रूप बनाये जाते हैं, तथा अर्ध-धातु जह् के व्युत्पन्न भी।

६६६—**रा** देना, आत्मनेपद यथा—**ररीध्वम्, ररीथास्** (आगमहीन लङ्); और अभ्यास में इ के साथ, **रिरीहि**। किंतु अ० वे० में **ररास्व** प्राप्त है।

अ—इन क्रियाओं में स्वरपात सामान्यतया अभ्यासवाले अक्षर पर नियत रूप से होता है।

६६७—(इस वर्ग की सर्वाधिक प्रचलित) **दा** और **धा** दो धातुओं से दुर्वलतम रूपों में इनका धातुमूलक स्वर सर्वथा लुप्त हो जाता है और ये धातुएँ **दद्** और **दध्** जैसे ह्रस्वित हो जाती हैं परस्मै० मध्यम० एकव० लोट् में इनके रूप क्रमशः **देहि** और **धेहि** होते हैं। परवर्ती त् या थ् के साथ मिलने में **दध्** का अन्त्य **ध्** अन्त्य सघोष महाप्राण की संधि के विशिष्ट नियम का अनुसरण (**त्** या **थ्** के साथ **द्ध्** होना, १६०) नहीं करता है, अपितु—यथा स् और ध्व् के पूर्व भी—महाप्राण के और अघोष तथा सघोष संयोजन के अपेक्षाकृत अधिक सामान्य नियमों का पालन करता है; और इसका लुप्त महाप्राणत्व पीछे धातु के आदि पर (१५५) चला आता है।

६६८—अतएव √(**धा**) का रूपविधान इस प्रकार होता है :

लट्

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	दधामि	दध्वस्	दध्मस्	दधे	दध्वहे	दध्महे
म०	दधासि	धत्थस्	धत्थ	धत्से	दधाथे	धद्ध्वे
अ०	दधाति	धत्तस्	दधति	धत्ते	दधाते	दधते

वर्तमान विधिलिङ्

	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	दध्याम्	दध्याव	दध्याम	दधीय	दधीवहि	दधीमहि
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

वर्तमान लोट्

उ०	दधानि	दधाव	दधाम	दधै	दधावहै	दधामहै
म०	धेहि	धत्तम	धत्त	धत्स्व	दधाथाम्	धद्ध्वम्
अ०	दधातु	धत्ताम्	दधतु	धत्ताम्	दधाताम्	दधताम्

लङ्

उ०	अदधाम्	अदध्व	अदध्म	अदधि	अदध्वहि	अदध्महि
म०	अदधास्	अधत्तम्	अधत्त	अधत्थास्	अदधाथाम्	अधद्ध्वम्
अ०	अदधात्	अधत्ताम्	अदधुस्	अधत्त	अदधाताम्	अदधत

कृदन्तक्रियारूप—परस्मैपद दधत्; दधान।

अ—(लङ् को छोड़कर) केवल वे रूप आत्मनेपद में उदात्तयुक्त दिखलाये गये हैं जिनके लिए स्वरांकित ग्रंथों में प्रमाण उपलब्ध है, क्योंकि यथार्थ स्वरपात और वर्ग के सादृश्यों के आधार पर अपेक्षित स्वरपात, दोनों में विसंगति होती है। ऋ० वे० में एक वार धत्से प्राप्त है—जहाँ तक रूप का संबंध है, दधे और दधाते लिट् हो सकते हैं। ऋ० वे० में दधीत एक वार मिलता है (दधीत तीन वार); अन्य कतिपय ग्रंथों में दधीत, दधीरन्, ददीत पाये जाते हैं।

आ—धातु दा के रूप विल्कुल इसी ढंग से चलते हैं, वहाँ (धातुमूलक) धा का परिवर्तन द् में नित्य है।

६६९—प्राचीनतर भापा में निम्न अनियमितताएँ होती हैं :

(१) मध्यम० वहुव० में सामान्य सवलरूप, दधात और अदधात; ददात और अददात; (२) उसी पुरुप में सामान्य तन प्रत्यय, धत्तन, ददातन इत्यादि (६५४, ६५८); (३) अन्य० एकव० परस्मै० लट् दधे (उत्तम० की तरह); (४) मध्यम० एकव० परस्म० लोट् दद्धि (देहि और धेहि दोनों के लिए)। पुनः ऋ० वे में दद्मि प्राप्त है।

६७०—कतिपय धातुएँ इससे अ या भ्वादिगण (नीचे ७४९) में अंतरित होती हैं; इनकी अभ्यस्त धातु के रूप में एकरूप प्रकृति हो जाने से अ-प्रकृतियों की तरह चलते हैं। ये धातुएँ यों होती हैं :—

६७१—भाषा के सभी युगों में **स्था** ठहरना, **पा** पीना और **घ्रा** सूँघना धातुओं से **तिष्ठामि, पिबामि** (द्वितीय प् के अनियमित सघोषीकरण के साथ) और **जिघ्रामि** लट् रूप बनाये जाते हैं, जिनके रूप, तब, **मिमामि** की तरह नहीं चलते हैं, अपितु, **भवामि** की तरह, जैसा कि **तिष्ठ, पिब, जिघ्र** वर्तमान प्रकृतियों से।

६७२—वेद में (विशेष रूप से; उत्तरकाल में भी) अभ्यस्त धातुएँ **दा** और **धा** कभी-कभी **दद** और **दध** अ-प्रकृतियों में परिवर्तित हो जाती हैं; अथवा इनके रूप ऐसे चलते हैं यथा अ-वर्ग की **दद्** और **दध्** धातुएँ हों; और इसी कोटि के शुद्ध रूप अन्य धातुओं से बनाये जाते हैं; जैसे—**मिमन्ति** (√(मा) चिल्लाना), **ररते** (√(रा) देना; अन्य० आत्मने० एकवचनरूप)।

६७३—वेद में समान यौगिक प्रकृति जिघ्न भी √(**हन्**) से (धातुमूलक स्वर के लोप के साथ, और **घ्** में **ह्** के परिणामन के साथ, जो कि इस धातु में सामान्य है, यदि न् का संयोग हो, ६३७) बनाई जाती है; तथा √(**सच्**) से सश्च् के कुछ रूपों से इसी प्रकार का परिणमन अ-प्रकृति, सश्च, में परिलक्षित होता है।

६७४—ऐ० ब्रा० (८-२८) में इसी प्रकार का यौगिक रूप **जिघ्य** √(**हि**) या **हा** से माना जाता है। यथा—**जिघ्यति, जिघ्यतु**।

६७५—प्रथम या धातु-वर्ग की तथाकथित कुछ धातुएँ अल्पाधिक मात्रा में स्पष्ट अभ्यास के परिणाम होती हैं; यथा—**जक्ष्** (६४०) और संभवतः **शास्** (√(**शस्** से) और **चक्ष्** (√(**काश्**) अथवा लुप्त धातु **कस्** देखना से)। वेद में √(**सच्**) से **सश्च्** भी प्राप्त है।

६७६—वैयाकरण (जैसा कि निर्दिष्ट हो चुका है, ६४१) अत्यधिक स्पष्ट अभ्यास-स्वरूप वाली अनेक धातुओं को सरल और धातु-वर्ग से संबद्ध मानते हैं। इनमें से कुछ (**जागृ, दरिद्रा, वेवी**) नियमित यङन्त प्रकृतियाँ हैं और नीचे यङन्तों के अंतर्गत (१०२० अ, १०२४ अ) वर्णित होंगी; **दीधी** चमकना, साथ ही वैदिक **दीदी** चमकना और **पीपी** फूलना भी यङन्तों की तरह कभी-कभी वर्गीकृत हैं, किंतु इनमें तथाविध वास्तविक द्वित्व प्राप्त नहीं है, और संभवतः अनियमित दीर्घ अभ्यास-स्वर वाली द्वित्वापन्न वर्तमान प्रकृतियों की तरह इन्हें यहीं रखना समीचीन होगा।

अ—प्राचीनतर भाषा में लट् का केवल **दीध्यति** अन्य० बहुव० रूप, कृदंत क्रियारूपों, **दीद्यत्**, और **दीध्यत्** और आत्मनेपदी रूपों, **दीद्ये**; **दीध्ये**,

दीध्याथाम, तथा कृदंतक्रिया रूपों, दींद्यान, दींध्यान, पींप्यान, के साथ प्राप्त होता है। लेट् प्रकृतियाँ दीद्य. दीधय, पीपय हैं, और इनसे मुख्य (दीद्य से) और गौण दोनों तिङ्प्रत्ययों के साथ रूप (तथा अनियमित स्वरपात वाले दींद्यत् और दीदायत् तथा दींधयन्) बने हैं। विधिलिङ् का कोई रूप नहीं पाया जाता है। लोट् में दीदिहिं (और दिदीहिं) और पीपिहिं तथा पिप्यतम, पिप्यताम, पिप्यत हमें प्राप्त हैं। लङ् में अदीदेस् और पीपेस, अंदीदेत् और अंदीधेत् तथा अपीपेत (आगमविहीन रूपों के साथ), अपीपेम (धातु के सबल रूप के साथ) तथा अदीधयुस् और (अनियमित) अपीप्यन् मिलते हैं।

आ—इन तीनों के कुछ रूपों से अ–रूपविधान में अंतरण परिलक्षित है। यथा—दीधय और पीपय, (लोट्), अंपीपयत् इत्यादि।

आ। √(मी) गर्जन करना से इसी प्रकार के रूप अमीमेत् और मीमयत् होते हैं।

६७७—**चकास्** चमकना (कभी-कभी **चकाश्**) प्रकृति को भी वैयाकरण धातु के रूप में ग्रहण करते हैं, और इसलिए वर्तमान प्रक्रिया के अतिरिक्त काल-रूपों के साथ प्रस्तुत करते हैं—किंतु ऐसे रूप कठिनता से यथार्थ प्रयोग में प्राप्त हैं। प्राचीनतर भाषा में यह अज्ञात है।

६७८—**भस्** चबाना धातु दुर्बल रूपों में अपना धातुमूलक स्वर खो देती है, और तब बप्स् रूप ग्रहण करती है; यथा—बंभस्ति, किंतु बंप्सति (अन्य० बहुव०), बंप्सत् (कृदंतक्रियारूप), **बब्धाम्** के लिए देखिये २३३ क।

६७९—**भी** डरना धातु से दुर्बल रूपों में स्वर की ह्रस्वता का वैकल्पिक विधान वैयाकरण करते हैं; यथा—**बिभीमस्** या **बिभिमस्**, **बिभीयाम्** या **बिभियाम्**; और **बिभियात्** प्रभृति उत्तरकालिक भाषा में मिलते हैं।

६८०—वैयाकरण √(**जन्**) उत्पन्न करना धातु से इ लगाकर इस वर्ग के रूप—यथा **जज्ञिषे**, **जज्ञिध्वे**—देते हैं, किंतु ये प्रयोग में कभी प्राप्त नहीं हुए हैं।

६८१—वेद में अभ्यास के बाद धात्वक्षर में चि और चित् धातुओं से क् में च् का प्रत्यावर्तन प्राप्त है; यथा—**चिकेंषि**, **चिकेंथ** (नियमविरुद्ध, **चिकर्यथे** के लिए), **चिंकिताम**, **अचिकेत्**, **चिंक्यत्** (कालवाची कृदन्तक्रियारूप), **चिकिद्धि**।

६८२—**व्यच्** धातु अभ्यास में (**य्** से) **इ** ग्रहण करती है, और यह दुर्बल रूपों में **विच्** में संकुचित हो जाती है :–यथा—**विविक्तंस्**, **अंविवि-**

क्ताम्। इसी प्रकार—अभ्यास होने पर ह्वर् धातु से (यदि इसके रूप यहाँ प्रतिष्ठित किये जायँ) उ होता है, और यह धातु हुर् में आकुञ्चित होती है। यथा—जुहूर्थास।

३—नासिक्यवर्ग (सप्तम, रुधादि गण)

६८३—इस वर्ग की सभी धातुएँ व्यंजनांत होती हैं। तथा इनका वर्गचिह्न अनुनासिक होता है जो अन्त्य व्यंजन से पूर्व आता है—दुर्बल रूपों में मात्र अनुनासिक, जो कि व्यंजन की प्रवृत्ति के अनुकूल होता है; किंतु सबल रूपों में यह न् अक्षर में विस्तारित है जो उदात्त होता है।

अ—इस वर्ग की कुछ क्रियाओं में अनुनासिक अन्य काल-प्रक्रियाओं में भी विस्तारित होता है; ये हैं :—**अञ्ज्, भञ्ज्, हिंस्** देखिए नीचे, ६९४।

१—लट्

६८४—रूपविधान के उदाहरण :—अ—धातु **युज्** जोड़ना; सबल प्रकृतिरूप युनज्; दुर्बल **युञ्ज्**।

अन्त्य ज् की सन्धि के नियमों के लिए द्रष्टव्य २१९।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	युनज्मि	युञ्ज्वस्	युञ्ज्मस्	युञ्जे	युञ्ज्वहे	युञ्ज्महे
म०	युनक्षि	युङ्क्थस्	युङ्क्थ	युङ्क्षे	युञ्जाथे	युङ्ग्ध्वे
अ०	युनक्ति	युङ्क्तस्	युञ्जन्ति	युङ्क्ते	युञ्जाते	युञ्जते

आ—धातु **रुध्** रोकना; मूल **रुणध्** और **रुन्ध्**।

अन्त्य ध् की सन्धि के नियमों के लिए दे० १५३, १६०।

	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	रुणध्मि	रुन्ध्वस्	रुन्ध्मस्	रुन्धे	रुन्ध्वहे	रुन्ध्महे
म०	रुणत्सि	रुन्द्धस्	रुन्द्ध	रुन्त्से	रुन्धाथे	रुन्द्ध्वे
अ०	रुणद्धि	रुन्द्धस्	रुन्धन्ति	रुन्द्धे	रुन्धाते	रुन्धते

इ—**युङ्क्थस्, युङ्ग्ध्वे** प्रभृति (यहाँ तथा लोट् और लङ् में) के लिए **युङ्थस्, युङ्ध्वे** प्रभृति लिखना विहित और अपेक्षाकृत अधिक सामान्य है (२३१); और इसी प्रकार **रुन्द्धस्, रुन्द्धे** प्रभृति के स्थान में **रुन्धस्, रुन्धे** प्रभृति; तथा इसी प्रकार अन्य स्थलों में।

६८५—रूपविधान की वैदिक अनियमितताएँ होती हैं :—(१) उत्तम० एकव० की तरह आत्मनेपदी अन्य० एकव० का साधारण प्रयोग : यथा—**वृञ्जे**; (२) अञ्जते, इन्धते, भुञ्जते में आत्मने० अन्य० वहुव० के ते पर उदात्त।

अ—भाग० पु० में युनङ्क्षि निस्संदेह भ्रामक पाठ है।

२—वर्तमान लेट्

६८६—सबल वर्तमान-प्रकृति में अ जोड़कर नियमानुरूप प्रकृति बनायी जाती है; यथा—युनंज, रुणंध।

युज् से बनने वाले सभी रूप जिनके लिए प्राचीनतर भाषा में वास्तविक रूप से प्रयुक्त उदाहरण प्राप्त हैं, नीचे दिये जाते हैं।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	युनंजानि	युनंजाव	युनंजाम	युनजै		युनंजामहै
म०	युनंजस्					युनंजाध्वै
अ०	युनंजत्	युनंतस्	युनंजन्	युनंजते		

६८७—ऋ० वे० में एकवार अञ्जतस् प्राप्त है जो दुर्बल काल-प्रकृति से बना नियम-विरुद्ध होता है। दोहरे प्रकार-चिह्न के साथ रूप पाये जाते हैं: यथा—तृणहान् (अ० वे०) राध्नंवात् और युनजान् (श० ब्रा०); तथा परस्मै० अन्य० द्विव० का (अञ्जतस् के अतिरिक्त) एकमात्र उद्धरणीय उदाहरण हिनंसतस् (श० ब्रा०) है। श० ब्रा० में परस्मै० उत्तम० द्विव० के लिए हिनसावस् भी प्राप्त है, जो अन्यत्र अनुदाहृत रूप है।

३—वर्तमान विधिलिङ्

६८८—अन्यत्र की तरह, वर्तमान-प्रकृति के दुर्बलरूप में सामासिक प्रकार-चिह्नों को जोड़कर विधिलिङ् बनाया जाता है।

इस प्रकार :—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	युञ्ज्याम्	युञ्ज्याव	युञ्ज्याम	युञ्जीय	युञ्जीवहि	युञ्जीमहि
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

अ—ऐ० ब्रा० में परस्मै० उत्तम० एकव० के लिए असंगत रूप वृञ्जीयम् एकवार मिलता है। तथा युञ्जीयाम्—यात्, युञ्जीयात्—जैसे रूप यदा-कदा रामा० महाभा० में प्राप्त हैं। महाभा० मे भी एक वार भुञ्जीतम् पाया जाता है।

४—वर्तमान लोट्

६८९—इस वर्ग में (चूँकि सभी धातुएँ व्यंजनांत होती हैं) परस्मै० मध्यम० एकव० का तिङ्प्रत्यय नित्य धि होता है।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	युनजानि	युनजाव	युनजाम	युनजै	युनजावहै	युनजामहै
म०	युङ्ग्धि	युङ्क्तम्	युङ्क्त	युङ्क्ष्व	युञ्जाथाम्	युङ्ग्ध्वम्
अ०	युनक्तु	युङ्क्ताम्	युञ्जन्तु	युङ्क्ताम्	युञ्जाताम्	युञ्जताम्

६९०—इस वर्ग की क्रियाओं में, जहाँ तक देखा गया है, **तात्** प्रत्यय का कोई प्रयोग नहीं है। वेद में कभी-कभी सवलरूप सामान्य ढंग से पाये जाते हैं और परस्मै० मध्यम० वहुव० में यदा-कदा **तन** मिलता है; यथा—**उनत्त, युनक्त, अनक्तन, पिनष्टन**।

५—वर्तमान कालवाची कृदन्तक्रियारूप

६९१—इस वर्ग में पूर्ववर्ती वर्गों की तरह कृदन्तक्रियारूप वनाये जाते हैं; यथा—परस्मै० **युञ्जन्त** (स्त्री० **युञ्जती**); आत्मने० **युञ्जान** (किंतु ऋ० वे० में **इन्धान** प्राप्त है)।

६—लङ्

६९२—इस काल के नियमित रूपविधान के उदाहरण के लिए किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	अयुनजम्	अयुञ्ज्व	अयुञ्ज्म	अयुञ्जि	अयुञ्ज्वहि	अयुञ्ज्महि
म०	अयुनक	अयुङ्क्तम्	अयुङ्क्त	अयुङ्क्थास्	अयुञ्जाथाम्	अयुङ्ग्ध्वम्
अ०	अयुनक्	अयुङ्क्ताम्	अयुञ्जन्	अयुङ्क्त	अयुञ्जाताम्	अयुञ्जत्

अ—अनुनासिक वर्ग के परस्मै० मध्यम० और अन्य० एकव० में **स्** और **त्** तिङ्प्रत्यय सर्वत्र नियमानुसार लुप्त होते हैं, केवल वही नहीं, जहाँ धातुमूलक अन्त्य व्यंजन की आवश्यकता को लेकर इनका संरक्षण अपेक्षित है जो अत्यन्त विरल प्रयोग की स्थिति होती है (जो भी उद्धरणीय उदाहरण प्राप्त हैं, वे ५५५ अ में दिये गये हैं)।

६९३—वेद में किसी प्रकार की अनियमितताएँ इस काल में नहीं देखी जाती हैं। आगमहीन रूपों के प्रयोग, विशेष रूप से परस्मै० मध्यम० और अन्य० एकव० में, प्राप्त होते हैं; वर्तमान की तरह स्वरपात होता है; यथा—**भिनत्, पृणक्, वृणक्, पिणक्, रिणक्**।

अ—(अतृणदभ् और अच्छिनदम् के लिए) अतृणम् और अच्छिनम् परस्मै० उत्तम० एकव० रूप ऊपर ५५५ अ में निर्दिष्ट हो चुके हैं।

६९४—इस वर्ग की धातुओं की संख्या लगभग तीस की होती है, इनमें आधी पूर्वकाल की भाषा में ही पायी जाती हैं; किसी नूतन का प्रथम निदर्शन उत्तरकाल में नहीं होता है। इनमें से अञ्ज्, भञ्ज् और हिंस् तीन धातुओं से वर्तमान के अतिरिक्त अन्य काल-प्रक्रियाओं में भी अनुनासिकता सुरक्षित रहती है। ऋध् और उभ् दो से अन्य वर्गों में भी वर्ग-चिह्न की अनुनासिकता के साथ वर्तमान-प्रक्रियाएँ बनती हैं: यथा—ऋध्नोति (नु-वर्ग) और उम्नाति (ना-वर्ग)।

अ—अनेक धातुओं के रूप गौण अ—प्रकृतियों से बनते हैं: यथा—अञ्ज, उन्द, उम्भ छिन्द, तृण्ह, पिंष, पृञ्च, भुञ्ज, रुन्ध, शिंष इत्यादि।

नासिक्य-वर्ग की अनियमितताएँ

६९५—तृह् धातु से तृणेढि, तृणेढु में ति, तु प्रभृति के साथ तृणह की संधि होती है; और वैयाकरणों के अनुसार तृणेहिम जैसे रूप भी विहित हैं; दे० ऊपर २२४ आ।

६९६—धातु हिंस् (व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्पष्टतः हन् का सन्नन्त स्वरूप) से दुर्बलरूपों में अनियमित ढंग से उदात्त धात्वक्षर पर होता है। यथा—हिंसन्ति, हिंसते, हिंसान (किंतु हिनस्तु प्रभृति और हिंस्यात् श० ब्रा०)।

४—नु-और उ-वर्ग (पंचम और अष्टम, स्वादि और तनादि वर्ग)

६९७—(१)—नु वर्ग की वर्तमान-प्रकृति धातु में नु अक्षर जोड़कर बनाई जाती है, जो नु सबल रूपों में उदात्त होता है और नो में सबलीकृत है।

(२)—उत्तरकालिक अनियमित कृ (या कर्)—जिसके लिए द्रष्टव्य नीचे ७१४—को छोड़कर उ-वर्ग की कुछ धातुएँ (लगभग आधे दर्जन की) न्-अन्त वाली होती हैं। फलतः दोनों वर्ग स्वरूप लेकर अत्यधिक अनुरूप होते हैं, और ये रूपविधान में पूर्णतः तुल्य हैं।

अ—उत्तम० द्विव० और उत्तम० बहुव० तिङ्प्रत्ययों के व् और म् के पूर्व दोनों के वर्ग-चिह्न उ के लोप का विधान है, केवल वहा नहीं जहाँ धातु (नु-वर्ग) व्यंजनांत होती है; और यह उ स्वर तिङ्प्रत्यय से पूर्व क्रमशः व् या उव् हो जाता है यदि इसके पूर्ववर्ती एक या दो व्यंजन हों (१२९ अ)।

१—लट्

६९८—रूपविधान के उदाहरण: नु-वर्ग; धातु सु निचोड़ना; प्रकृति का सबलरूप सुनो, दुर्बल रूप सुनु।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	सुनोमि	सुनुवस्	सुनुमस्	सुन्वे	सुनुवहे	सुनुमहे
म०	सुनोषि	सुनुथस्	सुनुथ	सुनुषे	सुन्वाथे	सुनुध्वे
अ०	सुनोति	सुनुतस्	सुन्वन्ति	सुनुते	सुन्वाते	सुन्वते

अ—सुन्वस्, सुन्मस्, सुन्वहे, सुन्महे रूप उत्तम० द्विव० और वहुव० के लिए यहाँ दिये गये रूपों के वैकल्पिक होते हैं, और प्रयोग में अपेक्षाकृत अधिक सामान्य हैं। तथापि √(आप) से, उदाहरणार्थ, केवल उ-वाले रूप हो सकते हैं; इस प्रकार आप्नुवस्, आप्नुमहे; और साथ ही केवल आप्नुवन्ति, आप्नुवे, आप्नुवते।

(२) उ–वर्ग; धातु तन् फैलना-प्रकृति का सवल रूप तनो; दुर्वल तनु।

उ०	तनोमि	तन्वस्	तन्मस्	तन्वे	तन्वहे	तन्महे
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

आ—रूपविधान उपर्युक्त के इतने निकट है कि सम्पूर्ण रूप में इसे लिखना अनावश्यक है। उत्तम० द्विव० और वहुव० में पूर्णतर रूपों के वजाय संक्षिप्ततर रूप ही यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—पूर्णतर रूप विरले आते हैं (क्योंकि कोई संयुक्त व्यंजन कभी पूर्ववर्ती नहीं होता है)।

६९९ अ—प्राचीनतर भाषा में न तो मध्यम० द्विव० या वहुव० सवल रूप और न थन तिङ्-प्रत्यय आ सका है (किंतु ये लोट् और लङ् में अधिक संख्यक होते हैं, द्रष्टव्य नीचे)। ऋ० वे० में अनियमित स्वरपात के कतिपय उदाहरण आत्मने० अन्य० वहुव० में प्राप्त हैं; यथा—कृण्वते, तन्वते, मन्वते, वृण्वते, स्पृण्वते।

आ—ऋ० वे० में इस वर्ग की वर्तमान-प्रकृति से इरे अंतवाले कतिपय आत्मने० अन्य० वहुव० रूप-सी मिलते हैं; जैसे—इन्विरे, ऋण्विरे, पिन्विरे, शृण्विरे, सुन्विरे, और हिन्विरे इनमें पिन्विरे और हिन्विरे पिन्व् और हिन्व् (नीचे ७१६)—जैसी यौगिक धातुओं से अभ्यासहीन लिट् रूप हो सकते हैं। आत्मने० मध्यम० एकव० (कर्मवाच्य की प्रयोगिता लेकर) शृण्विषे (ऋ० वे०) असंगत और संदिग्ध स्वरूप वाला है।

२—वर्तमान लेट्

७००—लेट्-प्रकारप्रकृति सामान्य ढंग से गुणीकृत और उदात्तित वर्ग-चिह्न में अ जोड़कर वनाई जाती है। उदाहरणार्थ, सुनव, तनव। निम्नतालिका में

वर्ग के प्रत्येक विभाग से वे सभी रूप, जिनके उदाहरण प्राचीनतर भाषा में वास्तविक प्रयोग में प्राप्त हुए हैं, दिये जाते हैं; इनमें से कुछ प्रचुर संख्या में वहाँ व्यवहृत हैं।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	सुनवानि	सुनवाव	सुनवाम	सुनवै	सुनवावहै	सुनवामहै
म०	सुनवस्		सुनवथ	सुनवसे	सुनवैथे	
अ०	सुनवत्		सुनवन्	सुनवते सुनवातै		सुनवन्त

७०१—आत्मने० उत्तम० एकव० के संक्षिप्ततर रूपों में से कृणवा और हिनवा ऋ० वे० प्राप्त हैं। द्विक प्रकार चिह्न वाले रूप आते हैं (ऋ० वे० में नहीं)—यथा कृणवात और करवात् (अ० वे०); अश्नवाथ (काठक०) कृणवाथ (वा० सं०; किंतु –वथ काण्व शाखा में), करवाथ (श० ब्रा०)। दूसरी ओर अश्नवते (तै० सं० में) एकवार मिलता है। आप्नुवानि, अध्नुवत्, अश्नुवत्–जैसे रूप, जो प्राचीनतर ग्रंथों में यदा-कदा प्राप्त होते हैं, निस्संदेह भ्रामक पाठ-जैसे माने जा सकते हैं। ऋ० वे० में कृण्वैते (कृणवैते की जगह) केवल एक पद्य में प्राप्त हैं; ऐथे–अंतवाला एकमात्र रूप अश्नवैथे होता है।

३—वर्तमान विधिलिङ्

७०२—अन्यत्र की तरह दुर्बल काल-प्रकृति में संयुक्त तिङ्प्रत्यय (५६६) जोड़े जाते हैं। यथा :

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	सुनुयाम् इत्यादि	सुनुयाव इत्यादि	सुनुयाम इत्यादि	सुन्वीय इत्यादि	सुन्वीवहि इत्यादि	सुन्वीमहि इत्यादि

अ—√(आप्) से आत्मनेपदी विधिलिङ् आप्नुवीय होगा—तथा इसी प्रकार अन्य रूपों में।

४—वर्तमान लोट्

७०३—लोट् का रूप-विधान सामान्यतः पूर्ववर्ती वर्गों की तरह होता है। परस्मैपदी मध्यम० एकव० को लेकर उत्तरकालिक भाषा का नियम होता है कि हि तिङ्प्रत्यय की प्राप्ति वहीं है जहाँ धातु स्वतः व्यंजनांत होती है; अन्यथा

काल—(या प्रकार) प्रकृति ही मध्यम० रूप-जैसी होती है (पूर्वतरकालिक प्रयोग के लिए, देखिये नीचे ७०४)। रूपविधान का उदाहरण होता है :—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एक०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	सुनवा॑नि	सुनवा॑म	सुनवा॑म	सुनवै॑	सुनवा॑वहै	सुनवा॑महै
म०	सुनु॑	सुनुत॑म्	सुनुत॑	सुनु॑ष्व	सुन्वा॑थाम्	सुनुध्व॑म्
अ०	सुनो॑तु	सुनुता॑म्	सुन्व॑न्तु	सुनुता॑म्	सुन्वा॑ताम्	सुन्व॑ताम्

अ—√(आप्) से परस्मै० मध्यम० एकव० आप्नुहि॑ होगा; √(अश्) से अश्नुहि॑; √(धृष्) से धृष्णुहि॑, इत्यादि। √(आप्) से आप्नुव॑न्तु, आप्नुवा॑थाम्, आप्नुवा॑ताम् आप्नुव॑ताम् भी वनाये जायेंगे।

७०४—पूर्वतम भाषा में अन्त्य स्वर वाली धातु के वाद हि का लोप-विषयक नियम लागू नहीं होता है—ऋ० वे० में इनुहि, कृणुहि॑, चिनुहि॑, धूनुहि, शृणुहि॑, स्पृणुहि, हिनुहि, और तनुहि, सनुहि—जैसे रूप इनु॑, शृणु, सुनु॑, तनु प्रभृति की अपेक्षा प्रयोग में लगभग तिगुने से अधिक आये हैं; किंतु अ० वे० में ये केवल एक छः जैसे प्रयुक्त हैं; और ब्राह्मणों में ये केवल विकीर्ण रूप से आते हैं—शृणुधि॑ (धि के साथ) ऋ० वे० में अनेक वार व्यवहृत है। ऋ० वे० परस्मै० उत्तम० एकव० हिनवा प्राप्त है। तात् तिङ्प्रत्यय कृणुतात् और हिनुतात् तथा कुरुतात् में पाया जाता है। सवल प्रकृति-रूप परस्मै० मध्यम० द्विव० में हिनोतम् और कृणोतम् में होता है; और परस्मै० मध्यम० वहुव० में कृणो॑त और कृणो॑तन, शृणो॑त और शृणोतन, सुनो॑त और सुनो॑तन, हिनो॑त और हिनोतन और तनोत, करो॑त। तन प्रत्यय इन उद्धृत रूपों में ही मिलता है।

५—वर्तमानकालवाची कृदन्तक्रियारूप

७०५—अ॑न्त् और आन॑ प्रत्यय काल-प्रकृति के दुर्वलरूप में जोड़े जाते हैं; यथा—√(सु) से परस्मै० सुन्व॑न्त् (स्त्री० सुन्वती॑), आत्मने० सुन्वान॑ होते हैं; √(तन्) से तन्व॑न्त् (स्त्री० तन्वती॑), तन्वान॑। आप् से ये आप्नुव॑न्त् और आप्नुवान॑ होते हैं।

६—लङ्

७०६—आगम-युक्त प्रकृति और तिङ्प्रत्ययों का संयोजन पूर्वोक्त नियमों के अनुसार होता है। इस प्रकार :—

	परस्मैपद			आत्मनेपद	
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	अंसुनवम्	अंसुनुव	अंसुनुम	अंसुन्वि	अंसुनुवहि	अंसुनुमहि
म०	अंसुनोस्	अंसुनुतम्	अंसुनुत	अंसुनुथास्	अंसुन्वाथाम्	अंसुनुध्वम्
अ०	अंसुनोत्	अंसुनुताम्	अंसुन्वन्	अंसुनुत	अंसुन्वाताम्	अंसुन्वत

अ—अंसुन्व, अंसुन्म, अंसुन्वहि, अंसुन्महि जैसे संक्षिप्ततर रूप अन्यत्र की तरह यहाँ भी विहित हैं, और ये अपेक्षाकृत अधिक सामान्य होते हैं, केवल अंत्य व्यंजन वाली धातुओं को छोड़कर; यथा **धृष्**, जिससे उदाहरण स्वरूप, अंधृष्णुम प्रभृति नित्य होते हैं, और साथ ही **अंधृष्णुवन्**, **अंधृष्णुवि, अंधृष्णुवाथाम्, अंधृष्णुवाताम् अंधृष्णुवत**।

७०७—सबल प्रकृति-रूप और **तन** प्रत्यय केवल ऋ० वे० में **अकृणोत, अकृणोतन** में पाये जाते हैं। उदात्त वाले आगाम-हीन रूप **मिन्वन्, ऋण्ुत** होते हैं।

७०८—लगभग पचास धातुएँ ऐकांतिक अथवा आंशिक रूप से अपने वर्तमानरूपों को नु-वर्ग की भाँति बनाती हैं—इनमें आधी इस प्रकार केवल प्राचीनतर भाषा में बनाती हैं, तीन या चार केवल उत्तरकाल में।

अ—अ-धातुरूप में अंतरण के लिए दे० नीचे ७१६।

७०९—अन्य विभाग या **उ**-वर्ग की धातुएँ अत्यधिक कम हैं, **तरुते** ऋ० वे० के कारण **तृ** को और सूत्र (पा० गृ० सू० १–३–२७) में एकवार **हनोमि** के प्रयोग के कारण **हन्** को सम्मिलित कर लेने पर भी ये आठ से अधिक नहीं होती हैं। बाँ० राँ० इनु प्रकृति को नु-वर्ग के **इ** के बजाय उ-वर्ग के इन से निर्दिष्ट करते हैं।

नु और उ-वर्गों की अनियमितताएँ

७१०—वैयाकरणों के मतानुसार **तृप्** संतुष्ट होना धातु उत्तरकाल में अपने वर्ग-चिह्न के अमूर्धन्यीकृत **न्** को सुरक्षित रखती है—तथापि यहाँ इस वर्ग के क्रियानिर्माण के रूप खूब विरल हैं, जब कि वेद में नियमित परिवर्तन होता है; यथा—**तृप्नु**।

७११—वर्ग-चिह्न से पूर्व **श्रु** सुनना धातु का संकोचभाव **शृ** में होता है, इसके रूप **शृण्विषे** और **शृणो** तथा **शृणु** को धातु के रूप बनाते हुए। इसके रूप **शृण्विषे** और **शृण्विरे** ऊपर (६९९ आ) निर्दिष्ट हो चुके हैं।

७१२—उत्तरकाल की भाषा में (और ब्रा० और सू० में विरले) **धू** काँपना धातु अपने स्वर को ह्रस्व कर लेती है, जिससे प्रकृति-रूप **धुनो** और **धुनु** (पूर्वतर, धूनो, धूनु) बनते हैं।

७१३—तथा-कथित धातु ऊर्णु, जिसको देशी वैयाकरणों ने द्व्यक्षर और धातु-वर्ग (१म) से संवद्ध माना है, वस्तुतः वृ (या वर्) धातु से नियम-विरुद्ध संकोच द्वारा इस वर्ग की वर्तमान-प्रकृति होती है। वेद में इसके कोई रूप ऐसे नहीं प्राप्त हैं जो नु-वर्ग के अनुसार नियमतः नहीं वने हों; किन्तु ब्राह्मण भाषा में ऊर्णौति जैसे रूप कभी-कभी प्राप्त होते हैं मानो धातु-वर्ग की उ-धातु से निष्पन्न हों (६२९); और वैयाकरण इसके लिट्, लुङ् लृट् प्रभृति रूप प्रस्तुत करते हैं। इसका परस्मै० मध्यम० एकव० लोट् रूप ऊर्णु या ऊर्णुहि होता है; इसका लङ् और्णोस, और्णोत्; इसका आत्मने० विधिलिङ् ऊर्णुवीत (काठक०) या ऊर्ण्वीत (तै० सं०)।

७१४—अत्यधिक सामान्य धातु कृ (या कर्) वनाना, के रूप उत्तरकाल में एकमात्र उ-वर्ग के अनुसार (इस वर्ग की एकमात्र धातु जो नांत नहीं है) वर्तमान प्रक्रिया में चलते हैं। इसकी अनियमितता होती है कि प्रकृति के सवल रूप में इसका (तथा वर्ग-चिह्न) गुण-सवलीकरण होता है और दुर्वल रूप में यह कुर् में परिवर्तित हो जाती है, जिससे प्रकृति के दो रूप करो और कुरु होते हैं। उत्तम० द्विव० और वहुव० के व् और म् से पूर्व तथा परस्मै० विधि-लिङ् के य् से पूर्व भी वर्ग-चिह्न उ नित्य लुप्त हो जाता है। इस प्रकार :

१—लट्

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	करोमि	कुर्वस्	कुर्मस्	कुर्वे	कुर्वहे	कुर्महे
म०	करोषि	कुरुथस्	कुरुथ	कुरुषे	कुर्वाथे	कुरुध्वे
अ०	करोति	कुरुतस्	कुर्वन्ति	कुरुते	कुर्वाते	कुर्वते

२—वर्तमान विधिलिङ्

	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	कुर्याम्	कुर्याव	कुर्याम	कुर्वीय	कुर्वीवहि	कुर्वीमहि
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

३—वर्तमान लोट्

उ०	करवाणि	करवाव	करवाम	करवै	करवावहै	करवामहै
म०	कुरु	कुरुतम्	कुरुत	कुरुष्व	कुर्वाथाम्	कुरुध्वम्
अ०	करोतु	कुरुताम्	कुर्वन्तु	कुरुताम्	कुर्वाताम्	कुर्वताम्

४—वर्तमान कालवाची कृदन्तक्रियारूप

कुर्वन्त् (स्त्री० कुर्वती), कुर्वाण

५—लङ्

उ०	अकरवम्	अकुर्व	अकुर्म	अकुर्वि	अकुर्वहि	अकुर्महि
म०	अकरोस्	अकुरुतम्	अकुरुत	अकुरुथास्	अकुर्वाथाम्	अकुरुध्वम्
अ०	अकरोत्	अकुरुताम्	अकुर्वन्	अकुरुत	अकुर्वाताम्	अकुर्वत

७१५—ऋ० वे० में कृणो और कृणु प्रकृति-रूपों से इस धातु के रूप नियमतः नु-वर्ग की तरह चलते हैं; कुर्मस् एकबार और कुरु दो बार (सब दश मण्डल में) केवल अपवाद प्राप्त हैं; अ० वे० में उ-रूपों की अपेक्षा छः गुने से भी अधिक नु-रूप मिलते हैं (उनमें से लगभग आधे तो गद्य अवतरणों में प्रयुक्त हैं); किंतु ब्राह्मण में तथा उत्तरकालिक भाषा में उ-रूप अन्य रूपों के स्थान में प्रयुक्त हैं ।

अ—रामा० महाभा० में परस्मै० उत्तम० एक० लट् के लिए कुर्मि पाया जाता है ।

आ—√(तृ) से तरुते वाला विकीर्ण रूप कृ से बने उ-रूपों का स्पष्ट सादृश्य द्योतित करता है ।

७१६—कुछ क्रियाएँ जो मूलतः इन वर्गों से संबद्ध हैं, आंशिक अथवा पूर्ण रूप से अ-वर्ग में अंतरित हो गयी हैं, इनका वास्तविक वर्ग-चिह्न धात्वंश-जैसा रूढ़ हो गया है ।

अ—इस प्रकार ऋ० वे० में इनु (√इ या इन्) प्रकृति और व्युत्पन्न आर्षधातु इन्व के प्रतिनिधिरूप इन्व, दोनों से रूप (और अ० वे० में केवल द्वितीय कोटिवाले मिलते हैं) हमें उपलब्ध होते हैं । तथा इसी प्रकार के रूप प्रकृति ऋण्व से (√ऋ) ऋणु से प्राप्त रूपों के अतिरिक्त; और (√हि) हिनु से होनेवाले रूपों के साथ-साथ हिन्व से बने रूप होते हैं । तथाकथित धातुएँ जिन्व् और पिन्व् निस्संदेह इस प्रकार की उत्पत्ति लेकर होती हैं, यद्यपि पिनु प्रकृति से कोई रूप किसी भी काल में उपलब्ध नहीं है यदि पिन्विरे (ऊपर ६९९ आ) को ऐसा नहीं माना जाय; और अ० वे० में कृदन्तक्रियारूप पिन्वन्त, स्त्री० पिन्वती प्राप्त हैं । वैयाकरण धिन्व् धातु मानते हैं; किंतु केवल धि (प्रकृति धिनु) से बने रूप वर्तमान प्रक्रिया में प्राप्त होते हैं (लुङ् अधिन्वीत् पं० ब्रा० में मिलता है) ।

आ—कादाचित्क अ-रूप अन्य धातुओं से भी मिलते हैं; यथा—चिन्वत प्रभृति, दुन्वस्व ।

५—ना-वर्ग (नवम या क्र्यादि-गण)

७१७—इस वर्ग का वर्ग-चिह्न सबल-रूपों में उदात्त अक्षर ना है जो धातु में जोड़ा जाता है, दुर्बल—रूपों में अथवा जहाँ स्वरपात तिङ्-प्रत्यय पर होता है, यह नी है, किंतु तिङ्-प्रत्यय के आदि स्वर से पूर्व नी का ई सर्वथा लुप्त हो जाता है।

१—लट्

७१८—रूपविधान के उदाहरण :—धातु क्री खरीदना, प्रकृति का सबल रूप क्रीणा́, दुर्बल रूप क्रीणी (स्वर से पूर्व क्रीण्)।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	क्रीणा́मि	क्रीणीव́स्	क्रीणीम́स्	क्रीणे́	क्रीणीव́हे	क्रीणीम́हे
म०	क्रीणा́सि	क्रीणीथ́स्	क्रीणीथ́	क्रीणीषे́	क्रीणा́थे	क्रीणीध्वे́
अ०	क्रीणा́ति	क्रीणीत́स्	क्रीण́न्ति	क्रीणीते́	क्रीणा́ते	क्रीण́ते

७१९—वेद में आत्मने० अन्य० एकव० वाला रूप गृणे́ में उत्तम० रूप के समान होता है; आत्मने० अन्य० बहुव० का विशिष्ट स्वरपात पुनते́ और रिणते́ में देखा जाता है और वृणीमहे́ (वृणीम́हे के साथ) एक बार ऋ० वे० में मिलता है।

२—वर्तमान लेट्

७२०—लेट्रूप, जो वेद और ब्राह्मण में उदाहृत पाये गये हैं, नीचे दिये जाते हैं। वस्तुतः, लेट् प्रकार चिह्न आकृति की दृष्टि से सबल काल-प्रकृति से पृथक् नहीं किया जा सकता है। तथा परस्मै० मध्यम० और अन्य० एकव० (गौण तिङ्प्रत्ययों के साथ) रूप आगमहीन लङ्रूपों के अभिन्न होते हैं।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	क्रीणा́नि		क्रीणा́म	क्रीणै́	क्रीणावहै	क्रीणामहै
म०	क्रीणा́स्		क्रीणा́थ	क्रीणासै		
अ०	क्रीणा́त्		क्रीणा́न्	क्रीणातै		क्रीणान्तै

३—वर्तमान विधिलिङ्

७२१—यह प्रकार पूर्ण नियमितता से बनता है और रूपायित होता है; आत्मनेपद में प्रकार-चिह्न और काल-चिह्न के संमिश्रण के कारण इसके तिङन्त-रूपों में से कुछ आगमहीन लङ्रूपों के अभिन्न होते हैं। इसके उत्तम० रूप यों हैं :—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	क्रीणीयाम्	क्रीणीयाव	क्रीणीयाम	क्रीणीय	क्रीणीवहि	क्रीणीमहे
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

४—वर्तमान लोट्

७२२—मध्यम० एकव० में तिङ्प्रत्यय, चूँकि इसके पूर्व अच् नित्य होता है, हि है (धि कभी नहीं); और इसके लोप के उदाहरण प्राप्त नहीं हैं। किंतु श्रेण्य भाषा में हलंत धातुओं से इस प्रकार का तिङन्त पुरुष रूप निषिद्ध हैं; वर्ग-चिह्न और तिङ्प्रत्यय दोनों के लिए विशिष्ट प्रत्यय आन का आदेश होता है।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	क्रीणानि	क्रीणाव	क्रीणाम	क्रीणै	क्रीणावहै	क्रीणामहै
म०	क्रीणीहि	क्रीणीतम्	क्रीणीत	क्रीणीष्व	क्रीणाथाम्	क्रीणीध्वम्
अ०	क्रीणातु	क्रीणीताम्	क्रीणन्तु	क्रीणीताम्	क्रीणाताम्	क्रीणताम्

अ—आन प्रत्यय के उदाहरण परस्मै० मध्यम० एकव० में **अशान**, **गृहाण**, **बधान**, **स्तभान** होते हैं।

७२३—पूर्वतम भाषा में भी **आन** प्रत्यय मिलता है; उपर्युक्त उदाहरणों में से सब अ० वे० में प्राप्त हैं और प्रथम दो ऋ० वे० में पाये जाते हैं; अन्य **इषाण**, **मुषाण**, **स्कभान** होते हैं। किंतु अ० वे० में **गृभ्णीहि** (ऐ० ब्रा० में भी) भी और सबल प्रकृति वाला **गृणाहि** भी आते हैं; भाग० पु० में **बध्नीहि** मिलता है। पुनः सबल प्रकृतियां **गृणाहि** और **स्तृणाहि** (तै० सं०), **पृणाहि** (तै० ब्रा०) और **श्रीणाहि** (आपस्त०) तथा असंगत उदात्त वाले **पुनाहि** और **शृणाहि** (सा० वे०) में और परस्मै० मध्यम० बहुव० में **पुनात** (ऋ० वे०) में प्राप्त हैं। परस्मै० मध्यम० एकव० का तिङ्प्रत्यय **तात्**, **गृह्णीतात्**, **जानीतात्**, **पुनीतात्** में आता है। तन तिङ्प्रत्यय **पुनीतन**, **पृणीतन**, **श्रीणीतन** में मिलता है।

५—वर्तमानकालवाची कृदन्तक्रियारूप

७२४—कृदन्तक्रियारूप नियमित ढंग से बनाये जाते हैं। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, परस्मै० **क्रीणन्त्** (स्त्री० **क्रीणती**); आत्मने० **क्रीणान**।

६—लङ्

७२५—इस काल के रूपविधान के प्रसंग में कोई वैशिष्ट्य उल्लेखनीय नहीं है। उदाहरण होता है।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	अंक्रीणाम्	अंक्रीणीव	अंक्रीणीम	अंक्रीणि	अंक्रीणीवहि	अंक्रीणीमहि
म०	अंक्रीणास्	अंक्रीणीतम्	अंक्रीणीत	अंक्रीणीथास्	अंक्रीणाथाम्	अंक्रीणीध्वम्
अ०	अंक्रीणात्	अंक्रीणीताम्	अंक्रीणन्	अंक्रीणीत	अंक्रीणाताम्	अंक्रीणत

७२६—यह ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है कि इस काल के आगमहीन पुरुषवाची तिङन्तरूप आकृति में आंशिक रूप से लेट् और विधिलिङ् पुरुषवाची तिङन्तरूपों से अभिन्न होते हैं। यहाँ निश्चित रूप से आनेवाले रूप (वे० में) **क्षिणाम्**, **अश्नन्**, **रिर्णन्**; **गृभ्णत**, **वृणत** होते हैं। अ० वे० में **मिनात्** की जगह एक वार **मिनीत्** मिलता है। महाभा० में **मा** के वाद **अश्नीस्** है।

अ—ऐ० ब्रा० में भ्रामक रूप **अजानीमस्** प्राप्त है, और ऐ० आ० में **अवृणीत** अन्य० वहुव० जैसा आता है।

७२७—धातुएँ जो अपनी वर्तमान प्रक्रियाओं को सम्पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से इस वर्ग की पद्धति पर बनाती हैं, संख्या में लगभग पचास से ऊपर होंगी; किंतु इनमें लगभग तीन पाँच धातुओं के रूप केवल प्राचीनतर भाषा से उद्धरणीय हैं, और आधे दर्जन की संख्या के ऐसे रूप उत्तरकाल में ही प्रथमतः दिखाई देते हैं; वीस से कम के वेद आरंभ कर अंत तक भाषा के संपूर्ण जीवन में प्रयुक्त हैं।

अ—यौगिक अ-प्रकृतियों के लिए द्रष्टव्य ७३१।

ना—वर्ग की अनियमितताएँ

७२८—अ—ऊकारान्त धातुएँ वर्ग-चिह्न से पूर्व उस स्वर को ह्रस्व कर लेती हैं; यथा—√(पू) से **पुनाति** और **पुनीते**; इसी प्रकार **जू**, **धू**, **लू** भी।

आ—**व्ली** धातु (ब्रा० सू०) से **व्लीना** अथवा **व्लिना** कोई रूप वन सकता है।

७२९—धातु **ग्रभ्** या **ग्रह्** (प्रथम वैदिक) **गृभ्** या **गृह्** में दुर्वलीकृत होता है।

अ—चूँकि लिट् से भी दुर्वल रूपों में **गृभ्** या **गृह्** प्राप्त है, यह समझना

सरल नहीं है कि वैयाकरणों को धातु में र की जगह ऋ लिखना क्यों अभीष्ट नहीं था।

७३० अ—धातुओं में कुछ वर्तमान प्रक्रिया से अन्यत्र रूपों में अल्पाधिक नियत नासिक्य रखती हैं; वर्ग-चिह्न से पूर्व ऐसे रूप नासिक्य-विहीन होते हैं; यथा—**ग्रथ्** या **ग्रंथ्**, **बध्** या **बंध्**, **मथ्** या **मंथ्**, **स्कभ्** या **स्कंभ्**, **स्तभ्** या **स्तम्भ्**।

आ—**ज्ञा** धातु भी वर्ग-चिह्न से पूर्व अपने नासिक्य को लुप्त कर देती है; यथा—**जानाति**, **जानीते**।

७३१—जब-तब अ-क्रियारूप में अंतरण के सूचक रूप प्राप्त होते हैं; इस प्रकार ऋ० वे० में भी √(**मि**) से **मिनति**, **मिनत्**, **अमिनन्त**; अ० वे० में √(**शृ**) से **शृण**; उत्तरकाल में **गृह्ण**, **जान**, **प्रीण**, **मथ्न** इत्यादि। तथा **पृ** और **मृ** धातुओं से **पृण** और **मृण** प्रकृतियाँ बनती हैं जिनके रूप अ-वर्ग की पद्धति पर चलते हैं जैसे कि ये **पृण्** और **मृण्** धातुओं से हों।

७३२—वेद में **आय** अन्तवाली प्रकृति का स्पष्ट नामधातु-रूपविधान इस वर्ग की धातुओं के क्रियारूप के साथ-साथ विरल नहीं है। इस प्रकार **गृभाय**, **मथायति**, **अश्रथायस्**, **स्कभायत**, **अस्तभायत्**, **प्रुषायन्ते**, **मुषायत्** इत्यादि। देखिए नीचे १०६६ आ।

द्वितीय अथवा अ-क्रियारूप

७३३—अब हम उन वर्गों का उल्लेख करते हैं जो द्वितीय अथवा अ-क्रियारूप का निर्माण करते हैं। पूर्ववर्ती वर्गों की अपेक्षा ये वर्ग अपने रूपविधान की विधि को लेकर अधिक स्पष्ट तुल्य होते हैं, इनकी समान विशिष्टताएँ, जिनका निर्देश ऊपर हो चुका है, पुनः संक्षेप में यहाँ रखी जा सकती हैं। ये हैं—(१) वर्तमान-प्रकृति में अन्त्य **अ**; (२) नियत स्वरपात, प्रकृति और तिङ्-प्रत्यय के बीच अपरिवर्तित रहनेवाला; (३) परस्मैपद में विधिलिङ् प्रकार-चिह्न का संक्षिप्ततर रूप, यथा **या** के स्थान में **ई** (दोनों ही पदों में समान रूप से **अ** के साथ मिलकर **ए** होने वाला); (४) परस्मै० मध्यम० एकव० लोट् में (जब **तात्** प्रयुक्त होता है तब नहीं) किसी भी तिङ्-प्रत्यय का अभाव; (५) आत्मने० मध्यम० और अन्य० द्विव० तिङ्-प्रत्ययों के आदि **आ** का परिवर्तन **ए** में; (६) आत्मने० अन्य० बहुव० में **अन्ते**, **अन्त**, **अन्ताम्** पूर्ण तिङ्प्रत्ययों का प्रयोग, (७) परस्मै० अन्य० बहुव० लङ् में **अन्** (**उस्** नहीं) का नित्य प्रयोग; (८) तथा आत्मने० कृदंतक्रियारूप के प्रत्यय जैसे **आन** की जगह **मान** का प्रयोग। पुनः (९) उत्तम० तिङ्प्रत्ययों के **म्** और **व्** से पूर्व प्रकृति का अन्त्य

अ आ हो जाता है—किंतु उ० एकव० लङ् के **अम्** के पूर्व नहीं; अन्य० बहुव० तिङ्प्रत्ययों के पूर्व की तरह यहाँ मूलान्त्य लुप्त हो जाता है और तिङ्प्रत्यय का ह्रस्व अ सुरक्षित रहता है (अथवा इसके विपरीत)। अतएव **भंवन्ति (भंव+अन्ति), भंवन्ते (भंव+अन्ते), अंभुवम् (अंभव + अम्)।**

अ—ये सभी विशिष्टताएँ केवल अ–वर्तमान प्रक्रियाओं के रूप विधान से संवन्ध नहीं है, अपितु अभ्यस्त, स–लुङों, स्–भविष्यत्, तथा सनंत, णिजंत और नामधातु वाली वर्तमान प्रक्रियाओं के अ–वाले रूपविधान में भी प्राप्त हैं। अर्थात् जहाँ कहीं क्रियारूप में अ–प्रकृति पाई जाती है, इसका रूप इसी ढंग से चलता है।

६—अ—वर्ग (प्रथम, भ्वादि गण)

७३४—इस वर्ग की वर्तमान-प्रकृति धातु में **अ**–जोड़कर वनाई जाती है, जो धातु उदात्त होती है और जो गुण में सवलीकृत हो जाती जहाँ इसकी प्राप्ति होती है (२३५, २४०)। इस प्रकार √(भू) से **भंव; √(जि) से जंय, √(वुध्) से बोंध, √ (सृप्) से संर्प;**—किंतु √ (वद्) से **वंद; √(क्रीड्) से क्रींड।**

१—लट्

७३५—प्रस्तुत तथा वर्तमान–प्रक्रिया के अन्य विभागों के लिए तिङ्प्रत्यय और प्रकृति के साथ इनके संयोजन के नियम ऊपर पूर्णरूप में दिये जा चुके हैं, और उदाहरणों द्वारा इन्हें निर्दिष्ट करना ही अपेक्षित है।

अ—रूप विधान का उदाहरण : धातु **भू** होना; प्रकृति **भंव (भो + अ** — १३१)।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	**भंवामि**	**भंवावस्**	**भंवामस्**	**भंवे**	**भंवावहे**	**भंवामहे**
म०	**भंवसि**	**भंवथस्**	**भंवथ**	**भंवसे**	**भंवेथे**	**भंवध्वे**
अ०	**भंवति**	**भंवतस्**	**भंवन्ति**	**भंवते**	**भंवेते**	**भंवन्ते**

आ—वेद में **थन**-तिङ्-प्रत्यय का एकमात्र उदाहरण प्राप्त है, यथा—**वंदथन** (और इस क्रियारूप के किसी वर्ग में अन्य कोई उदाहरण नहीं है)। आत्मने० उत्तम० बहुव० **मनामहे** (ऋ० वे०, एक वार) संभवतः भ्रामक है। ऋ० वे० में अन्य० एकव० की तरह **शोभे** एक वार प्राप्त है।

२—वर्तमान लेट्

७३६—प्रकार-मूल भ॑वा (भ॑व+अ) है। इस क्रियारूप के लेट् रूप प्राचीनतर भाषा में अत्यधिक संख्यक होते हैं; निम्नतालिका प्रयोग में पाये जाने वाले सभी उदाहरणों का निदेशन करती है।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	भ॑वानि	भ॑वाव	भ॑वाम	भ॑वै	भ॑वावहै	भ॑वामहै
म०	भ॑वासि भ॑वास्	भ॑वाथस्	भ॑वाथ	भ॑वासे भ॑वासै		भ॑वाध्वै
अ०	भ॑वाति भ॑वात्	भ॑वातस्	भ॑वान्	भ॑वाते भ॑वातै	भ॑वैते	भ॑वन्त भ॑वान्तै

७३७—आत्मने० मध्यम० द्विव० (भ॑वैथे) रूप इस वर्ग में व्यवहृत नहीं हैं; तथा अन्य० का एकमात्र उदाहरण य॑तैते होता है। भ॑वाध्वे, भ॑वान्ते-जैसे आत्मने० बहुव० रूप मूलान्त्य अ के साथ किसी वर्ग में नहीं बनाये जाते हैं; भ॑वन्त—जैसे रूप (जो अत्यन्त सामान्य हैं) निस्संदेह आगमविहीन यथार्थ लङ्रूप होते हैं। ब्राह्मणों में (विशेष रूप से श० ब्रा० में) परस्मै० मध्यम० एकव० आसि में और अन्य० आत् में बनाने की अधिक प्रवृत्ति पाई जाती हैं। ऐ० ब्रा० में आत्मने० अन्य० एकव० रूप हरतै आता है; तथा अन्तै अंतवाला अन्य० बहुव० (वर्तन्तै, का० ब्रा०) एक बार प्राप्त है। ऋ० वे० में संक्षिप्ततर परस्मै० उत्तम० एकव० के उदाहरण, अर्चा और मदा, मिलते हैं।

३—वर्तमान विधिलिङ्

७३८—अ-प्रकृति के अन्त्य के साथ जुड़े विधिलिङ् तिङ्प्रत्ययों का विवरण ऊपर (५६६) पूर्ण रूप में दिया गया है।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	भ॑वेयम्	भ॑वेव	भ॑वेम	भ॑वेय	भ॑वेवहि	भ॑वेमहि
म०	भ॑वेस्	भ॑वेतम्	भ॑वेत	भ॑वेथास्	भ॑वेयाथाम्	भ॑वेध्वम्
अ०	भ॑वेत्	भ॑वेताम्	भ॑वेयुस्	भ॑वेत	भ॑वेयाताम्	भ॑वेरन्

अ—ऋ० वे० में आत्मने० अन्य० बहुवचन भरेरत (अन्य एक और प्रयोग के लिए द्रष्टव्य ७५२ आ) एक बार मिलता है। अ० वे० में √(वद्) से उदेयम् प्राप्त है।

आ—आत्मनेपदी अन्य पुरुष रूपों के कुछ प्रयोग अ-प्रकृतियों से **एत्** और **एरन्** के स्थान में **ईर्** और (खूब विरले) **ईरन्** के साथ पाये जाते हैं। सुविधार्थ (अपेक्षाकृत अधिक संख्यक णिजन्त रूपों को छोड़कर, जिनके लिए दे० १०४३ इ) वे यहाँ एक साथ रखे जा सकते हैं। वे (जितने भी प्राप्त हैं) ये होते हैं :—**नयीत** सू० और उत्तरकालिक, **शंसीत** सू०, **श्रयीत** सू०; **धयीत** सू, **ध्यायीत** उपनि०, **ह्वयीत** ऐ० ब्रा०, सू० और **ह्वयीरन्** सू०, **ध्मायीत** उपनि०। परस्मै० रूप **शंसीयात्** विकीर्ण और अनियमित है।

४—वर्तमान लोट्

७३९—लोट् रूपविधान का उदाहरण होता है :

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	भ॑वानि	भ॑वाव	भ॑वाम	भ॑वै	भ॑वावहै	भ॑वामहै
म०	भ॑व	भ॑वतम्	भ॑वत	भ॑वस्व	भ॑वेथाम्	भ॑वध्वम्
अ०	भ॑वतु	भ॑वताम्	भ॑वन्तु	भ॑वताम्	भ॑वेताम्	भ॑वन्ताम्

७४०—इस सम्पूर्ण क्रियारूप में परस्मै० मध्यम० बहुव० वाला तिङ्प्रत्यय **तन** उतना ही असामान्य है जितना लट् में **थन** वेद अ-वर्ग में केवल **भजतन** (और य-वर्ग में **नह्यतन**, ७६० इ) प्रस्तुत करता है। दूसरी और परस्मै० मध्यम० एकव० का **तात्** प्रत्यय विरल नहीं है; ऋ० वे० में **अवतात्, ओषतात्, दहतात्, यच्छतात्, याचतात्, रक्षतात्, वहतात्** प्राप्त हैं; जिनमें अ० वे० **जिन्वतात्, धावतात्** जोड़ता है; तथा ब्राह्मण अन्य उदाहरणों को उपस्थित करते हैं। मैं० सं० में **स्वदातु** दो बार (समान पाठ दोनों बार **स्वदाति**) प्राप्त है—अ-वर्ग में उस प्रकार के प्रयोगों की तुलना कीजिये, ७५२ इ।

वर्तमान कृदन्तक्रियारूप

७४१—अन्त् और मान प्रत्यय वर्तमान-प्रकृति से जुड़ते हैं, प्रथम के पूर्व अन्त्य प्रकृति-स्वर का लोप होता है। इस प्रकार—परस्मै० **भ॑वन्त्** (स्त्री० **भ॑वन्ती**); आत्मने० **भ॑वमान**।

अ—इस वर्ग की प्रकृतियों से (यथा अन्य अ-वर्गों से, दे० ७५२ उ, १०४३ ऊ) कुछ आत्मने० कृदन्तक्रियारूप मानकी जगह आन अन्त्य प्रत्यय के योग से बनाये जाते हैं; यथा—**नमान, पचान, शिक्षाण, स्वजान, ह्वयान** (सभी रामा० महाभा०), **मज्जान** और **कषाण** (उत्तरकालिक); तथा वैदिक प्रयोग (यथा **च्य॑वान, प्रधा॑न, यता॑न** या **य॑यान, शु॑म्भान,** सभी

ऋ० वे०) होते हैं। जिनका स्वरूप वर्तमान है या लुङ्भूत, यह संदिग्ध है, तुलनीय ८४०, ८५२।

६—लङ्

७४२—लङ् रूपविधान का उदाहरण है :

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	अ॑भवम्	अ॑भवाव	अ॑भवाम	अ॑भवे	अ॑भवावहि	अ॑भवामहि
म०	अ॑भवस्	अ॑भवतम्	अ॑भवत	अ॑भवास्	अ॑भवेथाम्	अ॑भवध्वम्
अ०	अ॑भवत्	अ॑भवताम्	अ॑भवन्	अ॑भवत	अ॑भवेताम्	अ॑भवन्त

७४३—इस काल में **तन** अन्तवाले रूप किसी भी अ-वर्ग से नहीं बनाये जाते हैं। आगमविहीन रूपों के उदाहरण (जो असामान्य नहीं हैं) होते हैं : **च्य॑वम्, अ॑व्रस्, द॑हस्, बो॑धत, भ॑रत, च॑रन, न॑शन्; बाधथास् व॑र्धत, शो॑चन्त**। लेट् की तरह प्रयुक्त परस्मै० मध्यम० और अन्य० एकव० रूप यथार्थ लेट् तिङन्तरूपों की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त हैं।

७४४—धातुओं की एक अत्यधिक संख्या अन्य वर्गों के किसी वर्ग की अपेक्षा अ-वर्ग के अनुरूप अपनी वर्तमान-प्रक्रियाएँ बनाती हैं : ऋ० वे० में ऐसी धातुएँ लगभग दो सौ पचास होती हैं (धातुओं की सम्पूर्ण सूची के लगभग दो पाँच); अ० वे० में प्रायः दो सौ (लगभग वही अनुपात); सम्पूर्ण भाषा के लिए अनुपात वृहत् है, अर्थात् वर्तमान प्रकृतियों की समग्र संख्या की आधी के लगभग; यथा पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों की भाषा में दो सौ से ऊपर, केवल प्राचीनतर भाषा में एक सौ पचहत्तर, केवल उत्तरकाल में लगभग एक सौ पचास। इनमें प्रथम क्रिया-रूप के वर्गों से कुछ अंतरण नहीं होते हैं; उन वर्गों को देखिये ऊपर। किसी-न-किसी असंगति ढंग से अ-प्रकृति बनाने वाली कुछ धातुओं को छोड़कर, ७४९ अ नीचे, दीर्घ आ अंतवाली धातुएँ नहीं होती हैं।

अ-वर्ग की अनियमितताएँ

७४५—कुछ क्रियाओं में वर्तमान-प्रकृति के निर्माण में अनियमित स्वर-परिवर्तन पाये जाते हैं : इस प्रकार,

अ—ऊह् सोचना में गुण-सबलीकरण (२४० के प्रतिकूल) मिलता है; यथा—ओ॑हते।

आ—इसके विपरीत क्रुप् (या क्रप्) शोक करना अपरिवर्तित बनी रहती है; यथा क्रु॑पते।

इ—**गुह्** छिपाना में गुण के स्थान में दीर्घ भाव होता है; यथा **गूहति** ।

ई—**क्रम्** लाँघना धातु परस्मैपद में अपने स्वर को नित्य दीर्घ कर देती है, किन्तु आत्मनेपद में नहीं : जैसे—**क्रामति, क्रमते;** किन्तु स्वर मात्राएँ प्राचीनतम भाषा से ही बहुत कुछ मिश्रित हैं; **क्लम्** थकना से **क्लामति** प्रभृति रूप विहित है, किन्तु यह उद्धरणीय नहीं है;—आ उपसर्ग से युक्त **चम्** जल से मुख धोना से **आचामति** बनता है ।

उ—उत्तरकालिक भाषा में **मृज्** पोंछना से इस वर्ग के कादाचित्क रूप प्राप्त होते हैं; और उनमें उसी प्रकार की वृद्धि (गुण की जगह) देखी जाती है जो धातु से उसके अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ रूपविधान में (६२७) मिलती है; यथा—**मार्जस्व** ।

उ—वैयाकरण उर्व् अंत वाली अनेक धातुएँ देते हैं जहाँ उनके अनुसार वर्तमान-प्रकृति में **उ** दीर्घ हो जाता है । केवल तीन ही (अत्यधिक सीमित) प्रयोग में पायी जाती हैं, और कहीं भी इनका कोई रूप ह्रस्व उ के साथ उपलब्ध नहीं है । सभी **ऋ** या **अर्** अंतवाली धातुओं के यौगिक रूपनिर्माण-जैसी लगती हैं । धातु **मुर्छ्** या **मूर्छ्** जमाना से इसी प्रकार उद्धरणीय रूपों में केवल ऊ प्राप्त है ।

ए—अनुरणनात्मक धातु **ष्ठीव्** थूकना वैयाकरणों द्वारा **ष्ठिव्** की तरह लिखी जाती है और वर्तमान प्रक्रिया में इसके स्वर का दीर्घभाव विहित है : तुलनीय २४० आ ।

७४६—**दंश्** दाँत से काटना, **रञ्ज्** रंगना, **सञ्ज्** लटकना, **स्वञ्ज्** आलिंगन करना धातुएँ, जिनका नासिक्य क्रियारूप के अन्य अंशों में नित्य नहीं है, वर्तमान-प्रक्रिया में इसे खो देती हैं : इस प्रकार **दशति** आदि; **सञ्ज्** से **सजति** और **सज्जति** (संभवतः **ससजति** से **सस्जति** के लिए अथवा **सज्यति** के लिए) दोनों रूप बनते हैं; **मथ्** या **मन्थ्** से **मथति** उत्तरकाल में प्राप्त है । सामान्यतः, चूँकि इस वर्ग का वर्तमान सबलीकरण वाला रूपनिर्माण है, जिस वर्ग से इस प्रकार का नासिक्य होता है, वह इसमें बना रहता है ।

७४७—**गम्** जाना और **यम्** पहुँचना धातुओं से **गच्छ** और **यच्छ** वर्तमानप्रकृतियाँ बनती हैं : यथा **गच्छामि**, द्रष्टव्य ६०८ ।

७४८—**सद्** बैठना धातु से **सीद** (अनुमान किया जाता है कि **सिसद** के लिए **सिस्द** से आकुंचित) प्रकृति बनती है; जैसे—**सीदामि** प्रभृति ।

७४९—अन्य वर्गों से इस वर्ग में अन्तरण विरल नहीं होते हैं जैसा कि

ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है, वर्तमान-प्रक्रियाओं में और साथ ही कादाचित्क रूपों में। सर्वाधिक उल्लेखनीय कोटियाँ यों होती हैं :

अ—आकारान्त धातुएँ **स्था** ठहरना, **पा** पीना और **घ्रा** सूँघना **तिष्ठ** (**तिष्ठामि** प्रभृति), **पिब** (**पिबामि** आदि) और **जिघ्र** (**जिघ्रामि** आदि) वर्तमान-प्रकृतियाँ बनाती हैं, इसके लिए और ऐसे दूसरे प्रयोगों के लिए द्रष्टव्य ६७१–४।

आ—**इन्व्**, **जिन्व्**, **पिन्व्** जैसे यौगिक धातु-रूप जो **नु** वर्ग की सरलतर धातुओं से निष्पन्न हैं, या तो अपने मूल-रूपों के साथ पाये जाते हैं अथवा प्रयोग से अन्यत्र इन्हें संकुचित कर दिया है, देखिये ७१६।

७५०—दूसरी ओर **धम्** या **ध्मा** फूँकना धातु अपनी वर्तमान प्रकृति धातु के अपेक्षाकृत अधिक मौलिक रूप से बनाती है; यथा **धमति** इत्यादि।

७—उदात्तयुक्त अं-वर्ग (षष्ठ, तुदादि गण)

७५१—इस वर्ग की वर्तमान-प्रकृति स्वरघात वर्ग-चिह्न अं पर रखती है, और धातु असबलीकृत बनी रहती है। सम्पूर्ण रूपविधान में यह पूर्ववर्ती वर्ग के आदर्श के इतने घनिष्ठ रूप से अनुरूप होता है कि इसकी पूर्ण रूपतालिका प्रस्तुत करना अनावश्यक होगा (केवल लेट् के लिए प्रयोग में आने वाले सब-के-सब रूप उदाहृत होंगे)।

७५२—रूपविधान का उदाहरण : धातु **विश्** प्रवेश करना; प्रकृति **विशं** :

१—लट्

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	**विशामि**	**विशाव**	**विशाम**	**विशे**	**विशावहे**	**विशामहे**
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

२—वर्तमान लेट्

उ०	विशानि	विशाव	विशाम	विशै	विशावहे	विशामहे
म०	विशासि			विशासे	विशैथे	
	विशास्		विशाथ	विशासै		
अ०	विशाति			विशाते	विशैते	विशान्तै
	विशात्	विशातस्	विशान्	विशातै		

अ—संक्षिप्ततर आत्मने उत्तम० एकव० का एकमात्र उदाहरण **मृक्षा** होता है। **ऐथे** और **ऐते** अंतवाले रूप केवल **पृणैथे** और **युवैते** हैं।

३–वर्तमान विधिलिङ्

उ०	विशेयम्	विशेव	विशेम	विशेय	विशेवहि	विशेमहि
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

आ—ऋ० वे० में **तन** प्रत्यय एक बार परस्मै० मध्यम० बहुव० **तिरेतन** में, और **रत** आत्मने० अन्य बहुव० **जुषेरत** में प्राप्त हैं।

४–वर्तमान लोट्

उत्तम पुरुष तिङन्तरूप ऊपर लेट् की तरह दिये गये हैं, मध्यम० रूप यहाँ रखे जाते हैं :

म०	विश	विशतप्	विशत	विशस्व	विशेथाम्	विशध्वम्
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

इ—ऋ० वे० और अ० वे० में **तात्** प्रत्यय **मृडतात्, बृहतात्, सुवतात्** में पाया जाता है; ब्राह्मण भाषा में अन्य उदाहरण असामान्य नहीं हैं : यथा—**खिदतात्, छ्यतात्, पृच्छतात्, विशतात्, सृजतात्**; तथा उत्तरकाल में **स्पृशतात्**। परस्मै० अन्य० एकव० **नुदातु** और **मुञ्चातु** सूत्रों में आते हैं (तुलनीय ७४०)।

५–वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप

परस्मै० कृदन्तक्रियारूप **विशन्त्** होता है; आत्मनेपदी **विशमान**।

ई—परस्मै० कृदन्तक्रियारूप का स्त्रीलिंग सामान्यतया सबल प्रकृति-रूप से बनाया जाता है : यथा—**विशन्ती**, किन्तु कभी-कभी दुर्बल रूप से ; यथा—**सिञ्चन्ती** और **सिञ्चती** (ऋ० वे० और अ० वे०), **तुदन्ती** और **तुदती** (अ० वे०) : ऊपर देखिए, ४४९ ई, उ।

उ—**मान** के स्थान में **आन** अन्तवाले आत्मने० कृदन्तक्रियारूप प्राचीनतर भाषा में **धुवान, धृषाण, लिशान,** श्यान होते हैं; उत्तरकालिक भाषा में **कृशान, मुञ्चान, स्पृशान** (तु० ७४१ अ)।

६ लङ्

उ०	अविशम्	अविशाव	अविशाम	अविशे	अविशावहि	अविशामहि
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

ऊ—आगमविहीन उदात्त रूपों के उदाहरण **सृजस, सृजत्, तिरन्त** होते हैं।

ए—अ—लुङ् रूप (८४६ मु० वि०) आकृति की दृष्टि से सामान्यतया इस वर्ग के लङ् के तुल्य होते हैं।

७५३—अ́-वर्ग की प्रकृतियाँ लगभग एक सौ पचास धातुओं से बनाई जाती हैं : इनकी एक तिहाई पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों की भाषा में; आधी केवल पूर्वतर में; शेष में से लगभग केवल उत्तरकालिक भाषा में। इनमें अ–भिन्न-क्रियारूप के वर्गों से अनेक अन्तरण समाविष्ट हैं।

अ—इन अन्तरणों के कुछ में; यथा **पृण्** और **मृण्** (७३१), स्वतंत्र धातुओं की स्थापना यहाँ होती है।

आ—इच्छ́, उच्छ́ और ऋच्छ́ प्रकृतियाँ क्रमशः **इष्** इच्छा करना, **वस्** चमकना और **ऋ** जाना धातुओं से निष्पन्न मानी जाती हैं।

इ—उन धातुओं को, जिन्हें भारतीय वैयाकरण अन्त्य ओ के साथ लिखते हैं, यथा—**छो, दो, शो** और **सो**—तथा जिनसे **छ्य́, द्य́, श्य́, स्य́** वर्तमान प्रकृतियाँ बनती हैं, (प्रकृति में उदात्तित अ́ वाली जैसी) इस वर्ग में ग्रहण करना अधिक उपयुक्त होगा, न कि य–वर्ग में जहाँ देशी विभाजन इनको रखता है (द्रष्टव्य ७६१ ए)। ये नीचे निर्दिष्ट (७५५) क्ष्य, स्व, ह्व के अनुरूप प्रतीत होती हैं।

७५४—धातुएँ जिनसे अ–प्रकृतियाँ बनाई जाती हैं, रूप की कुछ उल्लेखनीय विशिष्टताएँ रखती हैं। इनमें से किसी में शायद ही दीर्घ स्वर आते हैं, और किसी में दीर्घ मध्यम स्वर नहीं होते हैं; बहुत कम में अन्त्य स्वर प्राप्त हैं; तथा किसी में (केवल दो या तीन अन्तरणों को तथा √**लज्ज्** लज्जित होना को जो किसी भी स्वरचिह्नित ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होती है और संभवतः अ–वर्ग में ही रखी जा सकती है, छोड़कर) **अ** धात्वच् के रूप में नहीं आता है, अपवादस्वरूप वहीं उपलब्ध है जहाँ इसका संयोग **र्** से होता है जो इसके साथ ऋ अथवा ऋ के सामान्य आदेशों में से किसी में अपचित हो जाता है।

अ́–वर्ग की अनियमितताएँ

७५५—**इ, उ** और **ऊ** अंतवाली धातुएँ वर्ग-चिह्न के पूर्व इन स्वरों को इय् और उव् में परिवर्तित कर देती हैं; यथा—**क्षिय́, युव́,रुव́; सुव́** इत्यादि; तथा **सुव्** और **हुव्** के स्थान में **स्व, ह्व** प्राचीनतर भाषा में प्राप्त हैं, जब कि तै० सं० में कृदन्तक्रियारूप क्ष्य́न्त् मिलता है। काठक० में √**धू** से **धूव** है।

७५६—ऋ अंतवाली तीन धातुओं से **कि́र, गि́र** (गि́ल भी) **ति́र** वर्तमान प्रकृतियाँ बनती हैं और कभी-कभी **किर्** आदि की तरह लिखित हैं; तथा **गुर्, जुर् तुर्**, वस्तुतः **गॄ, जॄ, तॄ** के विभेद मात्र होते हैं; और **भुर्** और **स्फुर्** स्पष्टतः अन्य **अर्** या **ऋ** धातु- रूपों से संबद्ध हैं।

अ—साधारण धातु प्रछ् पूछना पृच्छ॑ प्रकृति वनाती है ।

७५७— द्रिय॑ और प्रिय॑ तथा म्रिय॑ और ध्रिय॑ प्रकृतियों के लिए, जो कभी-कभी इस वर्ग के अंतर्भूत मानी जाती हैं, देखिए नीचे, ७७३ ।

७५८—यद्यपि इस वर्ग की वर्तमान-प्रकृति में सामान्यतया धातु का दुर्वल रूप देखा जाता है, तथा इसमें अनेक धातुएँ ऐसी होती हैं जो उपधानासिक्य, द्वारा सवलीकृत हैं । इस प्रकार √मुच् छोड़ना से प्रकृति मुञ्च॑ वनाई जाती है; √सिच् सींचना से सिञ्च॑; √विद् पता लगाना से विन्द॑, √कृत् काटना से कृन्त॑; √पिश सजाना से पिंश॑; √तृप् आनंद लेना से तृम्प॑; √लुप् तोड़ना से लुम्प॑; √लिप् लीपना से लिम्प॑; इसी प्रकार के कादाचित्क रूप कुछ अन्य धातुओं से मिलते हैं, यथा √तुद् धक्का देना से तुन्द॑; √बृह् पुष्ट करना से बृंह॑, √दृह् दृढ करना से दृंह॑ (साथ ही दृंह॑); √शुभ् चमकना से शुम्भ॑ (साथ ही, शुम्भ); तै० सं० में √श्रथ् से (श्रथ्नाति की जगह) श्रृन्थति प्राप्त है; उन्छ, विन्ध॑, सुम्भ संदिग्ध स्वरूप वाले हैं ।

८–य–वर्ग (चतुर्थ, दिवादिगण)

७५९—इस वर्ग की वर्तमान-प्रकृति उदात्त-सम्पन्न किन्तु अ..वलीकृत धातु में य जोड़ती है । इसका रूपविधान भी विलकुल अ–वर्ग के तुल्य होता है और अ–वर्ग की तरह उसी प्रकार के संक्षेपीकृत रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है ।

७६०—रूप-विधान का उदाहरण : धातु नह् वाँधना; प्रकृति नह्य ।

१–लट्

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	न॑ह्यामि	न॑ह्यावस्	न॑ह्यामस्	न॑ह्ये	न॑ह्यावहे	न॑ह्यामहे
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

२–वर्तमान लेट्

अ०	न॑ह्यानि	न॑ह्याम	न॑ह्यै	न॑ह्यावहे	न॑ह्यामहे
म०	न॑ह्यासि		न॑ह्यासै		न॑ह्याध्वै
	न॑ह्यास्				
अ०	न॑ह्याति				
	न॑ह्यात्	न॑ह्यातस्	न॑ह्यान्	न॑ह्यातै	न॑ह्यान्तै

अ—अन्तै अन्त वाला (जायन्तै) आत्मने० अन्य० वहुव० एक वार तै० सं० में मिलता है ।

३–वर्तमान विधिलिङ्

उ०	नह्येम्	नह्येव	नह्येम	नह्येय	नह्येवहि	नह्येमहि
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

आ—(**एत** के लिए) **ईत** अंतवाले दो या तीन आत्मने० अन्य० एकव० रूपों के लिए देखिए ७३८ आ।

४–वर्तमान लोट्

म०	नह्य	नह्यतम्	नह्यत	नह्यस्व	नह्येथाम्	नह्यध्वम्
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

इ—ऋ० वे० में तन प्रत्यय, का एक उदाहरण **नह्यतन** है; प्रत्यय **तात्** **अस्यतात्, ख्यायतात् , नश्यतात्** में प्राप्त है।

५–वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप

परस्मै० कृदन्तक्रियारूप **नह्यन्त्** (स्त्री० **नह्यन्ती**) होता है; आत्मने० **नह्यमान** है।

६–लङ्

उ०	अनह्यम्	अनह्याव	अनह्याम	अनह्ये	अनह्यावहि	अनह्यामहि
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

ई—आगमविहीन रूपों के उदाहरण, जिनमें वर्तमान प्रक्रिया वाला स्वरपात देखा जाता है, **गायत् , पश्यत् , पश्यन् , जायथास्** हैं।

७६१—**य**–वर्ग प्रकृतियाँ संख्या में एक सौ तीस से अधिक होती हैं; और नमें लगभग आधी के रूप भाषा के सभी कालों में प्रयुक्त देखे जाते हैं, लगभग चालीस केवल पूर्वतर काल में, और लगभग तीस केवल नवीन काल में।

अ—**य**–प्रकृतियाँ बनाने वाली धातुओं में से अधिकांश धातुएँ (पचास से ऊपर) भावावस्था अथवा मन या शरीर की अवस्था द्योतित करती हैं; यथा **कुप्** क्रुद्ध होना; **क्लम्** क्लान्त होना, **क्षुध्** भूखा होना, **मुह्** मुग्ध होना, **लुभ्** लुभा जाना, **शुष्** सूख जाना, इत्यादि।

आ—कुछ और धातुएँ अल्पाधिक मात्रा में स्पष्टतः कर्मवाच्यता सूचित करती हैं तथा कर्मवाच्य या यं–वर्ग के अंशतः प्रत्यक्ष और अंशतः प्रकल्प्य अन्तरण हैं। और तब स्वरपात में परिवर्तन आ जाता है और कभी-कभी परस्मै० तिङ्प्रत्ययों की प्राप्ति भी होती है। विभाजन की सीमाएँ ठीक-ठीक निर्धारित करना संभव नहीं है, किंतु प्राचीनतर भाषा में कतिपय स्पष्ट प्रयोग है जहाँ स्वरपात दोलायमान है और परिवर्तित हो जाता है, तथा अन्य इनके

सादृश्य के आधार पर निर्णीत हो सकते हैं। इस प्रकार ऋ० वे० और अ० वे० में √(**मुच्**) से सामान्य **मुच्यते** के अतिरिक्त **मुच्यते** एक या दो बार बनता है; और ब्राह्मणों में प्रथम कोटिक स्वरपात नियमित है। इसी प्रकार के परिवर्तन अन्य धातुओं से **य**—रूपों में भी प्राप्त होते हैं; यथा **क्षि** नष्ट करना, **जी** याज्या आघात पहुँचाना, **तप्** तपना, **दृह्** दृढ़ करना, **पच्** भोजन पकाना, **पृ** भरना, **मी** क्षति पहुँचाना, **रिच्** छोड़ना, **लुप्** तोड़ना, **हा** छोड़ना धातुओं से। इनमें कुछ से कर्तृवाच्यरूप पूर्वकाल में बने हैं, और उत्तरकाल में ये अधिक सामान्य हो जाते हैं। यह विशेष उल्लेखनीय है कि √(**जन्**) जन्म देना के साथ परिवर्तित कर्मवाच्य या मौलिक **य**—रूप निर्माण की तरह **जायते** जन्म लेता है आदि वेद-काल से ही पाया जाता है।

इ—कतिपय धातुएँ (लगभग चालीस) उपर्युक्त धातुओं से अपने स्पष्टतः मूल कर्मात्मक अथवा क्लीबात्मक अर्थ के चलते भिन्न होती हैं। उदाहरण हैं— **अस्** फेंकना, **नह्** बाँधना, **पश्** देखना, **पद्** जाना, **श्लिष्** लपेटना।

ई—अनेक धातुएँ, जो विभिन्न अर्थ वाली तथा यत्-किञ्चित् संदिग्ध स्वरूप और संबंध वाली होती हैं और जिनकी वर्तमान—प्रकृतियाँ य—अन्तवाली होती हैं, देशी वैयाकरणों द्वारा **ऐ** या **ए** या **औ** अन्त्य सन्धिस्वरों के साथ लिखा जाती हैं। इस प्रकार :

उ—धातुएँ जो ऐकारान्त मानी गयी हैं और जो **अ**–(या **भू**–) वर्ग में आती हैं—यथा **गै** गाना (**गायति** आदि)। चूँकि इनमें वर्तमान—प्रक्रिया से **आ**—रूप बहुतायत और प्रायः अनन्य भाव से देखे जाते हैं, इन्हें **य**—वर्ग की **आ**—धातुएँ जैसी न मानने में कोई विशेष तर्क प्रतीत नहीं होता है। ये हैं :— **क्षा** जलाना, **गा** गाना, **ग्ला** म्लान होना, **त्रा** रक्षा करना, **ध्या** ध्यान करना, **प्या** भरना, **स्ला** शिथिल होना, **रा** कर्कश शब्द बोलना, **वा** वह जाना, **श्या** जम जाना, **श्रा** उबलना, **स्त्या** दृढ़ होना। इनमें से कुछ आ के योग के साथ सरलतम धातुओं के स्पष्ट विस्तार होती हैं। यौगिक धातुएँ **ताय्** (**तन्** के साथ) फैलना और **चाय्** (**चि** के साथ) चयन करना इस प्रकार के स्वरूप के प्रतीत होती हैं।

ऊ—धातुएँ जो एकारान्त मानी जाती हैं और जो **अ**—(या **भू**—) वर्ग में आती हैं; यथा **धे** स्तन पान करना (**धयति** आदि)। इनमें भी आ—रूप और यदा–कदा ई–रूप वर्तमान प्रक्रिया के अन्यत्र प्राप्त होते हैं, और इन्हें आ–धातुएँ मानना संगत है, जहाँ इस वर्ग-चिह्न से पूर्व अ में दुर्बलीकृत आ अथवा ई या इ में दुर्बलीकृत **आ** रहता है और जिनके रूप अ–वर्ग के तुल्य चलते हैं।

ये हैं :—**धा** स्तनपान करना, **मा** विनिमय करना, **वा** कपड़ा बुनना, **व्या** लपेटना, **ह्वा** पुकारना (यौगिक, **ह्रू** से)। **द्य** बाँटना और **व्यय्** खर्च करना (संभवत: व्यय की नामधातु) सजातीय रूप की तरह निर्दिष्ट की जा सकती है।

ए—कुछ धातुएँ जो कृत्रिम रूप से ओकारान्त-जैसी लिखी जाती हैं और जो य-वर्ग की मानी गई हैं, जहाँ वर्ग-चिह्न से पूर्व धातुमूलक स्वर लुप्त रहता है। यथा—**दो** काटना, बाँधना लट् **द्यति** आदि। चूँकि चिह्न में **अ** उदात्त हैं, इन्हें इस वर्ग में रखना स्पष्टत: वांछनीय नहीं है, और इन्हें तो अ́-वर्ग (देखिए ऊपर, ७५२ इ) में निर्धारित करना अधिक समीचीन है। वर्तमान प्रक्रिया से अन्यत्र इनमें **आ**-और **इ**-रूप उपलब्ध होते हैं; और उस प्रक्रिया में **य** प्राचीनतम भाषा में वहुधा **इ अ** में विघटित है।

७६२—अभी तक वर्णित में एकमात्र य-वर्ग है जहाँ अर्थ के एक विशेष प्रभेद में निवन्धन की ओर प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इस प्रवृत्ति को तथा अपने चिह्न के रूप को लेकर यह स्पष्ट निर्धारित अर्थ की कोटि में आता है जिसका विवेचन आगे होगा—कर्मवाच्य, य́—चिह्न के साथ। यद्यपि यह अन्य वर्तमान प्रक्रियाओं के साथ द्वितीय कोटि की तरह व्यापक रूप में कदापि व्यवहृत नहीं है, यह अन्य किसी वर्ग की सकर्मकता के साथ अकर्मक क्रिया-रूप जैसा कुछ स्थलों में होता है।

य—वर्ग की अनियमितताएँ

७६३—इस वर्ग की अम् अन्तवाली धातुएँ वर्तमान-प्रकृति के निर्माण में अपने स्वर को दीर्घ कर देती हैं : ये हैं—**क्लम्, तम्, दम्, भ्रम्, शम्** शान्त होना, **श्रम्**। उदाहरणार्थ, **ताम्यति, श्राम्यति**। किन्तु **क्षम्** से केवल **क्षम्यते** होता है, और **शम्** श्रम करना से **शम्यति** वनता है (ब्रा०)।

७६४—धातु **मद्** में उसी प्रकार का दीर्घभाव प्राप्त है : यथा **माद्यति**।

७६५—**ईव्** अन्तवाली धातुएँ—यथा **दीव्, सीव्, स्रीव्,** या **श्रीव्** और **ष्ठीव्** (जिससे इस वर्ग का कोई रूप उद्धरणीय नहीं है)—वैयाकरणों द्वारा इव् के साथ लिखी जाती है, और इनके लिए वर्तमान-प्रक्रिया में उसी प्रकार की दीर्घता का विधान है।

अ—ये वस्तुत: **दीऊ** प्रभृति जैसी वन जाती हैं, क्योंकि इनका स्वरीकृत अन्त्य अन्य रूपों से नित्य ऊ होता है; इससे प्रमाणित होता है कि **दीव्** का कोई भी संवंध अनुमानित धातु **दिव्** चमकना से नहीं है, जो द्यु में (३६१ ई) में परिवर्तित होता है : तुलनीय २४० आ।

७६६—जॄ और तॄ (जुर् और तिर् या तुर् जैसी भी लिखित) धातुओं से जीर्य और तीर्य तथा जूर्य और तूर्य (अन्तिम दो केवल ऋ० वे०) में प्रकृतियाँ बनती हैं। पॄ से पूर्य होती है।

७६७—धातु व्यध् विध् में संक्षेपीकृत है; यथा विध्यति। पुनः जिस धातु से अन्य रूपों में उपधा नासिक्य होता है, वह यहाँ नासिक्य को खो देती है। इस प्रकार दृंह् या दृह् से दृह्य; भ्रंश् या भ्रश् से भ्रश्य; रञ्ज् या रज् से रज्य।

९—उदात्त सम्पन्न—य-वर्ग : कर्मवाच्य क्रियारूप

७६८—वर्तमान-प्रकृति का एकरूप जो आत्मने० तिङ् प्रत्ययों के साथ रूपायित है केवल कर्मवाच्यार्थ में प्रयुक्त होता है, और सभी धातुओं से जिनके कर्मवाच्य क्रियारूप की प्राप्ति है, यह बनाया जाता है। इसका चिह्न उदात्त युक्त य होता है जो धातु में जुड़ता है। इस प्रकार √(हन्) मारना से हन्य, √(आप्) पाना से आप्य, √(गृह्) (या ग्रह) पकड़ना से गृह्य इत्यादि, वर्ग के निरपेक्ष, जिसके अनुसार परस्मै० और और आत्मने० रूप बनाये जाते हैं।

७६९—धातु का रूप जिसमें कर्मवाच्य-चिह्न जोड़ा जाता है (चूँकि स्वरपात चिह्न पर है) दुर्बल होता है। फलतः उपधारूप नासिक्य लुप्त हो जाता है और जो भी संक्षेपण लिट् के दुर्बल रूप (७९४) में, भूत विधिलिङ् (९९२ आ) में अथवा कर्मवाच्य कृदन्त क्रियारूप (९५४) के त से पूर्व होता है, वह कर्मवाच्य वर्तमान-प्रक्रिया में भी किया जाता है। यथा—√(अञ्ज्) से अज्य, √(बन्ध्) से बध्य, √(वच्) से उच्य, √(यज्) से इज्य।

७७०—दूसरी ओर धातु के अन्त्य स्वर में सामान्यतया उसी प्रकार के परिवर्तन होते हैं जिस प्रकार धातुज प्रक्रिया के अन्य अंशों में जहाँ य इसके बाद आता है। यथा—

अ—अन्त्य इ और उ दीर्घ हो जाते हैं; यथा √(मि) से मीय √(सु) से सूय।

आ—अन्त्य आ साधारणतः ई में परिवर्तित होता है; यथा—√(दा) से दीय; √(हा) से हीय; किन्तु √(ज्ञा) से ज्ञाय, और इसी प्रकार ख्याय, खाय, म्नाय इत्यादि।

इ—अन्त्य ऋ साधारणतः रि में परिवर्तित हो जाता है; यथा—कृ से क्रिय, किन्तु यदि पूर्व में दो व्यंजन हों (और पुनः ऐसा विहित है धातु ऋ में) वहाँ इसका गुण—सबलीकरण प्राप्त है : यथा स्मृ से स्मर्य (एकमात्र उद्धरणीय प्रयोग);—और उन धातुओं में जहाँ ॠ का परिवर्तन इर् और उर् में देखा

जाता है (तथाकथित ऋ—क्रियाएँ, देखिए २४२), वह परिवर्तन यहाँ भी होता है, और स्वर दीर्घ कर दिया जाता है : यथा √(शॄ) से शीर्यें, √(पॄ) से पूर्यँ ।

७७१—कर्मवाच्य—प्रकृति का रूपविधान बिलकुल अन्य अ—प्रकृतियों की तरह होता है; अन्त में उक्त वर्ग से यह केवल स्वरपात की स्थिति की दृष्टि से भिन्न होता है । अतएव उसी प्रकार के संक्षेपीकृत रूप में यह यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है :

अ—रूप-विधान का उदाहरण : धातु कृ बनाना; कर्मवाच्य प्रकृति क्रिय́ :

१—लेट्

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	क्रिये́	क्रिया́वहे	क्रिया́महे
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

२—वर्तमान लेट्

आ—प्राचीनतर भाषा में प्रयोग प्राप्त रूप ही उदाहृत किये जाते हैं :—

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	क्रियैं		क्रिया́महै
म०			क्रिया́ध्वै
अ०	क्रिया́ते		
	क्रिया́तै		क्रिया́न्तै

इ—अन्य० एकव० तिङ् अंतै एकवार प्राप्त है (उच्यंतै काठ०)

३—वर्तमान विधिलिङ्

उ०	क्रिये́य	क्रिये́वहि	क्रिये́महि
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

ई—ऋ० वे० या अ० वे० में कर्मवाच्य विधिलिङ् के कोई रूप प्रयोग में प्राप्त नहीं हैं, किंतु ब्राह्मणों में ये मिलते हैं । छान्दो० उप० में ध्मायीत एकवार पाया जाता है ।

४—वर्तमान लोट्

क्रिय́स्व	क्रिये́थाम्	क्रिय́ध्वम्
इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

५—वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप

उ—यह मान प्रत्यय से बनाया जाता है; यथा—क्रिय́माण ।

ऊ—यह कृदन्तक्रियारूप प्रयोग में अन्य कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप से अपने

स्पष्टतः वर्तमानकालिक अर्थ लेकर अच्छी तरह पृथक् होता है, यथा **कृतं** किया, किंतु **क्रियमाण** किये जाने की अवस्था में या किये जाना।

६—लङ्

उ०	**अंक्रिये**	**अंक्रियावहि**	**अंक्रियामहि**
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

ए—वेद में कर्मवाच्य-चिह्न **इ अ** में कभी विघटित नहीं होता है।

७७२—**तन्** और **खन्** धातुएँ सामान्यतया अपने कर्मवाच्य रूपों को अंत वाली तद्रूप धातुओं से बनाती हैं; यथा—**तायंते, खायंते** (किंतु **तन्यते, खन्यते** भी); तथा इसी प्रकार **धम्** से **धम्यते** अथवा **ध्मायते** बनता है। √(**जन्**) का अनुरूपी रूप, **जायते** (ऊपर ७६१ आ) स्पष्टतः पूर्ववर्ती वर्ग में अंतरण है।

७७३—**म्रियंते** मरता है, और **ध्रियंते** धारण करता है, स्थिर है, दोनों अपने रूप के चलते **मृ** मरना और **धृ** धारण करना धातुओं के कर्मवाच्यरूप हैं, यद्यपि इनमें से कोई वास्तविक कर्मवाच्यार्थ में प्रयुक्त नहीं है, और प्रत्ययांत रूप **मृण** (ऊपर ७३१) को छोड़कर अन्यत्र कहीं **मृ** सकर्मक नहीं है। इनके साथ **आ-द्रियं** ध्यान देना और **आ-प्रियं** व्यस्त होना प्रकृतियाँ तुलनीय हैं जो संभवतः **दृ** छेदना और **पृ** भरना धातुओं के कर्मवाच्यों के अर्थ के विशिष्ट अनुकूलन हैं।

७७४—**यं** या कर्मवाच्य वर्ग से **य** या अकर्मकात्मक वर्ग में प्रकृतियों के अंतरण के उदाहरण ऊपर (७६१ आ) में दिये जा चुके हैं; और यह भी निर्दिष्ट कर दिया गया है कि यदा-कदा पूर्वतर भाषा में भी, आत्मनेपदी तिङ्प्रत्ययों के स्थान में परस्मै० तिङ्प्रत्यय विशुद्ध कर्मवाच्यरूपों से गृहीत हैं। उदाहरण होते हैं:—**आंध्मायति** और **व्यप्रंष्यत्** (श० ब्रा०), **भूयति** (मै० उ०)। तथापि रामा० महाभा० में (परस्मै० और आत्मने० रूपों में इनकी सामान्य भ्रांति के चलते, ५२९ अ) परस्मैपदी तिङ्प्रत्यय कर्मवाच्य द्वारा अखिल भाव से गृहीत हैं; यथा—**शक्यति, श्रूयन्ति, भ्रियन्तु, इज्यन्तु**,—प्रभृति।

तथाकथित दशम या चुरादि गण

७७५—जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है (६०७) भारतीय वैयाकरण तथा उनके अनुसरण से कतिपय यूरोपीयन भी—अन्य क्रियारूप-वर्ग को भी मानते हैं जो ऊपर वर्णित वर्गों का एक रूप होता है; इसकी प्रकृति में वर्ग-चिह्न **अंय** आता है जो सामान्यतः सवलीकृत धातु में जुड़ा रहता है; इसकी प्रकृतियों में वर्ग-चिह्न **अंय** देखा जाता है जो सामान्यतः सवलीकृत धातु में

जोड़ा जाता है (विस्तृत विवेचन के लिए दे० १०४२)। यों तो यह यथार्थ वर्ग नहीं होता, अपितु यौगिक या सप्रत्यय क्रियारूप (इसकी प्रकृतियाँ आंशिक रूप से णिजन्त रूप निर्माण वाली होती हैं, आंशिक रूप से परिवर्तित स्वरपात के साथ नामधातु वाली), इसके रूपों का संक्षेपीकृत निर्देशन यहाँ अन्य व्याकरणों के साथ एकरूपता के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है।

अ—उदाहरण : धातु **चिन्त्** सोचना, ध्यान करना; प्रकृति चिन्तय

	परस्मैपद	आत्मनेपद
वर्तमान निश्चयार्थ	चिन्तयामि	चिन्तये
लेट्	चिन्तयानि	चिन्तयै
विधिलिङ्	चिन्तयेयम्	चिन्तयेय
कृदन्तक्रियारूप	चिन्तयन्त्	चिन्तयमान
लङ्	अचिन्तयम्	अचिन्तये

आ—वस्तुतः रूपविधान वही है जो अ-प्रकृतियों से अन्य रूपों का होता है (७३३ अ)।

इ—उत्तरकालिक भाषा में आत्मने० कृदन्त क्रियारूप अपेक्षाकृत अधिक समय **मान** की जगह **आन** के योग से बनाया जाता है; यथा—**चिन्तयान**, द्रष्टव्य १०४३ मु० वि०।

लट् और लङ् के प्रयोग

७७६—पिछले अध्याय में (५७२ मु० वि०) वर्तमान प्रक्रिया के प्रकार-रूपों के प्रयोग संक्षेप में कहे जा चुके हैं। लट् और लङ् दो निश्चयार्थक-कालों के काल-प्रयोगों की व्याख्या के एक या दो वाक्य यहाँ अपेक्षित हैं।

७७७—लट् में इसके आपाततः वर्तमान-प्रयोग के अतिरिक्त उसी प्रकार के गौण-प्रयोग प्राप्त हैं जो सामान्यतया काल के होते हैं; यथा सजीव वर्णन में भूत क्रिया की, भविष्य-क्रिया की और अभ्यासिक क्रिया की अभिव्यक्ति के लिए।

अ—भविष्यार्थ के उदाहरण होते हैं : **इमँ चेद् वा इमँ चिन्वँते तँत एव नोऽभिभवन्ति** (श० ब्रा०) निस्संदेह यदि ये इसे बना देते हैं, तो वे निश्चित रूप से हमें अभिभूत कर देंगे; **अग्निरात्मभवम् प्रादाद् यत्र वाञ्छति नैषधः** (महाभा०) जब कभी नैषध चाहा, अग्नि ने अपनी ही उपस्थिति की; **स्वागतं तेऽस्तु किं करोमि तव** (रामा०) तुम्हें स्वागत है, तुम्हारे लिए मैं क्या करूँ?

आ—भूतार्थ के उदाहरण हैं : **उँत्तरा सूँर अँधरः पुत्रँ आसीद् दाँनुः शये सहँवत्सा नँ धेनुँः** (ऋ० वे०) माता ऊपर थी, पुत्र नीचे था, दानु

लेटा है, जिस प्रकार गाय बछड़े के साथ; **प्रहसन्ति च तां केचिद् अभ्यसूयन्ति चाऽपरे। अकुर्वत दयां केचित्** (महाभा०) कुछ उसकी हँसी उड़ाते हैं, कुछ उसकी निंदा करते हैं, कुछ ने उस पर दया की है; **ततो यस्य वचनात् तत्राऽवलम्बितास्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति** (हितो०) तब, जिसके वचन से वे वहाँ उतरे थे, उसका अपमान सब करने लगे।

७७८—कुछ निपातों के योग से लट् में तो अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से भूतकाल का अर्थ प्राप्त है। इस प्रकार :—

अ—**पुरा** पहिले के साथ : यथा—**सप्तर्षीन् उ ह स्म वै पुरक्षा इत्याचक्षते** (श० ब्रा०), वस्तुतः सप्तर्षि प्राचीन ज्ञात ऋक्ष होते हैं; **तन्मात्रमपि चेन्मह्यं न ददाति पुरा भवान्** (महाभा०) यदि आपने मुझे पहिले लेशमात्र भी नहीं दिया है।

आ—अभिकथनार्थक निपात **स्म** के साथ : यथा—**श्रमेण ह स्म वै तद् देवा जयन्ति यद् एषां जय्यम् आसर्षयश्च** (श० ब्रा०) वस्तुतः, देव और ऋषि दोनों तपस्या से उसे जीतते हैं जिसे इन्हें जीतना था; **आविष्टः कलिना द्यूते जीयते स्म नलस्तदा** (महाभा०) तब नल कलि द्वारा अभिभूत होने पर जूए में हरा दिया गया।

इ—इस अंतिम रचना का कोई उदाहरण ऋ० वे० में अथवा अ० वे० में या अन्यत्र वेद के पद्यात्मक अंशों में कहीं भी प्राप्त नहीं है। ब्राह्मणों में इसके द्वारा केवल अभ्यासी क्रिया अभिव्यक्त होती हैं। भाषा के सभी युगों में अभिकथनार्थक निपात के रूप में क्रिया के साथ **स्म** का प्रयोग कालार्थ से निरपेक्ष होकर अतिसामान्य है; और उत्तर काल में आकर ऐसे उदाहरण सजीव वर्णन के वर्तमान से प्रायः ही भिन्न होते हैं—जिनकी सम्पूर्ण रचना वस्तुतः एकरूप है।

७७९—भाषा के सम्पूर्ण इतिहास में लङ् प्रयोगिता की दृष्टि से अपरिवर्तित रहा है : यह वर्णन का काल है; यह सरल भूत काल को द्योतित करता है, किसी प्रकार की विशेष विवक्षा नहीं होती।

अ—लिट् और लुङ् प्राचीनतर भूतकालों की प्रयोगिता लेकर आगे (अध्याय–१० का अन्तिम अंश तथा अध्याय ११) जो कुछ कहा गया है, उससे तुलना कीजिये।

———

अध्याय—१०

परोक्ष-प्रक्रिया

७८०—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है (५३५), उत्तरकालिक भाषा में परोक्ष-प्रक्रिया केवल निश्चयार्थक काल और कृदन्त-क्रियारूप लेकर होती है—इनमें से दोनों के परस्मैपद और आत्मनेपद दो पद होते हैं।

अ—प्राचीनतम भाषा में परोक्ष के अपने प्रकार और अपना आगम-भूत या परिपूर्णभूत हैं, अर्थात् इसकी रूपतालिका वर्तमान प्रक्रिया की अपेक्षा कम संपन्न नहीं होती है (द्रष्टव्य ८०८ मु० वि०)।

७८१—लिट् का निर्माण मुख्यतः सभी क्रियाओं में समान है, इनमें अन्तर केवल गौण परिणाम के होते हैं अथवा अनियमितताओं के स्वरूप लेकर। रूप-निर्माण की विशेषताएँ ये होती हैं :

(१) धातु के अभ्यास द्वारा बनी हुई प्रकृति;

(२) प्रकृति के सबलतर दुर्बलतर रूपों का भेद, प्रथम परस्मैपद एकवचन में (प्रथम या अ-भिन्न-क्रियारूप के वर्तमानों की तरह) प्रयुक्त मिलता है और द्वितीय अन्य सभी पुरुषों में;

(३) वर्तमान से भिन्न कुछ अंशों में विशिष्ट तिङ्चिह्न;

(४) प्रकृति और तिङ्चिह्नों के बीच संयोजन स्वर इ का अतिशय प्रयोग, विशेष रूप से उत्तरकालिक भाषा में।

७८२—**अभ्यास**। व्यंजन से आरंभ होने वाली धातुओं में अभ्यास जो लिट् प्रकृति बनाता है, उसी प्रकार के लक्षण को लेकर होता है जो साभ्यास क्रियारूप-वर्ग की वर्तमान-प्रकृति बनाने वाले में है (देखिए ६४३)—किंतु एक अपवाद यह होता है कि धातुमूलक **अ** और **आ** तथा **ऋ** (या **अर्**) अभ्यास जनित अक्षर के रूप में केवल **अ** का ग्रहण करते हैं **इ** का कदापि नहीं। इस प्रकार √(**पॄ**) भरना से वर्तमान प्रकृति **पिपृ** होती है, किन्तु परोक्ष प्रकृति **पपृ** है; √(**मा**) मापना से वर्तमान-प्रकृति **मिमा** है, किन्तु परोक्ष-प्रकृति **ममा**, इत्यादि।

अ—आदि व्यंजन वाली धातुओं की अनियमितताएँ नीचे दी जायेंगी ७८४।

७८३—स्वर से आरंभ होनी वाली धातुओं के लिए अभ्यास के नियम ये होते हैं :—

अ—अ से आरंभ होने वाली धातु अन्त्य एकाकी व्यंजन से पूर्व अ को पुनरुक्त करती है जो तब धातुमूलक स्वर से मिलकर (सर्वत्र सम्पूर्ण रूपविधान में) **आ** हो जाता है; यथा—√(**अद्**) खाना से **आद्**; तथा इसी प्रकार **आज्**, **आन्**, **आस्**, **आह्**। इसी तरह धातु **ऋ** (जैसे कि **अर्** से) नित्य **आर्** बनाती है।

आ—**इ** अथवा **उ** से युक्त धातु अन्त्य एकाकी व्यंजन से पूर्व सबल रूपों (परस्मै० एकव०) को छोड़कर अन्यत्र उसी प्रकार के सादृश्य का अनुसरण करती है; यहाँ धात्वक्षर के स्वर का गुण होता है जिससे **ए** या **ओ** हो जाता है; और इसके पूर्व अभ्यास वाला स्वर अपना स्वतंत्र रूप सुरक्षित रखता है और अपने ही अन्तःस्थ द्वारा धात्वक्षर से पृथक् रहता है। इस प्रकार √(**इष्**) से दुर्बल रूपों में **ईष्** होता है, किन्तु सबल रूपों में **इयेष्**; उसी प्रकार √(**उच्**) से **ऊच्** और **उवोच्** होते हैं। एकाकी स्वर-रूप **इ** धातु भी इसी नियम के अंतर्गत होती है और **ईय्** (स्वर से पूर्व **य्** जोड़ा जाता है) तथा **इये** बनाती है।

इ—प्रकृति भाव के अथवा स्थान-भाव के दीर्घ स्वर से आरंभ होने वाली धातुएँ सामान्यतया परोक्ष-प्रक्रिया नहीं बनाती हैं, अपितु इसके स्थान में यौगिक रूपनिर्माण का प्रयोग करती हैं, जिसमें सहायिका क्रिया का लिट्रूप क्रियामूलक संज्ञा के द्वितीया विभक्तिरूप में जोड़ा जाता है (देखिये नीचे, अध्याय १५, १०७० मु० वि०)।

ई—किंतु इस नियम का अपवाद √(**आप्**) पाना (संभवतः मूल रूप में **अप्**, १०८७ ऊ) होता है जिससे नित्य लिट्-प्रकृति **आप्** (जैसे कि **अप्** से, ऊपर अ) बनती है। √(**ईड्**) से **ईडे** (ऋ०वे०) और **ईडिरे** तथा √(**ईर्**) से **ईरिरे** (वे०) भी पाये जाते हैं।

उ—आदि स्वरों वाली थोड़ी-सी धातुओं के विशिष्ट अभ्यास के लिए, देखिये नीचे, ७८८।

७८४—**व** से आरंभ होने वाली और एकाकी व्यंजन में अंत होने वाली अनेक धातुएँ, जो अपने विभिन्न क्रियामूलक रूपों और व्युत्पन्न रूपों में **व** को **उ** में घटा देती हैं, लिट् में भी इस प्रक्रिया का वहन करती हैं, और ये आदि **उ** वाली धातुओं की तरह मानी जाती हैं (ऊपर ७८३ आ), किंतु ये परस्मैपदी एकवचन के सबल तिन्ङत रूपों में धातु के पूर्व रूप को बनाये रखती हैं। इस प्रकार √(**वच्**) बोलना से **ऊच्** और उवच् प्राप्त होते हैं; √(**वस्**) बसना से **ऊष्** और **उवस्**, इत्यादि।

अ—धातुएँ जिनमें यह संक्षेपण देखा जाता है, **वच्**, **वप्**, **वद्**, **वश्**, **वस्**, **वह्** होती हैं; और **वा** बुनना से इसी नियम का ग्रहण विहित है।

आ—**य** आरंभ वाली एकमात्र धातु, उदाहरणार्थ **यज्** वलि देना, इसी प्रकार के संकोच को रखती है, और इससे **इयज्** और **ईज्** प्रकृतियाँ बनती हैं।

इ—कादाचित्क अपवाद उपलब्ध होते हैं: यथा—**ववाच** और **ववक्षे** (ऋ० वे०); **ववाप** तथा **ववाह** और **ववाहतुस्** (रामा० महाभा० तथा उत्तरकाल); **भेजे** (वे०)।

७८५—प्रथम आदि व्यंजन के वाद **य** वाली अनेक धातुएँ अभ्यास में अ के स्थान में **इ** (**य्** से) का ग्रहण करती हैं; यथा—√ (**व्यच्**) से **विव्यच्** होता है; √ (**प्या**) से **पिप्या**।

अ—ये धातुयें **व्यच्**, **व्यथ्**, **व्यध्**, **व्या**, **ज्या**, **प्या**, **स्पन्द्** होती हैं; और वेद में **त्यज्** और साथ ही, **च्यु** और **द्यु** जिनका धात्वच् उ है। अन्य विकीर्ण-प्रयोग मिलते हैं।

आ—**व** वाली एक धातु इसी प्रकार विकसित है, उदाहरणस्वरूप **स्वप्**, जिससे **सुष्वप्** वनता है।

इ—ये धातुएँ दुर्वल रूपों में अधिकांशतः संक्षेपीकृत होती हैं, देखिये नीचे ७९४।

७८६—वेद में अनेक धातुएँ अपने अभ्यास में दीर्घ स्वर रखती हैं।

अ—इस प्रकार, **आ** के साथ अभ्यास होने वाली धातुओं में **कन्**, **क्लृप्**, **गृध्**, **तृप्**, **तृष्**, **दृह्**, **धृ**, **धृष्**, **नम्**, **मह्**, **मृज्**, **मृश्**, **रन्**, **रध्**, **रभ्**, **वञ्च्**, **वन्**, **वश्**, **वस्** वस्त्र धारण करना; **वाश**, **वृज्**, **वृत्**, **वृध्**, **वृष्**, **शद्** व्याप्त होना, **सह्**, **स्कम्भ्**। इनमें से कुछ केवल विकीर्ण प्रयोगों में आती हैं; अनेक में ह्रस्व स्वर वाले रूप भी प्राप्त हैं। अधिकांश केवल वैदिक होती हैं, किंतु **दाधार** ब्राह्मण भाषा में भी सामान्य है और उत्तरकाल में भी पाया जाता है। **जागृ** के लिए, देखिये १०२० अ।

आ—**ई** के साथ अभ्यास होने वाली धातुओं में: तथा-कथित धातुएँ (६७६) **दीधी** और **दीदी**, जो वर्तमान के तुल्य वाली प्रकृति से लिट् रूप बनाती हैं, यथा **दीदेथ**, **दीदाय**; **दीधिम**, **दीध्युस्** (साथ ही, **दीधियुस्**, **दीदियुस्**)। किंतु **पीपी** से ह्रस्व **इ** वाले **पिप्ये**, **पिप्युस्** प्रभृति रूप प्राप्त हैं। अ० वे० में **जीहीड** एक बार आता है और ऐ० ब्रा० (और ऐ० आ०) में **बीभाय**।

इ—ऊ के साथ अभ्यास होने वाली धातुओं में: **तू**, **जू** और **शू** (या **श्वा**)।

७८७—(व्युत्पन्न, ४२) तालव्य स्पर्शों और महाप्राण ध्वनि से आरंभ होने वाली कुछ धातुओं से अभ्यास के बाद धात्वक्षर मे अपेक्षाकृत अधिक मौलिक कण्ठ्य ध्वनि में प्रत्यावर्तन देखा जाता है : यथा—(चि) से **चिकि** बनता है; √(चित्) से **चिकित्**, √(जि) से **जिगि**; √(हि) से **जिघि**, √(हन्) से **जघन्** (और वही प्रत्यावर्तन इन धातुओं के अन्य अभ्यस्त रूपों में प्राप्त होता है, २१६ ख)। धातु **दा** रक्षा करना से वैयाकरणों द्वारा **दिगि** रूप का विधान माना जाता है; किन्तु न तो धातु और न तो लिट्‌रूप उद्धरणीय है।

७८८—आदि **अ** या **ऋ** (अर्) वाली कुछ धातुओं के लिट् में नियम विरुद्ध अभ्यास **आन्** देखा जाता है।

अ—इस प्रकार (मुख्यतः प्राचीनतर भाषा में ही आने वाले रूप) : √(अञ्ज्) या **अज्** जो लट् रूप **अनक्ति** बनाती है, लिट् रूप **आनञ्ज** और **आनजे** प्रभृति (**अनजा** और **अनज्यात्** के साथ) रखती है।

√(अश) पाना (जिससे ऋ० वे० में **अनंशामहै** एक बार आता है) के दुर्बल रूप **आनश्म** प्रभृति (विधिलिङ् **आनश्याम** के साथ); **आनशे** इत्यादि (और लाटा० शां० सू० में **आनशध्वे** प्राप्त है), और सवल रूप **आनंश** और **आनाश—आश** प्रभृति नियमित रूपों के साथ—मिलते हैं।

√(ऋध्) (जिससे **ऋणधत्** एक बार प्राप्त है) से **आनृधुस्** और **आनृधे** होते हैं।

√(ऋच्) या **अर्च्** के **आनृचुस्** और **आनृचे** मिलते हैं, और उत्तर काल में **आनर्चे** और **आनर्चुस्** प्राप्त हैं, √(अर्ह्) से (तै० सं० में) **आनृहुस्** मिलता है।

अनाह (ऋ०वे०, एक बार) धातु **अह्** संबद्ध माना गया है। यह अन्यत्र अप्राप्त है और इस रूपनिर्माण के जैसा व्याख्यात है; किंतु इसका औचित्य संदिग्ध ही है।

आ—इस प्रकार उत्तर कालिक व्याकरण में ऐसा नियम बन जाता है कि अ से आरंभ होने वाली और एकाधिक व्यंजनों में अंत होने वाली धातुएँ अपने अभ्यास के रूप में **आन्** का वहन करती हैं; और इस प्रकार के लिट् रूप **अक्ष्**, **अर्ज्** और **अञ्ज्** या **अच्** जैसी धातुओं से विहित हैं; किंतु अन्य उद्धरणीय रूप केवल **आनर्छत्**, (महाभा०) और **आनर्षत्** (तै० आ०) देखे जाते हैं, जो तदनुसार परिपूर्ण के रूप जैसे माने जाते हैं।

७८९—अनियमितता की एक या दो विशिष्ट अवस्थाएँ यो होती हैं;

अ—अत्यधिक प्रचलित धातु **भू** होना के साथ अनियमित अभ्यास **ब** होता है जिससे प्रकृति **बभू** बनती है; और वेद में √(**सू**) इसी प्रकार **ससू** बनाती है।

आ—धातु **भृ** धारण करना वेद में **ज** असंगत अभ्यास रूप (जैसा कि यङन्त में भी, १००२) निष्पन्न करती है; किंतु वेद में एक बार नियमित **बभ्रे** और कृदंत क्रियारूप **बभ्राण** भी प्राप्त हैं।

इ—धातु **ष्ठीव्** थूकना से या तो **तिष्ठीव्** (श० ब्रा०) या **टिष्ठीव्** (अनुद्धरणीय) बनता है।

ई—**विवक्वान्** (ऋ० वे०; एक बार) निस्संदेह √(**वच्**) का कृदंत क्रियारूप अनियमित अभ्यास के साथ (जैसा कि वर्तमान में, ६६०) होता है।

७९०—कुछ अवस्थाओं में अभ्यास की अप्राप्ति देखी जाती है। इस प्रकार :—

अ—धातु **विद्** जानना के साथ पूर्वतम युग से लेकर नवीनतम काल तक लिट् रूप अभ्यास रहित होता है, किंतु अन्यथा यह नियमित रूप बना है और इसका रूप चलता है : यथा—**वेद**, **वेत्थ** इत्यादि, कृदन्त क्रियारूप **विद्वांस्**। इसमें वर्तमानार्थ विद्यमान है। धातु **विद्** पाना से नियमित **विवेद** बनता है।

आ—अन्य कुछ स्पष्ट लिट्-रूप जिनमें द्वित्व का अभाव है; ऋ० वे० में पाये जाते हैं : वे होते हैं **तक्षथुस्** और **तक्षुस्**; **यमतुस्**, **स्कम्भथुस्** और **स्कम्भुस्**, **निन्दिम** (**निनिन्दिम** के लिए ?), **धिषे** और **धिरे** (?√(**धा**)) और **विद्रे** तथा **अर्हिरे** (? देखिये ६१३)। पुनः अ० वे०, वा० सं० में **चेततुस्** प्राप्त है। कृदन्त क्रिया रूप शब्द **दाश्वांस्**, **मीढ्वांस्**, **साह्वांस्** प्राचीनतम भाषा में प्रचलित हैं; ऋ० वे० में एक वार **जानुषस्** √(**ज्ञा**) और संभवतः **चिखिद्वस्** के लिए **खिद्वस्** (सं०) मिलते हैं।

इ—कूछ विकीर्ण प्रयोग भी उत्तरकाल की भाषा से, विशेषतः रामा० महाभा० से उद्धरणीय हैं। उदाहरणस्वरूप—**कर्षतुस्**, **चेष्ट** और **चेष्टेतुस्**, **भ्राजतुस्**, **सर्प**, **शंसुस्**, और **शंसिरे**, **ध्वंसिरे**, **स्रंसिरे**; **जल्पिरे**, **एधिरे**; साथ ही कृदन्त क्रियारूप **शंसिवांस** और **दर्शिवांस्**, द्वितीय अविरल नहीं होता है।

७९१—साभ्यास पूर्वसर्ग के एक या दो असंगत रूपों के लिए देखिये नीचे १०८७ ऊ।

७९२—**सबल और दुर्बलप्रकृति-रूप**। परस्मैपदी एकवचन के तीनों पुरुषों में धात्वक्षर उदात्त होता है और काल-रूप विधान के अवशिष्ट की अपेक्षा

सवलतर रूप सामान्यतया रखता है। भेद अंशतः निर्दिष्ट तीनों पुरुषों में धातु के सवलीकरण से होता है, अंशतः अन्य रूपों के दुर्बलीकरण से, अंशतः दोनों ही प्रक्रियाओं से।

७९३—सवलीकरण को लेकर :

अ—अन्त्य स्वर के साथ परस्मै० उ० एकव० में गुण या वृद्धि परिवर्तन होता है, म० में गुण और अ० में वृद्धि। इस प्रकार—

√(भी) से उ० **बिभे** या **बिभै**, म० **बिभे**; अ० **विभै**; √(कृ) से उ० **चकर्** या **चकार्**, म० **चकर्**, अ० **चकार**।

आ—किंतु भू का ऊ अपरिवर्तित बना रहता है और स्वर तिङ्प्रत्यय से पूर्व व् जोड़ता है; यथा **बभूव** इत्यादि।

इ—अन्त्य एकाकी व्यंजन से पूर्व मध्य ग अ अन्त्य स्वर के सादृश्य का पालन करता है और अन्य० एकव० में नित्य तथा वैकल्पिक भाव से उत्तम० में दीर्घित या वर्धित हो जाता है : इस प्रकार √(तप्) से उ० **ततप्** या **ततांप्**, म० **ततप्**, अ० **ततांप्**।

ई—किंतु पूर्वतर भाषा में इन नियमों के अनुसार उत्तम पुरुष में विहित दो रूपों में से दुर्बलतर रूप प्रायः नित्य भाव से प्रयुक्त है : यथा उत्तम० केवल **विभय, ततप्**; अन्य० **बिभाय, ततांप्**। उत्तम पुरुष-रूपों-जैसे **चकार** और **जग्राह** (संदिग्ध पाठ) अ० वे० में, **चकार** आ० श्री० सू० तथा वृ० आ० उ० (चकर श० ब्रा०) में, **जिगाय** आ० श्री० सू० में अपवाद होते हैं।

उ—तीनों पुरुषों में समान रूप से मध्यग ह्रस्व स्वर में गुण कोटिक सबलीकरण (जहाँ यह संभव है, २४०) प्राप्त है : यथा √(द्रुह्) से **दुद्रोह** होता है; √(विश) से **विवेश**, √(कृत्) से **चकर्त**।

ऊ—अन्त्य एकाकी व्यंजन से पूर्व आदि ह्रस्व स्वर का ग्रहण मध्यग की तरह विहित है, किंतु उद्धरणीय उदाहरण खूब कम होते हैं : उदाहरणस्वरूप √(इष्) खोजना से **इयेष**, √(उच्) से **उवोचिथ** और **उवोच**, √(उष्) से **उवोष**। इ और ऋ धातुओं के लिए, जिनके स्वर आदि और अन्त्य दोनों होते हैं, (देखिए ऊपर ७८३ अ, आ.)।

ए—वैयाकरणों ने इन नियमों का विधान मध्यम० एकव० में नित्य माना है, जब कि इसमें सरल **थ** तिङ्-प्रत्यय जैसा प्राप्त है; यदि इसमें **इथ** (नीचे, ७९७ ई) रहता है, तो स्वरपात शब्द के किसी एक अक्षर पर संभव है और धात्वक्षर, यदि अनुदात्त होता है, कभी-कभी दुर्बल रूप का होता है (अर्थात् मध्यग अ के लिए ए के साथ संकुचित प्रकृतियों में; नीचे ७९४ उ; और अन्य

कुछ क्रियाओं में, यथा **विविजिथ**) तथापि पूर्वतर भाषा में मध्यम० एकव० का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है, जब कि इसका तिङ्प्रत्यय धात्वक्षर के अन्यत्र किसी पर उदात्त बनाये रहता अथवा ऊपर निर्दिष्ट (अ, इ, उ में) सवलीकरण के नियमों की प्राप्ति का अभाव लेकर होता है।

ऐ—एकवचन पुरुषों से अन्यत्र सवलीकरण के कादाचित्क प्रयोग पाये जाते हैं : यथा **युयोपिम** और **विवेशुस्** (ऋ० वे०), **पस्पर्शुस्** (केन० उ०) और रामा० महाभा० में **चकर्तुस्** और **चर्कातिरे, चकर्षतुस्, जुगूहिरे, ननामिरे, बिभेदुस्, ववाहतुस्, विवेशतुस्, ववर्षुस्**, । **दृ, पृ०** और **भृ** तथा विकल्प से **जॄ** धातुओं के साथ दुर्वल रूपों में सवल प्रकृति का विधान वैयाकरणों द्वारा विहित है; किंतु कोई प्रयोग उद्धरणीय नहीं है, तथापि अ० वे० में **जहरुस्** (संभवतः भ्रामक पाठ) एक वार मिलता है, और उत्तरकालिक भाषा में **चस्करे** (**कृ** छींटना) और **तस्तरे** पाये जाते हैं।

ओ—धातु **मृज्** से (जैसा कि वर्तमान प्रक्रिया में, ६२७) सवल रूपों में गुण के वजाय वृद्धि होती है : उदाहरणार्थ **ममार्ज** और √(**गुह्**) (वतमान में जैसे ७४५ इ) से **ओ** के स्थान में **ऊ** होता है (किंतु **जुगुहे** भी, रामा० महाभा०)।

७९४—दुर्वल रूपों के दुर्वलीकरण के प्रसंग में :

अ—यह ऊपर (७८३ आ) देखा जा चुका है कि **इ** या **उ** से आरंभ होने वाली धातुएँ दुर्वल रूपों में अभ्यास रूप और धातुमूलक अक्षर को एक साथ **ई** या **ऊ** में एक रूप कर देती हैं; और (७८४) साथ ही अभ्यास में **व** और **य** को **उ** या **इ** में संकुचित करने वाली धातुओं के साथ दुर्वल रूपों में भी ऐसा ही होता है, दोनों अंश यहाँ **ऊ** या **ई** में मिल जाते हैं।

आ—प्रथम अन्त्य व्यंजन के वाद **य** और **व** वाले और अन्तःस्थ से अभ्यास होने वाली कुछ धातुएँ **य** और **व** का संकोच **इ** और **उ** में करती हैं : यथा—√(**व्यच्**) से **विविच्**, √(**व्यध्**) से **विविध्** (किंतु **विव्यधुस्**, महाभा०), √(**स्वप्**) से **सुषुप्**। **ज्या, प्या, व्या, श्वा, ह्वा** विस्तारित धातुओं से इसी प्रकार का प्रत्यय आकुंचन देखा जाता है; जिनके दुर्वल रूप **जी, पी, वी, शू, हू** सरलतर धातुओं से वनते हैं, जव कि **ह्वा** से नित्य और **श्वा** से वैकल्पिक सवलरूप इसी से वनते हैं (तथा केवल **जिज्यौ** अन्य से उद्धरणीय है)।

इ—धातु **ग्रभ्** या **ग्रह्** (यदि यह ऐसा लिखा जाय, दे० ७२९ अ) **गृह्** में संकुचित होती है, जिससे प्रकृति के तीन रूप **जग्रह्** (परस्मै० मध्यम०

और उत्तम० एकव०), **जग्राह्** (अन्य०) और **जगृह्** बनते हैं; किंतु **प्रच्छ्** (यदि यह ऐसा लिखा जाय, देखिये ७५६ अ) नित्य अपरिवर्तित रहता है।

ई—थोड़ी-सी धातुएँ इस काल के दुर्बल रूपों में या इनमें से कुछ में नासिक्य को जो इसके सबल रूपों में प्राप्त है, लुप्त कर देती हैं : इस प्रकार √(**क्रन्द्**) से **चक्रदे** आदि (ऋ० वे०), √(**तंस्**) से **ततस्रे** (ऋ० वे०), √(**दंश्**) से **दद्श्वांस्** (ऋ० वे०), √(**बन्ध्**) से **बेधुस्**, **बेधे**, प्रभृति (अ० वे०); √(**सञ्ज्**) से **सेजुस्** (श० ब्रा०); √(**स्कम्भ्**) से **चस्कभाने** (अ० वे०), √(**स्तम्भ्**) से **तस्तभुस्** आदि (वे०), **तस्तभाने** (वे० ब्रा०) हमें प्राप्त होते हैं। ७८८ अ भी तुलनीय।

उ—एकाकी व्यंजनों के बीच मध्यग अ वाली कुछ धातुएँ उस स्वर को लुप्त कर देती हैं। ये उत्तरकालिक भाषा में **गम्**, **खन्**, **जन्**, **हन्**, **घस्** होती हैं, ये **जग्म्**, **चख्न्**, **जज्ञ्**, **जघ्न्** (तुलनीय ६३७) **जक्ष्** (तुलनीय ६४०) दुर्बल प्रकृतियाँ बनाती हैं, किंतु ऋ० वे० में एक बार **जजनुस्** प्राप्त है।

ऊ—प्राचीन भाषा में इसी प्रकार √(**मन्**) से **मम्नाथे** और **मम्नाते**; √(**वन्**) से **वव्ने**, √(**तन्**) से **तत्ने**, **तत्निषे**, **तत्निरे**, (साथ ही, **ततने** और **तते**, जैसे कि √(**ता**) से); **पत्** से **पप्तिम** और **पप्तुस्** और **पप्तिवांस्** (साथ ही, **पेत्**-रूप, नीचे, ए), √(**पन्**) से **पप्ने**, √(**सच्**) से **सश्चिम** और **सश्चुस्**, **सश्चे** और **सश्चिरे** प्राप्त होते हैं।

ए—सामान्यतया वे धातुएँ जिनमें एकाकी अन्त्य व्यंजन के पूर्ण मध्यग अ है और जो ऐसे एकाकी व्यंजन से आरंभ भी होती हैं जो अभ्यास में अपरिवर्तित जैसा पुनरुक्त होता है, अर्थात् अल्पप्राण, कण्ठ्य व्यंजन, या ह्— अपनी धातु और अभ्यास को एक साथ एक अक्षर में संकुचित कर देती हैं, जहाँ स्वर-जैसे ए रहता है : उदाहरणार्थ, √(**सद्**) से दुर्बल प्रकृति **सेद्** बनती है, √(**पच्**) से **पेच्**, √(**यम्**) से **येम्**; इत्यादि।

ऐ—ऊपरनिर्दिष्ट रूप न रखने वाली कुछ धातुओं में इसी प्रकार के संकोच भाव का विधान वैयाकरण करते हैं, इनमें से अधिकांश में विकल्प से; और इनके उदाहरण सामान्यतया अतिविरल प्रयोग के होते हैं। ये इस प्रकार हैं :— **राज्** (रामा० महाभा०, श्रे० सं०) और **राध्** (**रध्** ?), इनके दीर्घ स्वर के बावजूद; **फण्**, **फल्** (**फेलिरे**, श्रे० सं०), **भज्** (ऋ० वे० के काल से आरम्भ होने वाला प्रयोग), यद्यपि अभ्यास में इनका आदि परिवर्तित हो जाता है; **त्रप्**, **त्रस्** (**त्रेसुस्** रामा० महाभा०, श्रे० सं०), **श्रथ्**, **स्यम्**, **स्वन्**, यद्यपि

इनका आरंभ एकाधिक व्यंजनों में होता है; **दम्भ्** (**देभुंस्** , ऋ० वे०, दुर्बलतर **दभ्** से), यद्यपि यह एकाधिक व्यंजनों में अंत होती है; और **भ्रम्** (**भ्रेमुस्** इत्यादि, क० स० सा०), **भ्राज्**, **ग्रन्थ**, **स्वञ्ज्**, विपरीत भाव से एकाधिक कारणों के रहते भी। पुनः श० ब्रा० में √(**सञ्ज्**) से **सेजुस्** प्राप्त है और कौ० ब्रा० में √(**श्रम्**) से **श्रेमुस्**। दूसरी ओर ऋ० वे० में एकबार **ररम्भे** मिलता है और रामा० में √(**पत्**) से **पेतुस्** के लिए **पपतुस्** आया है।

ओ—यदि तिङ्प्रत्यय **इथ** हो, तो परस्मै० मध्यम० एकव० में भी यह संकोच विहित है : यथा **ततन्थ** के अतिरिक्त **तेनिथ** (किंतु प्राचीनतर भाषा से कोई उदाहरण उद्धरणीय नहीं है)।

औ—**शश्** और **दद्** (**दा** से, ६७२) धातुओं में संकोच का निषेध कहा गया है, किंतु इनमें से किसी के लिट्रूप प्रयोग में प्राप्त नहीं देखे जाते हैं।

क—√(**तॄ**) (अथवा **तर्**) से **तेरुस्** (रामा०) मिलता है; और वैयाकरण √(**जॄ**) से **जेरुस्** मानते हैं—दोनों **ऋ** अंतवाली धातुओं के सामान्य सादृश्य के प्रतिकूल हैं।

ख—स्वरादि सभी तिङ्प्रत्ययों से पूर्व उन प्रत्ययों से भी पूर्व जहाँ संयोजन-स्वर **इ** का ग्रहण होता है (७९६), **आ** अंत वाली धातुएँ अपने **आ** को खो देती हैं—अन्यथा द्वितीय स्थिति में **इ** को **आ** का दुर्बलीकृत रूप माना जाय।

७९५—**तिङ्प्रत्यय और प्रकृति के साथ इनका संयोग।** निश्चयार्थक परोक्ष के तिङ्प्रत्ययों का नियोजन ऊपर (५५३ इ) दिया जा चुका है; और यह भी कहा जा चुका है (५४३ अ) कि **आ** अंतवाली धातुओं के परस्मै० उत्तम० और मध्यम० एकवचन में **औ** होता है।

अ—**म** के स्थान में **मस्** तिङ्प्रत्यय **शुश्रुमस्** (रामा० महाभा०, श्वे० सं०) में पाया जाता है। आत्मने० मध्यम० बहुव० में **ध्वे** के स्थान में **ढ्वे** के कथित प्रयोग के लिए देखिये २२६ इ.।

७९६—व्यंजन से आरंभ होने वाले तिङ्प्रत्यय—यथा परस्मैपद मे **थ**, **व**, **म**; आत्मनेपद में **से**, **वहे**, **महे**, **ध्वे**, **रे**—अधिक समय और उत्तरकालिक भाषा में सामान्यतया मध्यग संयोजन स्वर **इ** के सहयोग से प्रकृति में युक्त किये जाते हैं।

अ—संयोजन स्वर **इ** सामान्य धातुज प्रक्रिया के अन्य विभागों में भी व्यापक रूप से प्राप्त है : यथा सिजागम लुङ्, भविष्यत्कालिक रूपों तथा धातुज संज्ञाओं और विशेषणों (यथा यौगिक प्रकृतियों के अन्य वर्गों में भी)।

उत्तरकालिक भाषा में एक ही क्रिया के विभिन्न अंगों में इनके संयोजक के प्रयोग और अप्रयोग लेकर अनुरूपता की एक विशिष्ट स्थिति देखी जाती है; किंतु यह अनुरूपता इतनी घनिष्ठ नहीं है कि इसके आधार पर कोई सामान्य नियम सहज दिया जा सके; तथा प्रत्येक रूप निर्माण को स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत करना सर्वाधिक समीचीन होगा।

आ—परोक्ष ऐसा काल है जहाँ **इ** का प्रयोग अत्यन्त व्यापक में और सुदृढ रूप में उत्तरकाल की भाषा में मान्य हो गया है।

७९७—उत्तरकालिक भाषा में **इ** के प्रयोग को लेकर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नियम ये होते हैं :

अ—आत्मने० अन्य० वहु० के **रे** में यह नित्य प्राप्त है।

आ—परस्मै० मध्यम० एकव० के **थ** को छोड़कर अन्य व्यंजन-प्रत्यय प्रायः सभी क्रियाओं में इसका ग्रहण करते हैं।

इ—किंतु आठ धातुओं में—यथा **कृ** वनाना, **भृ** धारण करना, **सृ** जाना, **वृ** वरण करना, **द्रु** दौड़ना, **श्रु** सुनना, **स्तु** प्रशंसा करना, **स्रु** वहना—इसका सर्वथा निषेध होता है; तथा अन्य कुछ में इसका निषेध वैकल्पिक भाव से (नित्य भाव से नहीं) अन्य रूपनिर्माणों में इसके प्रयोग की सामान्य अनुरूपता लेकर देखा जाता है।

ई—परस्मै० मध्यम० एकव० में इसका निषेध उपर्युक्त केवल आठ धातुओं में ही नहीं है, अपितु अन्य कतिपय अजंत अथवा हलंत धातुओं में भी, जहाँ दूसरे रूप निर्माणों में **इ** अप्राप्त है; किंतु बहुत-सी क्रियाओं में भी, जहाँ इसका निषेध अन्य रूप-निर्माणों में होता है, इसका ग्रहण है;—और अनेक क्रियाओं में—**आ** अंतवाली (जिनके **आ** का लोप **इथ** तिङ्प्रत्यय के आने पर हो जाता है) और **इ, ई** और **उ** अंतवाली क्रियाओं में से अधिकांश सम्मिलित हैं—यह वैकल्पिक होता है।

उ—वैयाकरणों द्वारा दिये गये नियम, विशेष रूप से **थ** या **इथ** के प्रयोग को लेकर अपरिमित विस्तार में उपलब्ध हैं और ये एक दूसरे के पूर्णतः अनुकूल नहीं होते हैं; यथा चूँकि रूप खूब विरल होते हैं, प्राप्त विवेचनों का खंडन करना और यह कहना कि ये किस अंश तक प्रयोग के तथ्यों पर आधारित हैं, संभव नहीं है।

ऊ—इस **इ** के साथ धातुमूलक अन्त्य **इ** या **ई** मिलाया नहीं जाता है, किंतु **य्** या **इय्** में परिवर्तित कर दिया जाता है। √(**भू**) का **ऊ** स्वर से पूर्व सर्वत्र

७९८—प्राचीनतर भाषा में प्रयोग आंशिक रूप से सर्वथा भिन्न होता है। इस प्रकार :

अ—ऋ० वे० में संयोजन-स्वर **इ** का ग्रहण व्यंजनान्त धातुओं द्वारा होता है, वशर्ते कि प्रकृति का अन्तिम अक्षर गुरु हो, किन्तु अन्यथा नहीं। उदाहरण-स्वरूप—**आसिथ**, **उवोचिथ**, **विवेदिथ**, किन्तु **ततन्थ** और **विव्यक्थ**; **ऊचिम**, **पप्तिम**, **सेदिम**, **युयोपिम**, किन्तु **जगन्म**, **जगृभ्म**, **युयुज्म**; **ऊचिषे**, **जज्ञिषे**, **ससाहिषे**, किन्तु **विवित्से** और **ददृक्षे**; **बुभुज्महे** और **शाशद्महे** इत्यादि (**इवहे** या **इमहे** के कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होते, न **इध्वे** या **ध्वे** के ही); **ईजिरे**, **जज्ञिरे**, **येतिरे**, **ततक्सिरे**, किन्तु **चाक्लृप्रे**, **विविद्रे**, **दुदुह्रे**, **पस्पृध्रे**, **ततस्रे** (इत्यादि : वाईस रूप)। ऋ० वे० में एकमात्र अपवाद √(**विद्**) से **वेत्थ** **इ**-विहीन होता है (**ब्रा**० में √(**अह्**) से **आत्थ** भी, नीचे, ८०१ अ)। अन्य वैदिक ग्रन्थों में कुछ भी इस नियम के प्रतिकूल उपलब्ध नहीं होता, किन्तु ब्राह्मणों में **इरे** अन्तवाले अन्य० बहुव० रूप लघु अक्षरों के बाद भी बनाये जाते हैं : यथा **ससृजिरे**, **बुबुधिरे**, **युयुजिरे**, **रुरुधिरे**।

आ—स्वरध्वनि के साथ अन्त होने वाली धातुओं में पूर्वकाल की प्रक्रिया बहुत कुछ उत्तरकाल की-जैसी होती है (अपवादस्वरूप **इथ** अन्तवाला कोई रूप प्राप्त नहीं होता है); यथा **दधिम**, **दधिषे**, **दधिध्वे**, **दधिरे** (केवल इतने ही पुरुष तिङन्त रूप ऋ० वे० और अ० वे० से उद्धरणीय हैं; और ऋ० वे० में **दध्रे** दो वार आया है);—**ऋ** अन्तवाली धातुएँ भी उत्तरकालिक नियम का पालन करती दिखायी देती हैं : यथा **चकृषे**, **पपृषे**, **ववृषे**, **ववृमहे**, किन्तु **दध्रिषे** और **जभ्रिषे**, तथा आत्मने० अन्य० बहुव० में **चक्रिरे** और **दध्रिरे** दोनों ही;—√(**भू**) से **बभूथ** (सामान्यतया) और **बभूविथ** दोनों पाये जाते हैं, किन्तु केवल **बभूविम** (अ० वे०)। परन्तु परवर्ती नियमों के प्रतिकूल **सुषुम**, **चिच्युषे**, **जुहुरे** और **जुहूरे** **इ** के विना होते हैं; उदाहरण इतने परिमित हैं कि किसी नियम की स्थापना संभव नहीं है।

७९९—ऋ० वे० में आत्मने० अन्य० बहुव० का तिङ्प्रत्यय **रिरे** छः रूपों में पाया जाता है; यथा **चिकित्रिरे**, **जगृभ्रिरे**, **दद्रिरे**, **बुभुज्रिरे**, **विविद्रिरे**, **ससृज्रिरे**; सा० वे० **दुदुह्रिरे** और तै० **ददृश्रिरे** जिनमें और जोड़ते हैं।

८००—**रूपविधान के उदाहरण**। उपर्युक्त नियमों के उदाहरणस्वरूप निम्न क्रियाओं का निश्चयार्थक लिट् रूपविधान पूर्णतः प्रस्तुत किया जा सकता है।

अ—अन्त्य व्यंजनवाली धातु के नियमित रूपविधान के उदाहरणार्थ हम धातु **बुध्** जानना को प्रस्तुत करते हैं : इसकी परोक्षप्रकृति का सवल रूप **बुबोध** होता है; दुर्बलरूप **बुबुध्**।

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	बुबोध	बुबुधिव	बुबुधिम	बुबुधे	बबुधिवहे	बुबुधिमहे
म०	बुबोधिथ	बुबुधथुस्	बुबुध	बुबुधिषे	बुबुधाथे	बुबुधिध्वे
अ०	बुबोध	बुबुधतुस्	बुबुधुस्	बुबुधे	बुबधाते	बुबुधिरे

आ—परस्मै० मध्यम० एकव० में संभावित स्वरपात के विहित वैविध्य (ऊपर ७९३ ए) का उल्लेख प्रस्तुत तथा अवशिष्ट रूपतालिकाओं में अपेक्षित है।

इ—अन्त्य **इ** या **उ**-स्वर वाली धातु के नियमित रूपविधान के उदाहरणार्थ **नी** ले जाना, धातु रखी जा सकती है : इसके प्रकृति-रूप **निनय्** या **निनाय** और **निनी** होते हैं।

उ०	निनय, निनाय	निन्यिव	निन्यिम	निन्ये	निन्यिवहे	निन्यिमहे
म०	निनथ, निनयिथ	निन्यथुस्	निन्य,	निन्यिषे	निन्याथे	निन्यिध्वे
अ०	निनाय	निन्यतुस्	निन्युस्	निन्ये	निन्याते	निन्यिरे

ई—**क्री** धातु से दुर्बल रूपों में चिक्रियिव, चिक्रियतुस्, चिक्रियुस् आदि बनेंगे (१२९ अ); और √(भू) के रूप परस्मैपद में (आत्मनेपदी रूप उद्धरणीय नहीं हैं) यों चलेंगे :

उ०	बभूव	बभूविव	बभूविम
म०	बभूथ, बभूविथ	बभूवथुस्	बभूव
अ०	बभूव	बभूवतुस्	बभूवुस्

ऊ या **उ** अन्तवाली अन्य धातुएँ तिङ्प्रत्यय के आदि स्वर से पूर्व इसे **उव्** में परिवर्तित कर देती हैं।

उ—**आ** अन्तवाली धातु के रूपविधान के उदाहरणार्थ **दा** देना को, हम ले सकते हैं : इसके प्रकृति के रूप **ददा** और **दद्** या **ददि** होते हैं (द्रष्टव्य ऊपर ७९४ ओ)।

उ०	ददौ	ददिव	ददिम	ददे	ददिवहे	ददिमहे
म०	ददाथ, ददिथ	ददथुस्	दद	ददिषे	ददाथे	ददिध्वे
अ०	ददौ	ददतुस्	ददुस्	ददे	ददाते	ददिरे

ऊ—ऋ० वे० में पप्रौ के लिए पप्रा (और जहौ के लिए ? जहा) एक वार प्राप्त है।

ए—मध्यग अ वाली धातु के, जहाँ धातु और अभ्यास का संमिश्रण देखा जाता है जिससे दुर्वल रूपों में (७९४ ए) मध्यम ए परिणामस्वरूप प्राप्त है, निदर्शन के लिए हम तन् फैलाना, को रख सकते हैं : इसके प्रकृति-रूप ततन् या ततान् और तेन् होते हैं।

उ०	ततन, ततान	तेनिव	तेनिम	तेने	तेनिवहे	तेनिमहे
म०	ततन्थ, तेनिथ	तेनथुस्	तेन	तेनिषे	तेनाथे	तेनिध्वे
अ०	ततान	तेनतुस्	तेनुस्	तेने	तेनाते	तेनिरे

ऐ—जन् तथा अन्य धातुओं से जिनके दुर्वल रूपों में मध्यग अ लुप्त हो हो जाता है (७९४ उ) जजन्थ या जज्ञिथ, जज्ञिव, जज्ञुस् ; जज्ञे, जज्ञिमहे, जज्ञिरे प्रभृति वनते हैं।

ओ—धातु, जिसके अभ्यास में आदि व उ में संकुचित हो जाता है और दुर्वल रूपों में (७८४) अभ्यास के साथ ऊ में आकुंचित हैं, के उदाहरणस्वरूप हम वच् बोलना को प्रस्तुत कर सकते हैं : इसके प्रकृति—रूप उवच् या उवाच और ऊच् होते हैं।

उ०	उवच, उवाच	ऊचिव	ऊचिम	ऊचे	ऊचिवहे	ऊचिमहे
म०	उवक्थ, उवचिथ	ऊचथुस्	ऊच	ऊचिषे	ऊचाथे	ऊचिध्वे
अ०	उवाच	ऊचतुस्	ऊचुस्	ऊचे	ऊचाते	ऊचिरे

औ—इसी प्रकार √(यज्) के इयज या इयाज; इयष्ठ या इयजिथ ईजे ईजिषे आदि रूप होते हैं; √(उच्) से सवल रूपों में उवोच और उवोचिथ, और शेष रूप वच् की तरह हैं।

क—७९७ में निर्दिष्ट ऋ अन्तवाली चार धातुओं के रूप इस प्रकार चलते हैं :

उ०	चकर, चकार	चकृव	चकृम	चक्रे	चकृवहे	चकृमहे
म०	चकर्थ	चक्रथुस्	चक्र	चकृषे	चक्राथे	चकृध्वे
अ०	चकार	चक्रतुस्	चक्रुस्	चक्रे	चक्राते	चक्रिरे

ख—सामान्यतया ऋ अन्तवाली धातुओं के उत्तम पुरुष तिङन्त रूप इस प्रकार वनाये जाते हैं :

उ०	दधर, दधार	दध्रिव	दध्रिम	दध्रे	दध्रिवहे	दध्रिमहे

ग—अन्त में हम यहाँ **अस्** होना, के परोक्ष के परस्मैपदी रूपविधान (आत्मनेपदी प्रयोग में नहीं आता है) को रख सकते हैं जो (ऊपर दिये गये **बभूव** और **चकार** की तरह) सहायक क्रियारूप की तरह बहुधा प्रयुक्त है।

उ०	आस	आसिव	आसिम
म०	आसिथ	आसथुस्	आस
अ०	आस	आसतुस्	आसुस्

८०१—कुछ विविध अनियमितताओं का विवेचन और भी अपेक्षित है :

अ—धातु **अह्** बोलना केवल निश्चयार्थक परोक्ष में और केवल परस्मैपद में सभी वचनों के अन्य पुरुष रूपों और मध्यम० एकव० और द्विव० में आती है (तथा मध्यम० एकव० में तिङ्प्रत्यय से पूर्व **ह्** अनियमित रूप से **त्** में परिवर्तित हो जाता है) यथा **आत्थ आह, आहथुस्, आहतुस्; आहुस्** (वे० में केवल आह और आहुस् पाये जाते हैं)।

आ—√(**वा**) बुनना से परस्मै० अन्य० बहुव० **ऊवुस्** ऋ० वे० में मिलता है, और अन्य कोई लिट्-रूप प्रयोग में प्राप्त नहीं होता है। वैयाकरणों द्वारा उसका रूपविधान नियमानुसार **वा**-जैसा विहित है, और **वय्**-जैसा भी (वर्तमान प्रकृति **वय** होती है, ७६१ ऊ), जहाँ दुर्बल रूपों से **उ** में **व** का संकोच भाव होता है; तथा पुनः दुर्बल रूपों में सरल **उ**-जैसा।

इ—धातु **व्या** लपटेना से ऋ० वे० में लिट्-रूप **विव्यथुस्** और **विव्ये** प्राप्त हैं, और अन्य कोई रूप प्रयोग में नहीं पाये गये हैं; वैयाकरण सबल रूप **व्यय्** से और दुर्बल रूप **वी** से मानते हैं।

ई—ऋ० वे० और अ० वे० में धातु **इ** जाना, नियमित **इयेथ** के अतिरिक्त परस्मै० मध्यम० एकव० रूप **इयथ** बनाती है; और √(**ईर्**) से **ईरिरे** के अतिरिक्त **एरिरे** ऋ० वे० में अनेक बार आया है।

उ—ऋ० वे० के **ददृशे** और **ददृश्रे** (**ददृक्षे** के अतिरिक्त) और कृदन्त क्रियारूप **ददृशान** में असंगत स्वरपात प्राप्त है। पुनः **चिकेत** (एक बार, साथ साथ ही **चिकेत**) में संभवतः तद्रूप असंगति है।

ऊ—परिवर्तनीय **ऋ** अन्तवाली धातुओं के **इर्**-रूपों से परोक्ष के तिङन्त पुरुषरूप (२४२) **तितिरुस्** और **तिस्तिरे** (दोनों ऋ० वे०) हैं; और इनके तदनुरूप कृदन्तक्रियारूप होते हैं।

ए—संकर धातु **ऊर्णु** (७१३) से **ऊर्णनु** लिट्-प्रकृति का विधान वैयाकरण करते हैं; यदि तिङ् प्रत्यय सरल **थ** हो, तो **मज्ज** और **नश्** धातुओं के

परस्मैपदी मध्यम० एकव० में अनुनासिक का मध्यागम होता है; यथा **ममङ्क्थ, ननंष्ठ** (**ममज्जिथ** और **नेशिथ** भी)।

ऐ—पुनः **ससज्जतुस्** (महाभा० √(**सञ्ज्**) जो कर्मवाच्य में यौगिक रूप **सज्ज** रखती है), **रुरुन्धतुस्** (रामा०) और **दुदुहुस्** (भाग० पु०) उल्लेखनीय हैं।

ओ—असंगत **अजग्रभैषम्** (ऐ० ब्रा० ६–३५) लिट्-प्रकृति के आधार पर बने रूपनिर्माण प्रतीत होता है (किन्तु संभवतः **अजिग्रभिषन्** सन्नन्त ? के लिए)।

परोक्षकालिक कृदन्तक्रियारूप

८०२—परस्मैपदी कृदन्तक्रियारूप का प्रत्यय **वांस्** होता है (अर्थात् सबल रूपों में : यह दुर्बलतम रूपों में **उष्** में संकुचित हो जाता है और आत्मनेपदी रूपों में **वत्** में स्थानान्तरित होता है। देखिए ऊपर ४५८ मु० वि०)। यह परोक्ष प्रकृति के दुर्बल रूप में जोड़ा जाता है—उदाहरणार्थ जैसा कि निर्दिष्ट क्रिया के परस्मैपदी रूपविधान के द्विव० और बहुव० में परिलक्षित है; और मोटे तौर पर दुर्बलतम कृदन्तक्रियारूप-प्रकृति परस्मैपदी अन्य० बहुव० के अनुरूप होती है। इस प्रकार **बुबुध्वांस्, निनीवांस्, चकृवांस्**।

८०३—यदि परोक्ष प्रकृति का दुर्बल रूप एकाक्षरिक हो, तो प्रत्यय संयोजन-स्वर **इ** का ग्रहण करता है (किन्तु दुर्बलतम रूपों में उसका लोप हो जाता है) : यथा **तेनिवांस्, ऊचिवांस्, जज्ञिवांस्, आदिवांस्** √(**अद्** से, ७८३ अ), इत्यादि; **ददिवांस्** तथा इसी प्रकार के अन्य रूप, **आ**—अन्त वाली धातुओं से निष्पन्न, एक या अन्य वर्ग में रखे जा सकते हैं जैसा कि हम **इ** को दुर्बलीकृत धात्वच् मानें या संयोजन-स्वर (७९४ ख)।

अ—किन्तु उन कृदन्त क्रियारूपों में, जिनकी परोक्ष-प्रकृति अभ्यास के अभाव में एकाक्षरिक होती है, संयोजन-स्वर का ग्रहण नहीं होता है : यथा **विद्वांस्** और वे० में **दाश्वांस्** (सा० वे० **दाशिवांस्**) **मीढ्वांस्, साह्वांस्, खिद्वांस्** (?); और ऋ० वे० में √(**दा**) (अथवा **दद्**, ६७२) से **दद्वांस्** भी (अ० वे० **ददिवांस्** और एकबार **ददावांस्**) प्राप्त हैं; तै० ब्रा० में **अनाश्वांस्** √(**अश्** खाना) मिलता है किंतु अ० वे० में **विशिवांस्** और **वर्जिवांस्** (निषेधमूलक स्त्री० में **अवर्जुषी**) प्राप्त हैं।

८०४—अन्य वैदिक अनियमितताएँ, जिनका उल्लेख अपेक्षित हैं, खूब कम होती हैं। अभ्यास का दीर्घस्वर (७८६) कृदन्तक्रियारूप में निश्चयार्थ के

समान आता है : यथा वावृध्वांस्, सासह्वांस्, जूजुवांस्। ऋ० वे० में √(सन्) या सा से सासवांस् आया है। ऋ० वे० में √(तृ) या तर् के कृदन्तक्रियारूप धातु के विभिन्न परिवर्तनों को लेकर निष्पन्न होते हैं; यथा तितिर्वांस्, किन्तु ततरुषस्। रूपविधान में सबल और दुर्बल प्रकृति के कादाचित्क विनिमयों के लिए द्रष्टव्य ऊपर, ४६२ इ।

८०५—अ—वेद में गम् और हन् धातुओं से सबल प्रकृतियाँ जगन्वांस (न् के लिए देखिए २१२ अ) और जघन्वांस बनती हैं; उत्तरकालिक भाषा में या तो ये रूप अथवा अपेक्षाकृत अधिक नियमित जग्मिवांस् और जघ्निवांस (दुर्बलतम प्रकृति-रूप सर्वत्र जग्मुस् और जघ्नुस् होते हैं) विहित हैं। ऋ० वे० में ततन्वांस् भी प्राप्त है।

आ—विद् पाना, विश् और दृश् तीन धातुओं से उत्तरकालिक भाषा संयोजन स्वर के साथ अथवा नियमतः इसके विना निर्मित सबल कृदन्तक्रियारूपों का विधान करती है : यथा विविशिवांस् या विविश्वांस्; कठ० उप० में ददृशिवांस् आता है। पं० ब्रा० में चिच्छिदिवांस् प्राप्त है।

८०६—आत्मनेपदी कृदन्तक्रियारूप का प्रत्यय आन होता है। यह परोक्ष-प्रकृति के दुर्बल रूप में जोड़ा जाता है, जैसा कि ऐसा आत्मनेपदी रूपविधान होता है : यथा बुबुधान, निन्यान, ददान, तेतान, जज्ञान, ऊचान।

अ—वेद में अनेक आत्मनेपदी कृदन्तक्रियारूपों में अभ्यास जनित दीर्घ स्वर देखा जाता है : यथा वावृधान, वावसान, दादृहाण, तूतुजान इत्यादि। ऋ० वे० में √(शी) से (नियमित गुण के साथ, वर्तमान-प्रक्रिया में प्राप्त जैसे, ६२९), शशयान, √(स्तृ) से तिस्तिराण और एक वार √(सृ) से मान वाला रूप सस्रमाण प्राप्त हैं। अभ्यासजनित दीर्घ स्वर वाले कुछ कृदन्तक्रियारूप इसे अनियमित रूप से उदात्त बनाये रखते हैं (जैसे कि यङन्त १०१३): यथा तूतुजान (तूतुजान भी); बाबधान, शाशदान, शूशुजान, शूशुवान।

८०७—उत्तरकालिक भाषा में परोक्ष कृदन्तक्रियारूप प्रयोग में प्रायः लुप्त हो गये हैं; यहाँ तक कि परस्मैपदी रूप केवल विरल भाव से प्राप्त होता है और खूब कम क्रियाओं से बना है, तथा व्यक्तिवाचक संज्ञा युयुधान, विशेषण अनूचान धर्मग्रन्थ में निपुण प्रभृति जैसे रूपों को छोड़कर अन्य उदाहरण आत्मनेपद में शायद ही उद्धरणीय हैं।

लिट् के प्रकार

८०८—लिट् के प्रकार केवल वैदिक भाषा में आते हैं तथा पुनः ये ऋ० वे० से अन्यत्र कदाचित् ही प्राप्त हैं।

अ—इनके और अन्य अभ्यास युक्त काल-प्रकृतियों से अभ्यास वाले वर्ग की वर्तमान प्रकृति, द्वित्वयुक्त लुङ् और यङन्त-से बने प्रकारार्थ-रूपों के बीच निश्चित और स्पष्ट रूप से रेखा खींचना संभव नहीं है, क्योंकि रूप का ऐसा कोई अभिलक्षण नहीं मिलता है जो कुछ स्थलों में विफल नहीं होता हो और साथ ही सभी प्रकृतियों से प्रकारार्थ रूपों की सामान्य समतुल्यता (५८२) और वेद में वर्तमान की तरह लिट् के साधारण प्रयोग के चलते हमें अर्थ का कोई अभिलक्षण नहीं मिलता है। तथापि कोई दृढ़ आशंका नहीं रह जाती कि रूपों के अधिकांश का ग्रहण यहाँ होना चाहिए; **आनश्याम्** तथा **बभूयास्** और **बभूयात्**—जैसे विधिलिङ्-रूप, **बभूतु** जैसे अनुज्ञार्थक रूप **जभरत्** जैसे अभिप्रायार्थक रूप परोक्ष रूपनिर्माण के ऐसे भेदक लक्षण रखते हैं कि उनके सादृश्य के आधार पर इसी प्रकार के अन्य शब्द निश्चित रूप से परोक्ष से संवद्ध वर्गीकृत होते हैं।

८०९—इस प्रकार के रूपों के निर्माण की नियमित विधि यों होगी : (उदाहरण स्वरूप) **मुमुच्** जैसी द्वित्वयुक्त परोक्ष-प्रकृति से अनुज्ञार्थक रूप नियमानुसार केवल लोट्-प्रत्ययों को जोड़कर बनाया जायेगा; यौगिक अभिप्रायार्थक प्रकार-प्रकृति **मुमोच** होगी (निश्चयार्थक परोक्ष के सबल रूपों के सादृश्य पर उदात्तयुक्त), और यह मुख्य अथवा गौण प्रत्ययों का ग्रहण करेगी; तथा विधिलिङ् प्रकारार्थ-प्रकृतियाँ परस्मै० में **मुमुच्या** और आत्मने में **मुमुची** (स्वरपात तिङ्-प्रत्ययों पर) होंगी।

अतः प्रस्तुत रूपों में से बहुसंख्यक (लगभग तीन चौथाई के) इन ढंगों से बनाये जाते हैं। इस प्रकार :

८१०—नियमित अभिप्रायार्थक रूप निर्माण के उदाहरण होते हैं :

अ—गौण प्रत्ययों के साथ, परस्मैपदी : मध्यम० एकव० **पप्रथस्**, **चाकनस्**, **मामहस्**, **पिप्रियस्**, **बुबोधस्**, **रारणस्**; अन्य० एकव० **चाकनत्**, **जभरत्**, **रारणत्** **सासहत्**, **पस्पर्शत्**, **पिप्रयत्**; उत्तम० बहुव० **चाकनाम**, **ततनाम**, **शूशवाम**; अन्य० बहुव० **ततनन्**, **पप्रथन्** (दूसरे पुरुष रूप नहीं मिलते हैं) यह प्रयोगों का सर्वाधिक व्यापक वर्ग है।

आ—मुख्य प्रत्ययों के साथ, परस्मैपदी : केवल **दधर्षति** और **ववर्तति** की प्राप्ति ही यहाँ जँचती है। विभिन्न स्वरपात के साथ रूपनिर्माण की तुलना कीजिए, नीचे ८११ अ।

इ—आत्मनेपदी रूपों में केवल अन्य० एकव० ततपते, शशमते, युयोजते, जुजोषते (सा० वे०; ऋ० वे० में जुंजोषते प्राप्त है); और अन्य बहुव० चाकनन्त, ततनन्त (और संभवतः दो या तीन दूसरे रूप, नीचे, ४११ आ, अन्तिम) मिलते हैं।

८११—किंतु अन्य रूपनिर्माण वाले अभिप्रायार्थक रूप भी कम नहीं हैं, जो पाये जाते हैं : यथा—

अ—ऊपर की तरह सबलीकृत धात्वक्षर के साथ, किंतु अभ्यास पर उदात्त के साथ (जैसा कि अभ्यासवाले वर्ग के वर्तमान-रूपों के अधिकांश में : ऊपर ६४५)। यहाँ मुख्य तिङ्प्रत्ययों वाले परस्मैपदी रूप अधिक प्रभावशाली होते हैं और अधिक विरल नहीं हैं : उदाहरण-स्वरूप जुंजोषसि, जुंजोषति, जुंजोषथस्, जुंजोषथ (दूसरे पुरुष बोधक रूप नहीं मिलते हैं)। गौण प्रत्ययोंवाले जुंजोषस्, जुंजोषत् और जुंजोषन् रूप होते हैं जो सर्वाधिक स्पष्टतया यहाँ आते हैं (क्योंकि दंदाशस और सुंषूदस् प्रभृति संभवतः लुङ् रूप ही हैं)। पुनः जुंजोषते (ऋ० वे०, द्रष्टव्य ऊपर ८१० इ) को छोड़कर अन्य कोई आत्मनेपदी रूप प्राप्त नहीं है।

आ—असबलीकृत धात्वक्षर के साथ अल्पसंख्यक रूप होते हैं, वे भी स्पष्टतः अभ्यास पर उदात्तयुक्त हैं (उदात्तयुक्त उदाहरण केवल आत्मने० अन्य० बहुव० में पाये जाते हैं) : इस प्रकार परस्मैपदी, उदाहरणार्थ, मुमुचस्; ववृतत्, विविदत्, शूशुवत्; आत्मनेपदी रूप केवल दधृषते, वावृधते अन्य० एकव०; और चक्रमन्त, दंधृषन्त, रुरुचन्त (साथ ही, ददभन्त, पप्रथन्त, मामहन्त, जुहुरन्त, जो अन्यत्र भी संभव है, ८१० इ)।

इ—तिङ्प्रत्ययपर उदात्त वाले वावृधंन्त और चकृपंन्त (जिन्हे वस्तुतः आगमविहीन परिपूर्ण परोक्ष कहे जा सकते हैं) होते हैं।

ई—दोहरे प्रकार-चिह्न वाले रूपों अथवा अ—क्रियारूप में अन्तरणों के लिए देखिए नीचे, ८१५।

८१२—नियमित विधिलिङ्-रूपनिर्माण के उदाहरण हैं :

अ—परस्मैपद में : उत्तम० एकव० आनश्याम्, जगम्याम्, पपृश्याम्, रिरिच्याम्; मध्यम० एकव० ववृत्यास् विविश्यास्, शुश्रूयास्, बभूयास्; अन्य० एकव० जगम्यात्, ववृत्यात्, तुतुज्यात्, बभूयात्; मध्यम० द्विव० जगम्यातम्, शुश्रूयातम्; उत्तम० बहुव० सासह्याम, ववृत्याम, शूशुयाम; अन्य० बहुव० ततन्युस्, ववृज्युस्, ववृत्युस्। रूप बड़ी संख्या में मिलते हैं।

आ—आत्मनेपद में रूप बहुत कम होते हैं : उदाहरणार्थ, उत्तम० एकव० **ववृतीय**; मध्यम० एकव० **वावृधीथास्** , **चक्षमीथास्**; अन्य० एकव० **जग्रसीत, ववृतीत, मामृजीत, दुधुवीत, शुशुचीत,** उत्तम० बहुव० **ववृतीमहि**। पुनः **सासहीष्ठास्** और **रिरिषीष्ट** आशीर्लिङ् के उदाहरण-जैसे लगते हैं।

इ—परोक्ष-विधिलिङ् के रूपनिर्माण की अनियमित विधि नहीं होती है। कुछ रूपों में विशिष्ट अनियमितताएँ परिलक्षित होती हैं : यथा **चक्रियास्, पपीयात्, शुश्रूयास्** और **शुश्रूयातम्** ; अन्त्य का विकास कर्मवाच्य के चिह्न य (७७०) के पूर्व जैसा है, ह्रस्व आदि के साथ **अनज्यात्**; √(**श्री**) से **शिश्रीत, जक्षीयात्** नियम-विरुद्ध हैं; **रिरिषेस्** एकमात्र रूप है जहाँ संयोजन-स्वर अ देखा जाता है (अन्यथा √(**सा**) से **सिषेत्** भी)।

८१३—नियमित आज्ञार्थक रूपों में से अत्यल्प संख्या ही उद्धृत की जा सकती है : यथा—परस्मैपदी, **चाकन्धि, रारन्धि चिकिद्धि, तितिग्धि, मुमुग्धि, शुशुग्धि** और **पिप्रीहि, चाकन्तु, रारन्तु, मुमोक्तु** और **बभूतु; मुमुक्तम्** और **ववृक्तम्; जुजुष्टन** और **ववृत्तन** (अन्यथा हम **ममद्धि ममत्तु, मत्तन,** को जोड़ दें);—आत्मनेपद **ववृत्स्व** और **ववृद्ध्वम्**। अ० वे० में **दधृष्वाम्** एकवार प्राप्त है।

८१४—अनियमित आज्ञार्थक रूपों की तरह अनेक का ग्रहण हो सकता है जिनमें संयोजन-स्वर **अ** देखा जाता है अथवा जो **अ**-क्रिया रूप में अंतरित हुए हैं। इस प्रकार के रूप परस्मैपद में **मुमोचतम्** और **जुजोषतम्** (मध्यम० द्विव०) और **मुमोचत** (मध्यम० बहुव०); आत्मनेपद में **पिप्रयस्व** (केवल एक उदात्तयुक्त प्राप्त है) और **मामहस्व, वावृधस्व, वावृषस्व** (मध्यम० एकव०) और **मामहन्ताम्** (अन्य० बहुव० : संभवतः—**अस्व** और **अन्ताम्**) होते हैं।

८१५—इनके जैसे-आज्ञार्थक रूप, जो ऊपर निर्दिष्ट अभिप्रायार्थक रूपों में से कुछ के प्रसंग में गृहीत (और परिपूर्ण परोक्ष रूपों में से कुछ, नीचे ८२०) हैं, अभ्यास और युक्त अ वाली दोहरी वर्तमान-प्रकृति (जिसके साथ संनंत प्रकृतियाँ तुलनीय होंगी, नीचे १०२६ मु० वि०) की कल्पना को सहज गम्य सूचित करते हैं : उदाहरणस्वरूप, √(**जुष्**) से **जुजोष**, जिससे **जुजोषसि** आदि और **जुजोषते** (८११ अ) निश्चयार्थक के रूप में, **जुजोषस्** प्रभृति अभिप्रायार्थक की तरह आगमविहीन लङ् के-जैसे, और **जुजोषतम्** आज्ञार्थक-जैसा निष्पन्न होंगे। मुख्य तिङ्प्रत्ययों से युक्त अभिप्रायार्थक जैसे दिये गये रूपों में से अधिकांश विशिष्ट एवं स्थिर अभिप्रायार्थक लक्षण लिये हुए हैं और

निश्चयार्थकों–जैसे सहज काम कर सकते हैं। परंतु यह सामान्यतया निश्चित प्रतीत होता है कि कम-से-कम एक धातु **वृध्** से इस रूप की दोहरी प्रकृति मानी जाय; वावृध से **वावृधते, वावृधन्त** सहज निष्पन्न होते हैं और केवल इसी से नियमतः **वावृधस्व, वावृधते** और **वावृधाति** (एक बार, ऋ० वे०) बन सकते हैं—तथा, और भी निश्चित रूप से कृदन्तक्रियारूप **ववृधन्त** (ऋ० वे०; अ० वे० **वावृधन्त्**, विकीर्ण प्रयोग); तथापि यहाँ **वावृधीथास्** प्राप्त है, **वावृधेथास्** नहीं। तो भी, इन सब स्थलों में दोहरी वर्तमानप्रकृति की कल्पना करना बिलकुल असंगत होगा; यह मानना अधिक संगत होगा कि इस रूपनिर्माण का आरंभ ही हुआ, किंतु संवर्धन नहीं।

अ—**वावृधाति** के अतिरिक्त केवल एक अन्य अभिप्रायार्थक रूप—यथा **पापृशासि**—दोहरे प्रकार-चिह्न के साथ स्थापित पाया जाता है।

८१६—अन्य आदर्श के रूप बहुधा उसी धातु से बनाये जाते हैं : उदाहरण-स्वरूप, √(**मुच्**) से अभिप्रायार्थक रूप **मुमोचस्**, **मुमोचति** और **मुमुचस्**; √(**धृष्**) से **दधर्षति** और **दधृषते**; √(**प्री**) से आज्ञार्थक रूप **पिप्रीहि** और **पिप्रयस्व**।

परिपूर्ण भूत

८१७—परोक्ष-प्रकृति से आगम-भूत के, जिसको उसके रूपनिर्माण के (यद्यपि उसके अर्थ के नहीं) आधार पर परिपूर्ण भूत की संज्ञा दी जाती है, कुछ उदाहरणों को वेद प्रस्तुत करता है; और उत्तरकालिक भाषा के एक या दो रूप (ऊपर निर्दिष्ट, ७८८ आ) भी इससे संबद्ध किये जाते हैं।

अ—सजातीय द्वित्वयुक्त रूपनिर्माणों से परोक्ष प्रकारों की तरह परिपूर्ण भूत को पृथक् करने में बहुत कुछ समान कठिनाई होती है। किंतु इसके और लुङ् के मध्य में अर्थभेद पृथक्करण में सहायक होता है।

८१८—नियमित परिपूर्णभूत में सबल प्रकृति परस्मै० एकव० में देखी जाती है और अन्यत्र दुर्बल प्रकृति—यथा **मुमोच** और **मुमुच**—इसके पूर्व में आगम लगता है और इसमें गौण तिङ्प्रत्यय (परस्मै० अन्य० बहुव० में **उस्**, आत्मने० अन्य० बहुव० में **अत**) जोड़े जाते हैं।

अ—इस आदर्श के अनुसार बने हुए रूपों में हमें परस्मैपद में—उत्तम० एकव० **अजग्रभम्** और **अचचक्षम्** (जो अपनी आकृति के चलते लुङ् हो सकता है, ८६०); मध्यम० एकव० **अजगन्**; अन्य० एकव० **अजगन्** और **अचिकेत्**; मध्यम० द्विव० **अमुमुक्तम्**; मध्यम० बहुव० **अजगन्त** तथा

अंजगन्तन और **अजभर्तन** (सवल रूप जैसा कि इस पुरुष में वहुधा प्राप्त है, ५५६ अ); अन्य० वहुव० (संभवतः), **अममन्दुस्** और **अममदुस्**। इनमें आगमविहीन **चाकन्** और **रारन्**, **चिकेतन** और **चकरम्** जोड़े जा सकते हैं। आत्मनेपद में अन्य० वहुव० **अचक्रिरन्** और **अंजग्मिरन्** (**अत** की जगह **इरन्** के साथ) और आगमविहीन मध्यम० एकव० **जुगूर्थास्** और **सुषुप्थास्** सर्वाधिक नियमित रूप पाये जाते हैं।

८१९—व्यंजनों में अंत होने वाली धातुओं से अनेक रूप परस्मै० मध्यम० और अन्य० एकव० में इ के मध्यागम द्वारा, (५५५ आ) तिङ्प्रत्ययों को सुरक्षित रखते हैं : यथा **अंबुभोजीस्**, **अविवेचीस्**, **अरिरेचीत्**, **अंजग्रभीत्** (**अववारीत्** और **अवावशीताम्** तो यन्ङन्त होते हैं); और आगमविहीन **जिंहिंसीस्** (उदात्त ?) और **दधर्षीत्** इनकी कोटि के होते हैं।

८२०—कुछ रूपों में **अ** अंतवाली प्रकृति देखी जाती है : ये परस्मैपद में हैं : अन्य० एकव० **असस्वजत्**, **अचिकितत**, **अचक्रत**; आत्मनेपद में : अन्य० एकव० **अंपिप्रत**; मध्यम० द्विव० **अंपस्पृधेथाम्**; अन्य० वहुव० **अतित्विषन्त** (जो रूप के चलते लुङ् हो सकता है), **अंदद्दहन्त** और **चक्रदत्**, **चक्रपन्त**, **वावृधन्त**, **जुहुरन्त** को संभवतः यहाँ आगमविहीन रूपों की तरह वर्गीकृत करना समीचीन होगा।

परोक्ष के प्रयोग

८२१—भाषा की धातुओं में से आधी से अधिक से वने हुए लिट् रूप उद्धरणीय हैं, तथा प्रत्येक युग में और साहित्य के प्रायः सभी विभागों में ये वहुतायत से आते हैं, यद्यपि सव समान प्रयोगिता विद्यमान नहीं है।

अ—भारतीय वैयाकरणों के अनुसार लिट् का प्रयोग उन तथ्यों के वर्णन में होता है जिनको वक्ता ने नहीं देखा है; किंतु किसी भी काल में नित्य अथवा विशिष्ट रूप से इसके तथा विध प्रयुक्त होने का साक्ष्य प्राप्त नहीं है।

आ—उत्तरकालिक भाषा में यह केवल अतीतार्थक या भूतकाल है जो लङ् के तुल्य होता है और जो उससे सहज समन्वित और विनिमेय है। यह संपूर्णतः लङ् की अपेक्षा न्यून सामान्य है, यद्यपि विभिन्न लेखकों के अधिमान विभिन्न होते हैं और यह कभी-कभी पुनरावर्तन लेकर लङ् से आगे वढ़ जाता है (तुलनीय ९२७)।

इ—लिट् रूप **वेद** और **आह** सर्वत्र वर्तमानार्थ में प्रयुक्त हैं। व्राह्मणों में दूसरे रूप भी, विशेषतः **दाधार**, साथ ही **दीदाय**, **विभाय** इत्यादि।

८२२—ब्राह्मणों में उत्तरकालिक भाषा की तरह लिट् और लङ् के बीच कालार्थ की भिन्नता प्रायः सर्वथा लुप्त हो गयी है। परंतु अधिकांश ग्रंथों में लङ् सामान्य वर्णनात्मक काल है, लिट् केवल अपवाद रूप में तथाविध प्रयुक्त है। इस प्रकार पञ्च० ब्रा० में लङ्-रूपों और लिट्रूपों का अनुपात सौ और एक के अनुपात से भी अधिक है; तै० सं० के ब्राह्मण अंशों और तै० ब्रा० में चौंतीस और एक के अनुपात से अधिक; और मै० सं० के उन विभागों में लगभग उसी अनुपात से; ऐ० ब्रा० में जहाँ चार और एक के अनुपात से अधिक होता है, लिट् कुछ अवतरणों में सर्वाधिक प्रयुक्त होता है जहाँ यह लङ् के स्थान का ग्रहण करता है। केवल श० ब्रा० में लिट् अपेक्षाकृत अधिक सामान्य रूप से प्रयुक्त है और बहुत अंशों में जो लङ् के सवर्ग में होता है। तथापि समग्र ब्राह्मणों में परोक्ष-कृदन्तक्रियारूपों में सामान्यतया यथार्थ 'परोक्षार्थ' विद्यमान है जो संपन्न अथवा आसन्न भूत को अभिव्यक्त करता है।

८२३—वेद में वस्तुस्थिति खूब भिन्न होती है। लिट् वर्णनात्मक भूतकाल जैसा प्रयुक्त है, किंतु केवल विरल भाव से; कभी-कभी इसमें वास्तविक **'परोक्षार्थ'** पाया जाता है या यह संपन्न या आसन्न भूत को (प्राचीनतर भाषा के लुङ् की तरह, ९२८) द्योतित करता है; किंतु अत्यधिक समय इसकी ऐसी प्रयोगिता होती है जो काल की दृष्टि से शायद ही अथवा सर्वथा नहीं ही वर्तमान से भिन्न होती है। इस प्रकार यह लङ्, लुङ् और लट् के तुल्य होता है, और इन सबों से समन्वित होकर आता है।

अ—उदाहरण हैं : वर्तमान के साथ लिट् के, **न श्राम्यन्ति न विमुञ्चन्त्येते वयो न पप्तुः** (ऋ० वे०) वे न तो थकते हैं, न ठहरते हैं, वे पक्षियों की तरह उड़ते रहते हैं; **सेद् उ राजा क्षयति चर्षणीनाम् अरान् न नेमिः परिता बभूव** (ऋ० वे०) वस्तुतः वही प्रजाओं का राजा शासन करता है, वह उन सबों को गले लगाता है, जिस प्रकार पहिया अरों को;—लुङ् के साथ लिट् के : **उपो रुरुचे युवतिर् न योषा...... अभूद् अग्निः समिधे मानुषाणाम् अकर् ज्योतिर्बाधमाना तमांसि** (ऋ० वे०) वह नवयौवन की तरह देदीप्यमान होकर आयी है, अग्नि मनुष्यों को दीप्त करने के लिए उपस्थित हुआ है; अंधकार को नाश कर प्रकाश वह लायी है; लङ् के साथ लिट् **अहन्न् अहिम् अन्व् अपस् ततर्द** (ऋ० वे०) उसने अहि को मारा, उसने जल में प्रवेश किया। इस अंतिम की तरह ऐसे समन्वय उत्तरकालिक भाषा में नियत प्रयोग लेकर होता है; यथा—**मुमुदेऽपूजयच्चैनाम्** (रामा०) वह आनंदित हुआ और उसको

संमानित किया; **वस्त्रान्ते जग्राह स्कन्धदेशेऽसृजत् तस्य स्रजम्** (महाभा०) उसने उसके वस्त्र के छोर को पकड़ा और उसकी गरदन में माला रख दी।

अध्याय—११

लुङ्-प्रक्रियाएँ

८२४—लुङ् नाम के अंतर्गत तीन बिलकुल विभिन्न रूपनिर्माण (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ५३२) होते हैं, जिनमें से प्रत्येक अपने उपभेद रखता है : यथा—

१—सरल लुङ्—(ग्रीक द्वितीय लुङ् के अनुरूप), जो रूप और रूप-विधान लेकर सभी दृष्टियों से लङ् के तुल्य है। इसके दो भेद होते हैं : (१) धातु लुङ्, जिसकी काल-प्रकृति धातु के तुल्य (धातु-वर्ग के लङ् के अनुरूप) होती है; (२) अलुङ्, जो अ अंतवाली कालप्रकृति या तिङ्-प्रत्ययों से पूर्व सयोजन-स्वर अ से युक्त है (अ-वर्ग के लङ् के अनुरूप)।

२—द्वित्वयुक्त लुङ्रूप,—जो संभवतः उत्पत्ति लेकर साभ्यास वर्ग के लङ् के समान होता है, किंतु रूप की सुस्पष्ट विशिष्टताओं के चलते इससे पृथक् है। इसमें तिङ्प्रत्ययों से पूर्व सामान्यतया संयोजन-स्वर अ रहता है, या इसका रूप अ-वर्गों में से एक के लङ् की तरह चलता है, किंतु कुछ रूप वेद में उस प्रकार के आगम के विना मिलते है।

३—सिजागम या सोष्म लुङ्—(ग्रीक के प्रथम लुङ् के अनुरूप), इसका कालचिह्न स् है जो सीधे अथवा पूर्ववर्ती सहायक इ के साथ धातु में जोड़ा जाता है; इसके तिङ्प्रत्यय सामान्यतया कालचिह्न में अव्यवहित रूप से युक्त किये जाते हैं, किंतु अल्पसंख्यक धातुओं में संयोजन-स्वर अ के साथ; खूब कम धातुएँ स् द्वारा अपने रूपनिर्माण के लिए वर्धित भी होती हैं; तथा इन विभिन्नताओं को लेकर ये चार भेदों में विभक्त हैं : यथा—**अ**। तिङ्प्रत्ययों से पूर्व संयोजन-स्वर अ के विना : (४) **स् लुङ्**, धातु में युक्त केवल **स्** के साथ; (५) **इष्-लुङ्**, मध्यागमित इ से युक्त वही; (६) **सिष्-लुङ्** धात्वन्त में से युक्त स् के साथ पूर्ववर्ती के तुल्य ही; आ—संयोजन-स्वर अ के साथ (७) **स-लुङ्**।

८२५—ये सभी भेद एक दूसरे से संबद्ध हैं तथा रूप और अर्थ की कुछ अनुरूपताओं के चलते एक ही संयुक्त श्रेणी में प्रतिष्ठित किये गये हैं। इस प्रकार

रूप की दृष्टि से ये सभी समान ढंग से, निश्चयार्थ में, आगम भूत होते हैं जिनका कोई अनुरूपी वर्तमान प्राप्त नहीं हैं; अर्थ की दृष्टि से, यद्यपि उत्तरकालिक या श्रेण्य भाषा में ये केवल भूत होते हैं जो लङ्रूपों और लिट्-रूपों के स्थान में रखे जा सकते हैं, प्राचीनतर भाषा में संपन्न अथवा 'परोक्ष' की सामान्य प्रयोगिता लिये हुए हैं, जिन्हें 'किया है' प्रभृति द्वारा अनूदित किया जाना चाहिए।

८२६—श्रेण्य संस्कृत के अधिकांश भाग में लुङ्-प्रक्रिया असामान्य प्रयोग वाला रूपनिर्माण होती है (उदाहरणार्थ, इसके रूप नल में केवल इक्कीस बार, हितोपदेश में आठ बार, मनु में सात बार, भगवद्गीता और शकुन्तला दोनों में से प्रत्येक में छः बार, रामायण के लगभग २६०० पंक्तियों के प्रथम काण्ड में चौदह धातुओं से छयासठ बार प्राप्त हैं : तुलनीय ९२७ अ) : और इसका कोई कृदन्तक्रियारूप नहीं होता है और न प्रकारार्थरूप (आगमविहीन रूपों के निषेधार्थक प्रयोग को छोड़कर : देखिए ५७९; और तथाकथित आशीर्लिङ्, दे० ९२१ मु० वि०); दूसरी ओर प्राचीनतर भाषा में यह खूब सामान्य है और इसमें वर्तमान वाले प्रकारों के समग्र भेद और कभी-कभी कृदन्तक्रियारूप प्राप्त होते हैं। फलतः इसका विवरण मुख्यतया प्राचीनतर भाषा के अंश के—जैसा दिया जायगा, साथ ही उत्तरकाल के प्रयोग में इसके नियमन का समुचित उल्लेख होगा।

८२७—अ—ऋ० वे० में प्रयुक्त धातुओं में से लगभग आधी से लुङ् रूप, एक या अन्य कोटि के, मिलते हैं; अ० वे० में तो एक तिहाई से कम; और प्राचीनतर भाषा के अन्य ग्रंथों में अपेक्षाकृत कम लुङ् रूप आते हैं जो इन दोनों में प्राप्त नहीं होते।

आ—ऋ० वे० और अ० वे० दोनों में पचास से अधिक धातुएँ एकाधिक कोटियों के लुङ्रूप (साभ्यास या 'णिजन्त' लुङ् को छोड़कर) बनाती हैं; किंतु इस वैभिन्न्य को लेकर कोई नियम परिलक्षित नहीं होता है, एक कोटि के परस्मैपदी और दूसरी कोटि के आत्मनेपदी के मध्य सहसंबद्ध—जैसे किसी प्रकार के संबंध का, जैसा कि वैयाकरणों ने माना है, कोई संकेत पाया नहीं जा सकता है।

इ—उदाहरण होते हैं : १ और ४ कोटियों के, √(धा) से **अधाम्** और **धासुस्**; √(युज्) से **अयुजि** और **अयुक्षत**;—१ और ५ के, √(ग्रभ्) से **अग्रभम्** और **अग्रभीष्म**, √(मृष्) से **मृष्ठास्** और **मर्षिष्ठास्**;—१ और २ के, √(ऋ) से **आर्त** और **आरत**;—२ और ४ के, √(विद्) पाना से **अविदम्**

और अविस्ति, √(निज्) से अनिजम् और अनैक्षीत्;—२ और ५ के, √(सन्) से सनेम और असानिषम्;—२ और ७ के, √(रुह्) से अरुहम् और अरुक्षत्;—४ और ५ के, √(मद्) से अमत्सुस् और अमादिषुस्;—४ और ६ के, √(हा) से हास्महे और हासिषुस्;—१ और २ और ४ के, √(तन्) से अत्नत और अतनत और अतान्;—१ और ४ और ५ के, √(बुध्) से अबुध्रन् और अभुत्सि और बोधिपत्, √(स्तृ) से अस्तर् और स्तृषीय और अस्तरीस्। बहुधा द्वितीय अथवा द्वितीय और तृतीय कोटि केवल एक या दो विकीर्ण रूपों से निरूपित हैं।

१—सरल-लुङ्

८२८—लुङ् के तीन प्रधान भेदों में यह एक है जो पूर्व निर्धारित रूपों के सादृश्य से सर्वाधिक कम भिन्न होता है; यह लङ् की तरह धातु-कोटिवाला या अ-कोटि वाला होता है जिसका अनुरूपी निश्चयार्थक वर्तमान नहीं है, किंतु जहाँ (अल्पाधिक आंशिक रूप से) अन्य सभी अंश उपलब्ध हैं जो सम्पूर्ण वर्तमान प्रक्रिया बनाते हैं।

१—धातु-लुङ्

८२९—अ—उत्तरकालिक भाषा में यह रूपनिर्माण आ—अंतवाली कुछ धातुओं और भू धातु में सीमित है और केवल परस्मैपद में बनाये जाने का विधान है, आत्मनेपद स्-लुङ् (४) या इष्-लुङ् (५) का प्रयोग इसके स्थान में करता है।

आ—आकारांत धातुएँ अन्य० बहु० तिङ्प्रत्यय के लिए उस् का ग्रहण करती हैं और नियमानुसार इससे पूर्व इनका आ लुप्त हो जाता है; भू (लिट् में जैसी, ७९३ अ) अपने स्वर को सर्वत्र सुरक्षित रखती है, उत्तम० एकव० और अन्य० बहु० के अम् और अन् तिङ्प्रत्ययों से पूर्व इसके बाद व् का मध्यागम होता है। इस प्रकार :—

	एकव०	द्विव०	बहु०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	अदाम्	अदाव	अदाम	अभूवम्	अभूव	अभूम
म०	अदास्	अदातम्	अदात	अभूस्	अभूतम्	अभूत
अ०	अदात्	अदाताम्	अदुस्	अभूत्	अभूताम्	अभूवन्

श्रेण्य संस्कृत के लिए यह सम्पूर्ण विवरण होता है।

८३०—वेद में ये धातुएँ ही निश्चित रूप से रूपनिर्माण के प्रयुक्त और उत्कृष्ट प्रतिनिधिरूप होती हैं : विशेषतः धातुएँ दा, धा, पा पीना, स्था, भू;

जब कि ज्ञा, प्रा, सा, हाँ से कादाचित्क रूप बनाये जाते हैं। इनके आत्मनेपदी रूपों के लिए, देखिए नीचे, ८३४ अ।

अ—ऋ० वे० में अभूवम् के स्थान में अभुवम् दो बार प्राप्त है। भाग० पु० में अगुस् के लिए अन्य० बहु० अगन् है।

८३१—किंतु इसी कोटि के लुङ्‌रूप ऋ अंतवाली कतिपय धातुओं से और इ–और उ–स्वरों (ह्रस्व या दीर्घ) में अंत होने वाली कुछ धातुओं से भी धातु-वर्ग के लङ् के काल सादृश्य के चलते तीनों पुरुषों के एकवचन में गुणसबलीकरण के साथ बनाये जाते हैं।

अ—इस प्रकार (परस्मैपद में), √(श्रु) से अश्रवम् और अश्रोत्; √(श्रि) से अश्रेस् और अश्रेत्; √(कृ) बनाना से (अकर्स् और अकर्त् के लिए) अकरन् और अकर् ; √(वृ) परिवेष्टित करना से आवर् (५८५ अ); तथा ऐसी ही अस्तर् , अस्पर् । द्विव० और बहुव० रूप एकव० की अपेक्षा अत्यधिक कम प्राप्त हैं; किंतु प्रायः इनमें भी धात्वच् का अनियमित सबलीकरण दिखाई पड़ता है : यथा—(आगमविहीन रूपों को लेकर) अकर्म और कर्म तथा अकर्त, वर्तम् , स्पर्तम् , अहेम और अहेतन, भेम, अश्रवन्, केवल अव्रन्, अक्रन् , अह्यन् और अश्रियन् नियमित होते हैं।

८३२—पुनः गुण-सबलीकरण योग्य तथा सामान्यतया केवल एकवचन में उस प्रकार के सबलीकरण से युक्त मध्य (अथवा आदि) अच्‌वाली कुछ धातुओं से।

अ—इस प्रकार, √(भिद्) से अभेदम् और अभेत् , √(मुच्) से अमोक् ; √(युज्) से योजम् ; √(रुज्) से रोक् (वा० सं०); √(रुध्) से अरोधम् और अरुध्म; √(वृत्) से अवर्त्; √(वृज्) से वर्क् (अ० वे० में एक बार अवृक् मिलता है); √(दृश्) से अदर्शम् ; √(ऋध्) से आर्ध्म; तथा अदृशन् , अवृजन् , अश्वितन् । किंतु √(छिद्) गुण के साथ छेद्म, और √(दृश्) से अदर्श्म (तै० सं०)।

८३३—पुनः धातु मूलक स्वर के रूप में अ वाली बहु संख्यक धातुओं से :

अ—इनमें गम् (म् के स्थान में न् के साथ, यदि अंत्य हो, अथवा म् परवर्ती हो, १४३ अ, २१२ आ) निश्चित रूप से सर्वाधिक प्रयोग वाली है और इसमें रूपों की सर्वाधिक विभिन्नता देखी जाती है : यथा अगमम् , अगन् (मध्यम० और अन्य० एकव०); अगन्म, अगन्त (सबल रूप), अग्मन्। अन्य प्रयोग हैं :—√(क्रम्) से अक्रन् ; √(तन्) से अतन् ; √(भ्राज्) से अभ्राट् ; √(स्कन्द्) से अस्कन् ; √(स्रंस्) (? वा० सं०) से

अस्रत्; √(दृघ्) से धक् और द्घ्म; √(नश्) से आनट् (५८५ अ) और अनष्टाम्; √(घस्) से अंघस् या अघत्, अंघस्ताम्, अघस्त, और अंक्षन् (अंग्मन् की तरह अघ्सन् के लिए); और उस् में अन्य० बहुव० रूप अंक्रमुस्, अयमुस, दभुंस् नृतुस् (लिट् ?), मन्दुंस्।

८३४—अभी तक केवल परस्मैपदी रूपों का विवेचन हुआ है। आत्मनेपद में रूपों के अधिकांश ऐसे होते हैं जिन्हें वैयाकरणों ने स् लोप लेकर स्-लुङ् के अंतर्गत माना है (८८१); किंतु ये निश्चित रूप से अधिकांशतः अथवा समग्रतः यहीं आते हैं। यथा—

अ—स्वरांत धातुओं से हमें प्राप्त होते हैं:—आ—धातुओं के रूप अधिथास्, अधित (अहित भी) और अधीमहि; अदिथास्, अदित, और अदिमहि (और अदीमहि √(दा) काटना से); अंशीत (?); सीमहि; अंस्थिथास् और अंस्थित और अंस्थिरन्;—ऋ-धातुओं के, अक्रि, अंकृथास्, अंकृत, अक्राताम्, अंक्रत (और असंगत क्रन्त); अव्रि, अवृथास् अंवृत; आर्त, आरत; मृथास्, अमृत; घृथास्; अदृथास्; अस्तृत; अह्वृथास्; गूर्त;—इ और उ धातुओं के अह्वि (? अ० वे० एक वार), अंहूमहि; और अंच्विध्वम् मात्र उदारहण होते हैं। ऐसे रूपों में स् के लोप के लिए किन्हीं सादृश्यों का अभाव तथा अव्रि और अक्रि और अंक्रत की प्राप्ति, इन दोनों से स्पष्ट है कि स्-लुङ् में इनका निर्देश यथेष्ट विवेक नहीं रखता है।

आ—व्यंजनांत धातुओं को लेकर वस्तुस्थिति अपेक्षाकृत अधिक संदेहास्पद होती है, क्योंकि अंत्य व्यंजन के वाद थास् और त् (और वस्तुतः, ध्वम्) के पूर्व स का लोप श्रुतिमूलक नियम (२३३ इ, मु० वि०) द्वारा अनेक स्थलों में अपेक्षित है। तो भी, धातु-लुङ् का ऐसा सुस्पष्ट आत्मनेपदी रूपविधान पाते हैं, यथा अयुजि, अंयुक्थास्, अंयुक्त अयुज्महि, अंयुग्ध्वम्, अंयुज्रन्; आष्ट और आशत; नंशि अपदि (उत्तम० एकव०) और अपद्महि और अपद्रन्; अंमन्महि; गन्वहि और अंगन्महि और अंग्मत; अंतनत; अंजनि (उत्तम० एकव०) और अशत (अन्य० बहुव०); लट् रूपविधान में हन् के-जैसे अंत्य की प्रक्रिया के साथ (६३७) √(गम्) से अगथास् और अगत; √(तन्) से अतथास् और अंतत; √(मन्) से अमत वनते हैं। रन् प्रत्यय विशेषतः अन्य० बहुव० में अधिक प्रयुक्त है, जो अनेक क्रियाओं द्वारा, जिनमें इस लुङ् का दूसरा आत्मनेपदी पुरुष प्राप्त नहीं है, गृहीत है: यथा—अगृभ्रन्, अंसृग्रन्, अदृश्रन्, अवुध्रन्, अंवृत्रन्,

अजुस्रन्, अक्रुप्रन्, अस्पृध्रन्, अवस्रन्, अविश्रन्; और रन् के अतिरिक्त रम् अद्दश्रम्, अंबुध्रम्, असृग्रम् में प्राप्त हैं।

इ—उन धातुओं से, जिनका अन्त्य स् से मिलकर क्ष् हो, ऐसा अपेक्षाकृत अधिक संगत जंचता है कि तिङ्प्रत्यय से पूर्व (ष् की जगह) क् रखने वाले लुङ्रूप धातु-लुङ् में आते हैं: ऐसे रूप अमुक्थास् (और अमुध्वम्), अस्पृक्थास् और अपृक्त, अभक्त, अवृक्त, असक्थास् और असक्त, रिक्थास्, विक्थास् और विक्त, अरुक्त, अप्रष्ट, अयष्ट, अस्पष्ट, असृष्ठास् और असृष्ट, और मृष्ठास प्रत्येक स्थिति में ऐसे ही होंगे।

इ—अपेक्षाकृत अधिक भ्रामक स्थिति वाले अपने काल और अन्य पुरुषों की संभावना के अनुसार आंशिक रूप से एक रूपनिर्माण में और अंशतः दूसरे में संभवतः प्रतिस्थापित होने वाले प्रयोग बच जाते हैं: छित्थास्, नुत्थास् और अनुत्त तथा अनुद्ध्वम्, पत्थास्, भित्थास्, अमत, अतप्थास्, अलिप्त, असृप्त; तथा अंत में अरब्ध, अलब्ध, अरुद्ध, अवुद्ध, अयुद्ध, और द्रोग्धास् (महाभा० : द्रुग्धास पठनीय) : देखिये ८८३।

धातु लुङ् के प्रकार

८३५—अभिप्रायार्थ : लेट् प्रयोग में इस लुङ् के आगमविहीन निश्चयार्थक के तुल्य रूप अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध लेट् रूपों की अपेक्षा अत्यधिक प्राप्त हैं। वे, जिनका अनुरूपी सागम रूप प्राप्त नहीं होता है, ऊपर दिये जा चुके हैं; अन्य रूपों का सविस्तार निरूपण अनावश्यक है।

८३६—अ—शुद्ध लेटों में मुख्य तिङ्प्रत्यय वाले रूप खूब कम हैं। परस्मैपद में कराणि, गानि, गमानि (भुवानि के लिए, दे० नीचे इ); करसि; स्थाति, दाति और धाति (जो प्रयोगिता लेकर प्रायः निश्चयार्थक होते हैं), करति, जोषति, पदाति, भेदति, राधति, वर्जति; स्थाथस्, करथस्, और करतस्, दर्शथस्, श्रवथस् और श्रवतस्; और (प्रत्यक्षतः) करन्ति, गमन्ति। आत्मनेपद में, जोषसे; इधते (?), करते, भोजते, योजते, वर्जते; धेथे और धैथे; करामहे, धामहे, गमासहै।

आ—गौण तिङ्प्रत्ययों से युक्त रूप होते हैं, परस्मैपद में दर्शम्, भोजम्, योजम्; करस्, तर्दस् पर्चस्, यमस्, राधास् वरस्; करत्, गमत्, गरत्, जोषत्, दवत्, पदात्, यमत्, योधत्, राधत्, वरत्, वर्तत्, श्रवत्, सघत्, स्परत्; कराम्, गमाम, राधाम; गमन्, गरन्, दर्शन्, यमन्। कोई आत्मनेपदी रूप निश्चित रूप से यहाँ वर्गीकृत करने के योग्य नहीं हैं।

इ—भुवम्, भुवस्, भुवत्, भुवन् और भुवानि श्रेणी (तुलनीय अभुवम्, ८३० अ) तथा विच्छिन्न श्रवत् संदिग्ध स्थिति वाले हैं; भिन्न स्वरपात होने से ये दूसरे वर्ग के अंतर्गत प्रतीत होते हैं; यहाँ गुण-सबलीकरण अपेक्षाकृत अधिक नियमित होगा (किंतु भू के लिट् और निश्चयार्थ लुङ् में गुणाभाव द्रष्टव्य हैं)।

८३७—विधिलिङ्। इस लुङ् का परस्मैपदी विधिलिङ् प्रकारचिह्न और तिङ्प्रत्ययों के बीच स के मध्यागम से (५६७) भारतीय वैयाकरणों का परस्मैपदी आशीर्लिङ् बनता है, और उनके द्वारा प्रत्येक क्रिया से निर्माण विहित है, वे इसके और लुङ् के मध्य कोई संबंध नहीं मानते। किंतु मध्यम० एकव० में मध्यागम रूप स् पुरुषबोधक तिङ्प्रत्यय से भिन्न नहीं होता है; पुनः प्राचीनतम काल के बाद (द्रष्टव्य ८३८) तिङ्प्रत्यय अन्य० एकव० में सोष्म-ध्वनि के साथ संकुलित हो जाता है, जो इस प्रकार यास् की जगह यात् अंतवाला हो जाता है (तुलनीय ५५५ अ)।

अ—किंतु प्राचीनतर भाषा में स्-विहीन शुद्ध विधिलिङ् रूप इस काल से बनाये जाते हैं। आ अंतवाली धातुओं से, (य् से पूर्व ए में आ के परिवर्तन के साथ, २५० ई) देयाम्, धेयाम् और धेयुस्, तथा स्थेयाम; उ-स्वरों में अंत होने वाली से, भूयाम, ऋदन्तों से क्रियाम; व्यंजनान्तों से अश्याम् और अश्याम तथा अश्युस्, वृज्याम्, शक्याम्, युज्याव और युज्याताम, साह्याम और तृह्यस् मिलते हैं।

आ—धातु-लुङ् के आत्मनेपदी विधिलिङ् को भारतीय वैयाकरण आशीर्लिङ् के रूपनिर्माण के अंगभूत नहीं मानते हैं। तथापि ऋ० वे० में इसके दो आशीर्लिङ् रूप प्राप्त हैं, यथा पदीष्ट और मुचीष्ट। प्राचीनतर भाषा में शुद्ध विधिलिङ् रूप अपेक्षाकृत अधिक सामान्य हैं: उदाहरणार्थ अशीय और अशीमहि (यह विधिलिङ् विशेष रूप से प्रचलित है) इन्धीय, ग्मीय, मुरीय, रुचीय; अरीत, उहीत, वुरीत; इधीमहि, नशीमहि, नसीमहि, पृचीमहि, मुदीमहि, यमीमहि; तथा संभवतः आ—धातुओं से सीमहि और धीमहि (जो आगमविहीन निश्चयार्थ भी हो सकते हैं, क्योंकि अधीमहि और अधीताम् भी मिलते हैं)। अन्य० एकव० के अतिरिक्त ये सभी रूप प्रकार के सामान्य तत्त्व की दृष्टि से आशीर्लिङ् हो सकते हैं, क्योंकि ये ऐसे पुरुष-रूप होते हैं जहाँ भारतीय वैयाकरणों के अनुसार भी मध्यागमित स्—ध्वनि की प्राप्ति विहित नहीं है।

८३८—इस लुङ् के परस्मैपदी आशीर्लिङ्-रूप भाषा के पूर्वतम काल से बने हैं। ऋ० वे० में ये ऐसी किसी धातु से नहीं मिलते हैं। जिससे उसी वर्ग के अन्य० लुङ्रूप प्राप्त नहीं हैं। ऋ० वे० वाले रूप हैं :—उत्तम० एकव० **भूयासम्**; मध्यम० एकव० **अव्यास्**, **ज्ञेयास्**, **भूयास्**, **मृध्यास्**, **सह्यास्**; अन्य० एकव० (—**यास्** अंतवाले,—**यास्त्** के लिए; ऋ० वे० में **यात्** अंतवाला कोई अन्य० एकव० रूप प्राप्त नहीं है जो उत्तरकाल में नित्य तिङ्प्रत्यय होता है), **अव्यास्**, **अश्यास्**, **ऋध्यास्**, **गम्यास्**, **दध्यास्**, **पेयास्**, **भूयास्**, **यम्यास्**, **भूयास्**, **वृज्यास्**, **श्रूयास्**, **सह्यास्**; उत्तम० वहुव० **क्रियास्म** (**क्रियाम** के अतिरिक्त, ८३७ अ)। अ० वे० में —**यासम्** अंतवाले ६ : उत्तम० एकव० रूप,—**यास्** अंतवाला एक मध्यम० रूप,—**यात्** अंतवाला एक अन्य० रूप (तथा ऋ० वे० ऋचा में एक—**यास्** अंतवाला),—**यास्म** अंतवाले तीन उत्तम० वहुव० रूप (साथ ही ऋ० वे० ऋचा में—**याम** अंतवाला एक) और मध्यम० **भूयास्थ** (निस्सदेह भ्रामक पाठ; तै० ब्रा० के तदनुरूपी स्थल में—**स्त** प्राप्त है) मिलते हैं। इस समय के बाद शुद्ध विधिलिङ्रूप प्रायः लुप्त हो जाते हैं (अपवाद ८३७ अ में दिये गये हैं)। किंतु √(**भू**) से निष्पन्न को छोड़कर अन्यत्र कहीं आशीर्लिङ् सामान्य नहीं है; और किसी अन्य धातु से उद्धरणीय तिङन्त पुरुषों के पूर्ण वर्ग की भाँति कुछ प्राप्त नहीं होता है (केवल **भूयास्व** और **भूयास्ताम्** नहीं मिलते हैं तथा किसी धातु से इन दो तिङन्त पुरुषों के प्रतिनिधिरूप उपलब्ध नहीं हैं)। सब मिलाकर पचास से ऊपर धातुओं के परस्मैपदी विधिलिङ् अथवा आशीर्लिङ् प्राचीनतर भाषा में बने हैं; तथा रामा० महाभा० और श्रेण्य ग्रंथों में प्रायः एक दर्जन से अधिक इनमें और आते हैं, द्रष्टव्य पुनः ९२५।

८३९—**आज्ञार्थ**—धातुलुङ् के लोट्रूप पूर्वभाषा में विरल नहीं हैं। आत्मनेपद में, वस्तुतः, लगभग मध्यम० एकव० रूप ही आता है। यहाँ स्वरपात नियमतः या तो तिङ्प्रत्यय पर, यथा **कृष्वं**, **धिष्वं**, **युक्ष्वं**, अथवा धातु पर यथा **मंत्स्व**, **यंक्ष्व**, **वँस्व**, **रास्व**, **संत्स्व**, होता है; **दीष्व** और **मास्व** सोदात्त प्राप्त नहीं है; मध्यम० वहुव० का प्रतिनिधित्व **कृध्वम्** और **वोढ्वम्** द्वारा होता है। परस्मैपद में सभी पुरुष (मध्यम० और अन्य) प्रयोग में पाये जाते हैं; उदाहरण हैं : मध्यम० एकव०, **कृधि**, **वृधि**, **शग्धि**, **श्रुधि**, **गधि**, **यंधि**, **गहि**, **माहि**, **साहि**, **मोग्धि**; अन्य० एकव० **गंतु**, **दातु**, **अष्टु**, **श्रोतु**; **सोतु**; मध्यम० द्विव०, **दातम्**, **जितम्**, **शक्तम्**, **श्रुतम्**, **भूतम्**. **स्पृतम्** **गतम्**, **रिक्तम्**, **वोढम्**, **सितम्**, **सुतम्**; अन्य० द्विव०, केवल **गंताम्**, **दाताम्**, **वोढाम्**; मध्यम०

बहुव०, गा॑त, भू॑त, श्रुत, कृत, गत, दात, धातन; अन्य० बहुव०, केवल धान्तु, श्रुवन्तु। ये सर्वाधिक नियमित रूप होते हैं; किंतु स्वरपात और सबलीकरण दोनों दृष्टियों से अनियमितताएँ विरल नहीं हैं। इस प्रकार मध्यम० द्विव० और बहुव० में सबलरूप युं॑तम्, व॑र्कम्; व॑र्तम्; क॑र्त, गं॑त (एक वार गं॑त), यंत, वर्त्त, हेत, श्रोंत; सोंत; और तन के साथ, क॑र्तत, गंनत, यंतन, सोतन, और अनियमित धेतन (√(धा)); अन्य० द्विव० में गां॑ताम्। अपेक्षाकृत अधिक अनियमित होते हैं—√(युध्) से (युद्धि और भूधि के लिए) योंधि और √(भू) तथा √(बुध्) से (बुद्धि और भूधि के लिए) बोधि। तात् अंतवाला एकमात्र रूप (अन्य०एकव०), यथा शस्तात्, पाया जाता है। उत्तरकाल में भी (महाभा०, भाग० पु०) हम कृधि पाते हैं।

अ—शुद्ध धातु से आज्ञार्थ में प्रयुक्त मध्यम० एकव० के लिए, द्रष्टव्य ऊपर ६२४।

धातु-लुङ् के कृदन्तक्रियारूप

८४०—प्राचीनतम भाषा, ऋ० वे० वाली, में अनेक कृदन्तक्रियारूप प्राप्त हैं जिन्हें इस रूपनिर्माण के अन्तर्गत मानना आवश्यक है।

अ—परस्मैपद में ये अत्यधिक कम होते हैं: यथा, क्रं॑न्त्, चितं॑न्त् (?), ग्मं॑न्त्, स्थां॑न्त्, भिदं॑न्त्, वृधं॑न्त्, द्युतन्त्—(केवल सामासिक पद में) और संभवतः ऋधन्त्। पुनः भाग० पु० में मृपन्त् (किंतु संभवतः भ्रान्तिवश, मृष्यन्त् के लिए) मिलता है।

आ—आत्मनेपद में ये ऋ० वे० में अत्यधिक संख्यक होते हैं। स्वरपात साधारणतया प्रकृति के अन्त्य पर होता है: यथा, अरा॑ण, इधा॑न, क्रा॑ण, जुपा॑ण, तृपा॑ण, निदा॑न, पिशा॑न, पृचा॑ण, प्रथा॑न, बुधा॑न, मिया॑न, मना॑न, मन्दा॑न युजा॑न, रुचा॑न, विपा॑न, व्रा॑ण, उरा॑ण, शुभा॑न, सचा॑न, सुवा॑न या स्वा॑न, सृजा॑न, स्पृधा॑न, हिया॑न;—किंतु कभी-कभी धात्वक्षर पर, यथा चिं॑तान, च्यां॑वान, रुं॑हाण, उं॑हान (वर्तमान?), वं॑सान, शुं॑म्भान;—जबकि कुछ में दोनों स्वरपात देखे जाते हैं (तुलनीय ६१० ई); यथा दृशा॑न दृं॑शान, द्युता॑न और द्युं॑तान, यता॑न और यं॑तान; और चेतान और ह्वयाण केवल समास में आते हैं। इनमें से खूब कम एक या दो अंत ग्रन्थों में प्राप्त हैं, उदाहरणार्थ—चितान, द्युतान, रुहाण, वसान, सुवान; और—कुपान एकवार आपस्त० (१४–२९–४) में मिलता है।

८४१—सब मिलाकर धातुएँ जिनके ऐसे रूप प्राचीनतम मिलते जो दृढ़ संभावना के साथ धातु-लुङ् श्रेणी में रखे जा सकते हैं, लगभग एक सौ तीस हैं; इनमें से अस्सी से अधिक ऋ० वे० में इस प्रकार के रूप बनाती हैं।

अन्यपुरुष एकवचन कर्मवाच्य लुङ्

८४२—आत्मनेपदी अन्यपुरुष एकवचन, जो विशिष्ट रूपनिर्माण और व्यापकतया कर्मवाच्यार्थ लेकर होता है, प्राचीनतर भाषा में अनेक क्रियाओं से बनाया जाता है, तथा कर्मवाच्य क्रियारूप का अंग हो गया है, जो वैयाकरणों के अनुसार कर्मवाच्य में प्रयुक्त किसी आत्मनेपदी लुङ् के यथार्थ अन्य पुरुष के लिए नित्य रखा जा सकता है।

८४३—धातु में, जो आगम का भी ग्रहण करती है और जो सामान्यतः सबलीकृत होती है, इ जोड़कर यह पुरुष बनाया जाता है।

अ—**इ** प्रत्यय अन्यत्र केवल उत्तम पुरुष में आता है; और यह अन्य पुरुष स्पष्टतः **इ** अन्तवाले उत्तम पुरुष के साथ उसी संबंध में होता है जैसा कि आत्मनेपद में नियमित अन्य पुरुष एकवचन लिट् और साथ ही अधिक समय धातुवर्ग का सामान्य वैदिक अन्य० एकव० लट् (६१३), जो कि रूप की दृष्टि से अपने संबद्ध उत्तमपुरुषों के तुल्य होते हैं। ऐसा मानना खूब असंभव है कि पूर्णतर प्रत्यय लुप्त हो गया है; तथा फलतः सरल धातु से लुङ्-रूपनिर्माण-जैसा यहाँ इसका विवेचन अत्यधिक समीचीन रूप में सामान्य धातु-लुङ् के साथ किया जाता है।

८४४—**इ** प्रत्यय से पूर्व अन्त्य स्वर और सामान्यतया एकाकी व्यंजन के पूर्व का मध्यम **अ** भी वृद्धि-सबलीकरण प्राप्त करते हैं; अन्य मध्यम स्वरोंमें गुण-सबलीकरण होता है यदि इसकी प्राप्ति हो (२४०); अन्त्य आ के बाद **य्** जोड़ा जाता है।

अ—उदाहरण (इनमें से सभी प्राचीनतर भाषा से उद्धरणीय हैं) होते हैं: आ अन्त वाली धातुओं से, **अ॑ज्ञायि, अ॑धायि, अ॑पायि**;—और स्वरों में, **अ॑श्रायि, अ॑स्तावि, अ॑हावि, अ॑कारि, अ॑स्तारि**—मध्यग **इ, उ, ऋ** वाली धातुओं से **अचेति, अ॑च्छेदि, अशोषि, अ॑बोधि, अ॑मोचि, अ॑योजि, अ॑दर्शि, असर्जि, वर्हि**; सबलीकृत मध्यग **अ** वाली धातुओं से, **अगामि, अ॑पादि, अयामि, अवाचि, वापि, अ॑सादि** (ये सभी पूर्वतरकालिक प्रयोग हैं); अपरिवर्तित **अ** के साथ, केवल **अ॑जनि** (और ऋ० वे० में **जा॑नि** प्राप्त है), और गुरु अक्षरों में, **अ॑म्यक्षि, वन्दि, शंसि, स्यन्दि**; मध्यग आ के साथ **अ॑भ्राजि, अ॑राधि**;—आदि स्वर के साथ धातुओं से, **आर्धि** (मात्र प्रयोग)।

आ—वैयाकरणों के अनुसार अम् अंतवाली कुछ धातुएँ और √(वध्) अपरिवर्तित अ को सुरक्षित रखती हैं **अजनि** (या **अजानि**), **अगमि** (या **अगामि**), **अस्वनि, अवधि,** साथ ही **अरचि** उद्धरणीय हैं; पुनः निर्दिष्ट धातुओं के अतिरिक्त नासिक्य रखनेवाली धातुओं से कभी-कभी प्राप्त हैं, **अदंशि, अरम्भि, अरन्धि, अजम्भि, अभञ्जि** या **अभाजि, अलम्भि** (नित्य रूप से, पूर्वसर्गों के साथ) या **अलाभि, अस्तम्भि;** श० ब्रा० में **असञ्जि** मिलता है।

इ—आगमविहीन रूप अन्य समान प्रयोगों की तरह निश्चयार्थ अथवा अभिप्रायार्थ के साथ पाये जाते हैं : उदाहरण (ऊपर निर्दिष्ट दो या तीन को छोड़कर) है : **धायि, श्रावि, भारि, रेचि, वेदि, रोचि, जनि, पादि, सादि, अर्धि** । स्वरपात, यदि होता है, नित्य धात्वक्षर पर होता है (सा० वे० **धायिं** निस्संदेह भ्रामक पाठ है) ।

८४५—ये रूप ऋ० वे० चालीस धातुओं से बने हैं और अन्य सभी पूर्वतरकालिक ग्रंथों को एक साथ लेने पर केवल बीस का योग इस संख्या में होता है; उत्तरकालिक भाषा में और तीस या चालीस उद्धरणीय हैं; रामा० महाभा० में ये प्रायः अज्ञात हैं। यदि **गम्, पद्, सद्, भ्राज्, राध्, रुच्, सञ्ज्** जैसी क्लीवार्थक धातुओं से ये प्राप्त हैं, तो इनमें अन्य आत्मनेपदी रूपों की प्रयोगिता के तुल्य प्रयोगिता (त अंतवाले तथाकथित कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप की तरह ९५२) होती है; एक या दो स्थलों में (ऋ० वे० ९–७३–३ (?), वा० सं० २८-१५, तै० ब्रा० २-६-१०[२]) ये सकर्मकात्मक रूप के साथ भी प्रयुक्त देखे जाते हैं।

२—अ—लुङ्

८४६—अ—उत्तरकालिक भाषा में इस लुङ् का निर्माण धातुओं की एक बड़ी संख्या (लगभग सौ) से विहित है। यह दोनों पदों में बनाया जाता है, किंतु आत्मनेपद में विरल है, धातुओं में से सर्वाधिक अपना आत्मनेपदी रूप **स**–वर्ग (८७४ मु० वि०) अथवा **इष्**–वर्ग (८९८ नि० वि०) के अनुसार बनाती हैं।

आ—इसका घनिष्ठतम सादृश्य अं–वर्ग के लङ् के साथ (७५१ नि० वि०) होता है; सभी दृष्टियों में उसके समान इसका रूपविधान होता है; और यह सामान्यतया धातु के दुर्वल रूप का ग्रहण करता है—अपवाद रूप ऋ अन्तवाली (केवल तीन या चार) धातुएँ हैं जिनमें गुण-सवलीकरण प्राप्त है।

इ—रूपविधान के उदाहरण-स्वरूप धातु **सिच्** सींचना प्रस्तुत की जा सकती है। यथा :

परस्मैपद

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	अ॑सिचम्	अ॑सिचाव	अ॑सिचाम
म०	अ॑सिचस्	अ॑सिचतम्	अ॑सिचत
अ०	अ॑सिचत्	अ॑सिचताम्	अ॑सिचन्

आत्मनेपद

उ०	अ॑सिचे	अ॑सिचावहि	अ॑सिचामहि
म०	अ॑सिचथास्	अ॑सिचेथाम्	अ॑सिचध्वम्
अ०	अ॑सिचत	अ॑सिचेताम्	अ॑सिचन्त

८४७—धातुलङ् के साथ अ–लुङ् ऋ० वे० में अल्पसंख्यक होता है, उसकी धातुओं की आधी से कम का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु आगे चलकर यह अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हो जाता है (यह लुङ् का एकमात्र रूप है जो ऋ० वे० की अपेक्षा अ० वे० में अधिक धातुओं से बनता है); तथा वेद और ब्राह्मण दोनों में मिलकर लगभग अस्सी धातुएँ अल्पाधिक मात्रा में पूर्णरूप से रूपनिर्माण प्रस्तुत करती हैं। इनमें एक बड़ी संख्या (पूरी-की-पूरी आधी) उन धातुओं की कोटि में आती हैं जिनकी वर्तमान-प्रक्रिया अ॑-गण के अनुरूप होती है, जहाँ अन्त्य व्यंजन से पूर्व स्वर गुण-सबलीकरण के योग्य होता है (७५४) : यथा, **इ** के साथ, **छिद्**, **भिद्**, **निज्**, **रिच्**, **रिष्**, **लिप्**, **विद्**, **१ शिष्** (**शास्**), **२ शिष्**, **श्रिष्**, **श्लिष्** **सिच्**, **स्निध्**—**उ** के साथ, **क्रुध्**, **क्षुध्**, **गुह्**, **द्रुष्**, **द्युत्**, **द्रुह्** **पुष्**, **बुध्**, **भुज्**, **म्रुच्**, **स्रुच्**, **युज्**, **रुच्**, **रुद्**, **रुध्**, **मुह्**, **रुह्**, **शुच्**;—**ऋ** के साथ, **ऋध्**, **कृत्**, **गृध्**, **गृह्**, **तृप्**, **तृष्**, **तृह्**, **दृप्**, **दृश्**, **धृष्**, **नृत्**, **मृध्**, **मृष्**, **वृत्**, **वृध्**, **वृष्**, **सृप्**, **हृष्**। अल्पसंख्यक धातु स्वरों में अंत होती हैं : यथा, **ऋ**०, **कृ**, **सृ** (जिनमें गुण-सबलीकरण सर्वत्र प्राप्त है), **हि** (? **अह्यत्** एक बार अ० वे० में), और कतिपय **आ**—अंतवाली, **अ** में अपने **आ** के दुर्बलीकरण चलते स्पष्टत: धातु-वर्ग के अन्तरण-रूप, यथा **ख्या**, **ह्वा**, **व्या**, **श्वा**, और **दा** और **धा**; तथा **आस्थत्**, जिसे वैयाकरणों में √ (**अस्**) फेंकना का लुङ्—जैसा माना है, निस्संदेह √ (**स्था**) से तुल्य-निर्माण है। कुछ के वर्तमान में तथा अन्यत्र उपधा-नासिक्य रहता है, जो कि इस लुङ् में लुप्त हो जाता है : यथा, **भ्रंश्**, **तंस्**, **ध्वंस्**, **अरंस्**, **क्रन्द्**, **रन्ध्**। **अश्**, **क्रम्**, **गम्**, **घस्**, **तम्**, **शम्** **श्रम्**, **तन्**, **सन्**, **सद्**, **आप्**, **दस्**, **यस्**, **शक्**, **दध्** अपेक्षाकृत न्यून विभजनीय स्वरूप वाली होती हैं। **पत्**, **नश्**,

वच धातुएँ **पप्त, नेश, वोच्** काल-प्रकृतियाँ बनाती हैं, जिनमें से प्रथम स्पष्टतः और अन्य दो संभवतः अभ्यास के फलस्वरूप हैं; किंतु भाषा में इनकी तथाविध प्रयोगिता लुप्त हो गई है और इन्हीं धातुओं से अन्य साभ्यास लुङ्‌रूप बनते हैं (द्रष्टव्य नीचे, ८५४)।

अ—इन लुङों के अनेक अ-रूपविधान में धातु लुङ् के अन्तरण मात्र हैं। स्पष्ट उदाहरण अकरत् प्रभृति और अगमत् प्रभृति (पूर्वतम काल में केवल अकर् और **अगन्**) होते हैं।

८४८—इस लुङ्‌का रूप विधान सामान्यतया इतना नियमित होता है कि केवल इसके वैदिक रूपों के उदाहरणों को प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा। नमूने के लिये (विद्) से **अविदम्** को हम ले सकते हैं जिसके विभिन्न पुरुष और प्रकारार्थ रूप अन्य किसी क्रिया की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त और पूर्णतर विभिन्नता वाले होते हैं। केवल वे रूप, जो वस्तुतः उद्धरणीय हैं, उदाहृत किये जाते हैं; वे जिनके उदाहरण विद् से भिन्न दूसरी क्रियाओं से प्राप्त हैं, कोष्ठगत रखे जाते हैं। यथा—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	अ॑विदम्	अ॑विदाव	अ॑विदाम	अ॑विदे	(अ॑विदावहि)	अ॑विदामहि
म०	अ॑विदस्		(अ॑विदत)	(अ॑विदथास्)		
अ०	अ॑विदत्		अ॑विदन्	(अ॑विदत)	(अ॑विदेताम्)	अ॑विदन्त

अ—आत्मनेपदी रूप उत्तरकाल की तरह पूर्वतर काल में विरल हैं: अ॑ह्वे आदि, अ॑ख्ये आदि, अ॑विदे (?) और **अविदन्त, अवोचथास्** और **अवोचावहि** (और **अविदामहे** गो० ब्रा० तथा **असिचामहे** कौ० ब्रा० निस्संदेह-महि से संशोधित किये जाँय) हमें प्राप्त हैं।

आ—निश्चयार्थ अथवा अभिप्रायार्थ वाली प्रयोगिता लेकर आगमविहीन रूप विरल नहीं होते हैं। रूप-निर्माण के सामान्य सादृश्यों के अनुसार, काल-चिह्न पर स्वरपात दिखलाने वाले उदाहरण हैं: **रुह॑म्, सृ॑पस्, भुज॑त्, विद॑त्, अरताम्, वोचत, शकन्**; विद॑त और व्य॑त (अन्य० एकव०), **अरामहि, शिपामहि विद॑न्त, वुधन्त, मृषन्त** (स्वरपात लेकर अपवादों के लिए, देखिये नीचे, ८५३)।

अ-लुङ् के प्रकार

८४९—इस लुङ् के अभिप्रायार्थक रूप स्वल्प हैं; वे जो प्राप्त होते हैं, नीचे उदाहृत किये जाते हैं उसी पद्धति में जो निश्चयार्थ के लिए अपनाई गई है:

उ०		(विदाव)	विदाम	(विदामहे)
म०	विदासि विदास्	विदाथस्	विदाथ	
अ०	विदात्			(विदाते ?)

अ—थन प्रत्यय एक वार, रिषाथन में, पाया गया है। आत्मनेपदी रूपों में केवल शिषाते (अ० वे० : किंतु निस्संदेह शिष्याते का भ्रामक पाठ) और शिषामहे (अ० वे०, ऋ० वे० शिषामहि के लिए) आते हैं। रूप सदथस् निश्चयार्थक रूप लगता है, जो यौगिक वर्तमान-प्रकृति से बना है।

८५०—प्राचीनतम भाषा में विधिलिङ् खूब कम हैं, किंतु अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित होते हैं, और ब्राह्मणों में विरल नहीं हैं। उदाहरण हैं : परस्मैपद में, भिदेयम्, विदेयम्, सनेयम्, (तै० ब्रा० एक वार सनेम); विदेस्, गमेस ; गमेत्, वोचेत् ; गमेतम् ; गमेम, शकेम, सनेम; वरेत; आत्मनेपद में, (केवल) विदेय; गमेमहि, वनेमहि; रुहेथास् आदि रामा० महाभा० वाले अ-वर्ग के वर्तमान-रूपों जैसे ही माने जाँय।

अ—एकमात्र आत्मनेपदी आशीर्लिङ्रूप, यथा—विदेष्ट (अ० वे०, एक वार), मिलता है; यह इतना असंगत है कि इससे जो कुछ भी अनुमेय होगा, वह संदेहास्पद है।

८५१—परस्मैपदी आज्ञार्थक रूपों की एक सम्पूर्ण श्रेणी √(सद्) से (सदतन, मध्यम० बहुव०, को सम्मिलित कर) बनती है, और आत्मनेपदी सदन्ताम् होता है। अन्य लोट् रूप खूब विरल हैं : यथा—सन, सर, रुह, विद, रुहतम्, विदतम्, रुयत। तै० सं० में एकवार वृधातु मिलता है (तुलनीय ७४०)।

अ—लुङ् के कृदन्तक्रियारूप

८५२—अ—परस्मैपदी कृदन्तक्रियारूप तृपन्त्, रिषन्त् या रीषन्त्, वृधन्त्, शिषन्त्, शुचन्त्, सदन्त, और (कृदन्तक्रियारूपात्मक समासों में, १३०९) कृतन्त, गुहन्त् ; विदन्त् (सभी ऋ० वे०), सत्यसंभावना के साथ लुङ् के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

आ—इसी प्रकार आत्मनेपदी कृदन्तक्रियारूप गुहमान, धृषमाण, दसमान (?), नृतमान, शुचमान, और संभवतः वृधान, सिधान हैं।

अ—लुङ् की अनियमितताएँ

८५३—कुछ अनियमितताएँ और विशिष्टताएँ यहाँ द्रष्टव्य हैं।

ऋ अंतवाली धातुएँ, जिनमें (८४७) उदात्तविहीन अ-वर्ग के वर्तमान की तरह सबलीकरण देखा जाता है, उसी तरह धात्वक्षर पर उसी वर्ग की तरह उदात्तत्व रखती हैं : यथा, √(ऋ) से अरन्त (आगमविहीन अन्य० बहुव०) सरत् और सर। सद् धातु उसी नियम का अनुसरण करती है; यथा सदतम्; और √(सन्) से सनेयम् और सनेम के अतिरिक्त सनस् और सनत् और सनेम और सन प्राप्त होते हैं। यह संदिग्ध है कि ये भ्वादि गण (उदात्तविहीन अ-वर्ग) वर्तमान-प्रक्रिया के यथार्थ अनुरूप हों। दूसरी ओर रुहत् (रुहम्, रुहाव, रुहतम् के अतिरिक्त), शिपत् और शिपाते (?), और रिपन्त् या रीषन्त् अपेक्षाकृत विकीर्ण प्रयोग हैं। इनके-जैसे रूपों को दृष्टि में रखकर प्रकृति भुव और श्रुव (८३६ इ) से निष्पन्न रूप संभवतः यहाँ निर्दिष्ट हो सकते हैं √(वच) से विधिलिङ्—रूप उदात्तयुक्त होता है वोचेयम्, वोचेस्, वोचेम, वोचेयुस; अन्यत्र स्वर-पात धात्वक्षर पर होता है : यथा, वोचे, वोचत्, वोचति, वोचन्त्।

८५४। अ। प्रकृति वोच् ने वैदिक प्रयोग में प्रायः धातु की प्रयोगिता का ग्रहण किया है; इसके रूप खूब विभिन्न और अधिक प्रयुक्त हैं, विशेष रूप से ऋ० वे० प्रयोगों में √(वच्) के अन्य सभी रूपों से संख्या में बहुत अधिक होते हैं। उपर्युक्तों के अतिरिक्त वोचा (उत्तम० एकव० लोट्) और वोचाति, वोचावहै; वोचेस्, वोचेय, वोचेमहि; वोचतात् (मध्यम० एकव०), वोचतु, वोचतम्, वोचत हमें प्राप्त होते हैं।

आ—√(नश्) से नेश प्रकृति में केवल नेशत् मिलता है।

इ—धातु शास् (जैसा कि इसके लट् रूपों के कुछ में, ६३९) शिष् में दुर्बलीकृत होती है, और अशिषम् रूप बनाती है।

८५५—विकीर्णरूप जो अल्पाधिक मात्रा में पूर्णतः निश्चयार्थ वर्तमान का स्वरूप रखते हैं, प्रथम दो वर्गों की लुङ् प्रक्रियाओं के निकट कुछ धातुओं से प्राचीनतम भाषा में बने हैं। यह निर्धारण करना प्रौढ़तर शोध का विषय बना रहता है कि ये कितने मूल वर्तमानों के अवशेष हो सकते हैं अथवा प्रयोगिता लेकर धातु में लुङ्प्रकृति के परिणमन के फलस्वरूप बने नवीन निर्माण कितने हैं।

अ—इस प्रकार के रूप ये हैं : √(कृ) बनाना से, कर्षि, कृथस्, कृथ, कृषे; √(गम्) से, गथ; √(चि) एकत्रित करना से, चेति; √(दा) देना से, दाति, दातु; √(धा) रखना से, धाति; √(पा) पीना से, पाथस्, पान्ति;

√(भृ) से, भर्ति; √(मुच्) से, मुचन्ति; √(रुध्) से, रुध्मस (?); √(वृत्) से, वर्त्ति।

२—(३) साभ्यास लुङ्

८५६—लुङ् के अन्य रूपों से साभ्यास लुङ् इस बात में भिन्न होता है कि प्रायः सभी स्थलों में यह अय अंतवाले यौगिक (णिजन्त प्रभृति) क्रियारूप में उस क्रियारूप के लुङ् की तरह युक्त किया जाता है, और फलतः यह सभी धातुओं से बनाया जा सकता है जिनमें इनके मुख्य क्रियारूप से संवद्ध लुङ् अथवा लुङों को छोड़कर इस प्रकार का क्रियारूप होता है। किंतु, चूँकि दोनों का संबंध रूपात्मक नहीं है (लुङ् सीधे धातु से बनाया जाता है, णिजन्त प्रकृति से नहीं), अपितु अर्थ की सजातीयता के चलते सुनिश्चित साहचर्य का विषय ही होता है, लुङ् के इस वर्ग का रूप-निर्माण और रूप-विधान दूसरों के साथ यहाँ समीचीन ढंग से रखा जाता है।

८५७—इसका लक्षण धात्वक्षर का अभ्यास है जिससे यह एक ओर द्वित्व वाले वर्ग के लङ् (६५६ मु० वि०) के सम हो जाता है, दूसरी ओर तथाकथित परिपूर्ण भूत के (८१७ मु० वि०)। किंतु लुङ्वाला अभ्यास विलकुल विशिष्ट स्वरूप लेकर होता है, जिसके कुछ अवशेष वेद में भी हैं जो ऐसी विभिन्न स्थिति के होते हैं जो कि इसके पूर्व रही होगी।

८५८—अ-वस्तुतः, जहाँ तक अभ्यास के व्यंजन का प्रश्न है, वह निर्दिष्ट सामान्य नियमों (५९०) का अनुसरण करता है। पुनः द्वित्वापन्न स्वर की मात्रा सामान्यतया वही होती है, जो उपर्युक्त रूपनिर्माणों में : केवल यही उल्लेख करना आवश्यक है कि अ—स्वर और ऋ (या अर्) सामान्यतया (अपवादों के लिए, दे० नीचे, ८६०) इ—स्वर द्वारा पुनरावृत्त किये जाते हैं—जैसा कि ये अधिकांशतः द्वित्वापन्न वर्तमान में भी होते हैं (६६०)।

आ—किंतु मात्रा के प्रसंग में यह लुङ् अभ्यास और धातु वाले अक्षरों के वीच भेद-स्थापन नित्य लाता है, जिससे एक को गुरु बनाता है औ और दूसरे को लघु। तथा गुरु अभ्यास और लघु धात्वक्षर के लिए आग्रह प्रबल होता है—जहाँ कहीं स्थितियाँ संभव हैं, ऐसा संबंध देखा जाता है। इस प्रकार :

८५९—यदि धातु लघ्वक्षर (जहाँ ऐसा ह्रस्व स्वर होता है जिसके वाद एकाकी व्यंजन हो) होती है, तो अभ्यास गुरु बनाया जाता है।

अ—तथा ऐसा होता है, जहाँ धातुमूलक अ या ऋ या लृ (एकमात्र धातु में, जहाँ यह स्वर प्राप्त है) के लिए ई द्वारा अभ्यास वाले स्वर का दीर्घीकरण

सामान्यतया होता है : यथा, **अरीरिषम्, अदूदुषम्, अजीजनम्, अवीवृधम्, अचीकृपम्** । अभ्यासयुक्त लुङों के अधिक बहुसंख्यक इस रूप वाले होते हैं ।

आ—किन्तु, यदि धातु दो व्यंजनों से आरंभ हो जिससे कि अभ्यास वाला अक्षर गुरु हो जाय, चाहे उसके स्वर की मात्रा जो भी हो, स्वर ह्रस्व बना रहता है; यथा **अचिक्षिपम्, अचुक्रुधम्, अतित्रसम्, अपिस्पृशम्** ।

८६०—यदि धातु गुरु अक्षर (जिसमें दीर्घ स्वर अथवा दो व्यंजनों के पूर्व ह्रस्व स्वर प्राप्त हो) हो, तो अभ्यास का स्वर ह्रस्व होता है : तथा ऐसी स्थिति में **अ** या **आ** और **ऋ** (यदि यह प्राप्त है) का अभ्यास **अ** से होता है ।

अ—इस प्रकार, **अदिदीक्षम्, अबुभूषम्** (अनुद्धरणीय), **अददक्षम्, अदधावम्, अततंसम्** । पुनः, ऐसे स्थलों में जहाँ धातु दो व्यंजनों से आरंभ और अन्त भी होती है, दोनों अक्षर अनिवार्यतया गुरु होंगे, चाहे प्रथम कोटि में ह्रस्व स्वर क्यों न हो । यथा **अपप्रच्छम्, अचस्कन्दम्** (किंतु इस प्रकार के कोई रूप प्रयोग में प्राप्त नहीं हैं) ।

आ—वैयाकरणों के अनुसार मध्य **ऋ** णिजन्त प्रकृति के सबलीकरण को विकल्प से सुरक्षित रखता है, साथ ही वस्तुतः अ द्वारा अभ्यास को : यथा **अचकर्षत्, अववर्तत्** (साथ ही, **अचीकृषत्, अवीवृतत्**); किंतु इस प्रकार के रूप प्रयोग नहीं पाये गये हैं ।

इ—रूप की दृष्टि से ये लुङ् तथाकथित परिपूर्णभूत रूपों से भिन्न नहीं किये जा सकते हैं (८१७ नि० वि०) ।

८६१—अ—तथापि, गुरु अभ्यास और लघु धात्वक्षर के अभीष्ट संबंध को उपस्थित करने के लिए गुरु धातु कभी-कभी लघु बनाई जाती है : या तो इसके स्वर के ह्रस्वीकरण से, यथा √(**राध्**) से **अरीरधम्**, √(**वाश्**) से **अवीवशम्**, √(**साध्**) से **असीषधम्**, √(**जीव्**) से **अजीजिवम्**, √(**दीप्**) से **अदीदिपम्** (का० और उत्तरकाल में; ऋ० वे० में **दिदीपस्** प्राप्त है), √(**भीष्**) से **अवीभिषम्**; √(**सूच्**) से **असूसुचम्**; अथवा उपधा नासिक्य को लुप्त कर देने से, यथा √(**क्रन्द्**) से **अचिक्रदम्**, √(**स्यन्द्**) से **असिष्यदम्** ।

आ—उन प्रयोगों में जिनका लुङ् सीधे **आप्** अन्तवाली णिजन्त प्रकृति से बनाया जाता है, **आ इ** में संक्षेपीकृत होता है: यथा, **अतिष्ठिपम्** इत्यादि, **अजिज्ञिपत्** (किंतु कथा-स० सा० **अजिज्ञपत्**), **जीहिपस्, अजीजिपत** (किंतु वा० सं० **अजीजपत**); किंतु **श्रप्** से **अशिश्रपाम** (श० ब्रा०) निष्पन्न होता है ।

८६२—आदिस्वर वाली धातुओं से इस लुङ् के उदाहरण खूब विरल होते हैं; प्राचीनतर भाषा में केवल √(अम्) से **आममत्** (या **अममत्**) √(आप्) से **आपिपन्** (श० ब्रा० : वृ० आ० उ० **आपिपिपत्**), और (ऋ) की णिजन्त-प्रकृति **अर्प** से **अर्पिपम्** (आगमविहीन) जिस परवर्ती कोटि में धातु अत्यधिक रूप से संक्षेपीकृत है—पाये जाते हैं। वैयाकरण इस प्रकार के अन्य रूपनिर्माण देते हैं : यथा √(अर्च्) से **आर्चिचम्**, √(उब्ज्) से **औब्जिजम्**, √(अर्ह्) से **आर्जिहम्**, (ईक्ष्) से **ऐच्चिक्षम्**, (ऋध्) से **आर्दिधम्**। सन्नन्त प्रकृतियों में तथाविध अभ्यास तुलनीय, १०२९ आ।

८६३—विशिष्ट अनियमितताओं में से ये प्रस्तुत को जा सकती हैं :

अ—√(द्युत्) से प्रकृति **दिद्युत** (वे०, ब्रा०) बनाई जाती है, जहाँ अभ्या० स्वर धातुमूलक अंतःस्थ से प्राप्त है। √(गुप्) से **जूगुप** (बा०, सू०) की जगह **जुगूप** जे० ब्रा० में है, तथा अन्य ग्रंथों (बा०, सू०) में **जुगुप**; और नियमित **जिह्वर** (वे० ब्रा०) के अतिरिक्त **जीह्वर** (ब्रा०) पाया जाता है। **चच्छद** (निरु०) और अल्पाधिक संदिग्ध **पप्रथ** और **शश्वच** और **सस्वज** (ऋ० वे०) में हम अभ्यास में **इ** की जगह **अ** पाते हैं।

आ—सीधे धातु से निष्पन्न के बजाय णिजन्त प्रकृति से बने जैसे इस लुङ् को लेकर अपनी भ्रान्त धारणा के पोषण में देशी वैयाकरण मानते हैं कि **उ**-स्वर में अंत होने वाली धातुएँ सबलीकृत प्रकृति के **आ** के प्रतिनिधि स्वरूप **इ** के साथ अभ्यस्त हो सकती हैं :—यथा, **भाव-अय** से **बीभव** तथा **भू** से **बूभुव**। **अपिप्लवम्** (श० ब्रा० एक बार) को छोड़कर इस प्रकार के रूप निर्माण का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है; इसके विपरीत हम **दुद्रुव**, **बूभुव** रूरुव, शुश्रुव प्रभृति पाते हैं।

इ—**अपप्रम्**, **अवोचम्**, और **अनेशम्** के लिए; देखिये ऊपर, ८४७।

८६४—द्वित्ववाले लुङ् का रूपविधान द्वितीय सामान्य क्रियारूप के लङ् के जैसा होता है : अर्थात्, यह अन्त्य प्रकृति-स्वर के रूप में **अ** रखता है, उन सभी विशिष्टताओं के साथ जो कि उस स्वर की स्थिति से प्राप्त हैं (७३३ अ)। यथा—**जन्** जन्म देना (प्रकृति **जीजन**) से :—

परस्मैपद

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	अ॑जीजनम्	अ॑जीजनाव	अ॑जीजनाम
म०	अ॑जीजनस्	अ॑जीजनतम्	अ॑जीजनत
अ०	अ॑जीजनत्	अ॑जीजनताम्	अ॑जीजनन्

आत्मनेपद

	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	अंजीजने	अंजीजनावहि	अंजीजनामहि
म०	अंजीजनथास्	अंजीजनेथाम्	अंजीजनध्वम्
अ०	अंजीजनत	अंजीजनेताम्	अंजीजनन्त

८६५—आत्मनेपदी रूप प्राचीनतर भाषा में विरल हैं (इनमें अन्य० वहुव० निश्चित रूप से सर्वाधिक प्रचलित हैं, जो ग्यारह धातुओं से वना है; अन्य० एकव० सात से); किंतु सव रूप, परस्मैपदी और आत्मनेपदी दोनों, आत्मनेपदी उत्तम० और मध्यम० द्विव० और परस्मैपदी उत्तम० द्विव० को छोड़कर उद्धरणीय हैं।

अ—**अतीतपे** अन्य० एकव० जैसा ऋ० वे० में एक वार कर्मवाच्यार्थ के साथ प्रयुक्त प्रतीत होता है।

८६६—तिङ्प्रत्ययों से पूर्व अन्त्य **ऋ** में गुण-सवलीकरण प्राप्त है : यथा—**अचीकरत्, अपीपरम्, अतीतरस्, दीदरस्, अदीधरत्, अमीमरत्, अवीवरन्, जिह्वरस्**। ई—और उ—धातुओं से इस प्रकार के सवलीकृत रूपों में **अपिप्रयन्** (तै० सं०) **अबीभयन्त** (ऋ० वे०), **अपिप्लवम्** (श० ब्रा०), **अचुच्यवत्** (काठ० क०), **अशुश्रवत्** (मै० सं०), **अतुष्टवम्** (ऋ० वे०) पाये जाते हैं। **ऋ** से भिन्न स्वरों में अंत होने वाली थोड़ी-सी धातुएँ इस लुङ् को वनाती हैं : देखिये नीचे ६६८।

८६७—संयोजन-स्वर के विना रूपविधान के रूप यदा-कदा उपलब्ध होते हैं : उदाहरणार्थ, व्यंजनों में अंत होने वाली धातुओं से, √(**स्वप्**) से **सिष्वप्** (मध्यम० एकव०, आगमविहीन), और √(**श्नथ्**) से **अशिश्नत्**; **ऋ** या **अर्** अंतवाली धातुओं से, **दीधर्** (मध्यम० एकव०), और **अजीगर्** (मध्यम० और अन्य एकव०); **इ**—और **उ**—स्वरों अंत होने वाली धातुओं के लिए, देखिये ८६८। उस् अंतवाले अन्य० वहुव० में प्रायः एक या दो रूप ही **इ** और **उ**—धातुओं से तिङ्प्रत्ययों से पूर्व गुण के साथ पाये जाते हैं : यथा—**अशिश्रयुस्, अंचुच्यवुस्, अशुश्रवुस्, असुषवुस्**; किंतु साथ ही, **अबीभजुस्** (श० ब्रा०) और **नीनशुस्** (महाभा०)।

८६८—उत्तरकालिक भाषा में वैयाकरणों के मतानुसार इस लुङ् का निर्माण कुछ धातुओं से इनके मुख्य क्रियारूप के अंग-जैसा विहित है : ये **श्रि** और **श्वि, द्रु** और **स्रु, कम्** और **धा** स्तनपान करना (**श्वि** और **धा** विकल्प से) होती हैं।

अ—प्राचीनतर भाषा में √(श्रि) से **अशिश्रेत्** और **अशिश्रयुस्** (पूर्ववर्ती कडिका में उल्लिखित) तथा **अशिश्रियत्** (श० ब्रा०); √(द्रु) से **अदुद्रोत्** और **अदुद्रुवत्** (तै०ब्रा० लुङ् की तरह प्रयुक्त नहीं), √(स्रु) से **असुस्रोत्** तथा (आगमरहित) **सुस्रोस्** और **सुस्रोत्**, √(कम्) से **अचीकमेताम्** और—**मन्त** (ब्रा० सू०) प्राप्त होते हैं। इनके तुल्य रूपों में अनेक **उ** या **ऊ** अंतवाली धातुएँ आती हैं: यथा, √(नु) से **अनूनोत्** और **नूनोत्**; √(यु) पृथक् करना, से **यूयोत्**; √(धू) से **दूधोत्**; √(पू) से **अपुपोत्**, √(तु) से **तूतोस्** और **तूतोत्**: √(सू) से **असुषोत्**;—पुनः एक या दो इदन्त या ईदन्त धातुओं से, यथा √(सि) (या **सा**) बाँधना से **सिषेत्**; √(मी) डकारना से **अमीमेत्**; √(प्री) से (ऊपर निर्दिष्ट **अपिप्रयन्** के साथ) **अपिप्रेस्**; (और **दीधी** प्रभृति से अनद्यतन तुल्य रूपवाले होते हैं, ६७६)। पुनः, √(च्यु) से संयोजन-स्वर **इ** के साथ **अचुच्यवीत्** और **अचुच्यवीतन** बनाये जाते हैं। इन रूपों में से कुछ में अनिवार्यतः णिजन्त अथवा निश्चिततः लुङ् प्रयोगिता विद्यमान है, और यह अत्यन्त संदिग्ध है कि वे परोक्ष प्रक्रिया में न रखे जाँय।

आ—उत्तरकालिक भाषा से केवल **अशिश्रियत्** आदि (अन्य० बहुव०, या **—युस्**) और **अदुद्रुवत्** उद्धरणीय हैं।

साभ्यास लुङ् के प्रकार

८६९—अ–अन्य भूतार्थ रूपनिर्माणों की तरह इस लुङ् के आगमविहीन निश्चयार्थ पुरुष लेट्-जैसे प्रयुक्त होते हैं, और ये प्रामाणिक लेटों की अपेक्षा अत्यधिक प्रचलित हैं।

आ—द्वितीय कोटि के केवल **रीरधा** (उत्तम० एकव०); **तीतपासि**; **चीक्लृपाति** और **सीषधाति**, और **पिस्पृशति** (जैसे कि **अशिश्नत्** की तरह निश्चयार्थ **अपिस्पृक्** के अनुरूपी) होते हैं; और संभवतः आत्मनेपदी उत्तम० एकव० **शश्वचै**।

इ—आगमविहीन निश्चयार्थ रूपों में स्वरपात सामान्यतः अभ्यास पर होता है: यथा, **दीधरस्**, **नीनशस्**, **जीजनत्**, **पीपरत्**; **जीजनन्**; साथ ही **सिष्वप्**; किंतु दूसरी ओर **पीपरत्**, **शिश्रथस्** और **शिश्नथत्**, तथा **दुद्रवत्** और **तुष्टवत्** (जो संभवतः लिट् के अंतर्गत हैं, तुलना कीजिये ८१०) भी हम पाते हैं, देशी वैयाकरणों के अनुसार स्वरपात या तो धातुमूलक अक्षर पर अथवा इसके उत्तरवर्ती पर होता है।

८७०—विधिलिङ्-रूप तो विरलतर होते हैं। न्यूनतम संदिग्ध प्रयोग आत्मनेपदी 'आशीर्लिङ्' रीरिष्ट (रिरिषीष्ट ऊपर सासहीष्ट के साथ लिट् जैसा प्रतिष्ठित किया गया है : ८१२ आ) है। चुच्युवीमहि और चुच्यवीरत या तो प्रस्तुत से अथवा परोक्ष प्रक्रिया से संवद्ध होते हैं।

८७१—लोट् रूपों में असंदिग्ध रूप पूपुरन्तु और शिश्रथन्तु हमें मिलते हैं। साथ ही जिगृतम् और जिगृत तथा दिधृतम् और दिधृत तथा जजस्तम् (सबके सब केवल ऋ० वे०), और संभवतः सुषूदत (अ० वे०) अजीगर् और अदीधर् निश्चयार्थक रूपों (संयोजन-स्वर के विना) के अनुरूपी जैसे यहाँ निर्दिष्ट किये जा सकते हैं : इसका ह्रस्व अभ्यास-स्वर और इनका उदात्त घनिष्ठ रूप से इन्हें साभ्यास लङ् रूपों के (६५६ नि० वि०) सम कर देते हैं, जिनसे हम संभवतः इस लुङ् को अंततः संवद्ध मान सकते हैं।

८७२—इस द्वित्ववाले लुङ् से संवद्ध कोई कृदन्तक्रियारूप नहीं पाया जाता है।

८७३—धातुओं की संख्या जिनसे यह लुङ् रूप पूर्वतर भाषा में प्राप्त है, लगभग एक सौ वीस हैं। उत्तरकालिक संस्कृत में यह असामान्य है; ऊपर निर्दिष्ट उत्तरकाल की ग्रंथमाला में (८२६) यह केवल दो वार आता है; और रामा० महाभा० तथा श्रेण्य साहित्य में यह किन्हीं पचास धातुओं से उद्धरणीय प्राप्त हुआ है।

३—सिजागम या सोष्म लुङ्

८७४—अ-इस लुङ् के सभी भेदों का सामान्यकाल-चिह्न स् (ष् में परिवर्तनीय, १८०) होता है जो काल-प्रकृति के निर्माण में धातु में जोड़ा जाता हैं।

आ—यह स्-ध्वनि वर्तमान-प्रक्रिया के वर्ग-चिह्नों में कोई सादृश्य नहीं रखती है; किंतु इसकी तुलना उससे की जा सकती है जो (और उसी तरह समान संयोजन-स्वर इ से युक्त अथवा रहित) भविष्यकाल-प्रक्रिया (९३२ नि० वि०) की तथा सन्नन्त क्रियारूप (१०२७ नि० वि०) की प्रकृतियों में देखी जाती हैं।

इ—इस प्रकार सवलीकृत धातु में आगम का पूर्व योग होता है और गौण तिङ्प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

८७५—कुछ धातुओं में स्-युक्त काल-प्रकृति (नित्य रूप से क्ष् अन्तवाली) अ द्वारा और भी वर्धित होती है, और रूपविधान प्रायः द्वितीय या अ—क्रिया-रूप के लङ् के-जैसा होता है।

८७६—अ—अत्यधिक स्थलों में सिन्ध्वनि काल-प्रकृति का अन्त्य होती है, और रूपविधान प्रथम या अ-भिन्न क्रियारूप के लङ् के-जैसा होता है।

आ—पुनः धातु के अन्त्य में अव्यवहित रूप से स् के लगने अथवा काल-चिह्न **इष्** बनानेवाले सहायक स्वर **इ** से युक्त होने के अनुसार ये प्रायः समान और स्पष्टतः विशिष्ट दो वर्गों में विभक्त होते हैं। अन्ततोगत्वा, इस **इष्** के पूर्व धातु बहुत कम स्थलों में स् द्वारा विस्तारित होती है जिससे सम्पूर्ण योग **सिष्** बनता है।

८७७—परिणामतः, **स्**-लुङों के भेदों का निम्न विभाजन हमें प्राप्त होता है :

(क) सीधे **स्** में जुड़े प्रत्ययों से युक्त :

४—धातु के बाद मात्र **स्** के साथ **स्-लुङ्**

५—स् से पूर्व इ के साथ : **इष्**-लुङ्

६—वही, धातु के अन्त में स् के साथ : **सिष्-लुङ्**

(ख) प्रत्ययों से पूर्व स् में जुड़े अ के साथ :

७—स्-ध्वनि और अ के साथः **स-लुङ्**

अ—चतुर्थ और पंचम रूपों के पार्थक्य के विषय में यह सामान्यतया कहा जा सकता है कि उन धातुओं में लुङ् के लिए सहायक इ के ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है, जिनके अन्य रूपनिर्माणों में भी यह गृहीत है; किंतु इस आनुरूप्य को लेकर किसी प्रकार के निश्चित नियमों का निर्धारण असंभव है। तुलना कीजिए ९०३।

४—स्-लुङ्

८७८—इस लुङ् की काल-प्रकृति सागम-धातु में स् लगाने से बनाई जाती है, जिस धातु का स्वर सामान्यतया सबल कर दिया जाता है।

८७९—धात्वच् के सबलीकरण के प्रसंग में सामान्य नियम ये होते हैं :

अ—(ऋ को सम्मिलित कर) अन्त्य अच् परस्मैपद में वृद्धि-विकार का ग्रहण करता है और (ऋ को छोड़कर) आत्मनेपद में गुण का : यथा, √(नी) ले जाना परस्मैपदी प्रकृति **अनैष्**, आत्मनेपदी **अनेष्**; √(श्रु) सुनना से **अश्रौष्** और **अश्रोष्**; √(कृ) करना से **अकार्ष्** और **अकृष्**।

आ—मध्यम स्वर परस्मैपद में वृद्धि-परिवर्तन प्राप्त करता है और आत्मनेपद में अपरिवर्तित बना रहता है : इस प्रकार √(छन्द्) प्रतीत होना से परस्मैपदी प्रकृति **अच्छान्त्स्**, आत्मनेपदी प्रकृति **अच्छन्त्स्**; √(रिच्) छोड़ना से **अरैक्ष्**

और **अरिक्ष्**; —(रुध्) रोकना से **अरौत्स्** और **अरुत्स्**; —(सृज्) फूट पड़ना से **अस्राक्ष्** और **असृक्ष्** ।

८८०—अ—लिङ् प्रत्यय सामान्य गौणवाले होते हैं, परस्मै० अन्य० बहुव० में **उस्** (**अन्** नहीं) और आत्मने० अन्य बहुव० में **अत** (**अन्त** नहीं) के साथ ।

आ—किंतु परस्मै० मध्यम० और अन्य एकव० के **स्** और **त्** के पूर्व उत्तर कालिक भाषा में ई का मध्यागम नित्य है, इस प्रकार प्रत्यय **ईस्** और **ईत्** बन जाते हैं ।

इ—पूर्वतम भाषा (ऋ० वे० की) में यह मध्यागम अप्राप्त है, द्रष्टव्य नीचे; ८८८ ।

८८१—अ—**त्** या **थ्** से आरंभ होनेवाले प्रत्ययों से पूर्वकाल-चिह्न **स्** धातु के अन्त्य व्यंजक के बाद (२३३ इ-उ) लुप्त हो जाता है—यदि यह **र्** या **न्** या **म्** (अनुस्वार में परिवर्तित) न हो ।

आ—इसी प्रकार का लोप व्यंजन के बाद **ध्वम्** से पूर्व होता है; और स्वर के बाद स्-ध्वनि या तो लुप्त हो जाती है या समीकृत (वैयाकरणों के निबन्धनों के अनुसार **ध्व्** और **द्ध्व** की तदनुरूपता और पाण्डुलिपियों के व्यवहार से किसी का निर्धारण करना असंभव हो जाता है, २३२); तब प्रत्यय **ढ्वम्** हो जाता है, बशर्ते स्-ध्वनि, यदि सुरक्षित है, **ष्** हो गयी हो (२२६ इ) : इस प्रकार **अस्तोढ्वम्** और **अवृढ्वम्** (साथ ही **अस्तोषत** और **अवृषत**); **दृढ्वम्** (√(दृ) देखना, श० ब्रा० एक बार) जो **दृथास्** (मध्यम० एक०) के साथ उसी प्रकार का संबंध रखता है जिस प्रकार **अवृढ्वम्** और **अवृषत** अग्नि और **अवृथास्** के साथ; तथा **कृढ्वम्** (मनु०) ।

इ—वैयाकरणों के अनुसार त् और थ् के पूर्व स् का लोप ह्रस्व स्वर के बाद भी होता है (केवल आत्मनेपदी मध्यम० और अन्य एकव० में ऐसी स्थिति प्राप्त होती है); किंतु ऊपर हम देख चुके हैं (८३४ अ) कि इसे धातु-लुङ् के रूपों के उन पुरुषों में आदेश रूप मानना ही अपेक्षित है । किंतु न तो पूर्वतर-कालिक और न उत्तरकालिक भाषा में इन प्रत्ययों से पूर्व ह्रस्वस्वर के बाद सुरक्षित स् वाले लुङ्रूप का कोई उदाहरण मिलता है ।

ई—धातु के अन्त्य सघोष महाप्राण के बाद उन प्रत्ययों से पूर्व की स्-ध्वनि का नित्य लोप भारतीय वैयाकरण मानते हैं, उन स्थलों में प्रत्यय **थ्** या **त्** के साथ महाप्राण की सन्धि सामान्य नियम के अनुसार (१६०) होती है : यथा **अरौत्स्** प्रकृति से, **अरौध्-स्** के लिए, **अरौद्ध** बनाया जाता है, मानो सीधे

अरौध्+त से। इस प्रकार के रूप का कोई उदाहरण साहित्य से उद्धरणीय नहीं है; किंतु अन्य तुल्य प्रयोगों की प्राप्ति से संधि प्रतिष्ठित होती है (२३३ ऊ)। इसी प्रकार आत्मनेपद में **अरुत्स्+त** अरुद्ध होता है जैसे कि अरुध्+त से हो; किंतु अन्य सभी रूप धातु-लुङ् के-जैसे भी माने जा सकते हैं। वे, जो प्रयोग में प्राप्त हैं, ऊपर दिये जा चुके हैं (८३४ ई); संभवतः ये कम-से-कम आंशिक रूप में इस लुङ् के अन्तर्गत होते हैं।

उ—**गम्, तन्, मन्** तीन नासिक्य धातुओं से आत्मने॰ मध्यम॰ और अन्य॰ एकव॰ पुरुष **अगथास्** और **अगत, अतथास्** और **अतत,** तथा **अमत** (**अमथास्** अनुद्धरणीय) बनाये जाते हैं जो देशी वैयाकरणों द्वारा स्-लुङ्रूपों-जैसे गृहीत हैं, अपने अन्त्य धातु-नासिक्य के लोप के वाद ह्रस्व स्वर के परवर्ती स् के भी लोप के साथ बने हुए हैं। निस्संदेह इन्हें धातुलुङ् में निर्दिष्ट करना अधिक संगत है। किंतु जे॰ ब्रा॰ में —**(तन्)** से अनुरूपी उत्तम॰ एकव॰ **अतसि** मिलता है।

८८२—सिजागम लुङ् के इस प्रभेद के रूपविधान के उदाहरणस्वरूप हम **नी** ले जाना और **छिद्** काटना, धातुओं को प्रस्तुत कर सकते हैं। यथा :

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव॰	द्विव॰	बहुव॰	एकव॰	द्विव॰	बहुव॰
उ॰	अ॑नैषम्	अ॑नैष्व	अ॑नैष्म	अ॑नेषि	अ॑नेष्वहि	अ॑नेष्महि
म॰	अ॑नैषीस्	अ॑नैष्टम्	अ॑नैष्ट	अ॑नेष्ठास्	अ॑नेषाथाम्	अ॑नेढ्वम्
अ॰	अ॑नैषीत्	अ॑नैष्टाम्	अ॑नैषुस्	अ॑नेष्ट	अ॑नेषाताम्	अ॑नेषत

परस्मैपद

	एकव॰	द्विव॰	बहुव॰
उ॰	अ॑च्छैत्सम्	अ॑च्छैत्स्व	अ॑च्छैत्स्म
म॰	अ॑च्छैत्सीस्	अ॑च्छैत्तम्	अ॑च्छैत्त
अ॰	अ॑च्छैत्सीत्	अ॑च्छैत्ताम्	अ॑च्छैत्सुस्

आत्मनेपद

उ॰	अ॑च्छित्सि	अ॑च्छित्स्वहि	अ॑च्छित्स्महि
म॰	अ॑च्छित्थास्	अ॑च्छित्साथाम्	अ॑च्छिद्ध्वम्
अ॰	अ॑च्छित्त	अ॑च्छित्साताम्	अ॑च्छित्सत

अ—√**(रुध्)** रोकना से परस्मै॰ मध्यम॰ और अन्य॰ द्विव॰ तथा आत्मने॰ मध्यम॰ और अन्य॰ एकव॰ **अ॑रौद्धम्, अ॑रौद्धाम्, अ॑रौद्ध,**

अरुद्धास्, अरुद्ध होंगे; √(सृज्) फूट पड़ना से अस्राष्टम्, अस्राष्टाम् अस्राष्ट, अस्रष्टास्, असृष्ट; √(दृश्) देखना से अद्राष्टम् आदि (यथा सृज् से)। किन्तु √(कृ) करना से परस्मैपद में वे ही रूप अकार्ष्टम्, अकार्ष्टाम्, अकार्ष्ट; √(तन्) फैलाना से ये अतांस्तम्, अतांस्ताम्, अतांस्त होते हैं।

८८३—(अच्छैत्तम्, अच्छैत्ताम्, अच्छैत्त) परस्मैपदी पुरुषों में स् का लोप अत्यन्त विरल प्रयोग का विषय होता है; सभी उद्धरणीय उदाहरण ऊपर (२३३ उ) दिये गये हैं। आत्मनेपद में तथाविध लोप के लिए, देखिये ८८१। छा० उप० में अवात्स्तम् (√(वस्) वसना) के लिए अवास्तम् दो बार आता है : इसके सिन् के पूर्ण लोप का अन्य प्रयोग तथा अपने मूलरूप में धात्वन्त का परिणामी पुनःस्थापन माना जा सकता है।

८८४—आ अंतवाली कुछ धातुएँ आत्मनेपदी रूपविधान में आ को इ में दुर्बल कर देती हैं (जैसा कि धातु-लुङ् में भी; ऊपर ८३४ अ) : ये स्था, दा और धा मानी जाती हैं; प्राचीनतर भाषा में √(दा) देना से अदिषि और अदिषत (और अदिषि संभवतः एक बार √(दा) बाँधना से), √(धा) रखना से अधिषि और अधिषत (विधिलिङ् धिषीय के साथ) तथा √(गा) (अधि के साथ) जाना से अगीष्ठास् और अगीषत।

अ—फलतः, वैयाकरणों के अनुसार दा के लुङ् का आत्मनेपदी रूपविधान होगा : अदिषि, अदिथास्, अदित; अदिष्वहि, अदिषाथाम्, अदिषाताम्; अदिष्महि, अदिढ्वम्, अदिषत।

८८५—परिवर्तनीय ॠ अंतवाली धातुओं (तथाकथित ॠ अंतवाली धातुओं, २४२) से आत्मनेपदी रूपों में इस स्वर का परिवर्तन ईर् में वैयाकरणों ने माना है : यथा (√(स्तॄ) से) अस्तीर्षि, अस्तीर्ष्ठास् इत्यादि; किंतु इन रूपों में केवल अकीर्षत, पं० ब्रा०, प्राचीनतर भाषा में पाया जाता है।

८८६—प्राचीनतर भाषा में स्-लुङ् लगभग एक सौ चालीस धातुओं से बना है (ऋ० वे० में लगभग सत्तर से; अ० वे० में प्रायः पचास से, जिनमें पंद्रह ऋ० वे० में प्राप्तों से विशिष्ट); तथा रामा० महाभा० और श्रेण्य साहित्य केवल बहुत छोटी संख्या का योग करते हैं। यह वेद में प्रकृति-रूप-निर्माण और रूपविधान की कुछ विशिष्टताएँ रखता है, साथ ही प्रकारार्थों की सम्पूर्ण श्रेणी भी····जिनमें से आत्मनेपदी विधिलिङ् उत्तरकाल में 'आशीर्लिङ्' के एक अंश—जैसा प्रतिष्ठित है (किंतु द्रष्टव्य ९२५ आ)।

८८७—प्रकृति-रूपनिर्माण की अनियमितताएँ यों होती हैं :

अ—धात्वक्षर का सबलीकरण यदा-कदा अनियमित रूप से होता है अथवा यदा-कदा नहीं होता : जैसे—**अयोक्षीत्** (ऐ० ब्रा०), **छेत्सीस्** (ब्रा० सू०; महाभा० में मिलता है, जहाँ पुनः **योत्सीस्** प्राप्त है), **रोत्सीस्** (काठ० उप०) **अमत्सुस्** (ऋ० वे०); **अयांसि** और **अरौत्सि** (ऐ० ब्रा०), **असाक्षि** प्रभृति (वे० ब्रा०; √(**सह्**)), **मांस्त** (अ० वे०) और **मांस्ताम्** (तै० आ०); **लोप्सीय** (उप०); तथा महाभा० में **द्रोग्धास्** प्राप्त है। √(**सज्**) से **साङ्क्षीत्** (उप० प्रभृति) बना है, और √(**मज्ज्**) से **अमाङ्क्षीत्** (अनुद्धरणीय)। रूप **अयुङ्क्ष्महि** (भाग० पु०) निस्संदेह भ्रामक पाठ है।

आ—धातुमूलक अन्त्य नासिक्य **गम्** से **अगस्महि** (ऋ० वे०) और **गसाथास्** (तै० आ०) में तथा √(**मन्**) और √(**वन्**) से **मसीय** और **वसीमहि** (ऋ० वे०) विधिलिङ्-रूपों में लुप्त होता है।

इ—**हू, धू** और **नू** धातुओं से आत्मनेपद में **ओ** की जगह **ऊ** प्राप्त है : यथा, **अहूषत, अधूषत, अनूषि** तथा **अनूषाताम्** और **अनूषत**; √(**धुर्**) (या **धूर्व्**) **अधूर्षत** बनाती है।

ई—श० ब्रा० में **अत्रास्ताम्** के √(**त्रा**) के लिए **अत्रासताम्** एक बार प्रयुक्त है।

८८८—रूपविधान को लेकर प्राचीनतर भाषा की मुख्य विशिष्टता परस्मै० मध्यम० और अन्य० एकव० में **इ** का अधिक अभाव तथा व्यंजनप्रत्यय का और कभी-कभी धात्वन्त्यों (१५०) का परिणामी लोप है। इ-रहित रूप जैसे केवल रूप हैं जो ऋ० वे० और काठक० में पाये जाते हैं, और ये अ० वे० और तै० सं० में अन्य रूपों से संख्या में अधिक होते हैं; ब्राह्मणों में ये अपेक्षाकृत विरल हो जाते हैं। (केवल एक, **अद्राक्**, गो० ब्रा० में आता है; एक, **अयाट्** कौ० ब्रा० में; तथा दो, **अद्राक्** और **अयाट्** श० ब्रा० में; पं० ब्रा० में कोई प्राप्त नहीं है)।

८८९—यदि धातु स्वरान्त हो, तो केवल प्रत्यय का व्यंजन नियमतः लुप्त होता है : यथा, √(**प्रा**) से (**अप्रास्-स्** और **अप्रास्-त्** दोनों के लिए) **अप्रास्**; और इसी प्रकार √(**हा**) से **अहास्**;—√(**जि**) से **अजैष्-त्** के लिए) **अजैस्**; तथा इसी ढंग से √(**च्चि**) से **अच्चैस्** और √(**नी**) से **नैस्** (आगमविहीन); तथा (**यु**) से (**अयौष्-त्** के लिए) **यौस्**।

अ—किंतु (जैसा-कि अन्य स्थलों में, ५५५ अ) काल-चिह्न के क्षय से तिङ्प्रत्यय कभी-कभी बना रहता है; और हमें अन्य० एकव० में √(**जि**) से

(**अजैस्** और **अजैषीत्** के साथ) **अजैत्** प्राप्त है; और इसी प्रकार **अचैत्, अश्रैत्, अहैत्, नैत** (इदन्त और ईदन्त धातुओं से भिन्न धातुओं के कोई उदाहरण नहीं मिलते हैं) : मध्यम० एकव० **अयास्** और **अरास्**, तुलनीय, ८९० आ ।

८९०—यदि धातु (अपने सरल अथवा सबलीकृत रूप में) व्यंजनान्त हो, तो काल-चिह्न प्रत्यय के साथ लुप्त होता है । यथा, √(**भृ**) से (**अभार्ष्-त्** के लिए : साथ ही **अभार्षम्, अभार्ष्म**) **अभार्**; इस प्रकार के अन्य प्रयोग **अहार्**, और (**अर्** अंत धातुओं से) **अक्षार्, अत्सार्, अस्वार्, ह्वार्** होते हैं । पुनः; √(**रिच्**) से (५८५ अः **अरैक्ष्-त्** के लिए) **आरैक्** है; तुल्य प्रयोग √(**श्वित्**) से **अश्वैत्**, और (मध्यग उ वाली धातुओं से) √(**द्युत्**) से **अद्यौत्**, √(**रुध्**) से **अरौत्**, और √(**मुच्**) से **मौक्** होते हैं । पुनः, तालव्यों और **ह्** में अंत वाली धातुओं से, √(**पृच्**) से **अप्राक्**, √(**सृज्**) से **अस्राक्**, √(**भज्**) से **अभाक्**, √(**दृश्**) से **अद्राक्**, √(**दह्**) से **अधाक्** होते हैं; किंतु अन्त्य के भिन्न परिवर्तन के साथ √(**यज्**) से **अयाट्**, √(**पृछ्**) से **अप्राट्**, √(**वह्**) से **अवाट्**, और √**सृज्** से **अस्राट्**; किंतु (ऊपर, १४६अ) √(**सृज्**) से **स्राक्षस्** के लिए **स्रास्** दो बार अ० वे० प्रयुक्त प्रतीत होता है; ऋ० वे० में √(**यज्**) से **अयास्** भी दो बार प्राप्त है । पुनः नासिक्यान्त धातुओं से, √(**तन्**) से **अतान्**, √(**खन्**) से **खान्**, √√(**यम**) और **नम्** (१४३ अ) से **अयान्** और **अनान्** मिलते हैं ।

आ—पुनः, यदि धातुएँ संयुक्त व्यंजन में अंत होती हैं, इन दोनों में से द्वितीय काल-चिह्न और प्रत्यय के साथ-साथ लुप्त हो जाता है : यथा—√(**छन्द्**) से (**अच्छान्त्स्-त्** के लिए : **अच्छान्त** और **अच्छान्त्सुस्** के साथ) **अच्छान्**, और इस प्रकार के अन्य रूप **अक्रान्, अस्कान्** और **अस्यान्** होते हैं ।

८९१—प्राचीनतर रूपविधान की इस विशिष्टता का अवशेष उत्तरकालिक भाषा तक मध्यम० एकव० में √(**भी**) से **भैस्** में सुरक्षित है ।

स्-लुङ् के प्रकार

८९२—आगम रहित निश्चयार्थ रूप लेट् अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, विशेषतः निषेधार्थक **मा** के बाद; और ये असामान्य नहीं हैं । तथापि, उदात्त-युक्त उदाहरण अत्यधिक विरल हैं; केवल आत्मनेपदी **वं॑सि** मिला है; इसके आधार पर स्वराघात धात्वक्षर पर होगा । भारतीय वैयाकरणों के अनुसार यह या तो धातु पर पड़ेगा अथवा तिङ्प्रत्यय पर ।

८९३—शुद्ध लेट्रूप ऋ० वे० में विरल नहीं है, किंतु परवर्ती वैदिक ग्रंथों में निश्चित रूप से कम सामान्य होते हैं, और ब्राह्मणों के अत्यन्त विरल भाव से प्राप्त हैं। ये धात्वच् के गुण-सबलीकरण के साथ परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों में वनाये जाते हैं तथा स्वरपात धातु पर होता है।

अ—मुख्य तिङ्प्रत्ययों के साथ रूप होते हैं, (परस्मैपद में) **स्तोषाणि; दर्षसि; नेषति, पर्षति, पासति, मत्सति, योषति, वक्षति, सक्षति; दासथस्, धासथस्, पर्षथस्, वक्षथस्, वर्षथस्; पासतस्, यंसतस, यक्षतस, वक्षतस्; धासथ; नेषथ, पर्षथ, मत्सथ;**—आत्मनेपद में, **नंसै, मंसै; मंससे; क्रंसते, त्रासते, दर्षते, मंसते, यक्षते, रासते, वंसते, सक्षते, हासते; त्रासाथे** (**त्रासैथे** नहीं, जिसकी अपेक्षा हम करते); **नंसन्ते, मंसन्ते:** और अन्य० एकव० में पूर्णतर तिङ्प्रत्यय के साथ, **मांसातै**।

आ—गौण तिङ्प्रत्ययों वाले रूप होते हैं (केवल परस्मैपद में) : **जेषस्, वंक्षस, दर्षत, नेषत्, पक्षत्, पर्षत्, प्रेषत्, यंक्षत्, योषत्, वंसत्, वंक्षत्, वेषत्, सत्सत्, छन्त्सत्** प्रभृति (अन्य लगभग बीस); **यक्षताम्; वंसाम, साक्षाम, स्तोषाम; पर्षन, यंसन्-योषन्, रासन्, वक्षन्, शेषन्, श्रोषन्**। इनमें **यक्षत्** और **दक्षत्** अविरलतया ब्राह्मणों में प्राप्त होते हैं; और दूसरे शायद ही कादाचित्क भाव से अधिक।

८९४—अनियमितताओं में से ये निर्देष्टव्य हैं :—

अ—**दृक्षसे** और **पृक्षसे** (आत्मने० मध्यम० एकव०) रूपों में गुण-सबलीकरण अनुपलब्ध है।

आ—**जेषम्, स्तोषम्** और **योषम्** (अ० वे० **यूषम्, अनूषत** आदि की तरह ओ के लिए ऊ के साथ) मध्यम और अन्य के सादृश्य के निवन्धन द्वारा निर्मित उत्तमपुरुषरूप प्रतीत होते हैं—अन्यथा ये वृद्धि-सवलीकरण के पूर्ववर्ती वस्तुस्थिति के अवशेष हों : जिस कोटि में इनके साथ **जेष्म** की तुलना की जा सकती है (हम **जैष्म** या **जेषाम** की अपेक्षा करेंगे)।

इ—आ—अन्तवाली धातुओं से संदिग्ध प्रकृति के कुछ रूप वनते हैं : यथा, **येषम्** (एकमात्र प्रयोग ऋ० वे० में), **ख्येषम्, ज्ञेषम्, गेषम्** और **गेष्म, देष्म, सेषम** और **सेत्, स्थेषम्** और **स्थेषुस्**। इनकी प्रयोगिता विधिलिङ् की होती है। **जेषम्** और **जेष्म** का सादृश्य आ–धातुओं के इ–रूपों से इनकी व्युत्पत्ति की संभावना ध्वनित करता है; अथवा स्–ध्वनि आशीर्लिङ् लक्षण वाली हो सकती है (यथा, **या-ई-स्-अम्**)। ऐसा मानना कि ये वस्तुतः **इष्–लुङ्** से संवद्ध हैं, अत्यधिक असंभव लगता है।

ई—ऋ० वे० में से-अन्तवाले विलष्ट थोड़े से आत्मनेपद उत्तमपुरुष-रूप प्राप्त हैं जिन्हें यहाँ निर्दिष्ट करना संगत है। ये होते हैं : (१) शुद्धधातु से; **कृषे, हिषे** (और **ओहिषे** ?), **स्तुषे**; (२) वर्तमानप्रकृतियों से, **अर्चसे, ऋञ्जसे, यजसे, गायिषे, गृणीषे** और **पुनीषे**। इनमें निश्चयार्थ वर्तमान की प्रयोगिता विद्यमान है। तुलनीय नीचे, ८९७ आ।

८९५—इस लुङ् के विधिलिङ्रूप केवल आत्मनेपद में बने होते हैं, और इनमें मध्यम० और अन्य० एकवचन में तिङ्प्रत्ययों से पूर्व आशीर्लिङ् **स्** नित्य आता है। प्राचीनतर भापा में प्रयोग में पाये गये वे रूप हैं : **दिषीय, धिषीय, भक्षीय मसीय** (**मंसीय** के लिए), **मुक्षीय, रासीय, लोप्सीय, साक्षीय, स्तृषीय; मंसीष्ठाम्; दार्षीष्ट, भक्षीष्ट, मंसीष्ट, मृक्षीष्ट; भक्षीमहि, धुक्षीमहि, मंसीमहि, वंसीमहि, वसीमहि सक्षीमहि; मंसीरत**। पं० ब्रा० में **भुक्षिषीय** प्राप्त है जिसे सिप्-लुङ् के अन्तर्गत मानना चाहिए। ऋ० वे० रूप **त्रासीथाम्** (**त्रासीयाथाम्** या **त्रासाथाम्** के लिए) विकीर्ण असंगति है।

अ—यह विधिलिङ् उत्तरकालिक भाषा के मान्य आशीर्लिङ् के एक अंश का निर्माण करता है; देखिए नीचे ९२३, ९२५,आ।

८९६—इस लुङ् से लोट् पुरुष अत्यधिक विरल हैं। परस्मै० मध्यम० एकव० **नेष** और **पर्ष** तथा मध्यम० वहुव० **यंसत** (अ-प्रकृतियों से और इसलिए धातु-जैसी लुङ्-प्रकृति की प्रक्रिया रखने वाला) तथा आत्मने० अन्य० एकव० **रासताम्** और वहुव० **रासन्ताम्** (जिसके विषय में वही कहा जा सकता है) हमें प्राप्त होते हैं।

स्—लुङ् के कृदन्तक्रियारूप

८९७—अ—परस्मैपदी कृदन्तक्रियारूप **दक्षत्** या **धक्षत्** और **सक्षत्** (दोनों ऋ० वे०) होते हैं।

आ—यदि **रिञ्जसे** (ऊपर, ८९४ ई) को स्-लुङ्-जैसा माना जाय तो **रञ्जसान** स्-लुङ् कृदन्तक्रियारूप है; सजातीय स्वरूप वाले, प्रत्यक्षतः, होते हैं : **अशसान, ओहसान, ऋयसान, धीयसान, मन्दसान, यमसान; रभसान वृधसान; सहसान शवसान**; सब-के-सब ऋ० वे० में; साथ ही **नमसान; भियसान** अ० वे० में ऋ० वे० में एकवार **धीषमान** भी मिलता है, जो स्पष्टतः √(धी) के स्-लुङ् का अ—रूप है।

५—इष्लुङ्

८९८—इस लुङ् की काल-प्रकृति सामान्य काल-चिह्न स् को पूर्वसृष्ट सहा-

यक इ के योग से, जिससे इष् बन जाता है, धातु में जोड़ती है जो सामान्यतया सबलीकृत और आगम-युक्त होती हैं।

८९९—धातु के सबलीकरण को लेकर नियम ये होते हैं :

अ—अन्त्य अच् परस्मैपद में वृद्धि का वहन करता है और आत्मनेपद में गुण का : यथा, √(पू) पवित्र करना से **अपाविष्** और **अपविष्** √(तॄ) पार करना से परस्मै० **अतारिष्**; √(शी) लेटना से आत्मने० **अशयिष्**।

आ—मध्यग स्वर में गुण, यदि इसकी प्राप्ति हो, दोनों पदों में होता है : यथा, √(लिश्) विदीर्ण करना से परस्मै० और आत्मने० **अलेशिष्**; √(रुच्) चमकना से **अरोचिष्**; √(वृष्) बरसना से **अवर्षिष्**; किंतु √(जीव्) जीना से **अजीविष्**।

इ—मध्यग अ कभी-कभी परस्मैपद में दीर्घ कर दिया जाता है; किंतु अपेक्षाकृत अधिक सामान्य रूप में दोनों पदों में अपरिवर्तित बना रहता है।

ई—प्राचीनतर भाषा में धातुएँ जिनसे दीर्घीकरण प्राप्त है, होती हैं **कन्**, **तन्**, **रन्**, **स्तन्**, **स्वन्**, **हन्**, **व्रज्**, **सद्**, **मद्**, **चर्**, **त्सर्**, **स्वर्**, **ज्वल्**, **दस्**, **त्रस्**। **रन्**, **सन्**, **क्रम्**, **वद्**, **रक्ष** और **सह्** से दोनों कोटि के रूप मिलते हैं। √(मथ्) या **मन्थ्** से **मथिष्** और **मन्थिष्** दो प्रकृतियाँ बनती हैं।

९००—अ—अपवादों में उल्लेखनीय हैं : √(मृज्) में (अन्यत्र की तरह, ६२४) गुण की जगह वृद्धि होती है; यथा, **अमार्जिषस्**; परस्मैपद में गुण होने से √(स्तृ) से अस्तरीस् और √(शृ) से **अशरीत्** (**अशरैत्** भी अ० वे० में) प्राप्त हैं।

आ—धातु **ग्रभ्** या **ग्रह्** में (जैसा कि लृट् में, ९३६ उ, ९५६) स्-ध्वनि के पूर्व इ के स्थान में दीर्घ ई मिलता है : यथा, **अग्रभीष्म**, **अग्रहीष्ट**, **अग्रभीष्ट**। परिवर्तनीय ऋ अंतवाली धातुओं (तथाकथित ॠ अंतवाली धातुओं, २४२) और √(वृ) में वैयाकरणों के अनुसार इसी प्रकार का वैकल्पिक ग्रहण विहित है; किंतु ऐसी धातुओं से दीर्घ **ॠ** वाले कोई रूप उद्धरणीय प्राप्त नहीं हुए हैं। एक सूत्र (पा० गृ० सू०) में √(नी) से **अनयीष्ट** (निस्संदेह भ्रामक पाठ) एक बार पाया जाता है।

९०१—तिङ्प्रत्यय वे हैं जो पूर्ववर्ती रूपविधान में प्राप्त हैं (अन्य० बहुव० में **उस्** और **आत**)। किंतु मध्यम० और अन्य० एकव० में भाषा के पूर्वतम काल से ही **इष्-स्** और **इष्-त्** के संयोग **ईस्** और **ईत्** में संकुचित होते हैं।

अ—आत्मने० मध्यम० बहुव० नित्य इढ्वम् अंतवाला अपेक्षित है (या इष्-ध्वम् से इड्ढ्वम्, २२६); और वस्तुतः यह रूप मात्र उद्धरणीय उदाहरणों में प्राप्त है; यथा, अजनीढ्वम्, अर्तिढ्वम्, ऐन्धिढ्वम्, वेपिढ्वम; इस प्रसंग को लेकर देशी वैयाकरणों के नियमों के लिए, देखिए २२६ इ।

९०२—इष्-लुङ् के रूपविधान के उदाहरणों के लिए धातुएँ पू शुद्ध करना और बुध् जानना प्रस्तुत की जा सकती हैं। इस प्रकार :

परस्मैपद

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	अ॑पाविषम्	अ॑पाविष्व	अ॑पाविष्म
म०	अ॑पावीस्	अ॑पाविष्टम्	अ॑पाविष्ट
अ०	अ॑पावीत्	अ॑पाविष्टाम्	अ॑पाविषुस्
उ०	अ॑वोधिषम्	अ॑वोधिष्व	अ॑वोधिष्म
	आदि	आदि	आदि

आत्मनेपद

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	अ॑पविषि	अ॑पविष्वहि	अ॑पविष्महि
म०	अ॑पविष्ठास्	अ॑पविषाथास्	अ॑पविढ्वम्
अ०	अ॑पविष्ट	अ॑पविषाताम्	अ॑पविषत
उ०	अ॑वोधिषि	अ॑वोधिष्वहि	अ॑वोधिष्महि
	आदि	आदि	आदि

९०३—धातुओं की संख्या जिनसे इस लुङ् के रूप प्राचीनतर भाषा में देखे गये हैं, लगभग एक सौ पचास है (ऋ० वे० में लगभग अस्सी; अ० वे० में तीस से अधिक, जिनमें एक दर्जन ऋ० वे० में प्राप्त से विशिष्ट है); उत्तरकालिक ग्रंथ इनमें बीस से कम परिवर्धित करते हैं। इनमें आ-अंतवाली कोई धातुएँ नहीं होती हैं; किंतु अन्यथा ये रूप के प्रत्येक प्रभेद की पायी जाती हैं (विरलतम रूप से अन्त्य इ और ई में)। परस्मैपदी और आत्मनेपदी पुरुष सहज बनाये जाते हैं, किंतु एक ही धातु से अल्प मात्रा में ही, केवल लगभग पंद्रह धातुओं से परस्मैपदी और आत्मनेपदी दोनों रूप प्राचीनतर भाषा में मिलते हैं, और इनमें से एक भाग मात्र अपवाद के साथ एक अथवा अन्य वाच्य में।

अ—इष्-और स्-लुङ् के बीच प्रयोग निर्धारण का विधायक कोई नियम प्रतीत नहीं होता है; और कुछ स्थलों में एक ही धातु से दोनों कोटियों के रूप अपवाद स्वरूप देखे जाते हैं।

९०४—अनियमितताएँ यों रखी जा सकती हैं :

अ—संकुचित रूप **अक्रमीम्**, **अग्रभीम्** और **अवधीम्** (आगमरहित **वंधीम्** के साथ) परस्मैपद उत्तम० एकव० में मिलते हैं।

आ—अ० वे० में **अंशरीत्** के लिए **अंशरैत्** आता है; साथ ही (हस्त-लेखों के एक अंश में) **शरीस्** के लिए **शरैस्**, ऐ० ब्रा० में **अग्रहैषम्** पाया जाता है (साथ ही वृहदाकार रूप **अजग्रभैषम्** के लिए, देखिए ८०१ ओ)। तिङ्प्रत्यय में ह्रस्व इ के साथ **अजयित्** तै० सं० में मिलता है।

इ—अ० वे० एक वार **नुदिष्ठास्** गुण के विना प्राप्त है।

ई—**अतारिम** (ऋ० वे०), **अवादिरन्** (अ० वे०) और **बाधिथास्** (तै० आ०), यद्यपि इनमें स्-ध्वनि प्राप्त नहीं है, संभवतः इस लुङ् के अंतर्गत निर्दिष्ट किये जा सकते हैं : तुलनीय **अवित**, ९०८। इसी प्रकार के कुछ प्रयोग रामा० महाभा० में मिलते हैं, और ये समान संदिग्ध लक्षण वाले होते हैं; यथा, **जानिथास्**, **मादिथास्**, **वर्तिथास्**, **शङ्किथास्**, और (णिजन्त, १०४८) **अघातयिथास्**। **अगृहीताम्** और **गृहीथास्** तथा **गृहीत**, यदि **गृह्णी** के लिए भ्रामक पाठ नहीं हों, संभवतः अनियमित वर्तमान-रूप निर्माण हैं।

इष्-लुङ् के प्रकार

९०५—सामान्यतया इस लुङ् के आगमविहीन निश्चयार्थ रूप शुद्ध लेट्-रूपों की अपेक्षा अधिक प्रचलित होते हैं। उदाहरण, जो सभी पुरुषों के प्रयोग में प्राप्त हैं, होते हैं, परस्मैपद में : **शंसिषम्**, **वंधीम्**, **मंथीस्**, **वंधीस्**, **यांवीस्**, **सांवीस्**; **अंवीत्**, **जूर्वीत्**, **मंथीत्**, **वंधीत्**, **वेंशीत्**; **मर्धिष्टम्**, **दोषिष्टम्**, **हिंसिष्टम्** : **अविष्टाम्**, **जंनिष्टाम्**, **वाधिष्टाम्**; **श्रमिष्म**, **वादिष्म**; **वधिष्ट** और **वधिष्टन**, **मथिष्टन**, **हिंसिष्ट**; **ह्वारिषुस्**, **ग्राहिषुस्**;—आत्मनेपद में : **राधिषि**; **जनिष्ठास्**, **मर्षिष्ठास्**, **व्यथिष्ठास्**; **क्रमिष्ट**; **जंनिष्ट**; **पविष्ट**, **प्रंथिष्ट**, **मन्दिष्ट**; **व्यथिष्महि**। स्वरपात धात्वक्षर पर होता है (**तारिषुस्**, अ० वे० में एकवार, निस्संदेह अशुद्धि है)।

९०६—अ–मुख्य प्रत्ययों के साथ लेट्रूपों में केवल परस्मै० उत्तम० एकव० **दविषाणि** और आत्मने० उत्तम० बहुव० (अवर्धित ए के साथ) **याचिषामहे** और **सनिषामहे** मिलते हैं।

आ—गौण प्रत्ययों के साथ रूप परस्मै० मध्यम० और अन्य० एकव० में प्रायः सीमित हैं। ये प्राप्त हैं : अविपस् ; कानिपस ; तारिपस् ; रक्षिपस् ; वधिपस् ; वादिपस् ; वेपिपस् ; शंसियस् , कारिपत् ; जम्भिपत् ; जोपिपत् ; तक्षिपत् ; तारिपत् ; निन्दिपत् ; पारिपत् ; बोधिपत् ; मधिपत् ; याचिपत् ; योधिपत् ; रक्षिपत् ; वनिपत् ; व्यथिपत् ; शंसिपत् ; सनिपत् ; साविपत्। ये जैसा कि देखा जायेगा, पूर्ण नियमितता के साथ बनाये जाते हैं, प्रत्ययों से पूर्व इष् अंतवाली काल-प्रकृतियों में अ जोड़कर दूसरे पुरुप, जो प्रयोग में प्राप्त हैं, मात्र परस्मै० अन्य० बहुव० सनिपन् और आत्मने० संनिपन्त (और तै० सं० में ऋ० वे० के संदिग्ध वनुपन्त के लिए वनिपन्त प्राप्त है) होते हैं जो नियमित भी हैं। भविपात् (ऐ० ब्रा० एक बार) दोहरे प्रकार-चिह्न के साथ रूप का एकमात्र उदाहरण है; चनिष्ठत् (ऋ० वे०; जब कि सा० वे० इसके स्थान में जनिष्टत् है) एकदम विकृत रूप है। धात्वक्षर पर उदात्त नित्य है, और इसका अच् सामान्यतया निश्चयार्थ के अनुरूप होता है; किंतु असानिषम के विपरीत लेट् में हमें सन्-प्राप्त है (चय्-और रन्-के लिए, देखिए नीचे, ९०८)।

९०७—इस लुङ् का आत्मनेपदी विधिलिङ् उत्तरकालिक भाषा के मान्य आशीर्लिङ् के एक अंश को निर्माण भी करता है (९२३, ९२५ आ)। यह सभी युगों में खूब असामान्य होता है, ऋ० वे० में केवल पाँच धातुओं से बना है और अ० वे० में उन्हीं की दो से तीन विशेष धातुओं से (आठ में से छः इष्-रूपों का वहन करती हैं); तथा अवशिष्ट ग्रंथ, जितना कि परीक्षित हुआ है, केवल चार अन्य धातुओं का योग करते हैं। प्रयोग में पाये जाने वाले सभी रूप ये होते हैं : जनिपीय; इन्धिपीय; एधिपीय; रुचिपीय और रोचिपीय; ग्मिपीय; मोदिपीष्ठास् ; जनिपीष्ट; वनिपीष्ट; सहिपीवहि; इधिपीमहि; एधिपीमहि, जनिपीमहि; तारिपीमहि, मन्दिपीमहि, वन्दिपीमहि, वर्धिपीमहि, सहिपीमहि और साहिपीमहि। स्वरपात प्रत्यय पर होता है और इससे हम सर्वत्र धातु के दुर्बल रूप का अनुमान कर सकते हैं; किंतु प्रचलन इस प्रसंग में विविध देखा जाता है और प्रयोग इतने कम हैं कि किसी प्रकार का नियम नहीं बनाया जा सकता। यौगिक अ-प्रकृति से जनिपेयम् और—य रूप काठक में प्राप्त हैं।

९०८—√(अव्) से लेट्रूपों की एक श्रेणी हमें प्राप्त है : यथा, अविड्ढि, अविष्टु, अविष्टम् , अविर्त (यदि यह, जैसा संभव लगता है, अविष्ट के लिए असंगत रूप हो) और अविष्टन; इनमें से दो निर्भ्रांत लेट्

रूप के होते हैं। अन्य रूप केवल मध्यम० द्विव० और मध्यम० वहुव० में मिलते हैं और फलतः ये ऐसे होते हैं जो लोट्-जैसे प्रयुक्त लेट्-रूप भी हो सकते हैं (जो पुनः धात्वक्षर पर स्वरपात के चलते इन दोनों के लिए संभव है)। ये होते हैं, **क्रमिष्टम्, गमिष्टम्, चनिष्टम्, चयिष्टम्** (**अचायिषम्** के विपरीत), **तारिष्टम्, योधिष्टम्, वधिष्टम्, श्नथिष्टम्, रणिष्टन** (**अराणिषुस्** के विपरीत), **श्नथिष्टन**।

९०९—इष् के वाद कृदन्तक्रियारूप वाले प्रत्यय से युक्त कोई शव्द कहीं नहीं मिलते हैं।

९१०—यही एक मात्र लुङ् है जिसके रूप यौगिक और नामधातु क्रियारूपों में वनाये जाते हैं : देखिये नीचे, १०३५, १०४८, १०६८।

६–सिष्-लुङ्

९११—वैयाकरणों के अनुसार यह लुङ् केवल अकारान्त धातुओं (साथ ही **मि** निर्धारण करना, **मि** (या **मी**) क्षति पहुँचाना और **ली** लगना, जिनके रूप **आ** में प्रतिस्थापित होते हैं) तथा **नम्** झुकना, **यम्** पहुँचना और **रम्** प्रसन्न होना से वनाया जाता है, और यह केवल परस्मैपद में प्रयुक्त है और तद्रूपी आत्मनेपद **स्-रूप** वाला होता है (८७८ नि० वि०)। इसका रूपविधान ठीक **इष्-लुङ्** वाले की तरह होता है; इसलिए यह अनावश्यक है कि इसके उत्तम पुरुषों से अधिक इसके रूप दिये जाँय,—जो **या** जाना और **नम्** झुकना धातुओं से वनाये जा सकते हैं। इस प्रकार :

	एकव०	द्विव०	वहुव०	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	**अयासिषम्**	**अयासिष्व**	**अयासिष्म**	**अनंसिषम्**	**अनंसिष्व**	**अनंसिष्म**
	आदि	आदि	आदि	आदि	आदि	आदि

९१२—**सिष्-लुङ्** वस्तुतः **इष्-लुङ्** का उपभेद ही होता है; इसमें द्वितीय के काल-चिह्न और तिङ्प्रत्यय धातु, जो **स्** से युक्त होकर वर्धित हैं, के रूप में जुड़े होते हैं। यह प्राचीनतर भाषा में अत्यधिक विरलता लेकर प्राप्त है, जो ऋ० वे० में केवल **गा** गाना और **या** जाना धातुओं से वना है तथा अ० वे० में केवल **हा** छोड़ना से और निस्संदेह **प्या** भरना और **वन्** जीतना से भी (देखिए नीचे, ९१४ आ); अवशिष्ट प्राचीनतर ग्रंथ **ज्ञा** जानना (व्रा०), **ज्या** पराजित करना, **ध्या** ध्यान करना (श० व्रा० एक वार : प्रकाशन का पाठ–**धा** है) और **रम्** आनन्द लेना (सा० वे० : ऋ० वे० **रासीय** का असमीचीन भिन्नरूप) को जोड़ते हैं;

अन्य ब्राह्मण-रूप जो स्-लुङ् के भी हो सकते हैं, अद्रासीत्, अवासीत्, और अह्वासीत् हैं; तथा भुक्षिषीय (पं० ब्रा० सू०) √(भुज्) के अनियमित रूप-निर्माण-जैसा ग्रहण करना अपेक्षित है, अन्यथा हम भज् से भक्ष् की तरह यौगिक धातु भुक्ष् मानें। उत्तरकालिक भाषा में अन्य धातुओं से उद्धरणीय केवल ग्लासीस्, अध्यासीत्, अनंसीत्, म्लासीस्, और अम्नासिषुस् पाये गये हैं।

अ—कृदंत क्रियारूप हासमान और णिजन्त रूप हासयन्ति (ऋ० वे०) संकेत करते हैं कि अति प्राचीन काल में ही हास् में लुङ् के अतिरिक्त अन्य रूपों के लिए हा से भिन्न यौगिक धातु की प्रयोगिता आ गयी है।

९१३—प्राचीनतर निश्चयार्थ रूपों की सम्पूर्ण श्रेणी (मध्यम० और अन्य० एकव० को संदिग्ध मानकर छोड़ देने पर) यों होती है : अगासिषम्, अज्ञासिषम्, अयासिषम्, अध्यासिषम्; अज्यासिष्टाम्, अयासिष्टाम्; अज्ञासिष्म; अज्ञासिष्ट, अयासिष्ट; अगासिषुस्, अयासिषुस् (√(अक्ष्) प्राप्त करना से आक्षिषुस् होता है)।

अ—आगम के बिना रूप ये होते हैं : ज्ञासिषम्, रंसिषम्, हासिषम्; हासिष्टम्; हासिष्टाम्; हासिषुस्, गासिषुस्, ज्ञासिषुस्। स्वरपात निस्संदेह धात्वक्षर पर होगा।

९१४—अ-शुद्ध लेट् रूपों में दो गासिषत् और यासिषत् (दोनों ऋ० वे०) प्राप्त हैं।

आ—विधिलिङ् रूप अपेक्षाकृत कम असाधारण नहीं होते : यथा, यासिसीष्टास् और प्यासिषीमहि (जिसके लिए अ० वे० हस्तलेखों का पाठ प्याशिषीमहि है, जो प्रकाशन में प्यायिष् में परिवर्तित कर दिया गया है); तथा वंशिषीय (अ० वे० दो बार) को निस्संदेह वंसिषीय द्वारा शुद्ध करना चाहिए, और यह यहीं आता है। भुक्षिषीय के लिए, देखिए ऊपर, ९१२।

इ—यासिष्टम् (अविष्टम् की तरह, ९०८) का स्वरपात इसके शुद्ध लोट् रूप होने का सूचक है; और यासीष्ट (ऋ० वे०, एक बार) वस्तुतः वैसा ही होता है, जहाँ इ के लिए नियम विरुद्ध ई प्राप्त है।

९१५—इस लुङ् के आत्मनेपदी रूप, यह देखा जायेगा, केवल विधिलिङ् से प्राप्त होते हैं; किंतु संपूर्ण रूपनिर्माण की बड़ी विरलता को देखकर हमारा यह निश्चित कर लेना बिलकुल असंगत होगा कि प्राचीन भाषा में-सिषि,-सिष्ठास् प्रभृति वाले आत्मनेपदी पुरुष इष्-लुङ् के -इषि, -इष्ठास् वालों और अन्य रूपों की तरह विहित नहीं थे।

७—स् लुङ्

९१६—उत्तरकालिक भाषा में धातुएँ, जिनसे इस लुङ् का निर्माण विहित हैं, **श, ष्** या **ह्** अंतवाली होती हैं—वे सभी ध्वनियाँ जो काल-चिह्न के साथ मिलकर **क्ष्** बनाती हैं; और उनमें **इ, उ,** या **ऋ** धातुमूलक अच् जैसा प्राप्त है।

अ—वे इस प्रकार हैं: **दिश्, रिश्, लिश्, विश्, क्लिश्, क्रुश्, रुश्, मृश्, स्पृश्; त्विष्, द्विष्, श्लिष्, विष् कृष्; दिह्, मिह्, लिह्, गुह्, दुह्, रुह्, तृह् वृह् स्तृह्;** उनमें से लगभग आधी से **स** रूप, पूर्वकालिक और उत्तरकालिक, उद्धरणीय होते हैं। उनमें से कुछ विकल्प से अथवा विशेष अर्थों के साथ नित्य रूप से अन्य रूपों के लुङों का ग्रहण करती हैं। पुनः कुछ में काल-चिह्न और संयोजन स्वर अ आत्मनेपद के कुछ पुरुषों में विकल्प से लुप्त हो सकते हैं; अर्थात् उनसे तब यहाँ धातु-लुङ् के रूप बनते हैं।

९१७—चूँकि काल-प्रकृति अ अंतवाली होती है, रूपविधान मुख्यतः द्वितीय सामान्य क्रियारूप के लङ् जैसा होता है। किंतु (वैयाकरणों के अनुसार : दुर्भाग्य वश रूप उद्धरणीय प्राप्त नहीं हैं) जैसा कि अन्य क्रियारूप के लङ् में होता है, आत्मने उत्तम० एकव० **ए** की जगह **इ** में और आत्मने० मध्यम० और अन्य० द्विव० **आथाम्** और **आताम्** में अंत होते हैं। परस्मैपदी और आत्मनेपदी दोनों ही रूपविधान विहित हैं। धातु सर्वत्र असवलीकृत रहती है।

९१८—रूपविधान के उदाहरणस्वरूप हम धातु **दिश्** सूचित करना, को प्रस्तुत कर सकते हैं। यथा—

परस्मैपद

	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	अ॑दिक्षम्	अ॑दिक्षाव	अ॑दिक्षाम
म०	अ॑दिक्षस्	अ॑दिक्षतम्	अ॑दिक्षत
अ०	अ॑दिक्षत्	अ॑दिक्षताम्	अ॑दिक्षन्

आत्मनेपद

	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	अ॑दिक्षि	अ॑दिक्षावहि	अ॑दिक्षामहि
म०	अ॑दिक्षथास्	अ॑दिक्षाथाम्	अ॑दिक्षध्वम्
अ०	अ॑दिक्षत	अ॑दिक्षाताम्	अ॑दिक्षन्त

९१९—पूर्वतर भाषा में स्-लुङ् के रूप कठिनता से कादाचित्क की अपेक्षा अधिक होते हैं। ऋ० वे० में ये सात धातुओं से बने हैं; अ० वे० में इनकी दो से और अन्य दो से; तथा अवशिष्ट ग्रन्थ में दस और बढ़ती है, सब मिलाकर उन्नीस होती हैं (उत्तरकालिक भाषा इस संख्या में कोई योग नहीं करती है। उत्तरकाल में आकर सबों में इ या उ या ऋ धात्वच्-जैसा आता है, और अन्त्य व्यंजन जो स् से मिलकर क्ष् हो जाता है; किंतु सूची में ज् अन्तवाले दो धातुएँ भी हैं, यथा मृज् और वृज्। सभी प्राप्त उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

अ—जहाँ तक आत्मनेपदी रूपों का प्रश्न है, इस लुङ् की व्याख्या सर्वतोभावेन अ–रूपविधान में स्-लुङ् विशेषों के अन्तरण रूप में होगी। किंतु परस्मैपद में धातुमूलक अच् के वर्धन में स्पष्ट भेद परस्मैपदी रूपों की तथाविध व्याख्या के सफल विनियोग में बाधक होता है।

९२०—अ–निश्चयार्थ में हमें ये प्राप्त हैं, परस्मैपद में, अवृक्षम्, अद्रुक्षस्, अधुक्षस्, अरुक्षस्, अक्रुक्षस्, अस्पृक्षस् (तथा महाभा० अमृक्षस् एक और मिलता है); अदिक्षत्, अमिक्षत्, अलिक्षत्, अविक्षत्, अक्रुक्षत्, अघुक्षत्, अदुक्षत् और अधुक्षत्, अरुक्षत्, अवृक्षत्, अकृक्षत्, अमृक्षत्, अस्पृक्षत्, अधुक्षताम् अरुक्षाम्, अमृक्षाम, अवृक्षाम; अधुक्षन्, अपिक्षन् (√(पिष्)) अरुक्षन् अस्पृक्षन्;—आत्मनेपद में, केवल अकृक्षथास् (√(कृष्)), अधुक्षत और अमृक्षन्त (तथा महाभा० अमृक्षत ? युक्त करता है)।

आ—आगमविहीन रूप (कोई शुद्धलेट् प्राप्त नहीं होते हैं) हैं परस्मैपद में; दृक्षम्, मृक्षम्, दुक्षस्, रुक्षस्, मृक्षस्; द्विपत्; मृक्षत्; धुक्षन् और दुक्षन्;—आत्मनेपद में द्विक्षत, दुक्षत और घुक्षत, धुक्षन्त।

इ—विधिलिङ् वाले रूप प्राप्त नहीं हैं।

ई—लोट् रूप होते हैं, परस्मैपद में अमृक्षतम्; आत्मनेपद में धुक्षस्व।

उ—कुछ आगमविहीन उदात्तरूप प्राप्त हैं, उनमें अ-लुङ् (२) और अ-वर्ग के लङ् के सादृश्य से बलाघात काल-चिह्न स पर होता है; एकमात्र अपवाद रूप धुक्षत है, जिसे संभवतः धुक्षत में संशोधित करना अपेक्षित है।

ऊ—धात्वन्त के सप्राण गुण (१५५) के लोप होने पर आदि द् और ग् का प्राणत्व दुह् और गुह् धातुओं के रूपों में देखा जाता है, किंतु द्रुह् में नहीं (केवल एक ही प्रयोग, ऐ० ब्रा०); परन्तु ऋ० वे० अदुक्षत् और स, दुक्षन्, दुक्षत भी पाये जाते हैं।

आशीर्लिङ्

९२१—चूँकि तथा कथित आशीर्लिङ् का निर्माण वैयाकरणों के द्वारा उत्तरकालिक भाषा में प्रत्येक धातु से विहित है, और वह भी स्वतंत्र रूप से उस धातु के लुङ् की निर्माण-विधि से अनिबन्धित, इसके लिए दिये गये नियमों के संक्षिप्त विवरण को प्रस्तुत करना वांछनीय है।

९२२—परस्मैपदी आशीर्लिङ् धातु में सीधे परस्मैपदी आशीर्लिङ् तिङ्-प्रत्ययों को (ऊपर, ५६८) जोड़कर बनाया जाता है किंतु :

अ—अन्त्य धात्वचों में (यथा कर्मवाच्य-चिह्न य से पूर्व; ७७०) इ और उ दीर्घ स्वर कर दिये जाते हैं; ऋ सामान्यतया रि में परिवर्तित कर दिया जाता है, किंतु **ईर्** और **ऊर्** में उन धातुओं में जो अन्यत्र **इर्** और **उर्**—रूप दिखलाती हैं (तथाकथित ॠ धातुओं में : २४२) और **अर्** में ऋ और स्मृ में; **दा, धा, स्था, पा** पीना, गा, गाना और अन्य कुछ धातुओं में, कुछ में विकल्प से, **आ** को **ए** में परिवर्तित किया जाता है।

आ—धातु सामान्यतया अपना दुर्बलतम रूप ग्रहण करती है : उपधानासिक्य लुप्त हो जाता है, यथा √(**बन्ध्**) से **बध्यासम्** में; धातुएँ जो लिट् (७९४) के दुर्बल पुरुषों में संक्षेपीकृत होती हैं, यहाँ भी उसी प्रकार के संक्षेपण को प्राप्त करती हैं, यथा **उच्यासम्, इज्यासम्, विध्यासम्, सुप्यासम्, गृह्यासम्** में; √(**शास्**) से **शिष्यासम्** बनता है (तुलनीय ६३९, ८५४ इ) : इत्यादि।

इ—ऊपर (५६७) यह निर्दिष्ट हो चुका है कि परस्मैपदी आशीर्लिङ् धातु-लुङ् का विधिलिङ् रूप होता है जहाँ प्रकार-चिह्न और तिङ्प्रत्यय के बीच **स्** ध्वनि का सन्दिग्ध मध्यागम है।

९२३—अ—आत्मनेपदी आशीर्लिङ् **स्** या **इष्** द्वारा वर्धित धातु में आत्मनेपदी आशीर्लिङ् प्रत्ययों (ऊपर, ५६८) को जोड़ने से बनता है—अर्थात् **स्**-लुङ् या **इष्**-लुङ् (किंतु आगम विहीन) की काल-प्रकृति में जोड़ने से बनाया जाता है।

आ—धातु का सबलीकरण उन नियमों के अनुसार होता है जो क्रमशः **स्** और **इष्** लुङों की आत्मनेपदप्रकृति के निर्माण में लागू होते हैं : सामान्यतः यथा, अन्त्य स्वर दोनों रूपनिर्माणों में गुण-युक्त कर दिया जाता है; किंतु मध्य स्वर केवल **इष्** के पूर्व।

इ—जैसा कि ऊपर (५६७) कहा जा चुका है, आत्मनेपदी आशीर्लिङ् वस्तुतः कुछ लुङों का विधिलिङ् होता है, जहाँ **स्**-ध्वनि का अन्तर्वेश प्रकार-

चिह्न और तिङ्प्रत्यय के बीच केवल (जहाँ तक प्रयोग द्वारा प्रामाणित है) मध्यम० और अन्य० एकवचन में है। प्राचीनतर भाषा में वैसे रूप अत्यधिक समय स्-लुङ् (८९५) और इष्-लुङ् (९०७) से बनाये जाते हैं; किंतु धातुलुङ् (८३७ आ), अ-लुङ् (८५० अ) साभ्यास लुङ् (८७०) तथा सिस्-लुङ् (९१४ आ) से भी; तथा लिट् (८१२ आ) से भी।

९२४—रूपविधान के उदाहरणार्थ हम धातु भू होना को प्रस्तुत कर सकते हैं जिसमें इष्-प्रकृति से उसके आत्मनेपद का निर्माण माना जाता है (कोई आत्मनेपदी लुङ् या विधिलिङ् उद्धरणीय नहीं)। यथा :—

परस्मैपद

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	भूयासम्	भूयास्व	भूयास्म
म०	भूयास्	भूयास्तम्	भूयास्त
अ०	भूयात्	भूयास्ताम्	भूयासुस्

आत्मनेपद

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	भविषाय	भविषीवहि	भविषीमहि
म०	भविषीष्ठास्	भविषीयास्थाम्	भविषीढ्वम्
अ०	भविषीष्ट	भविषीयास्ताम्	भविषीरन्

अ—वैयाकरणों के द्वारा मध्यम० और अन्य द्विव० जैसे दिये गये रूप स्-ध्वनि के निर्धारित स्थान लेकर अतिसंदिग्ध प्रयोगितावाले होते हैं। ये पुरुप तथा मध्यम० बहुव० कभी प्रयोग में नहीं पाये जाते हैं। ध्वम् या ढ्वम् के रूप में मध्यम० बहुव० के तिङ्प्रत्यय को लेकर प्रश्न के लिए, देखिए २२६ इ।

९२५ अ—परस्मैपदी आशीर्लिङ् का रूप श्रेण्य भाषा में अधिक असामान्य प्रयोगवाला होता है। एकाधिक वार ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थों में से प्रत्येक में (मनु, नल, भगवद्गीता, शकुंतला, हितोपदेश) एक से अधिक वार नहीं आता है, और आधे दर्जन के रूपों से अधिक रामा० महाभा० में उद्धरणीय प्राप्त नहीं हुए हैं। इसकी प्रयोगिता को लेकर, देखिए ५७३ इ।

आ—आत्मनेपद आशीर्लिङ् संपूर्ण उत्तरकालिक साहित्य में वस्तुतः अज्ञात है, इसका एक भी प्रयोग प्रकाश में नहीं आया है। भाग० पु० में एक वार रीरिषीष्ट प्राप्त है यह ऋ० वे० रूप भी है जो संभवतः साभ्यास लुङ् से संबद्ध है, द्रष्टव्य ८७०।

लुङ् के प्रयोग

९२६—लुङ् प्रकाररूपों के प्रयोग (जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है, ५९२) वर्तमान-प्रक्रिया के प्रकार-रूपों के—जैसे देखे जाते हैं। मा के बाद निषेधार्थक वाक्य में आगमविहीन रूपों के लिए पूर्वतर भाषा का आग्रह, जो कि उत्तरकाल में परिमित ढंग से बना रहता है, पर्याप्त रूप में ऊपर विवेचित और उदाहृत हो चुका है (५७९)।

अ—लुङ् निश्चयार्थ की प्रयोगिता भी एकाधिक बार निर्दिष्ट हो चुकी है, और यत्किंचित् विस्तार और उदाहरण की अपेक्षा यहाँ बनी रहती है।

९२७—उत्तरकालिक भाषा का लुङ् मात्र भूतकाल है, जो लङ् और लिट् के तुल्य होता है, और बहुधा इनके साथ समन्वित है।

अ—यथा—**ततः स गर्दभं लगुडेन ताडयामास, तेनाऽसौ पंचत्वमगमत्** (हितो०) तब उसने गदहे को लाठी से मारा, और इससे वह मर गया; **ततः सा विदर्भान् अगमत्, तां तु बन्धुजनः समपूजयत्** (महाभा०) तब वह विदर्भ लौट आई, और उसके आत्मीय व्यक्तियों ने उसका सत्कार किया; **प्रीतिमानभूत्, उवाच चैनम्** (महाभा०) वह प्रसन्न हुआ, और उसने कहा; **तमदहत् काष्ठैः सोऽभूद् दिव्यवपुः तदा** (रामा०) उसने उसे लकड़ियों से जलाया, और वह तब दिव्यदेही बन गया।

९२८—प्राचीनतर भाषा का लुङ् यथार्थ 'लिट्' की प्रयोगिता रखता है; अर्थात् यह ऐसे भूत को द्योतित करता है जो वर्तमान के प्रसंग में सम्पन्न-जैसा गृहीत है; और इस प्रकार इसका रूपान्तर सहायक 'हैभ' से बने हमारे काल द्वारा अपेक्षित हैं। सामान्यतः यह आसन्न-भूत को सूचित करता है : और अत्यधिक समय ऐसी घटना को जिसका अनुभव वक्ता को हुआ है।

अ—वेद से उदाहरण होते हैं : **परीमे गामनेषत पर्यग्निम् अहृषत, देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति** (ऋ० वे०) इन्होंने गाय का हरण किया है, ये अग्नि को चारों ओर ले गये हैं; इन्होंने देवताओं की स्तुति की है—कौन इनका कोई विरोध करेगा? **यमैच्छाम मनसा सोऽयम् आगात्** (ऋ० वे०) वह जिसकी इच्छा हमने (पहिले, लङ्) की, (अब, लुङ्) आया है; **येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः, इदं तद् अक्रि देवा असपत्नः किलाभुवम्** (ऋ० वे०) जिस हविष से इंद्र, इसे करते हुए, उच्चतम प्रतापवाले हुए (लङ्), मैंने अब, हे देव, सम्पादन किया है; मैं शत्रुओं से रहित हो गया हूँ।

आ—ब्राह्मण-भाषा से उदाहरण हैं : सांहास्मिन् ज्योंग् उवास—तंतो ह गन्धर्वाः संमूदिरेः ज्योंग् वा इयम् उर्वशी मनुष्येष्ववात्सीत् (श०ब्रा०) वह उसके साथ बहुत समय तक रही। तब गन्धर्वों ने आपस में कहा, "यह उर्वशी तो बहुत काल तक मनुष्यों के बीच रही है"; तस्य ह दन्ताः पेदिरे : तं होवाच : अपत्सत वा अस्य दन्ताः (ऐ० ब्रा०) उसके दाँत गिर गये। उसने उसे कहा "उसके दाँत गिर ही गये हैं"; इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यम् पृथिवीम् अनु व्यार्छत् तद् ओषधयो वीरुधोऽभवन् स प्रजापतिम् उपाऽधावद् वृत्रं मे जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यम् पृथिवीम् अनु व्यारत् तद् ओषधयो वीरुधोऽभूवन्निति (तै० सं०) इन्द्र के द्वारा वृत्र के मारे जाने पर बल और वीर्य पृथ्वी में चला गया, तथा औषधियाँ और लताएँ उत्पन्न हुईं : वह प्रजापति के पास दौड़ गया, यह कहते कि 'मेरा बल और वीर्य वृत्र के मारने पर पृथ्वी में चला गया है, और वह औषधियाँ और वनस्पतियाँ बन गया है'; स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीः (अ० वे० गद्यावतरण) उसके पास स्वयं जाकर बोले : "व्रात्य, तुम कहाँ रहे हो ?" यद् इदानीं द्वौ विवदमानावे यातम् अहमदर्शम् अहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयाद् अहम् अदर्शम् इति तस्मा एवा श्रद्दध्याम (श० ब्रा०) यदि अभी दो परस्पर विवाद करते हुए आयें, (एक) यह कहते "मैंने देखा है", और (एक) "मैंने सुना है" हम उसका विश्वास करें जिसने कहा "मैंने देखा है।"

९२९—अ—घटना-वर्णन के-कालों के रूप में लङ् और लिट् से लुङ् का यह पार्थक्य ब्राह्मण भाषा (प्राचीनतर उपनिषदों और सूत्रों को सम्मिलित कर) में खूब सामान्य है और दृढ़ रूप में पालित हुआ है; इसका अतिक्रमण खूब विरल होता है तथा इसे या तो पाठ की अशुद्धि अथवा परवर्ती उत्पत्ति का सूचक मानना होगा।

आ—वैदिक मंत्रों में वही पार्थक्य प्रचलित है, किंतु अपेक्षाकृत न्यून स्पष्ट और साथ ही न्यून दृढ़ता से सुरक्षित है; अनेक अवतरणों में किसी भी अर्थ को द्योतित करनेवाली व्याख्या संभव है; और स्पष्ट लुङ् कभी-कभी वर्णन के रूप में प्रयुक्त हैं, जब कि लङ्-रूप भी यदा-कदा लुङर्थ में व्यवहृत हैं।

९३०—आसन्न सम्पन्न और वर्तमान के मध्य की सीमा क्षणस्थायी होती है, और कभी-कभी अव्यारूढ़, जिससे कि जहाँ लट् आ सकता है अथवा वह संभाव्य ही है, वहाँ लुङ् का प्रयोग होता है। यथा : स्वासस्थं भवतम् इन्दवे न इति सोमो वै राजेन्दुः सोमायैवै नेतद् राज्ञ आसदेऽचिक्लृपत् (ऐ० ब्रा०) तुम इन्द्र के लिए सुखद आसन बनाओ, वह कहता है : इन्दु सोम राजा है; इसके द्वारा उसने इन्हें सोमराजा के बैठने के योग्य बनाया है ('बनाता है' के लिए);

वारुणीर् आपो यद् अद्भिरभिषिञ्चति वरुणमेवैनम् अकर्) (मै० सं० ४-३-१०) जल वरुण के होते हैं; इससे वे उसको जल द्वारा अभिसिञ्चित करते हैं, उसने उन्हें वरुण बनाया है; पंचभिर् व्याघारयति पाङ्क्तो यज्ञो यावान् एवं यज्ञास्तमालब्धाऽथो यावान् एवं यज्ञस्तस्माद् रक्षांस्यपहन्ति (मै० ३-२-६) वह पाँच से लीपता है; पूजन पञ्चगुण होता है, पूजन जितना अधिक होता है, (इससे) उसने इसका ग्रहण किया है; पुनः, पूजन जितना वड़ा होता है, उससे वह दानवों को दूर करता है। सभी ब्राह्मणों में यह प्रयोग प्राप्त होता है; किंतु यह विशेषरूप से मै० सं० में अधिक मिलता है।

अध्याय—१२

भविष्य प्रक्रियाएँ

९३१—क्रिया के दो भविष्य होते हैं जो अति विभिन्न युग और स्वरूप के हैं। एक में कालचिह्न के लिए स्-ध्वनि है जिसके बाद **य** आता है, और यह भारत-यूरोपीय-संहति के काल का दाय है। दूसरा यौगिक रूप-निर्माण होता है, जो कर्त्रर्थ वाली व्युत्पन्न संज्ञा में सहायिका क्रिया जोड़कर वना है और यह क्रिया-श्रेणी में नवीन योग है; इसके आरम्भ मात्र प्राचीनतम भाषा में प्राप्त होते हैं। प्रथम को **स्-भविष्य** (अथवा प्राचीन भविष्य या मात्र-भविष्य) कहते हैं; द्वितीय को **यौगिकभविष्य**-जैसा पृथक् रखा जा सकता है।

१—स् भविष्य

९३२—इस भविष्य का काल-चिह्न अक्षर **स्य** होता है जो धातु में या तो सीधे या सहायक स्वर इ के साथ (द्वितीय कोटि में इष्य होता) जोड़ा जाता है। धातु में गुण-सवलीकरण होता है। इस प्रकार, √(**दा**) देना से भविष्य काल-प्रकृति **दास्य** वनाई जाती है; √(**इ**) जाना से प्रकृति **एष्य**; √(**दुह्**) दूहना से प्रकृति **धोक्ष्य**; √(**भू**) होना से प्रकृति **भविष्य**; √(**ऋध**) उन्नति करना से प्रकृति **अर्धिष्य**; इत्यादि।

अ—किंतु √(**जीव्**) जीवित रहना से प्रकृति **जीविष्य** होती है, √(**उक्ष्**) छिड़कना से यह **उक्षिष्य** होती है, इत्यादि (२४०)।

आ—सिअ में काल-चिह्न **स्य** के विघटन के कोई वैदिक प्रयोग कठिनता से प्राप्त होते हैं; ऋ० वे० में एक बार **क्षेषिअन्तस्** मिलता है।

९३३—तो इस काल-प्रकृति के रूप बिलकुल अ-अन्तवाली वर्तमान-प्रकृति (द्वितीय सामान्य क्रियारूप, ७३३ अ) की तरह चलते हैं। रूप-विधान के आदर्शों के रूप में हम √(दा) देना और √(कृ) बनाना के भविष्य को प्रस्तुत कर सकते हैं। यथा :

परस्मैपद

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	दास्यामि	दास्यावस्	दास्यामस्
म०	दास्यसि	दास्यथस्	दास्यथ
अ०	दास्यति	दास्यतस्	दास्यन्ति
उ०	करिष्यामि	करिष्यावस्	करिष्यामस्
	आदि	आदि	आदि

आत्मनेपद

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	दास्ये	दास्यावहे	दास्यामहे
म०	दास्यसे	दास्येथे	दास्यध्वे
अ०	दास्यते	दास्येते	दास्यन्ते
उ०	करिष्ये	करिष्यावहे	करिष्यामहे
	आदि	आदि	आदि

अ—रामा० महाभा० में उत्तम० द्विव० और बहुव० के कादाचित्क प्रयोग व और म अन्तवाले प्राप्त होते हैं : उदाहरणार्थ, **रंस्याव** (रामा०), **भक्षयिष्याव** (णिजन्तः महाभा०) : **एष्याम** (महाभा०), **वत्स्याम** (रामा०)।

८३४—**स्**-ध्वनि के पूर्व सहायक स्वर **इ** के प्रयोग अथवा अप्रयोग को लेकर इस काल तथा अन्य भविष्य तथा सन्नन्त के बीच सामान्य एकरूपता की एक कोटि मिलती है; किंतु यह कथमपि नित्य नहीं है, न तो इसके लिए कोई निश्चित नियम निर्धारित हो सकते हैं (तथा अपेक्षाकृत और कम, क्योंकि यथार्थ प्रयोग में उत्तरवर्ती दोनों रूप-निर्माण की असामान्यता है) : इसके और लुङ् (एक ओर **स्-लुङ्**, या दूसरी ओर **इष्-लुङ्**) के बीच किसी प्रकार की तद्रूपता और भी कम प्राप्य है। वस्तुतः प्रयोग-दृष्टि से यह जानना आवश्यक हो जाता है कि किस प्रकार कोई धातु-विशेष अपनी क्रियारूप प्रक्रिया के इन विभिन्न अंगों को बनाती है।

९३५—सहायक स्वर को लेकर उद्धरणीय रूप में प्राप्त सभी धातुओं के प्रयोग का विवरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है—अधिकांशतः, जिनमें काल-चिह्न सीधे धातु में जोड़ा जाता है उनके विशेषीकरण के रूप में; पुनः कोष्ठ में अन्य धातुएँ निर्दिष्ट है जो वैयाकरणों के अनुसार सहायक स्वर का निषेध भी करती हैं।

अ—स्वरों में अन्त होनेवाली धातुओं (**ऋ** में अन्त होनेवाली को छोड़कर) की एक बड़ी संख्या **इ** का ग्रहण नहीं करती हैं। इस प्रकार, **आ**–अन्त वाली सभी (अनेक हैं, और निर्दिष्ट करना अनावश्यक है, किंतु तुलनीय इ, नीचे) **इ** अन्तवाली, यथा **क्षि** प्राप्त करना, **चि** चुनना, **चि** जानना, **सि** या **सा** (**सिष्य**) बाँधना; **हि**; **क्षि** नाश करना और **जि**, **इ** से दोनों वर्गों के रूप मिलते हैं; **श्रि** (और **श्वि**) **इ** रखती है;—**ई** अन्तवाली, यथा **क्री**, **भी**, **मी**, **व्ली**; किंतु **शी** लेटना और **नी** में दोनों रूप प्राप्त हैं (और **डी इ** का ग्रहण करती है);—**उ** अन्तवाली, यथा **च्यु**, **द्रु**, **प्लु**, **श्रु**, **हु**; किंतु **सु** निचोड़ना और **स्तु** के दोनों रूप प्राप्त हैं (तथा **क्षु**, **ष्णु**, **नु**, **यु**, **रु**, **स्नु**, **इ** ग्रहण करती हैं); **ऊ** अन्तवाली धातुओं में **धू** और **भू इ** ग्रहण करती है; **सू** में दोनों रूप मिलते हैं। किंतु सभी **ऋ** अन्तवाली (अनेक हैं, और निर्दिष्ट करना आवश्यक है) **इ** ग्रहण करती है [परिवर्तनीय **ॠ** अन्तवाली अथवा तथाकथित **ॠ**–धातुओं में (२४२) वैयाकरणों ने **इ** या **ई** का ग्रहण वैकल्पिक रूप से माना है, किंतु **ई** रूप उद्धरणीय नहीं है]।

अ—स्पर्श-ध्वनियों में अंत होने वाली धातुओं में से लगभग आधी सीधे काल-चिह्न को युक्त करती हैं। इस प्रकार, कण्ठ्य ध्वनियों में अंत होने वाली धातुओं में **शक्**;—तालव्यों में, **च्** अंत वाली, **पच्**, **मुच्**, **रिच्**, **वच्**, **विच्**, **व्रश्च्**, **सिच्** (किंतु **याच् इ** ग्रहण करती है); **छ्** अंतवाली, **प्रछ्**; **ज्** अंतवाली, **भञ्ज्**, **मृज्** (**मार्क्ष्य** और **म्रक्ष्य**), **यज्**, **भुज्**, **युज्**, **वृज्**, **सृज्** (साथ ही, **भ्रज्ज्**, **एज्**, **सञ्ज्**, **स्वञ्ज्**, **निज्**, **रुज्**,), जब कि **त्यज्**, **भज्**, और **मज्ज्**, (**माङ्क्ष्य** और **मज्जिष्य**) दोनों रूप रखती हैं, तथा **विज्** (**विजिष्य** और **वेजिष्य**) और **व्रज्** में **इ** का ग्रहण होना है;—दन्त्य ध्वनियों में, **त्** अंतवाली, **कृत्** काटना और **वृत्** (**भृत्** और **नृत्** भी) दोनों रूप बनाती हैं; **द्** अंतवाली, **अद्**, **पद्**, **शद्**, गिरना, **स्कन्द्**, **स्यन्द्**, **छिद्**, **भिद्**, **विद्** पाना, **नुद्** [**हद्**, **खिद्**, **स्विद्**, **क्षुद्**, **तुद्** भी]; जब कि **सद्** (**सत्स्य** और **सीदिष्य**, और **विद्** जानना दोनों रूप बनाती हैं [साथ ही, **छृद्** और **तृद्**], और **वद्** में **इ** प्राप्त है; **ध्** अंतवाली, **व्यध्** (**वेत्स्य**), **राध्**, **सिध्** सफल

होना, **बुध्**, **युध्**, **रुध्**, **वृध्** [साथ ही, **साध्**, **क्रुध्** , **क्षुध्**, **शुध्**], तथा **बन्ध्** और **सिध्** टालना में दोनों रूप मिलते हैं; **न्** अंतवाली **तन्**, जब कि **मन्** और **हन्** के दोनों रूप होते हैं;—ओष्ठ्यों में, **प्** अंतवाली, **आप्**, **क्षिप्**, **गुप्**, **तृप्**, **सृप्** (**स्रप्स्य** और **सर्प्स्य**) [साथ ही, **शप्**, **लिप्**, **लुप्**,], जब कि **तप्**, **वप्**, **स्वप्**, **दृप्** औरव **लृप्** दोनों रूप रखती हैं; **भ्** अंतवाली, **यभ्** और **रभ्**, **लभ्** में दोनों रूप प्राप्त हैं; **म्** अंतवाली, **रम्**, जबकि **क्रम्**, **क्षम्**, **नम्** और **यम्** दोनों रूप बनाती हैं।

इ—उन सभी धातुओं में, जिन्हें वैयाकरण अन्तःस्थान्तों—जैसी मानते हैं (७६१ ई-ए), **इ** का ग्रहण होता है। तथा **वा** या **वि** बुनना, **व्या** या **वी** लपेटना, और **ह्वा** या **ह्व**, आह्वान करना अपनी वर्तमान-प्रक्रिया की तरह यहाँ भी **य्**–रूप ग्रहण करती हैं, जिसमें पुनः **इ** जोड़ा जाता है : यथा—**वयिष्य**, **व्ययिष्य**, **ह्वयिष्व** (किंतु **ह्वास्य** भी)।

ई—ऊष्मांत धातुओं में से कुछ (लगभग एक तिहाई) सहायक स्वर के विना होती हैं। ये हैं : **श्** अंतवालो, **दिश्**, **विश्**, **दृश्** (**द्रक्ष्य**,) **स्पृश्** (**स्प्रक्ष्य**) [साथ ही, **दंश्**, **रिश्**, **लिश्**, **क्रुश्**, **मृश्**], जबकि **नश्** नष्ट होना में दोनों रूप (**नङ्क्ष्य** और **नशिष्य**) प्राप्त होते हैं;—**ष्** अंतवाली, **पिष्**, **विष्**, **शिष्** [साथ ही, **त्विष्**, **द्विष्**, **श्लिष्**, **तुष्**, **दुष्**, **पुष्**,], जब कि **कृष्** दोनों रूप (**क्रक्ष्य** और **कर्षिष्य**) रखती हैं;—**स्** अंतवाली, **वस्** चमकना, **वस्** वस्त्र धारण करना [**घस्** भी], जब कि **वस्** वास करना दोनों रूप मिलते हैं;—**ह्** अंतवाली, **मिह्**, **दुह्**, **द्रुह्** [साथ ही, **नह्**, **दिह्**, **लिह्**] जब कि **दह्**, **वह्**, **सह्** और **रुह्** में दोनों रूप प्राप्त होते हैं।

उ—प्राचीनतर भाषा में शुद्ध धातुओं की एक अधिक संख्या (प्रायः नौ में पाँच) सहायक स्वर **इ** के विना स्य जोड़ती हैं; उन लृट् रूपों की, जो केवल उत्तरकालिक भाषा में मिलते हैं, लगभग तीन चौथाई **इ** रखती हैं, जो सामान्यतया उत्तरकालिक उत्पत्ति और यौगिक स्वरूप वाली किसी धातु द्वारा गृहीत है—जैसा कि इसका ग्रहण यौगिक क्रियारूप में भी नित्य होता है (१०१९, १०३६, १०५०, १०६८)।

९३६—चूँकि इस भविष्य की प्रकृति के निर्माण में धातु सबलीकृत होती हैं, इसलिए जिस धातु के सबलतर और दुर्बलतर रूप होते हैं, उसका सबलतर रूप प्रयुक्त होता है : यथा—√(**वन्ध्**) या **बध्** बाँधना से **भन्त्स्य** या **बन्धिष्य**।

अ—अनियमित सवलीकरण के द्वारा √(नश्) नष्ट होना से **नङ्क्ष्य** (**नशिष्य** के अतिरिक्त) वनाया जाता है, और √(मज्ज्) डूवना से **मङ्क्ष्य** (साथ ही, **मज्जिष्य**)।

आ—किंतु कुछ धातुएँ उत्तरकालिक भाषा में सवलीकरण के विना लट्-प्रकृतियाँ वनती हैं : यथा—**लिखिष्य**, **मिलिष्य** (तै० सं० भी), **विजिष्य** (साथ ही, **वेजिष्य**), **सिष्य** (√(सा) या सि), **सूष्य** (८६९ आ), **स्फुटिष्य**; और √(व्यध्) दुर्वलतर रूप **विध्** से **वेत्स्य** वनाती है।

इ—श० व्रा० में एकवार विराट् रूप **अश्नुविष्यामहे** √(अश्) प्राप्त करना की वर्तमान-प्रकृति **अश्नु** (६९७) के आधार पर निर्मित मिलता है। पुनः उत्तरकालिक भाषा √(सद्) और √(हा) की वर्तमान-प्रकृतियों से **सीदिष्य** और **जहिष्य** वनाती हैं। पुनः तुलनीय **ह्वयिष्य** प्रभृति, ९३५ इ। साथ ही, √(ख्या) से **ख्यायिष्य** (**ख्यास्य** के अतिरिक्त) समानस्वरूप जैसा प्रतीत होता है।

ई—मध्यग **ऋ** वाली अनेक धातुएँ इसे **र** (२४१) में सवल कर देती हैं : यथा—**क्रक्ष्य**, **त्रप्स्य**, **द्रप्स्य**, **द्रक्ष्य**, **म्रक्ष्य** (साथ ही, **मार्क्ष्य**,), **स्प्रक्ष्य**, **स्रक्ष्य**, **स्रप्स्य** (साथ ही, **सर्प्स्य**,), और **म्रदिष्य** (साथ ही, **मर्दिष्य**); तथा √(क्लृप्) (**कल्पिष्य** के अतिरिक्त) **क्लप्स्य** वनाती है।

उ—धातु **ग्रह्** (साथ ही इसकी उभयक **ग्लह्**) **इ** के स्थान में **ई** का ग्रहण करती है, जैसा कि लुङ् में तथा अन्यत्र करती है।

९३७—यह भविष्यरूप प्राचीनतम भाषा में अपेक्षाकृत विरल है—आंशिक रूप में, स्पष्टतः, ऐसा इसलिए है कि भविष्य के प्रयोग वहुत हद तक लेट् रूपों से प्रतिपादित हैं—किंतु आगे चलकर यह अधिकाधिक सामान्य हो जाता है। इस प्रकार ऋ० वे० में नौ विभिन्न धातुओं से पुरुषरूपों के केवल सत्रह प्रयोग (छः विशेष धातुओं से कृदन्तक्रियारूपों के साथ) प्राप्त हैं; अ० वे० में पचीस धातुओं से पचास प्रयोग (अन्य सात से कृदन्तक्रियारूपों के साथ) हैं; किंतु तै० सं० में (पुरुष-रूपों और कृदन्तक्रियारूपों को एक साथ लेने पर) साठ से अधिक धातुओं से प्रयोग प्राप्त हैं; और एक सौ पचास से अधिक धातुओं के रूप प्राचीनतर ग्रंथों में उद्धरणीय उपलब्ध हैं।

स्—भविष्य के प्रकार

९३८—लृट् के प्रकाररूप अत्यधिक विरल हैं। एकमात्र उदाहरण प्राचीनतर भाषा में परस्मै० मध्यम० एकव० अभिप्रायार्थक रूप **करिष्यास्** है जो एक-

वार (या दो वार) ऋ० वे० मिलता है। (ऐ० ब्रा० में एक वार **नोत्स्यावहे** प्राप्त है, और गो० ब्रा० में **एष्यामहे, तंस्यामहै, स्थास्यामहे** मिलते हैं, किंतु ये निस्संदेह—हे के भ्रामक पाठ हैं। दो या तीन विधिलिङर्थ रूप रामा० महाभा० में पाये जाते हैं : यथा—**धक्ष्येत्** और **मंस्येरन्** (महाभा०), और **द्रक्ष्येत** (रामा०); साथ ही, आज्ञार्थक **पत्स्यन्तु** (हरि०)। इसी प्रकार **ध्वम्** अंतवाले कतिपय आत्मने० मध्यम० बहुव० रामा० महाभा० से उद्धरणीय हैं : यथा—**वेत्स्यध्वम्, सविष्यध्वम्,** और (णिजन्त) **कालयिष्यध्वम्** (पं० ब्रा०) और **जीवयिष्यध्वम्** (महाभा० : तथा संस्करण १–१३३–१३ में **मोक्ष्यध्वम्** रखता है, जहाँ दूसरे संस्करण का पाठ **मोक्षयध्वम्** है), और **भविष्यध्वम्** (महाभा० रामा०) : यह विवाद का विषय बना हुआ है कि इन्हें वास्तविक आज्ञार्थ रूपनिर्माण जैसा माना जाय अथवा मुख्य तिङ्प्रत्ययों के लिए गौण का रामायण-महाभारतीय प्रतिस्थापन (तुलनीय ५४२ अ)।

स्—लृट् के कृदन्तक्रियारूप

९३९—भविष्य-प्रकृति से कृदन्तक्रियारूप ठीक उसी प्रकार बनाये जाते हैं जिस प्रकार अ—अंत वाली वर्तमान-प्रकृति से : यथा—परस्मैपद में न्त् प्रत्यय को जोड़कर और आत्मनेपद में मान प्रत्यय को; स्वरपात प्रकृति पर बना रहता है। इस प्रकार ऊपर निर्दिष्ट क्रियाओं से, **दास्यन्त्** और **दास्यमान, करिष्यन्त्** और **करिष्यमाण**।

अ—वैयाकरणों के अनुसार परस्मैपदी कृदंत क्रियारूप का स्त्रीलिंग या तो **अन्ती** अंतवाला या **अतीं** अंतवाला होता है, किंतु प्राचीनतर भाषा में प्रथम ही प्रयोग में प्राप्त है और द्वितीय सर्वत्र अत्यधिक विरल है : देखिए ऊपर ४४९ उ, ऊ।

आ—ऋ० वे० में एकवार √(सू) से **सूष्यन्ती** मिलता है, जो नियम विरुद्ध स्वरपात वाला है।

स्—भविष्य का भूतकालिक रूप-हेतुहेतुमद्

९४०—भविष्य-प्रकृति से आगम के पूर्वश्लेष और गौण-तिङ्प्रत्ययों के योग द्वारा ठीक उसी प्रकार बनाया जाता है जिस प्रकार अ-अंतवाली वर्तमान-प्रकृति से लङ् प्रकृति। यह अडागम रूप लृङ् **नाम** से अभिहित है।

अ—रूप और तत्त्व की दृष्टि से लट् के साथ इसका संबंध वही होता है जैसा कि फ्रेंच हेड्हेतुपद् **ऑरे** (awrais) का भविष्यद्रूप **ओरे** (aurai) अथवा अंग्रेज़ी वुड **हैव्** (would have) का विल **हैव्** (will have)

के साथ—लगभग जैसा कि जर्मन वूर्डे हैबेन (Wiirde haben) का वेर्डे हैभेन (Werde Haben) के साथ।

आ—इस प्रकार ऊपर उदाहृत धातुओं से :

परस्मैपद

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	अ॑दास्यम्	अ॑दास्याव	अ॑दास्याम
म०	अ॑दास्यस्	अ॑दास्यतम्	अ॑दास्यत
अ०	अ॑दास्यत्	अ॑दास्यताम्	अ॑दास्यन्
उ०	अ॑करिष्यम्	अ॑करिष्याव	अ॑करिष्याम
	आदि	आदि	आदि

आत्मनेपद

उ०	अ॑दास्ये	अ॑दास्यावहि	अ॑दास्यामहि
म०	अ॑दास्यथास्	अ॑दास्येथाम्	अ॑दास्यध्वम्
अ०	अ॑दास्यत	अ॑दास्येताम्	अ॑दास्यन्त
उ०	अ॑करिष्ये	अ॑करिष्यावहि	अ॑करिष्यामहि
	आदि	आदि	आदि

९४१—लृङ् संस्कृत-क्रिया के सभी रूपों में सर्वाधिक विरल होता है। ऋ० वे० में केवल एक उदाहरण अ॑भरिष्यत 'ले जाने को था' प्राप्त होता है, और संहिता ग्रंथों में अन्यत्र कहीं दूसरा नहीं मिलता है। ब्राह्मणों में यह शायद ही अपेक्षाकृत अधिक सामान्य है—श० ब्रा० को छोड़कर जहाँ पचास से अधिक वार यह पाया जाता है। न उत्तरकाल में ही यह लृट् की तरह विशेष प्रयुक्त है : नल, भगवद्गीता या हितोपदेश में एक भी उदाहरण नहीं आता है; केवल एक मनु में; और दो शकुंतला में मिलते हैं। संपूर्ण महाभा० (होल्समैन्न) में यह, तेरह धातुओं से, लगभग पचीस वार पाया जाता है। आत्मनेपदीरूप अत्यधिक कम होते हैं।

२—यौगिक भविष्य

९४२ अ—यह रूपनिर्माण केवल एक ही निश्चयार्थक परस्मैपदी काल (अथवा आत्मनेपदी भी, देखिए ९४७) को लेकर होता है, यह प्रकारों या कृदंत क्रियारूप या अडागम के विना है।

आ—यह व्युत्पन्न कर्त्रर्थ संज्ञा रूप में होता है, जिसमें परस्मैपदी भविष्य-कालिक कृदंत क्रिया रूप की प्रयोगिता प्राप्त होती है, और जो सहवर्ती सहायिका

क्रिया से युक्त अथवा उसके विना भविष्यार्थ के साथ क्रियामूलक काल के कार्य में प्रयुक्त होता है।

९४३—संज्ञा-शब्द प्रत्यय तृ (या तर्) के द्वारा वनाया जाता है; और यह (जैसा कि अपने क्रिया भिन्न प्रयोगों में, देखिए ११८२) सीधे या पूर्ववर्ती सहायक स्वर इ के साथ धातु में जोड़ा जाता है, धातु स्वतः गुण द्वारा सवलीकृत होती है, किंतु स्वरपात प्रत्यय पर रहता है: यथा, √(दा) देना से दातृ́; √(कृ) करना से कर्तृ́; √(भू) होना से भवितृ́।

अ—इ स्वर की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति लेकर सामान्यतः उसी प्रकार का विधान वैयाकरणों द्वारा मान्य हैं जैसा कि उसी धातु के स्-भविष्य में (ऊपर, ९३५)। सर्वाधिक प्रसिद्ध अपवाद यह होता है कि ऋ अंतवाली धातुएँ इ का ग्रहण नहीं करती हैं: इस प्रकार, कर्तृ́ (करिष्य के विपरीत); हन् और गम् धातुओं में उसी प्रकार का भेद परिलक्षित हैं; जवकि वृत्, वृध् और स्यन्द् धातुएँ यहाँ इ का ग्रहण करती हैं, यद्यपि स-भविष्य में नहीं। थोड़े-से रूप जो प्राचीनतर भाषा में मिलते हैं, इन नियमों के अनुरूप होते हैं।

९४४—अन्य पुरुषों में संज्ञा की प्रथमा विभक्ति क्रमशः तीनों वचनों में (३७३) सहायिका क्रिया के विना प्रयुक्त होती है: इस प्रकार, भविता́ वह होगा या वह होगी; भविता́रौ दोनों होंगे, दोनों होंगी; भविता́रस् वे होंगे, वे होंगी। दूसरे पुरुषों में √(अस्) होना (६३६) के वर्तमान उत्तम और मध्यम पुरुष सहायक के रूप में प्रयुक्त होते हैं; और ये संज्ञा के पुं० प्रथमा एकवचन रूप के साथ, सभी वचनों में, मिला दिये जाते हैं।

अ—यथा, √(दा) देना से

परस्मैपद

	एकव०	द्विव०	वहुव०
उ०	दाता́स्मि	दाता́स्वस्	दाता́स्मस्
म०	दाता́सि	दाता́स्थस्	दाता́स्थ
अ०	दाता́	दाता́रौ	दाता́रस्

आ—यदा कदा, रामा० महाभा० तथा उत्तर काल में (प्रायः प्राचीनतर भाषा में कदापि नहीं) काल का मानक जैसा कि ऊपर दिया गया है, विभिन्न दृष्टियों में अलग होता है: यथा, अन्यपुरुष में भी सहायक के प्रयोग के द्वारा, उत्तम या मध्यम पुरुष में इसके लोप होने से; संज्ञा और सहायक के क्रम के विपर्यय से; इनके वीच अन्य शब्दों के अंतर्निवेश से; सहायक के साथ द्विवचन

या बहुवचन प्रथमा विभक्ति रूप के प्रयोग से; तथा संज्ञा के स्त्रीलिंग-रूप के प्रयोग के चलते। उदाहरण हैं : **वक्ताऽस्ति** (महाभा०) वह बोलेगा; **निहन्ता** (महाभा०) मैं मारूँगा या तू मारेगा; **योद्धाऽहम्** (रामा०) मैं युद्ध करूँगा; **अहं द्रष्टा** (महाभा०) मैं देखूँगा; **कर्ताऽहं ते** (भाग० पु०) मैं तेरे लिए करूँगा; **त्वं भविता** (महाभा०, मेघ०) तू होगा; **अस्मि गन्ता** (महाभा०) मैं जाऊँगा; **प्रतिग्रहीता तामस्मि** (महाभा०) मैं उसे स्वीकार करूँगा; **हन्तास्त्वमसि** (महाभा०) तू मारेगा; **कर्तारौ स्वः** (महाभा०) हम दोनों करेंगे; **द्रष्ट्र्यस्मि** (महाभा०) मैं देखूँगी; **उद्भवित्री** (नैषध०) वह बढ़ेगी; **गन्त्री** (याज्ञ०) वह जायेगी। ऐ० ब्रा० में एक बार **सोता** तू निचोड़ेगा, मध्यम० एकव० जैसा प्राप्त है; जै० उ० ब्रा० **श्मशानानि भवितारस्** श्मशान होंगे, संयोजन प्रस्तुत करता है।

इ—सहायिका क्रिया का विधिलिङ् रूप **योद्धा स्याम्** मैं युद्ध करूँगा, (रामा० १–२२–२५, पेटर्सन; किंतु बंबई संस्करण का पाठ **योद्धुम् यास्यामि** है), एक बार प्रयुक्त मिलता है।

८४५—इन संयोजनों में स्वरपात संज्ञा पर ही है, जैसा कि पूर्ववर्ती विधेय रूप संज्ञा अथवा विशेषण के साथ क्रिया की संस्थिति के सभी सामान्य स्थलों में (५९२) होता है; और सभी वास्तविक क्रियारूपों से भिन्न, संयोजन, सर्वत्र, मुख्य उपवाक्य तक में, अपना स्वरपात बनाये रखता है : यथा, **तर्हिं वा अतिनाष्ट्रो भवितास्मि** (श० ब्रा०) तब मैं निरापद रहूँगा। (यहाँ **भविष्यामि** यदि प्रयुक्त होगा, तो उदात्तविहीन होगा)। गौण उपवाक्य में सहायिका क्रिया उदात्तयुक्त होगी (५९५), तथा यदि ऐसी होगी तो वह संज्ञा के उदात्तत्व के परिहार को लेकर (जैसा कि क्रियारूप के साथ पूर्वसर्ग के युक्त होने पर, १०८३ आ)—निर्धारण करने के लिए हमें साधन प्राप्त नहीं है।

९४६—वेद में तृ या अर् अंतवाले शब्द, अन्य विभिन्न व्युत्पन्न संज्ञाओं की तरह (२७?), किंतु विशिष्ट पुनरावर्तन के साथ, कृदंत क्रियारूपात्मक रचना में प्रयुक्त होते हैं जो कर्म को अन्वित करते, जहाँ कहीं संबद्ध धातुओं के क्रियारूपों से इसकी प्राप्ति हो (११८२)। पुनः सहवर्ती संयोग से युक्त अथवा विहीन ये बहुधा विधेय रूप में प्रयुक्त होते हैं; तो भी किसी की कोई विवक्षा नहीं रहती; ये नूतन काल-निर्माण के आरंभरूप नहीं होते हैं; अपितु अग्रवर्ती हैं। सामान्यतः, जब इनमें कृदंतक्रियारूप वाली प्रयोगिता रहती है, तब स्वरपात धात्वक्षर (अथवा इसके पूर्ववर्ती उपसर्ग) पर होता है। ब्राह्मणों में यह काल-प्रयोग प्रायः अल्प-मात्रा में ही शुरू होता है (जिनसे लगभग तीस रूप **उद्धरणीय**

हैं); और यह आगे चलकर अधिक सामान्य हो जाता है, यद्यपि यौगिक भविष्य स्-भविष्य—जैसा व्यापक कहीं भी नहीं है (उत्तरकाल में यह लगभग तीस अतिरिक्त धातुओं से उद्धरणीय है)।

९४७—अ–सामान्य ढंग से परस्मैपदी पुरुषों के तिङ्प्रत्ययों के अनुरूप प्रत्ययों के साथ सादृश्य के आधार पर इस काल के आत्मनेपदी पुरुषों के बनाने के थोड़े से विच्छिन्न प्रयास होते हैं। इस प्रकार, तै० सं० में **प्रयोक्तासे** मैं प्रयोग करूँगा, (**प्रयोक्तास्मि** से संवद्ध जैसा कि उदाहरणस्वरूप **शास्मि** से **शासे**) एक वार प्राप्त हैं; श० ब्रा० में **शयितासे** तू लेटेगा, (उसी प्रकार **शयितासि** से संवद्ध) मिलता है; और तै० ब्रा० में **यष्टास्महे** हम यज्ञ करेंगे, आता है। किंतु तै० आ० (१–११) में **यष्टाहे** उत्तम० एकव० जैसा मिलता है, जहाँ संदिग्ध लक्षण की ध्वन्यात्मक अनुरूपता देखी जाती है जो भाषा में अन्यत्र अप्राप्त है।

आ—इनके-जैसे प्रायोगिक रूपनिर्माण के आधार पर देशी वैयाकरण यौगिक भविष्य के लिए समग्र आत्मनेपदी रूपनिर्माण यों प्रस्तुत करते हैं :

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	**दाताहे**	**दातास्वहे**	**दातास्महे**
म०	**दातासे**	**दातासाथे**	**दाताध्वे**
अ०	**दाता**	**दातारौ**	**दातारस्**

इ—उत्तरकाल में इस प्रकार के आत्मनेपदी रूप का एकमात्र उदाहरण प्रकाश में आया है, यथा (णिजन्त) **दर्शयिताहे** (नैप०)।

भविष्यत् और लृङ् के प्रयोग

९४८—जिस प्रकार स–भविष्य अपेक्षाकृत अधिक सामान्य होता है, उसी प्रकार यह अनिश्चित ढंग से अधिक प्रयुक्त है। सामान्यतया यह आनेवाले समय में भविष्यत् अर्थ को व्यक्त करता है—किंतु बहुधा, अन्य भाषाओं की तरह यहाँ भी एक ओर कामना अथवा इच्छा का भाव आता है, तो दूसरी ओर संकल्प या आशंका का भाव।

अ—कुछ उदाहरण हैं : **वर्षिष्यत्यैषमः पर्जन्यो वृष्टिमान् भविष्यति** (श० ब्रा०) वर्षा होने वाली है; इस वर्ष पर्जन्य वरसने वाला होगा; **यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति** (ऋ० वे०) जो कोई उसे नहीं जानता है, वह ऋचा लेकर क्या करेगा? **आ वै वयमग्नीं धास्यामहेऽथ यूयं किं करिष्यथ** (श० ब्रा०) हम दो अग्नियों को धारण करने जाते हैं, तब तुम क्या करोगे?

तमिन्द्रोऽभ्यादुद्राव हनिष्यन् (श० ब्रा०) मारने की इच्छा से उसकी ओर इन्द्र दौड़ गया; **यद्येवा करिष्यथ साकं देवैर्यज्ञियासो भविष्यथ** (ऋ० वे०) यदि तू ऐसा करेगा, तो देवों के साथ ही तू यज्ञाधिकारी वनेगा; **दन्तास्ते शत्स्यन्ति** (अ० वे०) तेरे दाँत गिरेंगे; **न मरिष्यसि मा बिभेः** (अ० वे०) तू नहीं मरेगा, डर नहीं; **ब्रूहि क्व यास्यसि** (महाभा०) हमें कहो, तुम कहाँ जाने वाले हो ? **यदि माम् प्रत्याख्यास्यसि विषमास्थास्ये** (महाभा०) यदि तुम मुझे छोड़ दोगे, मैं विषग्रहण करूँगा। अन्य भाषाओं की तरह यहाँ भी यह काल यदा-कदा संभावना अथवा तर्क के अर्थ में प्रयुक्त होता है : यथा, **कोऽयं देवो गन्धर्वो वा भविष्यति** (महाभा०) कौन यह है ? निस्संदेह वह कोई देव अथवा गन्धर्व हैं; **अद्य स्वप्स्यन्ति** (महाभा०) अभी ये सोते ही होंगे।

आ - भविष्यत् और सन्नन्त के क्षेत्र एक दूसरे से लगते हैं, और कभी-कभी एक वहाँ प्राप्त होता है जहाँ दूसरे की अपेक्षा रहती। सन्नन्तार्थ से युक्त लृट् के उदाहरण इस प्रकार होते हैं : **यद् दाशुषे भद्रं करिष्यसि तवेत्तत् सत्यम्** (ऋ० वे०) अपने पूजक के लिए तुम जो भी अनुग्रह करोगे, वह तुम्हारा यथार्थ होता है (निश्चय ही संभव है); **यथान्यद् वदिष्यन्त् सोऽन्यद् वदेत्** (श० ब्रा०) एक दूसरे से उस प्रकार वोलना चाहिए, जैसा कि कुछ कहने की इच्छा हो।

९४९—वैयाकरणों ने यौगिक भविष्य निश्चित काल में होने वाली क्रिया की परिभाषा के रूप में माना है। पुनः यद्यपि उत्तरकालिक प्रयोग में यह केवल अस्पष्ट रूप से प्राप्य है, यह भाषा में जहाँ इसके दर्शन प्रथमतः होते हैं, रूप-निर्माण का भेदक-लक्षण होता है। यह विशेष रूप से **श्वस्** आनेवाला कल के साथ वहुधा प्रयुक्त है।

अ—कुछ उदाहरण होते हैं : **अद्य वर्षिष्यति—श्वो व्रष्टा** (मै० सं०) आज वर्षा होने वाली है—कल वर्षा होगी; **यतरान् वा इमे श्वः कमितारस् ते जेतारस्** (काठक) इन दो में से जिनका वरण तुम करोगे, वे विजयी वनेंगे; **प्रातर् यष्टास्महे** (तै० ब्रा०) कल सवेरे हम यज्ञ करेंगे; **इत्यहे वः पक्तास्मि** (श० ब्रा०) अमुक दिन में मैं तुम्हारे लिये खाना पकाऊँगा; **तन् मे एकां रात्रिमन्ते शयितासे जात उ तेऽयं तर्हि पुत्रो भविता** (श० ब्रा०) तो, एक रात तू मेरे साथ सोयेगी, और उस समय तेरा यह पुत्र उत्पन्न होगा। अन्य स्थलों में काल की यह निश्चितता अनुपलब्ध है, किंतु प्रावल्य-भाव विशिष्ट निश्चितता—जैसा, संभवतः रूप में परिलक्षित होता है : यथा, **विभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति: कस्मान् मा पारयिष्यसीत्यौघ इमाः**

स॑वै॑: प्रजा नि॒र्वो॒ढा॒, तत॑स्त्वा पारयिताऽस्मीति (श० ब्रा०) मुझे धारण करो और मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा, उसने कहा। किससे मेरी रक्षा करोगे ? उसने पूछा। इन सभी जीवों को प्रवाह वहा कर ले जाने वाला है; उससे मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा, इसने कहा; **परिदेवयां चक्रिरे महच्छोकभयम् प्राप्तास्मः** (गो० ब्रा०) उन्होंने संवेदना प्रकट की, 'हमें महान् शोक और भय मिलने वाले हैं'; **यजेऽयक्षि यष्टाहे च** (तै० आ०) मैं यज्ञ करता हूँ, मैंने यज्ञ किया है, और मैं यज्ञ करूँगा। पुनः अन्य अवस्थाओं में, प्राचीनतर भाषा तक और अपेक्षाकृत अधिक उत्तरकाल में, यह भविष्य दूसरे भविष्य के सदृश लगता है : यथा, **प्रजायामेनं विज्ञातास्मो यदि विद्वान् वा जुहोत्यविद्वान् वा** (ऐ० ब्रा०) उसकी सन्तति से हम लोग जानेंगे कि वह जाने या अजाने यज्ञ करता है; **वक्तास्मो वा इदं देवेभ्यः** (ऐ० ब्रा०) हम इसे देवों से कहेंगे; **यदि स्वार्थो ममापि भविता तत एवं स्वार्थं करिष्यामि** (महाभा०) यदि आगे चलकर मेरा स्वार्थ होगा, तो मैं अपने स्वार्थ की ही चिन्ता करूँगा; **कथं तु भवितास्येक इति त्वां नृप शोचिमि** (महाभा०) किंतु तुम अकेले कैसे होगे ? हे राजा, यह तुम्हारे लिए मेरे शोक का कारण है।

९५०—सर्वाधिक मौलिक और वास्तविक ढंग से लृङ् इस तथ्य को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त प्रतीत होता है कि अमुक कार्य होने को था। तथा इसकी यह प्रयोगिता केवल इसके वैदिक प्रयोग में प्राप्त है, और अन्यत्र कादाचित्क भाव से ही। किंतु सामान्यतः इसमें ऐसा अर्थ होता है जिसे साधारणतया 'हेतुहेतुमद्' कहते हैं और अपने अधिकांश प्रयोगों में यह (समान प्रयोगिता लेकर प्रयुक्त होने से लेट् और विधिलिङ् की तरह) हेतुहेतुमद् वाक्य के दोनों उपवाक्यों में पाया जाता है।

अ—इस प्रकार, **यो वृ॒त्राय॒ सिन॑म् अ॒त्राऽभ॑रिष्यत् प्र तं जनि॑त्री वि॒दुष॑ उवाच** (ऋ० वे०) उसे, जो वृत्र के धन का अपहरण करने वाला था, अपनी माता से विद्वान् द्वारा संबोधन किया; **शतायुं गामकरिष्यम्** (ऐ० ब्रा०) मैं गाय को सौ वर्ष की आयु वाली बनाने को था (उसे बनाना चाहिए था)। उसी कथा के अन्य पाठों में दूसरा उपवाक्य रखा गया है जहाँ लृङ् की प्रयोगिता अपनी मूल प्रयोगिता से अधिक दूर की होती है : यथा, गो० ब्रा० में दुष्ट, यदि तुमने मेरा मुँह बंद नहीं किया [**प्राग्रहीष्यः**]; **तत॑ ए॒वाऽस्य भय॒ं वी॑याय कस्मा॑द् ध्य॑भेष्यद् द्वि॒ती॑याद् वै भय॑म् भवति** (श० ब्रा०) तब उसका भय दूर हो गया; क्योंकि वह किससे भयभीत होता ? भय दूसरे से ही होता है; **उ॑त्पपात चि॒रं तन् मे॑ने य॑द् वासः पर्य॑धास्यत** (श० ब्रा०) वह कूद

पड़ा; अनेक क्षण तक सोचता रहा कि वस्त्र धारण करना चाहिए था; **सं तद् एवं नाविन्दत् प्रजापतिर्यत्राऽहोष्यत्** (मै० सं०) तब प्रजापति वस्तुतः जान गया, कहाँ उसे हवन करना था (चाहिए था); **एवं चेन् नाऽवक्ष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्** (गो० ब्रा०) यदि तुम इस प्रकार नहीं बोलते, तो तुम्हारा मस्तक उड़ जाता; **सं यद् धौतावद् एवाभविष्यद् यावत्यो है वाऽग्रेप्रजाः सृष्टास् तावत्यो हैवाऽभविष्यन् न प्राऽजनिष्यन्त** (श० ब्रा०) यदि वह इतना ही होता, तो उतने ही जीव होते जितने प्रथमतः बनाये गये थे; उनकी कोई सन्तति नहीं रहती; **किं वाऽभविष्यद् अरुणस् तमसां विभेत्ता तं चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्** (शाकु०) उषःकाल अंधकार का भेदन करने वाला होता? यदि सहस्ररश्मि उसे अपने रथ के अग्रभाग में न रखता।

अध्याय—१३

धातुज विशेषण और संज्ञाएँ

कालवाची कृदन्तक्रियारूप, तुमर्थक, पूर्वकालिक क्रियारूप

९५१—अ—वे धातुज विशेषण अथवा कालवाची कृदन्त क्रियारूप जो काल-प्रकृतियों से निष्पन्न हैं, और फलतः विभिन्न काल-प्रक्रियाओं के अंग होते हैं, ऊपर निर्दिष्ट हो चुके हैं। कुछ अन्य रूपों का विवेचन अवशिष्ट है जो धातु से सीधे निष्पन्न होने के कारण पूर्णतः धातुज प्रक्रिया वाले होते हैं, न कि इसके विशिष्ट अंग-जैसे।

आ—(प्राचीनतर भाषा में कुछ अपवादों के साथ) तुमर्थक रूप भी सभी अवस्थाओं में सीधे धातु से बनता है, व्युत्पन्न काल-मूलों से नहीं।

इ—तथा-कथित पूर्वकालिक क्रियारूपों या निर्विभक्तिक कालवाची कृदन्त-क्रियारूपों में ऐसा ही तथ्य प्राप्त है।

तं या नं में अन्तवाले कर्मवाच्य कृदन्त क्रियारूप

९५२—उदात्त युक्त तं—अथवा अपेक्षाकृत थोड़ी-सी संख्यावाची क्रियाओं में नं—द्वारा धातुज विशेषण बनाया जाता है जो सकर्मक क्रियाओं से आने पर क्रिया द्वारा व्यक्त व्यापार वाले पद का विशेषण होता है : यथा, दत्तं दिया हुआ;

उक्त कहा हुआ। अतएव इसे सामान्यतः कर्मवाच्य कृदन्त क्रियारूप कहते हैं, अथवा कर्मवाच्य वर्तमान-प्रक्रिया के कृदन्त रूप से (७७१) इसे भिन्न रखने के लिए कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त क्रियारूप।

अ—अकर्मक या भाव-क्रिया से वनाये जाने पर वही कृदन्त क्रियारूप अन्य भाषाओं की तरह यहाँ भी कर्मवाच्य के स्थान में केवल अनिश्चित भूतार्थ रखता है : यथा, गत गया हुआ; भूत हुआ; पतित गिरा।

९५३—सामान्यतः, यह कृदन्त क्रियारूप मात्र धातुज प्रकृति में त जोड़कर वनाया जाता है, जहाँ सन्धि के साधारण नियमों का पालन होता है।

अ—किंतु कुछ धातुओं में प्रत्यय के साथ सहायक स्वर का पूर्व योग अपेक्षित है। इनके लिए तथा त के स्थान में न युक्त करने वाली क्रियाओं के लिए देखिए नीचे, ९५६, ९५७।

आ—सोपसर्ग धातु के होने पर उदात्तत्व के लिए देखिए १०८५ अ।

९५४—यदि क्रिया-श्रेणी में कहीं-दुर्वल और सवल रूपों की भिन्नता रहती है, तो त से पूर्व धातु में सामान्यतया उसका दुर्वलतम रूप प्राप्त होता है। यथा :

अ—उपधा-नासिक्य वहुधा लुप्त कर दिया जाता है : उदाहरण हैं अक्त (√(अञ्ज्)), वद्ध (√(वन्ध)), श्रब्ध (√(श्रम्भ्)), दष्ट (√(दंश)) स्रस्त (√(स्रंस)), वाढ (√(वंह्))।

आ—वे धातुएँ, जो परोक्ष के दुर्वल-रूपों में (७९४) संक्षेपीकृत होती हैं, इसी प्रकार के संक्षेपीकरण में क्षयित होती हैं : उदाहरण होते हैं उक्त (√(वच्)), उष्ट (√(वस्) चमकना), उप्त (√(वप्); साथ ही वप्त), ऊढ (√(वह्)), सुप्त (√(स्वप्)), इष्ट (√(यज)), विद्ध (√(व्यध्));—तथा उसी पद्धति से √(प्रछ्) (या प्रश्) पृष्ट वनाती है, √(भ्रंश) भृष्ट (साथ ही, नियमित पद्धति भ्रष्ट) वनाती है, और √(श्रा) खौलाना से शृत (श्रात के अतिरिक्त) वनता है।

इ—गीत (√गा) गाना), धीत (√(धा) स्तनपान करना), पीत (√(पा) पीना), स्फीत में अन्त्य आ ई में दुर्वलीकृत है; तथा ज्या, व्या, श्या (अथवा जी, प्रभृति धातुओं से जीत, वीत, शीत वनाये जाते हैं;—और पुनः छित (छात के अतिरिक्त), दित (√(दा) खण्ड करना और √(दा) वांधना), द्रित (? √(द्रा) सोना), हित (√(धा) रखना, ध् के लिए ह् के साथ, किंतु वे० में धित भी मिलता है), मित (√(मा) मापना), शित (शात भी), सित, स्थित—इनमें इ में दुर्वलीकृत हैं :

ई—गत, नत, यत, रत (√(गम्) प्रभृति में) में अ के बाद अन्त्य म् लुप्त हो गया है; तथा क्षत, तत, मत, हत में अन्त्य न्। अम् और अन् अन्तवाली धातुओं के लिए जिनमें त का ग्रहण है, देखिए ९५५ अ, आ।

उ—ऊत, (ऋ० वे० √(अव्); उत या ऊत (√(वा) बुनना) शिष्ट (शास्त) भी, √(शास्), मूर्त (√(मूर्छ्) से संबद्ध) अपेक्षाकृत अधिक विकीर्ण प्रयोग होते हैं।—ग्ध और जग्ध के लिए देखिए २३३ ऊ।

ऊ—दूसरी ओर √(स्वद्) से स्वात्त बनता है।

९५५—अपेक्षाकृत अधिक अनियमित स्वरूप वाले ये होते हैं :

अ—अम् अंतवाली कतिपय धातुओं में नासिक्य सुरक्षित रहता है, और धातुमूलक स्वर (जैसा कि इनके अन्य कुछ धातुज रूपों में भी) दीर्घ कर दिया जाता है : यथा—कांत, क्रांत, क्लांत, क्षांत, चांत, तांत, दांत, भ्रांत, वांत, शांत (√(शम्) शान्त होना), श्रांत (√(क्रम्) प्रभृति से); तथा अन् अंतवाली एक धातु ध्वन् ध्वनि करना ध्वान्त बनाती है।

आ—अन् अंतवाली कुछ धातुएँ अपना कृदन्तक्रियारूप आकारान्त अन्य धातु-रूप से बनाती हैं : यथा—खात, जात, वात, सात; धम् के धमित और ध्मात दोनों रूप होते हैं।

इ—ईव् अंतवाली कुछ धातुएँ अपने यू-रूप (७६५ अ) को ग्रहण करती हैं : यथा—द्यूत √(दीव्) खेलना), ष्ठ्यूत, स्यूत; किंतु √(मीव्)-मूत बनाती है।

ई—परिवर्तनीय ॠ अंतवाली धातुओं से (सामान्यतः न ग्रहण करनेवाली; ९५७ आ) पूर्त (√पॄ) भरनाः साथ ही, पृत), शीर्त और शूर्त (√(शॄ) कुचलना) भी बनाये जाते हैं; तथा √(श्री) मिश्रण करना से पुनः शीर्त बनता है।

उ—मुग्ध और मूढ, साढ और सोढ; धूर्त और ध्रुत, ह्‌वृत और ह्रुत दोहरे रूप होते हैं।

ऊ—धातु दा देना दत्त बनाती है (यौगिक धातुरूप दद् से; किंतु वे० में दात भी)। परन्तु अनियमित ढंग से—त्त आकुञ्चित रूप (जैसे कि दात के लिए, धातुमूलक स्वर के लुप्त होने से) भी समास में, विशेषतः उपसर्गों के साथ, अधिक प्राप्त हैः यथा—आत्त, अनुत्त, व्रित्त, प्रत्त, प्रतीत्त; विरल रूप से अन्य अवयवों के साथ, जैसे—देवत्त, पुनर्त्त, मरुत्त (?)। पुनः इसी प्रकार का संक्षेपीकृत रूप √(दा) बाँटना से अवत्त में मिलता है :

ए—वे धातुएँ जिनके कृदन्तक्रियारूप त और इत, अथवा त और न दोनों अथवा इन तीनों में बनते हैं, परवर्ती दो कडिकाओं में निर्दिष्ट की जायेंगी।

९५६—इ से युक्त या इत रूप अंतवाला प्रत्यय विशेषरूप से उन धातुओं के साथ प्रयुक्त है जिनके अन्त्यों की सन्धि त् के साथ बड़ी कठिनाई से, यदि प्राप्ति संभव है, भाषा के सामान्य सादृश्यों के अनुसार होती है, और बहुधा यौगिक, व्युत्पन्न अथवा उत्तरकालिक लक्षण रखने वाली धातुओं के साथ प्रयुक्त हैं; किंतु अविरले मूल धातुओं के साथ भी।

अ—इस प्रकार, संधि की कठिनाइयाँ प्रस्तुत करने वाली धातुओं में;—(१) दो व्यंजनों में अंत होने वाली सभी धातुएँ (केवल उनको छोड़कर जिनका एक व्यंजन दुर्बलीकरण की प्रक्रिया में लुप्त हो जाता है, ९५४ अ, आ) : उदाहरणस्वरूप शङ्क्, वल्ग्, वाञ्छ्, लज्ज्, उब्ज्, चेष्ट्, घूर्ण, कत्थ्, निन्द्, जल्प्, चुम्ब्, उम्भ्, खल्ल्, पिन्व्, शंस् (साथ ही शस्त), रक्ष्, हिंस्, गर्ह् (सब मिलाकर, पचास से ऊपर) : किंतु तक्ष् से तष्ट बनता है;—(२) वे सब धातुएँ जो मूर्धन्यों में अंत होने वाली हैं (अ या आ के बाद ष् इनमें सम्मिलित हैं) : उदाहरणार्थ, अट्, त्रुट्, पठ्, लुठ्, ईड्, ब्रुड्, भण्, कष्, भाष्;—(३) अघोष सप्राण ध्वनि में अंत होने वाली सभी धातुएँ; यथा, लिख्, ग्रथ्, नाथ्, कुथ्, रिफ्, गुफ्;—(४) ल् अंतवाली सभी धातुएँ, यथा, चल्, गिल्, मील्, लुल्, खेल्;—(५) अन्य नियत अन्तःस्थों में अंत होने वाली सभी धातुएँ, उदाहरणस्वरूप, चर्व् (चूर्ण भी) जीव् (ईव् अंत वाली अन्य धातुओं के लिए देखिए ९५५ इ) धाव् दौड़ना, सेव्, दय्, व्यय्, पूय्;—(६) उझ्।—इसमें समग्र संख्या की आधी से भी अधिक आती हैं जिनमें केवल इत का ग्रहण है।

आ—व्यंजनों में अंत होने वाली अन्य धातुओं में :—कण्ठ्यध्वनियों में अंत होने वाली, चक्, ढौक्, (शक् से त और इत दोनों प्राप्त हैं); श्लाघ्; (२) तालव्य ध्वनियों में अंत होने वाली, अच् (अक्न भी); उच्, कुच्, खच्, याच्, रुच्; अज् ?, कूज्, व्रज्, साथ ही उत्तरकालिक ग्रंथों में त्यज् और मृज् भी (साधारणतया त्यक्त और मृष्ट);—(३) तालव्य ध्वनियों में अंत होने वाली, अत्, पत्, श्चुत्, रामा० महाभा० में यत् भी (अन्यत्र केवल यत्त); क्रद्, खाद्, गद्, चुद्, नद्, मुद्, मृद्, रद्, रुद्, वद्, विद् जानना, ह्लाद्; साथ ही, रामा० महाभा० में नुद् (अन्य नुत्त और नुन्न); मद् के मत्त और मदित दोनों होते हैं (द् अंतवाली धातुओं में से अधिकांश न ग्रहण करती हैं, ९५७ ई); एध्, क्षुध्, गध्, दुध्, नाध्, बाध्, स्पर्ध्; अन्, इन्, क्वन्, ध्वन्, पन्, रन् बजाना, वन्, स्तन्, स्वन्, और ध्वन् (ध्वान्त भी);—(४) ओष्ठ्य ध्वनियों में अंत होने वाली चुप्, युप्, रुप्, तथा सामान्यतया कुप्

(कुप्त उत्तरकाल में) और लप् (लप्त, रामा० महाभा०), यदा-कदा क्षिप्, गुप्, तप्, दृप्, वप्, शप्, जबकि जप् से त और इत दोनों प्राप्त हैं; ग्रभ् (गृभीत), शुभ्, स्कभ्, तथा कभी-कभी लुभ्, जबकि क्षुभ् और स्तभ् में दोनों रूप होते हैं; तिम्, धम्, शम् श्रम करना, स्तिम्, और रामा० महाभा० में क्षम् (क्षांत भी);—(५) ऊष्मध्वनियों में अंत होने वाली, अश् खाना, ईश्, काश्, कृश्, वांश्, शश्, जब कि पिश् के दोनों रूप प्राप्त होते हैं; तथा मृश् से उत्तरकाल में केवल इत का ग्रहण है; इष् भेजना, ईष्, कुष्, तृष्, त्विष्, प्रुष्, मिष्, रूष्, हेष्, ह्लेष्, मुष् भी उत्तरकाल को छोड़कर, जबकि धृष्, रुष् और हृष् में दोनों रूप देखे जाते हैं; आस्, भस्, भास्, रस्, लस्, वस् वस्त्र धारण करना, हस्, साथ ही यदा-कदा अस् फेंकना, जबकि कस्, ग्रस्, यस्, वस् चमकना, वस् बसना, शास् (शिष्ट और शास्त के साथ), श्वस् और ह्रस् के दोनों रूप बनते हैं; ईह्, ग्रह् (गृहीत), जह् (हा का यौगिक रूप), मह्, रह् और यदा-कदा ऊह् दूर करना, जब कि गाह् में दोनों रूप प्राप्त हैं।

इ—स्वरान्त धातुओं में केवल शी लेटना है जिससे (धातु में गुण के साथ अन्यत्र की तरह, ६२९) शयित बनता है।

ई—सामान्यतः, इत से पूर्व धातु अपना पूर्ण रूप बनाये रखती है; किंतु कुछ अपवाद होते हैं : यथा—गृभीत और गृहीत (धातु ग्रभ् और ग्रह्— जैसी मानी जाती है : द्रष्टव्य ७२९), उदित (उत्तरकालिक भाषा में वदित भी), उषित (√(वस्) चमकना, साथ ही उष्ट), उषित (√(वस्) वास करना; कादाचित्क भाव से वसित और उष्ट भी), उक्षित (वक्ष् बढ़ना), श्रथित (श्रथ्)। मृज् से मृजित और मार्जित (वर्तमान तथा अन्यत्र की तरह सबलीकरण के साथ : ६२७) मृष्ट के अतिरिक्त बनाये जाते हैं।

उ—गृभीत और गृहीत में इ की जगह दीर्घ ई रखा जाता है।

९५७—त के स्थान में प्रत्यय न (सर्वत्र सहायक इ के बिना) अनेक धातुओं द्वारा (लगभग सत्तर) गृहीत होता है। यथा :

अ—आ अंतवाली कुछ धातुएँ : यथा—क्षा, ग्ला, द्रा दौड़ना, द्रा सोना, (द्रित ? भी), म्ला (म्लात भी), वा बहना (वात भी), श्या (शीन भी), स्त्या, हा छोड़ना (हीन और हात), हा निकल जाना; तथा दा विभाग करना से दिन (साथ ही, दित और-त्त) बनता है। पुनः—इ और उ स्वरान्त कुछ धातुएँ, जैसे—क्षि नष्ट करना (क्षीण; क्षित भी), डी, पी,

ली लगना, व्ली, शी या श्या जमना (श्यान और शीत), ह्री (साथ ही, ह्रीत); दू जलाना (दुत भी), लू, शू; तथा दीव् शोक करना से दूयून (तुलनीय ७६'१) बनता है।

आ—ऋ, जो प्रत्यय से पूर्व ईर् या ऊर हो जाता है, अंतवाली धातुएँ : रूप होते हैं—अर्ण (उत्तरकालिक; साथ ही ऋत), कीर्ण (√कृ छींटना), गीर्ण (√गृ निगलना), जीर्ण और जूर्ण (√जृ गलित होना), तीर्ण और तूर्ण (तूर्त भी), दीर्ण (√दृ छेदना; दृत भी), पूर्ण (√पृ भरना; पूर्त और पृत भी), मूर्ण (√मृ कुचलना), शीर्ण (√शृ नष्ट करना; शीर्त और शूर्त ? भी), स्तीर्ण (स्तृत भी)। इनके समान स्वरूप वाले हैं—√(ईर्) से ईर्ण, √(चर्) से (चरित के अतिरिक्त) चीर्ण, गृ के यौगिक रूप √(गुर्) से (गूर्त के अतिरिक्त) गूर्ण, और √(चर्व्) से, जो स्पष्टतः यौगिक धातु भी है, (चर्वित के अतिरिक्त) चूर्ण।

इ—ज् (जो प्रत्यय से पूर्ण पदान्त-सन्धि के सामान्य नियम के विरुद्ध ग् हो जाता है, २१६ ऊ) अन्तवाली कुछ धातुएँ : यथा, भग्न (√भञ्ज्), भुग्न (√भुज झुकाना), मग्न (√मज्ज्), रुग्ण, विग्न (साथ ही, विक्त)। पुनः, च् अंतवाली दो या तीन (उसी प्रकार की प्रक्रिया लेकर) : यथा—अक्न (√अच् या अञ्च् : अचित और अञ्चित भी), वृक्ण (√व्रश्च), तथा स्पष्टतः—पृग्ण (ऋ० वे०, एकवार; √(पृच्) से धात्वन्त के द्विगुणी अनियमित परिवर्तन के साथ)। पुनः ग् अंतवाली एक धातु, लग्न।

ई—द् (जो सामान्य नियम के प्रतिकूल प्रत्यय से पूर्व न् हो जाता है : १५७ आ) अंतवाली धातुओं की एक बड़ी संख्या, जिनको कुछ अत्यधिक प्रचलित हैं, ऐसे रूप होते हैं : उन्न (उत्त भी), अर्ण्ण ?, क्लिन्न, क्षुण्ण, क्ष्विण्ण; खिन्न, छन्न, छिन्न, छृण्ण, तुन्न, तृण्ण, नुन्न (नुत्त और नुदित भी), पन्न, भिन्न, विन्न (√(विद्) पाना; वित्त भी), शन्न (√(शद्) गिरना) सन्न (सत्त भी), स्कन्न (√(स्कन्द्),) स्यन्न (√(स्यन्द्), स्विन्न, हन्न। पुनः अन्न भोजन, इसके भिन्न स्वरपात के रहने पर भी, √ (अद्) खाना का तथाविध रूपनिर्माण-जैसा प्रतीत होता है।

९५८—थोड़े-से विविध व्युत्पन्न विशेषणों को, जो ऐसी धातुओं से निष्पन्न हैं जिनके नियमित कृदन्त क्रियारूप नहीं बनते हैं, देशी वैयाकरण इस रूपनिर्माण से कृदन्त क्रियारूपों-जैसे मानते हैं : इस प्रकार के हैं, क्षाम जला हुआ, कृश क्षीण, पक्व पका हुआ, फुल्ल फैला हुआ, शुष्क सूखा हुआ।

तवन्त् (या नवन्त्) अंतवाले भूतकालिक कर्तृवाच्य कृदन्तरूप

९५९—भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप से, चाहे जिस किसी रूप-निर्माण का हो, संबंधबोधक प्रत्यय **वन्त्** जोड़कर यौगिक प्रत्ययान्त रूप बनाया जाता है, जो परोक्ष कर्तृवाच्य कृदन्तरूप के निर्माण और अर्थ को लेकर होता है : उदाहरणार्थ, **तंत् कृतवान्** इसे करके; **तं निगीर्णवान्** उसको निगल कर। इसका रूप-विधान इस प्रत्यय से बने अन्य व्युत्पन्नों (४५२ नि० वि०) की तरह होता है; इसका स्त्रीलिंग **वती** अंतवाला होता है; इसका स्वरपात कृदन्त-क्रियारूप पर बना रहता है।

९६०—इस रूपनिर्माण के व्युत्पन्न शब्द ऋ० वे० में प्राप्त हैं, किंतु कृदन्त क्रियारूप प्रयोगिता-जैसी किसी प्रकार की प्रतीति नहीं होती है। अ० वे० में कृदन्तक्रियारूपात्मक अर्थ को लेकर एक मात्र उदाहरण मिलता है : **अशितावत्यतिथौ** अभ्यागत के भोजन कर लेने पर : (**भावे सप्तमी**)। ब्राह्मणों में भी यह विरले ही मिलता है। उत्तरकालिक भाषा में यह खूब सामान्य हो जाता है। पुनः वहाँ यह मुख्यतया विधेय रूप में प्रयुक्त होता है, और अत्यधिक समय अभिव्यक्त संयोजक के बिना अथवा भूतकाल में पुरुषबोधक तिङन्त रूप की प्रयोगिता के साथ: मुख्यतः और बहुधा आसन्न भूत का अर्थ द्योतित करता है अथवा यथार्थ 'परोक्ष' प्रयोगिता को रखता है; किंतु साथ ही (उत्तर काल में प्राचीन लिट् और प्राचीन लुङ् की तरह) अनिश्चित काल में अथवा लङर्थ के साथ (७७९) निर्बाध मिलता है। उदाहरणार्थ; **मां न कश्चित् दृष्टवान्** किसी ने मुझे नहीं देखा है (अथवा देखा); **स नकुलं व्यापादितवान्** उसने नेवले को मार दिया; अथवा, संयोजक के साथ, **महत् कृच्छ्रम् प्राप्तवत्यसि** तूने बड़ा कष्ट पाया है। यद्यपि मूल और यथार्थ रूप में यह केवल सकर्मक क्रियाओं से (कर्म के साथ, जिसके साथ त अंतवाला कृदन्तक्रियारूप कर्मरूप-विधेय का संबंध रखता है) बनाया जाता है, अंततोगत्वा यह अकर्मकों के साथ भी प्राप्त होता है : यथा—**चूतेन संश्रितवती** (शकु०) आम्रवृक्ष से लिपट गयी है; **गतवती** (वहीं), वह चली गयी है।

अ—इसी प्रकार का कृदन्तक्रियारूप यौगिक क्रियारूप में भी बनाया जाता है : उदाहरणस्वरूप, दर्शितवान् दिखलाकर; **प्रबोधितवन्त्**, जगा कर।

आ—कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूपों से बने **इन्** अंतवाले संबंधार्थक भी कभी-कभी समान विधि से प्रायः परोक्ष कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूपों के-जैसे प्रयुक्त होते हैं : उदाहरणार्थ, **इष्टिन्** यज्ञ करके, **विजितिनो मन्यमानाः** (ऐ० ब्रा०) अपने को विजयी मानकर।

भविष्यकालिक कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप—तव्यादि प्रत्ययान्तरूप

९६१—कुछ व्युत्पन्न विशेषणों (अधिकांशतः अल्पाधिक मात्रा में स्पष्ट यौगिक व्युत्पन्नों) ने भाषा में ऐसी प्रयोगिता प्राप्त की है जो इनकी प्रकृतिरूप धातु के द्वारा व्यक्त क्रिया के वर्तमान अथवा संभाव्य विषय का विशेषणरूप है; और प्रत्येक क्रिया से इनका निर्माण विहित है। फलतः, अधिक संगत कृदन्त-क्रियारूपों की तरह ये कभी-कभी सामान्य क्रिया-प्रक्रिया के अंग-जैसे माने जाते हैं, और भविष्यकालिक कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप अथवा तव्यादि प्रत्ययान्त रूप कहे जाते हैं (न्दुस् अन्तवाले लैटिन रूपों की तरह, जिनके समानार्थक ये होते हैं)।

९६२—प्रत्यय जिनके द्वारा इस प्रकार के भविष्यकालिक कर्मवाच्य कृदन्त-क्रियारूप बनाये जाते हैं, तीन हैं : यथा—**य**, **तव्य** और **अनीय**।

अ—इस प्रयोगिता वाले **य** प्रत्ययान्त विकास-रूप भाषा के सभी युगों में पूर्वतम से लेकर अर्वाचीन तक बनाये गये हैं। अन्य दो अपेक्षाकृत अधिक नवीन उत्पत्ति वाले होते हैं जो प्राचीनतम वेद (ऋ० वे०) में सर्वथा अप्राप्त हैं और उत्तरकाल में कठिनता से ज्ञात हैं। इसी प्रकार के लक्षण वाले अन्य व्युत्पन्न शब्द वेद में मिलते हैं (९६६), जो आगे चलकर प्रयोग में नहीं आते हैं।

९६३—प्रत्यय **य** अपने भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप प्रयोग में विशेषणों और अन्य लक्षणवाली संज्ञाओं (द्रष्टव्य नीचे, १२१३) के निर्माण में प्रयुक्त होनेवाले तद्रूप प्रत्यय से किसी प्रकार का भेद नहीं रखता है। पुनः इसमें धातु-परिवर्तन विषयक समान वैविध्य भी देखा जाता है।

अ—प्रत्यय का मूल मान इअ है, और इसके वैदिक प्रयोगों की अधिक संख्या में इसका पाठ इसी विधि में अपेक्षित है। फलतः इसके पूर्व **ए** और **ओ** का रूपान्तरण **अय्** और **अव्** में होता है (देखिए नीचे)।

आ—इस प्रकार, (१) अन्त्य आ प्रत्यय से पूर्व **ए** हो जाता है : **दे॑य**, **ध्येय**, **ख्ये॑य**, **मे॑य** (संभवतः **दा॑-इअ**, मध्याश्लिष्ट श्रुति-मूलक **य्** के साथ); किंतु ऋ० वे० में—**ज्ञाय** एक बार प्राप्त है।—(२) अन्य स्वर या तो अपरिवर्तित रहते हैं, अथवा उनमें गुण या वृद्धि सबलीकरण प्राप्त होता है; और **ए** साधारणतया तथा ओ नित्य रूप से **य** के पूर्व इस प्रकार गृहीत हैं जैसे कि ये स्वर के पूर्ववर्ती हों : यथा—**क्षय्य**, **ज॑य्य**, **भ॑य्य** **लाय्य**; **न॑व्य**, **भ॑व्य**, **ह॑व्य** **भाव्य॑**, **वार्य॑**; तथा उत्तरकालिक भाषा में, **नेय**, **जेय**, **धूय** (इस प्रकार के प्रयोग पूर्वतर काल में अप्राप्त हैं)। कुछ प्रयोगों में ह्रस्व-स्वर प्रत्यय से पूर्व **त्** का योग करता है : जैसे—**इत्य**, **मित्य**, **श्रु॑त्य**, **स्तु॑त्य**, **कृत्य** (मात्र वैदिक

उदाहरण)। — (३) मध्यग अ अपरिवर्तित रहता है, अथवा दीर्घ कर दिया जाता है : यथा, दंम्य, वंन्द्य, संद्य, मांद्य, वांच्य। —(४) मध्यग इ–, उ– और ऋ-स्वर अपरिवर्तित हैं अथवा उनमें गुण-सबलीकरण होता है : यथा, ईड्‌य, गुंह्य, धृष्य, द्वेष्य योध्य, मार्ज्य।

इ—ऋ० वे० में इस कृदन्तक्रियारूप के लगभग चालीस उदाहरण प्राप्त हैं, और अ० वे० में इनके आधे से अधिक और आते हैं। भविअं (एकवार) को छोड़कर अन्यत्र ऋ० वे० में स्वरपात नित्य धातु पर होता है; अ० वे० में अनेक प्रयोग हैं जहाँ स्वरपात प्रत्यय के इ पर होता है (फलतः आद्यं, आय्र्यं,-व्याध्यं धष्यँ जैसे लिखे गये हैं। वैयाकरणों के अनुसार स्वरपात धातु पर होता है, अथवा प्रत्यय ही स्वरित कर दिया जाता है : यदि य अच् का परवर्ती होता है, तो नित्य रूप से प्रथम कोटि मिलती है।

९६४—अ—तव्य प्रत्यय तु अन्तवाली तुमर्थ संज्ञा से (नीचे ९६८) यौगिक विशेषण व्युत्पन्न होता है जो य प्रत्यय (यथार्थतः, इअ, जिससे स्वरपात य है) के योग से बना है, जहाँ अन्त्य उ नियमानुसार (१२०३ अ) गुण-सबलीकरण को प्राप्त है और यह अव् में विघटित है।

आ—फलतः, तव्य से पूर्व सहायक स्वर इ के लोप अथवा प्राप्ति तथा धातु द्वारा गृहीत रूप दोनों ही लेकर नियम वे ही होते हैं जो तुमर्थक के रूप-निर्माण को लेकर (नीचे, ९६८)।

इ—इस रूपनिर्माण का कोई उदाहरण ऋ० वे० में प्राप्त नहीं है, और अ० वे० में मात्र दो मिलते हैं, जनितव्य और हिंसितव्यं। ब्राह्मण भाषा में यह विरल नहीं रह जाता है, और सरल धातु तथा व्युत्पन्न क्रियारूप वाली प्रकृतियाँ (परवर्ती अध्याय)—दोनों से बनाया जाता है; श्रेण्य भाषा में यह और भी सामान्य बन जाता है वैयाकरणों के अनुसार शब्द का स्वरपात या ता अन्त्य स्वरित होता है, अथवा उपधोदात्त। इस प्रकार, कर्तव्यं या कर्तव्य; स्वर चिह्नित ग्रन्थों में सर्वत्र प्रथम कोटि ही प्राप्त है (पीटरस्वर्ग कोष में कुछ कृदंतक्रियारूपों में दिया गया तंव्य स्वरपात असंगत है जो कि श० ब्रा० की संदिग्ध स्वर प्रणाली (८८३) के चलते उत्पन्न हुआ है : ८८ इ)।

९६५ अ—अनीय प्रत्यय इसी प्रकार यौगिक व्युत्पत्ति का प्रतिफलन है जो सामान्य प्रत्यय अन से बनी भावसंज्ञा में ईय विशेषण प्रत्यय (१२१५) के लगने से बना है।

आ—इसलिए इसके रूपनिर्माण की विधि लेकर इसमें अन प्रत्यय वाले नियम (नीचे, ११५०) लागू होते हैं।

इ—यह रचनात्मक प्रत्यय भी ऋ० वे० में अज्ञात है, और अ० वे० में केवल **उपजीवनीय** और **आमन्त्रनीय** में पाया जाता है (तथापि इन दोनों में इसका स्पष्ट भविष्यकालिक कृदंत क्रियारूप वाला तत्त्व संदेह का विषय बना हुआ है)। ब्राह्मणों में (जहाँ एक दर्जन से कम इसके उदाहरण देखे जाते हैं) तथा उत्तरकालिक भाषा में यह तव्यान्त भविष्यकालिक कृदंतक्रियारूप की अपेक्षा कम सामान्य है। ईय प्रत्यय वाले सभी विस्तारूपों की तरह इसका स्वरपात भी उपधा पर होता है : यथा, **करणीय**।

९६६—सजातीय प्रयोगिता के अन्य रूपनिर्माण वेद में यों प्राप्त हैं :

अ—**तुअ** या **त्व** अन्तवाले भविष्यकालिक कृदंतक्रियारूप, जो स्पष्टतः अग्रिम प्रत्यय अ के साथ (१२०९) तु अंतवाली तुमर्थ संज्ञा से बना है। ये होते हैं **कर्तुअ** (**कर्त्व** दो स्थलों में), **गंत्व**, **जन्तुअ**, **जेतुअ**, **नंतुअ**, **वक्तुअ**, **सोतुअ**, **स्नातुअ**, **हन्तुअ**, **हेतुअ**, **होत्वः** और सहायक इ (या ई) साथ, **जनित्व**, **सनित्व**, **भवीत्व**।

आ—**एनिअ** या **एन्य** (तुलनीय १२१७) अन्तवाले भविष्यकालिक कृदंत क्रियारूपः ये हैं—**ईक्षेणिअ**, **ईडेनिअ**, **चरेणिअ**, **दृशेनिअ**,–**द्विषेणिअ**, **भूषण्य**, **युधेनिअ**, **वरेणिअ** (और **भजेन्य** भाग० पु०)। स्पष्ट लुङ्-प्रकृति से एकमात्र उदाहरण **यंसेन्य**, और तीन या चार यौगिक क्रिया-प्रकृतियों से (देखिए नीचे, १०१९; १०३८, १०६८ अ)।

इ—**आयिअ** (एक बार **आय्यः** तुलनीय १२१८) : ये हैं—**दक्षायिअ**, **पनायिअ**; **विदायिअ**, **श्रवायिअ हवायिअ**; साथ ही कुछ यौगिक क्रियारूप प्रकृतियों से (तुलनीय, १०१९, १०३८, १०५१, १०६८ अ) :, तथा **स्तुपेयिअ** इनके घनिष्ठ सजातीय-जैसा होता है।

ई—**एलिम** अंतवाले कुछ विशेषण, यथा **पचेलिम**, **भिदेलिम** (मात्र उद्धरणीय) वैयाकरणों द्वारा भविष्यकालिक कृदंत क्रिया रूपों की तरह गृहीत हैं।

९६७—कृदंत क्रियारूपात्मक तथा साधारण विशेषणों के मध्य की विभाजन रेखा अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत में कम दृढ़ता से निर्धारित है। इस प्रकार, यौगिक क्रियारूप-प्रकृतियों से उकारान्त विशेषणों में, जैसा कि आगे देखा जायेगा (११७८), कृदंत-क्रियारूप वाली प्रयोगिता प्राप्त है; तथा ब्राह्मणों में (अ० वे० में एक या दो उदाहरणों के साथ) उक्त प्रत्यय से बना कृदंतक्रियारूपात्मक विशेषण (११८०) अधिक व्यापक और साधारण रूप से प्रयुक्त पाया जाता है।

तुमर्थक रूप

९६८—उत्तरकालिक भाषा में केवल एकमात्र तुमर्थक रूप प्राप्त है जो सामान्यतया धातु में सीधे, किंतु बहुधा पूर्ववर्ती सहायक स्वर इ के साथ भी, जुड़े तु प्रत्यय से बनी धातुज संज्ञा का द्वितीया–विभक्ति रूप होता है। अतः तुमर्थ प्रत्यय का रूप **तुम्** या **इतुम्** है। धातु गुण-सबलीकरण में मिलती है और उदात्त होती है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, √(इ) से **ए॑तुम्**; √(कृ) से **क॑र्तुम्**; √(चर) से **च॑रितुम**; √(भू) से **भ॑वितुम्**।

अ—इ के लोप अथवा प्रयोग को लेकर तुमर्थक रूप (तथा **त्वा** अंतवाला पूर्वकालिक क्रियारूप भी; ९९१) सामान्यतया कर्मवाच्य कालवाची कृदन्तक्रियारूप (९५६) के सादृश्य का पालन करता है। उदाहरण (पूर्वकालिक क्रियारूपों को साथ रखकर) यों होते हैं: √(दह्) से **दग्ध॑, द॑ग्धुम्, दग्ध्वा॑**; √(भिद्) से **भिन्न॑, भे॑त्तुम्, भित्त्वा॑**; √(मन्) से **मत॑, म॑न्तुम्, मत्वा॑**; √(वह्) से **ऊढ॑, वो॑ढुम्, ऊढ्वा॑**; √(पत्) से **पतित॑, प॑तितुम्, पतित्वा॑**; √(याच्) से **याचित॑, या॑चितुम्, याचित्वा॑**; √(शी) से **शयित॑, श॑यितुम्, शयित्वा॑**। किंतु कुछ अपवाद और विशिष्ट प्रयोग द्रष्टव्य हैं। यथा—

आ—उन धातुओं में, जिनके उद्धरणीय कालवाची कृदन्तक्रियारूप प्राप्त नहीं हैं, **तु** अंतवाली तुमर्थ-प्रकृतियों **अद्, सघ्** से बनती हैं, **इतु** अंतवाली **उञ्छ्, ऊह्** सोचना, **क्षप्, लुण्ठ्, लोक्, स्वर्** से; तथा दोनों अंतवाली **यभ्** से।

इ—दोनों रूपों के कालवाची कृदन्तक्रियारूप बनाने वाली धातुओं में मात्र **तु**-अंतवाली तुमर्थ प्रकृतियाँ **क्षिप्, क्षुभ्, तप्, त्यज्, मृश्, लुभ्, वस्** चमकना, **शक्, स्तभ्** से उद्धरणीय हैं; मात्र **इतु** अंतवाली **गाह्, चर्व्, जप्, मद्, यत्, वन्, शंस्, श्वस्** से; तथा दोनों अंतवाली **अस्** फेंकना, **ऊह्** हटाना, **गुप्, चर्, मृज्** (**मार्ष्टु, मार्जितु**), **लप्, वस्** वास करना, **शप्, शास्** से।

ई—अन्य कतिपय स्थलों में भी (पूर्व निर्दिष्टों के अतिरिक्त) तुमर्थ-प्रकृति **इ** के साथ और इसके बिना दोनों ही ढंगों से बनायी जाती है। इस प्रकार, अपेक्षाकृत अधिक नियमित रूप के अतिरिक्त **इतु** अंतवाली प्रकृति **अश्** पाना, **इष्** खोजना, **बन्ध्, भज्, यज्**, (**इजितुम्**), **रुध्** रोकना, **रुह्, वृष्, सद्** (**सीदितुम्**), **सह्, हन्, हृ** धातुओं से यदा-कदा प्राप्त होती है; तथा **तु**–अंतवाली **आस्, भाष्, विद्** जानना धातुओं से। दोनों ही रूप कुछ **अम्**–अंतवाली धातुओं से भी मिलते हैं, उदाहरणस्वरूप **नम्, यम्, रम्**; तथा कालवाची कृदन्त-क्रियारूप की तरह **तु** के पूर्व **आ** के साथ, **क्रम्** और **भ्रम्** (**क्षम्** से **क्षांत** के सादृश्य के प्रतिकूल केवल **क्षांतु** प्राप्त है); पुनः परिवर्तनीय **ऋ** अंतवाली कुछ

धातुओं से, यथा—**तृ** (**तर्तुं, तरितु**), **वृ** ढँकना (**वर्तुं, वरितु**) और **स्तृ** (**स्तर्तुं, स्तरितु, स्तरीतु**) (किंतु **शृ** कुचलना से केवल **शरीतु, शरितु** प्राप्त होते हैं) **वृ** चुनना से केवल **वरीतु**; जबकि **गॄ** निगलना और **पॄ** भरना के तुमर्थक-रूप अन्य धातु-रूपों से बनते हैं, यथा **गिरितुम्, पूरितुम्**; पुनः कुछ अजन्त-धातुओं से, उदाहरणार्थ **नी, च्यु, सू** (**सूतु**); और अंत में **कृष्, नृत्, चुच्** से।

उ—क्तान्त रूप के सादृश्य के विपरीत अन्त्य व्यंजन के बाद **इतु** अंतवाली तुमर्थ-प्रकृतियाँ **अव्, क्षन्, खन्** और **जन्** (क्तान्त रूप **खा** और **जा** से प्राप्त हैं), **गुह्, जभ्, तम्, दीव्**, खेलना और **दीव्** संताप करना (दोनों **देवितु**), **मज्ज्, वृत्, वृध्, सृप्** धातुओं से बनती हैं; तथा अन्त्य स्वर के बाद **पू, भू, सू** (साथ ही, **सूतु**) जैसी ऊकारान्त धातुओं से और **श्री** और **श्वि** से; परिवर्तनीय **ॠ** अंतवाली धातुओं के लिए, द्रष्टव्य उपर्युक्त, ई।

ऊ—चूँकि तुमर्थ रूप (उदात्त और) सबलीकृत धातु से बनाया जाता है, इसलिए तदनुरूप इससे नियमतः सबलतर या पूर्णतर धातुरूप प्राप्त है जहाँ दुर्बलतर या आकुञ्चित क्तान्तरूप (तथा **त्वा** अंत वाले पूर्वकालिक क्रियारूप) द्वारा गृहीत है: उदाहरणस्वरूप **वक्तु** जब कि **उक्त** (और **उक्त्वा**), **यष्टु** जबकि **इष्ट** (और **इष्ट्वा**), **वन्द्धुम्** जबकि **वद्ध** (और **वद्ध्वा**) इत्यादि। विशेष रूप से उल्लेखनीय **गातु** (√(**गा**) गाना) **गीत** के विपरीत, और **धातु** (√(**धा**) स्तनपान करना) **धीत** के विपरीत होते हैं तथा इसी प्रकार **दा** देना और **हा** छोड़ना से केवल और **दातु** और **हातु** बनाये जाते हैं; किंतु **धा** रखना; **मा** मापना और **स्था** से नियमित **धातु, मातु, स्थातु** के अतिरिक्त उत्तरकालीन रूप-**धितु,-मितु,-स्थितु** और भी आते हैं; तथा **सा** या **सि** से **सातु, सेतु,** और-**सितु** होते हैं; **वा** बुनना (क्तान्तरूप **उत**) से **वातु** और **ओतु** दोनों ही हैं; **हू** या **ह्वा** से **ह्वोतु, ह्वयितु** और **ह्वातु** होते हैं। **व्यध्** धातु से इसका एकमात्र उद्धरणीय तुमर्थ रूप **वेद्धुम्** अपने **विध्**-रूप से बना है; **सञ्ज्** या **सज्** से **सङ्क्तु** और **सक्तु** दोनों प्राप्त होते हैं। रामा० महाभा० के अनियमित रूप **ईजितुम्** √(**यज्**) और **सीदितुम्** √(**सद्**) ऊपर निर्दिष्ट हो चुके हैं। धातु **ग्रह्** से **ग्रहीतुम्** बनता है।

ए—उत्तरकालिक भाषा में तुमर्थ-प्रकृति **काम** और **मनस्** (विशेष रूप से प्रथम) के साथ सम्बन्धवाचक समास बनाती है: उदाहरणार्थ **स्वप्तुकाम** सोने की इच्छावाला, **यष्टुकाम** यज्ञ करने का इच्छुक, **वक्तुमनस्** मन बोलने की इच्छा वाला।

ऐ—खूब विरल स्थलों में **तवे** या **तवै** अन्तवाले चतुर्थ्यन्त तुमर्थ-रूप तुमर्थ-प्रकृति से उत्तरकालिक भाषा में (यथा पूर्वतरकालिक भाषा में बहुतायत से, ९७० आ) बनाये जाते हैं: **प्रतिहर्तवे** (भाग० पु०)। पुनः महाभा० में (१-३-६७=७३२) में **जीवसे** अश्विन् के प्रति अर्ध-वेदि में एकबार प्राप्त है।

९६९—किंतु वेद और ब्राह्मण में अनेक धातुज संज्ञाएँ, क्रियार्थ संज्ञाएँ, अपने विभिन्न प्रयोगों में ऐसी पद-रचनाएँ लेकर प्रयुक्त हैं जो इन्हें अन्य भाषाओं के तुमर्थक के सम कर देती हैं—यद्यपि इस प्रकार की रचना, इन अन्य उत्तरवर्ती और अधिक विकसित तथा स्पष्ट तुमर्थपदों के लिए न हों, यत्किंचित् विशिष्ट प्रकार के साधारण विभक्तिरूपों की तरह हो जायँ।

९७०—इस प्रकार तुमर्थक-जैसी प्रयुक्त होने वाली संज्ञाएँ निम्न-लिखित हैं:

अ—धातु-संज्ञा, व्युत्पत्तिमूलक प्रत्यय के विना, यहाँ अपने **अम्**-अंत द्वितीया विभक्तिरूप, अपने **ए**-या (आकारांत धातुओं से) **ऐ**-अंतवाले चतुर्थी-विभक्ति-रूप, अपने **अस्**-अंतवाले षष्ठी और पंचमी विभक्तिरूपों तथा अपने **इ**-अंतवाले सप्तमी विभक्तिरूप में प्रयुक्त होती है।

आ—**तु** अंतवाली धातुज संज्ञा अपने **तुम्** अंतवाले द्वितीया-विभक्तिरूप में, अपने **तवे** या **तवै** अंतवाले चतुर्थी-विभक्ति रूप में और अपने **तोस्** अंतवाले पंचमी तथा षष्ठी विभक्तिरूपों में इसी प्रकार प्रयुक्त है।

अन्य संज्ञाओं में से केवल एकमात्र विभक्तिरूप, सामान्यतया चतुर्थी-विभक्तिरूप तुमर्थक प्रयोगिता लेकर प्रयुक्त माने जाते हैं; इस प्रकार:

इ—**अस्** अंतवाली धातुज संज्ञा से चतुर्थ्यन्त रूप **असे** अंतवाला; और अत्यधिक अल्पसंख्यक स्थलों में मात्र **स्** द्वारा बनी संज्ञा से चतुर्थ्यन्त रूप **से** (या **षे**) अंतवाला।

ई—**मन्** और **वन्** अंतवाली संज्ञाओं से **मने** और **वने** अंतवाले चतुर्थ्यन्त रूप।

उ—**ति** अंतवाली संज्ञाओं से **तये**, अथवा (एक या दो क्रियाओं से) **त्यै** अंतवाले चतुर्थ्यन्त रूप।

ऊ—**इ** अंतवाली संज्ञाओं से **अये** अंतवाले चतुर्थ्यन्त रूप।

ए—**धि** और **षि** अंतवाली संज्ञाओं से **ध्यै** और **ष्यै** अंतवाले चतुर्थ्यन्त रूप।

ऐ—स् द्वारा वर्धित धातु में जुड़े अन् अंतवाली संज्ञाओं से कुछ षणि अंतवाले तुमर्थक रूप प्रायः सप्तम्यन्तरूप हैं।

ओ—एकमात्र धातु धृ से तुमर्थक जैसे प्रयुक्त तरि अंतवाले रूप बनाये जाते हैं जिनका व्याकरणिक स्वरूप संदिग्ध है।

औ—इन सबों में वे रूप जिनका विशेष विवेचन, विशिष्ट रूप-निर्माण के रहने के कारण अथवा अन्य रूपों में अप्राप्त प्रत्ययों के चलते, तुमर्थक जैसा सर्वाधिक संगत है, षे, षणि, तरि, ध्यै और तवै अंतवाले होते हैं।

क—तु अंतवाले प्रत्ययान्तरूपों और धातु संज्ञा के विभिन्न प्रयोगों को छोड़कर ये तुमर्थक रूप ऋ० वे० से अन्यत्र प्रायः पूर्णरूप में अज्ञात हैं।

ख—ऊपर निर्दिष्टों के अतिरिक्त अन्य प्रत्यय और रूप रखे जा सकते हैं, क्योंकि तुमर्थक-जैसे वर्गीकृत रूपों और सामान्य विभक्तिरूपों के बीच कोई स्थिर रेखा खींचना असंभव है : यथा, प्रजापतिम् प्रश्नम् ऐताम् (तै० सं०) वे प्रजापति से पूछने के लिए गये; विश्वं जीवम् प्रसुवन्ती चरायै (ऋ०वे०) प्रत्येक जीव को गतिशील बनाने के लिए प्रस्तुत; अपः संमीय चोदयन् (ऋ० वे०) नदियों को प्रवाहित होने की प्रेरणा देते हुए; शक्नुयाद् ग्रहणाय (सामान्य ग्रहीतुम् की जगह; श० ब्रा०) पकड़ने के लिए समर्थ होवे; आ तमनात् (सामान्य तमितोः की जगह : सू०), क्लान्त होने तक। पुनः तथाकथित तुमर्थक रूप एक ही वाक्य में सामान्य संज्ञाओं और साथ ही, सामासिक संज्ञाओं के साथ भी समन्वित पाये जाते हैं : उदाहरणार्थ, चरितवे—आभोगाय इष्टये राये (ऋ० वे०) भ्रमण करने के लिए, आनंद प्राप्त करने के लिए, धन के अन्वेषण करने के लिए; आर्तत्राणाय न प्रहर्तुम् अनागसि (शाकु०) दुःखियों की रक्षा के लिए है, न कि निर्दोषों पर प्रहार करने के लिए।

विभिन्न रूप-निर्माणों के लिए और विशिष्ट नियम यों होते हैं :

९७१—तुमर्थक जैसी प्रयुक्त धातुसंज्ञा वही रूप (अंतर इतना ही है कि इसमें जुड़े त् का ग्रहण नहीं होता है; ३८३ ऊ) और वही स्वरपात रखती है जैसा कि अपने अन्य स्थलों में, चाहे यह सरल हो अथवा सोपसर्ग। प्रयोगों के अत्यधिकांश में यह व्यंजनांत धातुओं से विहित है, किंतु कुछ आकारांत (ख्या, दा, धा, पा ?, मा, या), दो या तीन इ– और उ– स्वरांत (हि, मी, भू) तथा एक या दो परिवर्तनीय ऋ इर्-रूप का ग्रहण करता है (तिर, स्तिर्) है, अंतवाली धातुओं से।

अ—आकारांत धातुओं से **आन्** अंतवाली द्वितीयान्त रूप, **ऐ**-अंतवाला चतुर्थ्यन्त रूप, **आस** (ऋ० वे० ३–५३–२० में **अवसास्** के जैसा, न कि **अवसैं**-जैसा **आ** के पूर्व **अवसा** को मानकर) अंतवाला पंचम्यंत रूप तथा **ए** अंतवाला सप्तम्यंत रूप (केवल दो उदाहरण, जिनमें एक को संभवतः चतुर्थ्यन्त रूप-जैसा मानना अधिक संगत है) प्राप्त होते हैं।

९७२–प्रत्येक रूप की धातुओं से **तु** अंतवाली तुमर्थ-संज्ञा स्वतंत्र रूप से बनायी जाती है। धातु गुण-सवलीकरण का ग्रहण करती है, यदि इसकी प्राप्ति हो, तथा प्रत्यय से पूर्व बहुधा सहायक स्वर **इ** जोड़ती है (पूर्वोक्त नियमों के अनुसार; ९६८)। धातु उदात्त होती है, केवल वहीं नहीं जहाँ संज्ञा सोपसर्ग होती, उस अवस्था में स्वरपात द्वितीय पर होता है : यथा—**कर्तुम्**, **एतवे**, **हन्तोस्** ; किंतु **निकर्तुम्**, **निरेतवे**, **निर्हन्तोस्**।

अ—**तवै** अंतवाला चतुर्थ्यन्त रूप दो दृष्टियों से नियम विरुद्ध होता है : एक तो सवलीकृत **उ** के साथ गुरु स्त्रीलिंग प्रत्यय **ऐ** के ग्रहण से; पुनः दोहरे स्वर-पात की प्राप्ति से, एक धातु पर अथवा पूर्वयोग वाले उपसर्ग पर और दूसरा प्रत्यय **ऐ** पर : यथा **एतवै**, **हन्तवै**, **अत्येतवै**, **अपभर्तवै**।

९७३ अ—**असे** अंतवाला तुमर्थक रूप ऋ० वे० में प्रायः पचीस धातुओं से बना है; अ० वे० और उत्तरकाल में इसके अन्य उदाहरण अनुपलब्ध हैं। प्रयोगों की लगभग तीन चौथाई में स्वरपात प्रत्यय पर होता है, उदा० **ऋञ्जसे**, **जीवसे**; **भियसे**, **तुजसे**; अपवादस्वरूप **चक्षसे**; **धायसे** (प्रत्यय से पूर्व मध्यागमित **य्** के साथ : २५८); तथा **अयसे**, **भरसे**, **स्परसे**, **हरसे** (धातु के गुण-सवलीकरण के साथ) होते हैं। धातु का सवलीकरण **जवसे**, **दोहसे**, **भोजसे** **शोभसे** में भी दृष्टिगोचर होता है। **पुष्यसे** में, स्पष्टतः, धातु के स्थान में वर्तमान-प्रकृति प्राप्त है।

आ—**से** प्रत्यय अत्यधिक विरल है जो केवल **जिषे** और संभवतः **स्तुषे** में तथा एक या दो और अधिक संदिग्ध प्रयोगों में पाया जाता है।

९७४—**मने** अंतावले तुमर्थक रूप केवल पाँच धातुओं से बनाये जाते हैं : इस प्रकार **त्रामणे**, **दामने**, **दर्मणे**, **भर्मणे**, और (भिन्न स्वरपात के साथ) **विद्मने**। √(**दा**) से **दावने** होता है; **तुर्वणे** सीधे √(**तृ**) से अथवा यौगिक धातु **तुर्व्** से संभव है; **धूर्वणे** तो √(**ध्वृ**) की अपेक्षा √(**धूर्व्**) से है।

९७५—अ—**तये** अन्तवाले तुमर्थक रूप **इष्टये** (√(**इष्**)), **पीतये** (√(**पा**) पीना), **वीतये**, **सातये** और संभवतः **ऊतये** (**ऊतये** न **नृ**, अपने

जनों की सहायता करने के लिए, ऋ० वे०) होते हैं। त्यै अन्तवाले प्राप्त उदाहरण केवल इत्यै (ऋ० वे०) और साढ्यै (मै० सं०, आ० ब्रा०) हैं।

आ—अये लगाकर इषये, तुजये, दृशये, महये, युधये, सनये तथा चितये (वा० सं०), गृह्ये (काठ०) बनाये जाते हैं।

९७६—ध्यै प्रत्यय अन्य किसी की अपेक्षा अधिक अनियमित और अपनी प्रक्रिया में विभिन्न होता है। इसके पूर्व अ नित्य इसमें आता है; तथा अधिकांश प्रयोगों में इसका स्वरपात इसी अ पर होता है और यह धातु के दुर्बल रूप में जोड़ा जाता है : उदाहरणस्वरूप शुचध्यै, णध्यै, धियध्यै, हुवध्यै। किंतु कुछ प्रयोगों में धातु का रूप सबल होता है, यथा शयध्यै, स्तवध्यै, तरध्यै, जरध्यै; मन्दध्यै, वन्दध्यै। पुनः लगभग आधे दर्जन के प्रयोगों में धातु उदात्त होती है, उदाहरणार्थ क्षरध्यै, गमध्यै, यजध्यै (किंतु एक या दो बार यजध्यै भी), वहध्यै, सहध्यै, भरध्यै। एकमात्र प्रयोग पिबध्यै में प्रत्यय स्पष्टतः वर्तमान-प्रकृति में जुड़ा है; तथा एक वावृधध्यै में परोक्ष-प्रकृति में। अन्त में, यह तुमर्थक रूप अनेक प्रयोगों (दश) में अय् अन्तवाली णिजन्त प्रकृति से बनाया जाता है : यथा मादयध्यै, रिषयध्यै इत्यादि।

अ—ऋ० वे० में यह तुमर्थक रूप कदापि विरल नहीं है, यह पैंतीस विभिन्न रूपों में (बहत्तर प्रयोगों के साथ) बना है। किंतु ऋ० वे० से अन्यत्र यह शायद ही मिलता है; अ० वे० में केवल एक बार प्राप्त है (ऐसे अवतरण में जो ऋ० वे० में भी उपलब्ध है); तथा अन्यत्र आधे दर्जन के उदाहरण मन्त्र-भागों में (इनमें से एक तै० सं० गमध्ये भ्रामक पाठ प्रस्तुत करती है) देखे जाते हैं; शुद्ध ब्राह्मण भाषा में यह पूर्णतः अप्राप्त है।

९७७—ष्यै अन्तवाले तुमर्थक रूप के एक या दो उदाहरण मिलते हैं : यथा रोहिष्यै (तै० सं०), अव्यथिष्यै (काठ० कपिष्ठल०; मै० सं० अव्यथिषे; वा० सं० व्यथिषत), और संभवतः—धाष्यै (प० गृ० स०)।

९७८—षणि अन्तवाले तुमर्थक रूप हैं : √(इष्) भेजना से इषणि (?), √(भू) से भूषणि; √(शू) या श्वा से शूषणि; √(नी) से नेषणि; √(सह्) से सक्षणि; पृ से पर्षणि, √(तृ) से तरीषणि; और √√(गृ) और स्तृ से गृणीषणि और —स्तृणीषणि—अन्तिम स्पष्ट वर्तमान-कालचिह्नों को लेकर (तुलनीय उत्तम० एकव० गृणीषे, ८९४ इ)।

९७९—तरि अन्तवाला एकमात्र तुमर्थक रूप √(धृ) से धर्तरि (अपने सामासिक विधर्तरि के साथ) है।

तुमर्थक रूपों के प्रयोग

९८०—तथाकथित तुमर्थकरूपों के प्रयोग प्रायः अन्य भाववाचक संज्ञाओं के तद्रूपी विभक्ति-रूपों के तुल्य होते हैं। इस प्रकार :

९८१—द्वितीयान्त रूप, जो तु अंतवाली संज्ञा और धातु-संज्ञा से बनाया जाता है, क्रिया के कर्म-जैसा प्रयुक्त होता है।

अ—विशेषतः, धातु शक् समर्थ होना, और अर्ह् योग्य होना, अधिकार या सामर्थ्य प्राप्त करना, से रूपों में। यथा, शकेम त्वा समिधम् (ऋ० वे०) तेरे प्रज्वलन को हम समर्थ होवें; मा शकन् प्रतिधाम् इषुम् (अ० वे०) वे प्रत्यंचा के साथ तीर को युक्त करने में समर्थ न होवें; मनो वा इमां सद्यः पर्याप्तुम् अर्हति मनः परिभवितुम् (तै० सं०) मन वस्तुतः उसे प्राप्त करने और आगे बढ़ जाने में तत्क्षण समर्थ होगा; को ह्येतस्यार्हति गुह्यम् नाम ग्रहीतुम् (श० ब्रा०) क्योंकि कौन उसके गुह्य नाम के ग्रहण में समर्थ होता है ? वेद में इन क्रियाओं के साथ ऐसा प्रयोग दूसरे प्रयोगों में से केवल एक है; ब्राह्मण में यह अधिक व्यापक (सभी विभक्तिरूपों की तीन-चौथाई या अधिक) बन जाता है।

आ—पुनः, गत्यर्थक क्रियाओं के (अन्य सर्वाधिक प्रयोग) : यथा, दाक्षिणानि होतुमेति (तै० सं०) वह दक्षिणायोग्य वस्तुओं के हवन करने के लिए जाता है; इन्द्रम् प्रतिरम् एम्यायुः (ऋ० वे०) मैं आयु विस्तार के लिए इन्द्र के पास जाता हूँ (अर्थात् उसकी प्रार्थना करता हूँ);—√(धृ) लग जाना, धारण करना से, यथा—स इदं जातः सर्वमेव दग्धुं दध्रे (श० ब्रा०) वह उत्पन्न होते ही इस विश्व को जलाने लगा :—इच्छा, आशा, ध्यान, ज्ञान प्रभृति अर्थवाली क्रियाओं के : यथा—पाशान् विचृतं वेत्थ सर्वान् (अ० वे०) तुम सभी बन्धनों को शिथिल करना जानते हो; तस्माद् अग्निं नाऽऽद्रियेते परिहन्तुम् (श० ब्रा०) अतः अग्नि के शमन के लिए किसी को यत्नशील न होना चाहिए; तथा अन्य के।

९८२—तुमर्थक चतुर्थ्यन्त रूपों का मौलिक और सामान्य अर्थ वही होता है जो 'के लिए', 'के निमित्त', 'प्रयोजन लेकर' द्वारा द्योतित होता है।

उदाहरण होते हैं : विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती (ऋ० वे०) प्रत्येक प्राणधारी को गति के लिए प्रबुद्ध करती हुई; तान् उप यात पिबध्यै (अ० वे०) उनको पीने के लिए आओ; नैतां ते देवा अददुरत्तवे (अ० वे०) देवों ने तुम्हें उसे खाने के लिए नहीं दिया; प्रेऽऽद् युधये दस्युमिन्द्रः (ऋ० वे०)

इन्द्र दानव से लड़ने के लिए आगे बढ़ा; चक्षुर् नो धेहि विख्यै (ऋ० वे०) दूर तक देखने के लिए हमें दृष्टि दो।

तथापि कुछ विशिष्ट प्रयोग तुमर्थक चतुर्थ्यन्त रूप के इस प्रयोग से उत्पन्न होते हैं। यथा :

अ—संज्ञा जो तत्वतः तुमर्थक-रूप द्वारा व्यक्त क्रिया का कर्म या कर्ता होती है, बहुधा इसके साथ चतुर्थ्यन्त रूप में रखी जाती है (इस प्रयोग से जो अंशतः बिलकुल सरल है, किंतु एक प्रकार के प्रभाव से अपनी प्राकृतिक परिमिति से विस्तारित होता है) : यथा—चकार सूर्याय पन्थाम् अन्वेतवा उ (ऋ० वे०) उसने सूर्य के चलने के लिए मार्ग बनाया (सूर्य के लिए उसके अनुगमनार्थ मार्ग बनाया); शिशीते शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिक्षे (ऋ० वे०) वह दानवों को छेदने के लिए अपने सींगों को घिसकर चोख बनाता है : रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ (ऋ० वे०) मैं रुद्र के लिए धनुष को फैलाता हूँ जिससे वह अपने बाण से ब्रह्मद्वेषी को मार डाले; अस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दाताम् असुम् (ऋ० वे०) पुनः वे जीवनदान करें जिससे हम सूर्य को दे सकें।

आ—√(कृ) बनाना के साथ तुमर्थकरूप प्रायः णिजन्त क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त होता है : यथा—प्रान्धं श्रोणं चक्षस एतवे कृथः (ऋ० वे०) तू अन्ध और पङ्गु को दिखाता और चलाता है; अग्निं समिधे चकर्थ (अ० वे०) तूने अग्नि को प्रज्वलित बनाया है। अन्य क्रिया के साथ इस स्वरूप का कादाचित्क प्रयोग होता है, जैसे—यद् ईम् उश्मसि कर्तवे करत् तत् (ऋ० वे०) जो कुछ किए जाने की इच्छा हम करते हैं, वह उसे करें; कवींर् इच्छामि संदृशे (ऋ० वे०) मैं मनीषियों को देखना चाहता हूँ।

इ—चतुर्थ्यन्त तुमर्थक पद विधेय-जैसा कभी-कभी अभिहित संयोजक के साथ, किंतु अपेक्षाकृत अधिक सामान्य रीति से उसके बिना, प्रयुक्त होता है : यथा—अग्निरिव न प्रतिधृषे भवति (तै० सं०) अग्नि की तरह वह अप्रतिहत है; महिमा ते अन्येन न संनशे (वा० सं०) तुम्हारी महिमा अन्य द्वारा गम्य नहीं है; नकीम् इन्द्रो निकर्तवे न चक्रः परिशक्तवे (ऋ० वे०) इन्द्र दब नहीं सकता है, पराक्रमी पराजित नहीं हो सकता है।

ई—कभी-कभी इस प्रकार के प्रयुक्त संयोजक-विहीन तुमर्थक रूप में लोट् की प्रयोगिता प्रायः प्राप्त होती है : यथा—त्या मे यशसा ... औशिजो हुवध्यै [अस्ति] (ऋ० वे०) ये यशस्वी, उशिज के पुत्र, मेरी स्तुति के लिए होंगे; सूक्तेभिर् वः— इन्द्रा न्वग्नी अवसे हुवध्यै [स्तः] (ऋ० वे०) अपनी

स्तुतियों से तुम अब इन्द्र और अग्नि का पूजन सहायता के लिए करोगे; **वन्दध्या अग्निं नमोभिः [अस्मि]** (ऋ० वे०) में स्तुतियों से अग्नि का पूजन करूँ; **अस्माकासश् च सूरयो विश्वा आशास् तरीषणि** (ऋ० वे०) तथा हमारे पूजक सभी दिशाओं को पार कर लें; **तन् नेव कर्तवै** (मै० सं०) वैसा अवश्य नहीं किया जाय; **ब्रह्मद्विषः शरवे हन्तवा उ** (ऋ० वे०) तीर ब्रह्मद्वेषियों को मार डालें। **ध्यै** और **षणि** (जिनमें द्वितीय अपने सभी प्रयोगों में चतुर्थ्यन्त रूप के तुल्य होता है) वाले तुमर्थक रूप ऐसे हैं जहाँ लोट् प्रयोगिता सर्वाधिक स्पष्ट रूप से सिद्ध है।

उ—ब्राह्मणों और सूत्रों में (विशेषरूप से श० ब्रा० में) **तवै** अन्तवाला चतुर्थ्यन्त रूप भाषणार्थक क्रिया के साथ क्रियामाण के आदेश को द्योतित करने के लिए बहुधा प्रयुक्त होता है : यथा—**तस्माद् ओषधीनामेव मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयात्** (श० ब्रा०) इसलिए वह औषधियों के मूलों को उच्छेद करने के लिए आदेश दे (बोले जिससे उनका उच्छेद किया जाय, तुल०, **ये वशाया अदानाय वदन्ति** जो गाय के न देने के लिए निषेध करते हैं : अ० वे०)।

९८३—पंचम्यन्त तुमर्थकरूप—जो द्वितीयान्त की तरह केवल धातु संज्ञा और **तु** अन्तवाली संज्ञा से बनाया जाता है—विशेषतः **आ** पर्यन्त और **पुरा** पहले के साथ प्राप्त है।

अ—इस प्रकार, **आ तमितोः** (तै० सं० प्रभृति) श्रान्त होने तक; **पुरा वाचः प्रवदितोः** (तै० सं०) वाणियों के उच्चारण के पूर्व। ब्राह्मण भाषा में यह प्रायः पंचमी का ऐकान्तिक प्रयोग होता है (यह **प्राक्**, **अर्वाक्** प्रभृति के साथ भी आता है); वेद में द्वितीय **ऋते** बिना तथा **त्रा** और **पा** रक्षा करना, **यु** पृथक् करना, **भी** प्रभृति जैसी अनेक क्रियाओं के साथ भी प्रयुक्त है।

आ—कुछ स्थलों में चतुर्थी के लिए ऊपर निर्दिष्ट समान प्रभाव के कारण (९८२-अ) इस तुमर्थक पद पर निर्भर करने वाली संज्ञा विकल्प से पंचम्यन्तरूप ग्रहण करती है : इस प्रकार **पुरा वाग्भ्यः सम्प्रवदितो** (पं० ब्रा०) वाणियों के एक साथ उच्चारण करने से पूर्व; **त्राध्वं कर्तादवपदः** (ऋ० वे०) गढ्ढे में गिरने से हमें बचाओ; **पुरा दक्षिणाभ्योनेतोः** (आपस्त०) दक्षिणाओं के लिए जाने से पूर्व।

९८४—**ईश्वर**—प्रभु, स्वामी, जो समर्थ अथवा योग्य अथवा प्रभावापन्न के अर्थ में विशेषण—जैसा व्यवहृत होता है, पर निर्भर करने वाले के रूप में षष्ठ्यन्त तुमर्थक पद (पंचम्यन्त—जैसा समान रूप वाला) ब्राह्मण भाषा में साधारण प्रयोग में है।

अ—उदाहरण होते हैं : वा [देवता] ईश्वरा एनम् प्रदहः (तै० सं०) ये इसके जलाने में समर्थ हैं; अथ ह वा ईश्वरोऽग्निम् चित्वा किंचिद् दौरितं आपत्तोर् विं वाह्वा लितोः (श० ब्रा०) तब अग्निचयन के बाद उसे कोई-न-कोई आपत्ति मिल सकती है अथवा वह पतन का विषय बन सकता है; ईश्वरं वै रथन्तरम् उद्गातुश्चक्षुः प्रमथितोः (पं० ब्रा०) रथन्तर उद्गाता के चक्षु का नाशक बन सकता है।

आ—श० ब्रा० में केवल एक वाक्य में (ईश्वरौ जनयितवै) षष्ठी की जगह चतुर्थी प्रयुक्त हुई है; तथा उत्तरकालिक भाषा में यदा-कदा तुम् अन्तवाली द्वितीया। एक या दो स्थलों में पुं० प्र० एकव० ईश्वरकः विशेष्य के वचन या लिंग से स्वतंत्र रहकर प्रयोग में आया है, यथा—तस्येश्वरः प्रजा पापीयसी भवितोः (श० ब्रा०) उसकी सन्तति नष्ट होने वाली है। पुनः खूब कम स्थलों में ईश्वर शब्द लुप्त रहता है और षष्ठी में इसके बिना समान प्रयोगिता प्राप्त है; यथा—द्वे मध्यंदिनम् अभि प्रत्येतोः (ऐ० ब्रा०) मध्याह्न तर्पण में दो युक्त किये जा सकते हैं; ततो दीक्षितः पामनो भवितोः (श० ब्रा०) तब दीक्षित को खुजली हो सकती है।

इ—ईश्वर के साथ यह रचना, जो षष्ठ्यन्त तुमर्थक रूप के लिए ब्राह्मण में केवल एक है, वेद में अज्ञात है, जहाँ षष्ठी मध्या के साथ अल्प संख्या वाले उदाहरणों में तथा धातु ईश् के साथ आती है : यथा—ईशे रायो दातोः (ऋ० वे०) वह धन देने में प्रभु है; ईशे योतोः (ऋ० वे०) अलग करने में समर्थ है।

९८५—यदि पणि और तरि अन्तवाले तुमर्थक पद रूप लेकर सप्तम्यन्त न हों (इनके प्रयोग चतुर्थ्यन्तों के जैसे होते हैं), सप्तम्यन्त तुमर्थक रूप इतना विरल है और अपने प्रयोग की दृष्टि से इतना न्यून विशिष्ट है कि किसी प्रकार का विवरण प्रस्तुत शायद ही संगत है। उदाहरण होता है, उषसो बुधि (ऋ० वे०) उषस् के आने पर।

९८६—वेद में चतुर्थ्यन्त तुमर्थक रूप द्वितीयान्त की अपेक्षा अत्यधिक संख्या वाले होते हैं (ऋ० वे० में इनके प्रयोग बीसगुने अधिक हैं; अ० वे० में तीन गुने से अधिक); तथा तुम् अन्तवाला द्वितीयान्त रूप विरल है (ऋ० वे० में केवल चार रूप, अ० वे० में केवल आठ)। ब्राह्मणों में द्वितीयान्त अपेक्षाकृत अधिक पुनरावर्तन को लेकर आता है (इनके रूप चतुर्थ्यन्त रूपों के दुगने के लगभग होते हैं); किंतु पंचमीपष्ठयन्त भी, जो वेद में विरल है, इसकी पूर्ण

समता में मिलता है। **तुम** अन्तवाले द्वितीयान्त को छोड़कर सबों का लोप (किंतु देखिए ९६८ ऐ) कम आश्चर्य वाला नहीं रह जाता है।

९८७—तुम् अन्तवाले उत्तरकालिक तुमर्थक रूप पूर्वतरकालिक द्वितीयान्त जैसी—रचनाओं में अत्यधिक समय प्रयुक्त है : उदाहरणार्थ, **न वाष्पमशकत् सोढुम्** वह अपने आँसुओं को रोक न सका; **तं द्रष्टुमर्हसि** तुम उसे देख सकते हो; **प्राप्तु मिच्छन्ति** वे पाने की इच्छा रखते हैं; **संख्यातुमारब्धम्** गिनना आरंभ करके। किंतु साथ ही जव-तव अन्य स्थलों में। इस प्रकार विशेषरूप से चतुर्थी के लिए; यथा—**अवस्थातुं स्थानान्तरं चिन्तय** ठहरने के लिए दूसरे स्थान की चिन्ता करो, **त्वामन्वेष्टुमिहाऽऽगतः** तुम्हें खोजने के लिए वह यहाँ आया;—किंतु इसी प्रकार षष्ठी के लिए; यथा—**समर्थो गन्तुम्** जाने के योग्य; **संधातुमीश्वरः** वनाने में समर्थ। प्रथमा-जैसी रचना तक अज्ञात नहीं है : यथा—**युक्तं तस्य मया समाश्वासयितुं भार्याम्** (महाभा०) उसकी पत्नी को सांत्वना देना मेरा कर्तव्य है; **न नप्तारं स्वयं न्याय्यं शप्तुम् एवम्** (रामा०) अपने ही पोते को इस प्रकार शाप देना उचित नहीं है; **तद् वक्तुं न पार्यते** (शत्रु०) ऐसा कहना संभव नहीं है।

९८८—पूर्वतरकालिक की तरह उत्तरकालिक भाषा में तुमर्थरूप कुछ रचनाओं में ऐसी प्रयोगिता रखता है जिसे हम वाच्यार्थ मानते हैं। इस प्रकार, **कर्तुमारब्धः** वनाना शुरू किया; **श्रोतुं न युज्यते** सुना जाना (सुनने के लिए) समीचीन नहीं है। यह विशेषरूप से √ (शक्) के कर्मवाच्य रूपों के साथ अधिक प्रयुक्त है : यथा—**त्यक्तुं न शक्यते** यह छोड़ा नहीं जा सकता है; **शक्याविहाऽऽनेतुम्** ये दोनों यहाँ लाये जा सकते हैं; **न च विभूतयः शक्यमवाप्तुम् ऊर्जिताः** न तो वड़ी विभूतियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

पूर्वकालिक कृदन्तक्रियारूप

९८९—तथा कथित पूर्वकालिक क्रियारूप धातुज संज्ञा का अव्यय विभक्ति रूप (नि.संदेह तृतीया) है जो सामान्यतया उपवाक्य के तात्विक कर्ता के विशेषण-जैसा प्रयुक्त होता है, जो उपवाक्यों की क्रिया द्वारा द्योतित क्रिया की सहवर्ती या (अपेक्षाकृत अधिक समय) पूर्ववर्ती क्रिया को व्यक्त करता है। इस प्रकार इसमें निर्विभक्तिक कृदन्तक्रियारूप, वर्तमान या भूत की वास्तविक प्रयोगिता विद्यमान है जो उस कर्ता का विशेषण रूप है जिसकी क्रिया इसके द्वारा व्यक्त होती है।

अ—इस प्रकार, उदाहरणस्वरूप, **श्रुत्वैव चाऽब्रुवन्** और सुनते हुए

(अथवा सुनकर) उन्होंने कहा; तेभ्यः प्रतिज्ञायाऽथैतान् परिपप्रच्छ उन्हें अपनी प्रतिश्रुति देकर उसने प्रश्न किया।

९९०—उत्तरकालिक भाषा में पूर्वकालिक क्रियारूप त्वा और य दो अन्त्य प्रत्ययों में से एक को लगाकर बनाया जाता है, प्रथम सरल धातु के साथ प्रयुक्त है, दूसरा उपसर्ग रूप के तुल्य पूर्व-प्रत्यय के साथ समस्त होता है—अथवा विरले तथाविध क्रियाविशेषण या संज्ञा-जैसे अन्य प्रकार के अंश के साथ।

अ—इन दो प्रत्ययों के बीच प्रयोगों के विवरण को लेकर कादाचित्क अपवाद प्राप्त हैं। इस प्रकार शुद्ध धातुओं से य अन्तवाले पूर्वकालिक क्रियारूप रामा० महाभा० में अधिक विरल नहीं है (उदाहरणस्वरूप गृह्य, उष्य (√वस वास करना), अर्च्य, ईक्ष्य, चिन्त्य, लक्ष्य; णिजन्तों और नामधातुओं से भी, यथा—वाच्य, योज्य, प्लाव्य), तथा अन्यत्र अज्ञात नहीं है (उदा० अर्च्य और ईक्ष्य मनु०, प्रोष्य आ० गृ० सू०, स्थाप्य श्वे० उप०)। साथ ही सामासिक धातुओं से त्वा अन्तवाले पूर्वकालिक क्रियारूप कतिपय स्थलों में अ० वे० (मात्र प्रत्यर्पयित्वा) से आरंभ कर सर्वत्र पाये जाते हैं : उदा० समीरयित्वा मै० सं०, विरोचयित्वा तै० आ०; उत्क्षिप्त्वा उप०, प्रयुक्त्वा (रामा० महाभा०) प्रत्यसित्वा सू०, प्रहसित्वा महाभा०, संदर्शयित्वा महाभा०, विमुक्त्वा रामा०, निवेदयित्वा रामा०, प्रोक्त्वा पञ्च०, अनुपीत्वा व० वृ० सं० : इनके अधिकांश णिजन्त प्रकृति से बने हैं।

आ—निषेधार्थ निपात अ या अन् के पूर्व योग से पूर्वकालिक क्रियारूप यान्त नहीं हो पाता है : इस प्रकार अकृत्वा, अनीरयित्वा (किंतु रामा० में अचिन्त्य प्राप्त है)। उपसर्गों से भिन्न पूर्वयोगों के साथ सामासिकों में पुनर्दाय, कर्णगृह्य, हस्तगृह्य, अरंकृत्य, अक्खलीकृत्य, मिथस्पृध्य ऋ० वे० में मिलते हैं; अ० वे० में पुनः नमस्कृत्य प्राप्त हैं।

९९१—त्वा प्रत्यय उदात्त होता है। यह सामान्यतया धातु से सीधे जोड़ा जाता है, किंतु बहुधा सहायक स्वर इ को मध्य में लाकर भी—जिसको लेकर तथा इसके पूर्व धातु के रूप को लेकर रूपनिर्माण प्रायः त अंत वाले कालवाची कृदन्तक्रियारूप के तुल्य होता है (९५२ नि० वि०)।

अ—इ के प्रयोग को लेकर कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप, तुमर्थक रूप और पूर्वकालिक क्रियारूप की सामान्य अनुरूपता के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं, ९६८ अ, विशेष निर्देश इस प्रकार अपेक्षित है :

आ—परिवर्तनीय ॠ (२४२) में अंत होने वाली उद्धरणीय धातुएँ इ से ईर् में परिवर्तित करती हैं : यथा—तीर्त्वा, स्तीर्त्वा, (स्तृत्वा भी);

और **चर्** (**चीर्ण** की तरह) **चीर्त्वा** भी बनाती है—**आ** अंत वाली धातुओं से सामान्यतः उसी प्रकार का दुर्बलीकरण देखा जाता है जिस प्रकार कालवाची-कृदन्तक्रियारूप में; किंतु **धा** रखना से केवल **धित्वा**, **मा** मापना से **मित्वा** और **मीत्वा**, **दा** देना से केवल **दत्वा**, **छा** से **छायित्वा**;—**अम्** अंतवाली धातुओं में **क्रम्** और **भ्रम्** और **यम्** से (तुमर्थक रूपों की तरह) **इ** से युक्त और विहीन दोनों प्रकार के रूप बनते हैं, किंतु **रम्** से **रत्वा** और **रंत्वा** होते हैं, और **दम्** तथा **वम्** से **दमित्वा** और **वमित्वा** बनते हैं।

इ—**ग्रस्**, **मुष्**, **शप्** और **शास्** (**शासित्वा**) द्वारा (जिनके कालवाची कृदन्तक्रियारूपों में दोनों रूप प्राप्त हैं) सहायक स्वर गृहीत होता है; और **शाय्**, **नृत्** (**नर्तित्वा**), **लग्** और **स्वज्** (कृदन्तक्रियारूप के सादृश्य के विपरीत) द्वारा भी; और **शुच्** से **शोचित्वा** बनता है। दूसरी ओर **रुज्** (**रुग्ण**) और **व्रश्च्** (**वृक्ण**) से **रुक्त्वा** और **वृष्ट्वा** आते हैं। पुनः दोनों प्रकार के रूप (तुमर्थक और कृदन्तक्रियारूप की तरह) **चर्**, **वस्** वास करना (**उष्ट्वा**, **उषित्वा**) **नी** (**नीत्वा**, **नयित्वा**) और **मृज्** (**मृष्ट्वा**, **मार्जित्वा**) से बनाये जाते हैं।

ई—यों तो रूपनिर्माण सामान्यतया ऐसा होता है जहाँ कर्मवाच्य कृदन्त-क्रियारूपों (उदा० **उप्त** की तरह **उप्त्वा**; **उदित** की तरह **उदित्वा**) की तरह दुर्बल अथवा दुर्बलीकृत धातु अपेक्षित है, कुछ ऐसे भी प्रयोग प्राप्त हैं जहाँ यह सबल अथवा सबलीकृत धातु-रूप से बनाया जाता है। इस प्रकार (ऊपर दिये उदाहरणों के अतिरिक्त : **छायित्वा**, **रंत्वा**, **शासित्वा**, **शोचित्वा**, **नयित्वा**, **मार्जित्वा**) हमें प्राप्त होते हैं **छर्दित्वा** (आपस्त०), **दंष्ट्वा** और **स्फरत्वा** तथा अनेक धातुओं से अपेक्षाकृत अधिक नियमित दुर्बल रूप के साथ द्वितीय सबलरूप उदाहरणस्वरूप **अङ्क्त्वा**, **भङ्क्त्वा**, **भुङ्क्त्वा**, **स्यन्त्वा**, (**अक्त्वा प्रभृति** के अतिरिक्त); **चयित्वा**, **स्मयित्वा**, **स्मरित्वा** (साथ ही, **चित्वा** प्रभृति); **रोदित्वा** (**रुदित्वा** के अतिरिक्त) और **सिञ्चित्वा** (**सिक्त्वा** के अतिरिक्त)। अंतिम में वर्तमान-प्रकृति का प्रभाव परिलक्षित है; जैसा कि **मार्जित्वा** (ऊपर) और **जिघृत्वा** √(**घ्रा**) में भी। रूप **ष्ठुत्वा** (**आपस्त०**) निस्संदेह **ष्ठ्यूत्वा** का भ्रामक पाठ है।

९९२—प्रत्यय **य** सीधे धातु में जुड़ता है जो उदात्त होती है, किंतु जिसका रूप दुर्बल होता है। ह्रस्व स्वरान्त धातुएँ **य** के स्थान में **त्य** ग्रहण करती है : उदा०—**जित्य**—**स्तुत्य**, **कृत्य**।

अ—परिवर्तनीय ऋ (२४२) में अंत होनेवाली धातुएँ उस स्वर को ईर् या ऊर् में परिवर्तित करती हैं : इस प्रकार कीर्य, गीर्य, तीर्य (और तूर्य), दीर्य, पूर्य, शीर्य, स्तीर्य (स्तृत्य भी)। आ-अंतवाली धातुओं में अधिकांशतः—आय लगता है; किंतु धा स्तनपान करना से धीय बनता है, और गा गाना (गाय, गीय), पा पीना (पाय, पीय), दा देना (दाय, देद्य) दा विभाग करना (दाय, दित्य) और मा मापना, विनिमय करना (माय, मित्य), सा बाँधना (साय, स्य) धातुओं से दोहरे रूप प्राप्त होते हैं। ली चिपकना से लाय या लीय होते हैं मानो आकारान्त क्रिया हो; तथा खन् और धम् अपने आ-रूपों से खाय और ध्माय बनाती हैं;—अन् और अम् अंतवाली धातुएँ अपना कृदन्तक्रियारूप अत् में (९५४ ई) बनाकर अत्य में पूर्वकालिक क्रियारूप बनाती हैं, किंतु उत्तरकाल में अन्य, अम्य में भी (उदा० गत्य गम्य; हत्य, हन्य; किंतु तन् द्वितीय रूप जैसा ताय बनाती है, तथा रम् से केवल रम्य उद्धरणीय है);—ईव् अंतवाली धातुएँ अपने ईव्-रूप में य जोड़ती हैं : इस प्रकार ष्ठीव्य, सीव्य;—इ और उ अंतवाली कुछ धातुएँ त्य जोड़ने के अतिरिक्त दीर्घीकृत स्वर में य जोड़ती हैं : यथा—इ जाना (ईय, इत्य; अय्य भी), ची एकत्रित करना (चीय, चित्य), और प्लु, यु युक्त करना सु, स्तु (प्लूय, प्लुत्य आदि); जबकि क्षि नष्ट करना केवल क्षीय रखती है।

आ—यह पूर्वकालिक क्रियारूप धात्वक्षर पर स्वरपात रखकर भी सामान्यतया दुर्बलीकरण रूपनिर्माण होता है : अन्य कुछ रूपों में प्राप्त सबलीकरण वाले नासिक्य के बिना इस प्रकार बने हैं, अच्य अज्य, इध्य, उद्य, उभ्य, ग्रथ्य, तच्य, दश्य, बध्य, भज्य, लिप्य, लुप्य, वल्ग्य, श्रभ्य, सज्य, स्कभ्य, स्तभ्य, स्यद्य, स्वज्य; अन्य प्रकारों के दुर्बलीकरण के साथ गृह्य और गृभ्य, पृच्छय, उच्य, उद्य, उप्य, उष्य (वस बसना), उह्य, विध्य, वीय; वृश्च्य, स्पृध्य, हूय;—किंतु अनेक धातुओं से सबलतर और दुर्बलतर दोनों रूप बनाये जाते हैं, जैसे—मन्थ्य और मथ्य, मार्ज्य और मृज्य, रुन्ध्य और रुध्य, शंस्य और शस्य, शास्य और शिष्य, स्कन्द्य और स्कद्य, स्रंस्य और स्रस्य;—और अर्च्, अव्, चाय्, शी (शय्य) धातुओं तथा नियत नासिक्य वाली कुछ धातुओं; यथा उञ्छ्, कम्प्, नन्द्, लम्ब्, शङ्क् से केवल सबल रूप पाये जाते हैं; विकीर्ण प्रयोग ओष्य √(उष्) जलाना), प्रोथ्य (प्रुथ्य भी) होते हैं।

इ—अन्य विशिष्ट प्रयोग उह्य और ऊह्य (√(ऊह्) दूर करना), गुर्य और गूर्य, गुह्य और गूह्य, रुह्य और रूह्य, भ्रम्य और भ्राम्य, अय्य (इत्य,

ईय के अतिरिक्त), घ्राय और जिघ्र्य; और ऊर्नुत्य (वृंत्य के अतिरिक्त) होते हैं।

९९३—प्राचीनतर भाषा में वे ही दो पूर्वकालिक क्रिया-रूपनिर्माण होते हैं जिनमें वही पार्थक्य है और जो समान ढंग से प्रयुक्त हैं।

अ—तथापि ऋ० वे० य का अन्त्य अत्यधिक संख्यक प्रयोगों (पूरी दो तिहाई) में दीर्घ (मानो इ या ति प्रत्ययान्त संज्ञा की तृतीया विभक्ति हों) होता है। अ० वे० में दीर्घ आ केवल एक बार ऋ० वे० मंत्र में आता है।

आ—मात्र त्वा की जगह वेद में प्रत्यय के तीन रूप प्राप्त हैं, उदा० त्वा, त्वाय और त्वी। इन तीन में त्वी निश्चित रूप से ऋ० वे० में सर्वाधिक प्रचलित त्वा के इक्कीस प्रयोगों के विपरीत पैंतीस प्रयोग) हैं; किंतु यह अ० वे० में अज्ञात है, और प्राचीनतर भाषा में अन्यत्र खूब विरल है; त्वाय ऋ० वे० में नौ बार प्राप्त है (दशम मण्डल से अन्यत्र केवल एक बार), दो बार अ० वे० में और केवल आधे दर्जन बार अन्यत्र (श० ब्रा० में एक बार णिजन्त प्रकृति से : स्पाशयित्वाय)। तीनों रूपों का ऐतिहासिक संबंध अस्पष्ट है।

इ—अन्य दो पूर्वकालिक क्रियारूप प्रत्यय, त्वानम् और त्वीनम् वैयाकरणों द्वारा वैदिक प्रयोगवाले माने गये हैं, किंतु ये कहीं व्यवहृत नहीं मिले हैं।

९९४—इस पूर्वकालिक क्रियारूप का प्रयोग उत्तरकालिक भाषा में अत्यधिक सामान्य और यहाँ तक कि अतिशय हो जाता है, यद्यपि इसके लक्षण में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है।

अ—इस प्रकार नल और भगवद्गीता में, जहाँ ऋ० वे० में प्रयुक्त सभी क्रियारूपों की केवल एक दहाई ही है, पूर्वकालिक क्रियारूप के उदाहरणों की संख्या दूसरे में प्राप्त की तिगुनी से अधिक होती है।

आ—सामान्यतः पूर्वकालिक क्रियारूप वाक्य के कर्ता का विशेषण होता है, और कर्ता से संबद्ध स्थिति अथवा क्रिया को द्योतित करता है : उदा० वज्रेण हत्वा निरपः ससर्ज (ऋ० वे०) अपने वज्र से मार कर उसने जलवर्षण किया; पीत्वी सोमस्य वावृधे (ऋ० वे०) सोमपान करके वह बलशाली बना; ते यज्ञस्य रसं धीत्वा विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन् (श० ब्रा०) यज्ञ के रस का पान कर, यज्ञ का दोहन भरपूर करके, यज्ञकाष्ठ द्वारा इसे घेर कर वे अंतर्हित हो गये; तं च दूरे दृष्ट्वा गर्दभोऽयमिति मत्वा धावितः (हितो०) तथा दूर में उसे देखकर—'यह गदही है' ऐसा सोचकर वह दौड़ पड़ा।

इ—किंतु यदि तात्त्विक कर्ता, वास्तविक कारक, वाक्यरचना की दृष्टि से

गौण विभक्ति में रखा जाय, तथापि इसकी विशेषता पूर्वकालिक क्रियारूप द्वारा व्यक्त होती है : उदा० **स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं तताप** (ऋ० वे०) नारी को देखने से द्यूतकार को संताप होता है (अर्थात् द्यूतकार संतप्त होता है); **तं हैनं दृष्ट्वा भीर्विवेद** (श० ब्रा०) जब उसने इसे देखा, उसे भय लगा (या वह भयभीत हो गया); **विधाय प्रोषिते वृत्तिम्** (मनु०) उसके भरण-पोषण का प्रबन्ध कर जब वह विदेश चला गया; **किं नु मे स्याद् इदं कृत्वा** (महाभा०) मुझे आश्चर्य है, ऐसा करने पर मुझे क्या होता;—और विशेषतः, जब कि वाक्य कर्मवाच्य में परिवर्तित कर दिया जाता है, पूर्वकालिक क्रियापद तृतीया विभक्ति वाले कर्ता का विशेषण बन जाता है (२८२ अ); उदा० **ततः शब्दादभिज्ञाय स व्याघ्रेण हतः** (हितो०) तदनन्तर वह व्याघ्र से मारा गया जिसने उसके शब्द से उसे पहचाना था; **त्वया स राजा शकुन्तलाम् पुरस्कृत्य वक्तव्यः** (शाकु०) शकुन्तला को प्रस्तुत कर तुम राजा को अवश्य कहोगे, **हंसानां वचनं श्रुत्वा यथा मे** (तृतीया के लिए षष्ठी) **नैषधो वृतः** (महाभा०) हंसों की वाणी के सुनने पर जैसे ही नैषध का वरण मेरे द्वारा हुआ; उत्तरकालिक संस्कृत के अनेक स्थलों में ऐसी रचना अत्यधिक प्रचलित है।

ई—यदा-कदा पूर्वकालिक क्रियापद कर्ता, विशेषरूप से अनिश्चित कर्ता, का विशेषण होता है जो कर्ता अप्रयुक्त रहता है : यथा—**तदाऽत्रैव पक्त्वा खादितव्यः** (हितो०) तब यहीं उसे पकाकर (हमसे) वह खाया जाएगा; **यदन्यस्य परिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते** (मनु०), यदि एक को प्रतिश्रुति देकर (जबकि किसी ने उसे देने का वचन दिया), वह किसी और को पुनः दी जाती है; **सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत् कृतम्** (हितो०) अच्छी तरह सोचकर जो कुछ कोई बोलता और सुविचार करता है। फलतः, और भी अधिक दीर्घान्वय के चलते **अलम्** के बाद : जैसे—**अलं विचार्य** (शाकु०) वितर्क करना व्यर्थ है; **तदलं ते वनं गत्वा** (रामा०) तेरे वन जाने से ही ऐसा किया गया है।

उ—अपेक्षाकृत कम नियमित अन्य रचनाएँ, विशेष रूप से प्राचीनतर भाषा में, मिलती हैं : इस प्रकार **मन्** प्रभृति के साथ कालवाची कृदन्तक्रियारूप के ढंग से (२६८ अ), यथा—**तं हिंसित्वेव मेने** (श० ब्रा०) उसने सोचा, उसने उसे आघात पहुँचाया था;—**ता अद्भिरभिषिच्य निजास्यैवाऽमन्यत** (ऐ० ब्रा०) उन्हें जल से अभिषेक कर उसने अपने-आप उन्हें व्यथित किया माना; √(इ) (१०७५ अ) के साथ निरन्तर काल का रूपनिर्माण करने वाले

कालवाची कृदन्तक्रियारूप के ढंग से, यथा—**इन्द्रमेवैतैरारभ्य यन्ति** (ऐ० ब्रा०) इनके द्वारा वे इन्द्र को अपने वश में रखते हैं;—वाक्य के गौण के विशेषण रूप में, यथा—**पुरोडाशमेवं कूर्मम् भूत्वा सर्पन्तम्** (श० ब्रा०) हविष्यान्न को फैलाकर, कछुआ बनकर; **अयोध्याम्**.......**सफेनाम् सस्वनाम् भूत्वा जलोर्मिम् इव** (रामा०) अयोध्या में फेन और निनाद वाली जलतरंग की तरह;—भावलक्षण के रूप में भी, यथा—**आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा तान्त् समदविन्दत्** (श० ब्रा०) तब देवों ने आतिथ्यभाव से यज्ञ किया, संघर्ष उनमें छिड़ गया।

ऊ—अन्तिम से पूर्व दो उदाहरणों की तरह, **भूत्वा** के साथ विधेयपद कर्ता के साथ उसी विभक्ति में रखा जाता है : इस प्रकार पुनः, **तदियम् एवैतद् भूत्वा यजति** (श० ब्रा०) अतएव इस प्रकार इसके पृथ्वी बनने पर वह यजन करता है; **येन वामनेनापि भूत्वा** (वेता०) जिससे, जबकि वह वामन तक हो गया था। रचना विरल होती है।

ए—अनेक पूर्वकालिक क्रियापदों में इनका ऐसा अर्थ आता है जो कभी-कभी पूर्वसर्ग अथवा अव्यय के सादृश्य में क्षीण हो गया है : ऐसे हैं : **अधिकृत्य** विषय बना अर्थात् लेकर, का; **आदाय, उपागृह्य** लेते हुए अर्थात् के साथ; **उद्दिश्य** उद्देश्य करके अर्थात् से; **आसाद्य** पहुँचकर अर्थात् साथ-साथ, से; **आरभ्य** कर अर्थात् से; **सम्भूय** होकर या साथ; **संहत्य** एक साथ प्रहार कर अर्थात् संग-संग; प्रसह्य बल प्रयोग कर अर्थात् हठात्; **त्यक्त्वा, परित्यज्य, मुक्त्वा, विहाय, उद्धृत्य, वर्जयित्वा**, छोड़कर प्रभृति, अर्थात् विहीन, बिना प्रभृति। उदाहरण होते हैं : **शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि** (शाकु०) शकुन्तला को विषय बनाकर मैं बोलता हूँ; **तमुद्दिश्य क्षिप्तलगुडः** (हितो०) उस पर लाठी फेंक कर; **निमित्तं किञ्चिद् आसाद्य** (हितो०) किसी-न-किसी उद्देश्य के लिए।

ऐ—पूर्वकालिक क्रियापद उत्तरकालिक भाषा में कभी-कभी रचना में इस प्रकार प्राप्त होता है जैसे कि संज्ञा प्रकृति हो : उदा० **प्रसह्यहरण** बलपूर्वक हरण; **प्रेत्यभाव** मृत्यु के अनन्तर अस्तित्व; **विभज्यपाठ** पृथक् पाठ, **सम्भूयगमन** सहगमन। यथाभाग के अर्थ में भी इसकी आवृत्ति (१२६०) बहुधा होती है : उदा०—**स वै सम्मृज्य-सम्मृज्य प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति** (श० ब्रा०) प्रत्येक स्थिति में उन्हें साफ और गरम कर वह उन्हें दिया करता है; **गृहीत्वा-गृहीत्वा** (का० श्रौ० सू०) प्रत्येक बार ग्रहण कर; **उन्नम्योन्नम्य** (प० च०) प्रत्येक बार जबकि वे उठते हैं।

अम् अन्तवाले क्रियाविशेषणात्मक पूर्वकालिक क्रियापद

९९५—अ-अन्तवाली क्रियासंज्ञा-शब्द क्रियाविशेषण की तरह प्रयुक्त होने पर कभी-कभी ऐसी प्रयोगिता और रचना रखता है जो सामान्य पूर्वकालिक क्रियारूप के इतना तुल्य होता है कि इसे अन्य नाम से अभिहित करना समीचीन न होगा।

अ—इस प्रकार के रूप के साथ विशिष्ट पूर्वकालिक क्रियारूप-रचना का कोई उदाहरण ऋ० वे० में अथवा अ० वे० में नहीं मिलता है, यद्यपि एक दर्जन की क्रिया-विशेषणरूप-द्वितीया-विभक्तियाँ ऐसे वर्ग की होती हैं जो इस रूपनिर्माण का प्रतिनिधित्व करता है : इस प्रकार **अभ्याक्रामम्**, **प्रतंङ्कम्**, **प्रणोदम्**, **निलायम्**, **अभिस्कन्दम्** इत्यादि। यह पूर्वकालिक क्रियारूप विशेषतः ब्राह्मणों और सूत्रों में पाया जाता है जहाँ यह असाधारण नहीं है; रामा० महाभा० में यह अत्यधिक विरल है; आगे चलकर भी यह खूब परिमितरूप में आता है।

आ—प्रत्यय से पूर्व अन्त्य स्वर में वृद्धि सबलीकरण होता है :यथा—**नायम्**, **श्रावम्**, **कारम्**; अन्त्य **आ य** जोड़ता है : जैसे—**ख्यायम्**, **यायम्**; मध्यग स्वर को गुण होता है (यदि इसकी प्राप्ति संभव है, २४०) : यथा—**क्षेपम्**, **क्रोशम्** **वर्तम्** (किंतु **इक्षम्**, **पूरम्**); एकाकी व्यंजन से पूर्व मध्यग **अ** दीर्घ कर दिया जाता है; यथा—**क्रामम्**, **चारम्**, **ग्राहम्**, **स्वादम्** (किंतु **ग्रन्थम्**, **लम्भम्**)। स्वरपात धात्वक्षर पर होता है। प्राचीनतर भाषा में कोई असामासिक उदाहरण नहीं पाये जाते हैं, तथा उत्तरकाल में खूब कम हैं।

इ—उदाहरण होते हैं : **कामं वा इमान्यङ्गानि व्यत्यासं शेते** (श० ब्रा०) इन अंगों की स्थिति को यथेच्छ बदलता हुआ वह लेटता है; **उत्तरामुत्तरां शाखां समालम्भं रोहेत्** (श० ब्रा०) ऊँची, और भी ऊँची डाल को पकड़कर वह चढ़े; **अपरीषु महानागमिवाभिसंसारं दिदृक्षितारः** (श० ब्रा०) तब, एक साथ दौड़ते हुए मानो कोई महा नाग हो, वे उसे देखना चाहेंगे; **नामान्यासाम् एतानि नामग्राहम्** (श० ब्रा०) इनके इन नामों के पृथक् नामकरण से; **यो विपर्यासम् अवगूहति** (श० ब्रा०) जो कोई उलटा जलाता है; **बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुम् प्रवृत्ता** (शाकु०) वह अपनी भुजाओं को ऊपर फेंकती हुई (बाहूत्क्षेप के साथ) रोने लगी; **नवचूतपल्लवानि दर्शं-दर्शं मधुकराणां क्वणितानि श्रावं-श्रावं परिबभ्राम** (द० कु० च०) आम के नवीन पल्लवों को निरन्तर देखते और भौंरों के गुंजन को निरन्तर सुनते वह घूमता रहा। अन्यस्त रूप, अन्तिम उदाहरण—जैसे, उत्तरकालिक भाषा में विहित हैं; ये

पूर्वतर काल में नहीं आते हैं (किंतु इनके स्थान में अभ्यस्त साधारण पूर्वकालिक क्रियापद ९९४ ऐं) ।

अध्याय—१४

प्रत्ययान्त अथवा यौगिक क्रियारूप

९९६—यौगिक क्रियारूप वे हैं जिनमें रूपों की संपूर्ण प्रक्रिया ऊपर निर्दिष्ट सरल धातु से निष्पन्न की तरह अपेक्षाकृत अधिक या न्यून पूर्णता के साथ यौगिक क्रियारूप-प्रकृति से बनायी जाती है; तथा मूल धात्वर्थ के किसी निश्चित विवर्तन से सामान्यतः संबद्ध भी हैं ।

अ—वस्तुतः, हम देख चुके हैं कि काल-प्रक्रियाएँ अधिकांशतः यौगिक प्रकृतियों से भी बनाई जाती हैं; और यहाँ तक कि कुछ स्थलों में ऐसी प्रकृतियाँ धातुओं के रूप और प्रयोगिता का ग्रहण करती हैं तथा ये संपूर्ण क्रियारूप वाली प्रक्रिया का आधार बनायी जाती हैं । काल-प्रक्रियाओं और यौगिक क्रियारूपों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा भी नहीं खींची जा सकती है; द्वितीय वर्तमान-प्रक्रियाएँ हैं जो अन्य कालों के तथा कालवाची कृदंत क्रियारूपों, तुमर्थक रूपों प्रभृति के योग से विस्तारित हुई हैं । पूर्वतम भाषा में वर्तमान-प्रक्रिया से भिन्न इनके रूप और भी अधिक विरल होते हैं, विकीर्ण से अधिक प्रायः ही; और उत्तरकाल में भी अपेक्षाकृत अधिक तुलनात्मक पुनरावर्तन को प्राप्त करनेवाले एक या दो रूपनिर्माणों को छोड़कर मुख्य क्रियारूप के तुल्य रूपों की अपेक्षा खूब कम प्रचलित हैं ।

९९७—यौगिक क्रियारूप होते हैं : (१) **कर्मवाच्य**; (२) **यङन्त**; (३) **सन्नन्त**; (४) **णिजन्त**; (५) **नामधातु** ।

अ—यहाँ कर्मवाच्य विशिष्ट प्रयोगिता और रूप निर्माण के स्वातंत्र्य को लेकर दूसरों के सादृश्य के कारण वर्गीकृत है, यों तो यह उनकी तरह अपनी वर्तमान-प्रकृति से वर्तमान-प्रक्रिया के अतिरिक्त अपने रूप नहीं बनाता है ।

१—कर्मवाच्य

९९८—कर्मवाच्य क्रियारूप ऊपर मुख्यतः वर्णित हो चुका है । इस प्रकार हमने देखा है कि—

अ—इसकी एक विशिष्ट वर्तमान-प्रक्रिया होती है जिसकी प्रकृति केवल वर्तमान है और जो अवशिष्ट रूपों में से किसी का आधार नहीं बनाई जाती है : यह प्रकृति उदात्त वर्ग-चिह्न य॑ से बनाई जाती है और इसमें (अपवादों के साथ ७७४) आत्मनेपदी तिङ्प्रत्यय लगते हैं। यह वर्तमान-प्रक्रिया अन्य प्रक्रियाओं के साथ वर्णित है, ऊपर ७६८ नि० वि०।

आ—लुङ् का एक विशिष्ट कर्मवाच्य अन्य० एकव० रूप होता है जो इ अंतवाला है : यह ऊपर वर्णित है; ८४२ नि० वि०।

इ—अवशिष्ट कालों में आत्मनेपदी रूप कर्मवाच्यार्थ में भी प्रयुक्त हैं।

ई—किंतु आत्मनेपदी रूपों का कर्मवाच्य-प्रयोग साधारण नहीं है : यह अत्यधिक समय परोक्ष में मिलता है। कालवाची कृदंत क्रियारूप अधिकांशतः कर्मवाच्य भूतकाल का स्थान ग्रहण करता है तथा भविष्यकालवाची कृदंत क्रियारूप भविष्य का। दूसरी ओर, प्राचीनतम भाषा (ऋ० वे०) में अन्य वर्तमान प्रक्रियाओं के आत्मनेपदी रूप अनेक स्थलों में कर्मवाच्यार्थ के साथ व्यवहृत हैं।

इ—वैयाकरणों के अनुसार कर्मवाच्य प्रयोग के लिए कुछ क्रियाओं से एक विशिष्ट प्रकृति लुङ् और दो भविष्य प्रक्रियाओं के लिए बनायी जा सकती है, जो आकृति की दृष्टि से विशिष्ट अन्य० एकव० लुङ् के तुल्य है।

उ—इस प्रकार √(दा) से (लुङ् अन्य० एकव० अ॑दायि) अ॑दासि, दास्य॑, दाता॑हे के साथ पुनः अ॑दायिषि, दायिष्य॑, दायिता॑हे। इस द्विक रूप-निर्माण की प्राप्ति सभी अजंत धातुओं तथा ग्रह्, दृश् और हन् में विस्तारित होती है। इस प्रकार के कोई कर्मवाच्य रूप प्राचीनतर भाषा में नहीं मिलते हैं, और आधे दर्जन के रूप भी उत्तरकाल से उद्धरणीय नहीं हैं (द० कु० च० में अधायिषि और अस्थायिषि और कुवल० में अनायिषात हम पाते हैं)।

ए—यौगिक परोक्ष के तथाकथित कर्मवाच्य रूपविधान के लिए, देखिए नीचे, १०७२।

ऐ—वर्तमान काल-प्रकृति से (७७१–५) कालवाची कृदंतक्रियारूप के अतिरिक्त कर्मवाच्य में त (९५२) या न (९५७) अन्तवाला भूतकालवाची कृदन्त-क्रियारूप और विभिन्न रूपनिर्माण (९६१ नि० वि०) के भविष्यकालवाची कृदन्तक्रियारूप या जिरन्डिव् होते हैं, जो सीधे धातु से बने हैं।

९९९—जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है (२८२ अ), भाषा, विशेषरूप से उत्तरकालिक, वाक्य के कर्मवाच्य-भाववाच्य रूप के लिए नियत आग्रह रखती है। ऐसा आंशिक रूप में मुख्य तिङन्त कर्मवाच्य रूपों के प्रयोग से स्पष्ट होता

है, किंतु अधिकतर समय कर्मवाच्य-भाववाच्य कृदन्तक्रियारूप और भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप के प्रयोग से : कालवाची कृदन्तक्रियारूप अंशतः वर्तमानार्थ में गृहीत है, किंतु अधिक सामान्य ढंग से भूतकाल में (चाहे अनिश्चित अथवा आसन्न भूत,) और कभी-कभी संयोजक अभिहित होने पर, किंतु अधिक समय इसके विना; तथा भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप या तो शुद्ध भविष्य का प्रतिनिधित्व करता है अथवा ऐसे भविष्य का, जिसमें आवश्यकता या कर्तव्य का अर्थ जुड़ा रहता है। विशेष उदाहरण हैं : **तत्रैको युवा ब्राह्मणो दृष्टः। तं दृष्ट्वा कामेन पीडिता संजाता। सख्या अग्रे कथितम्। सखि पुरुषोऽयं गृहीत्वा मम मातुः समीपमानेतव्यः** (वेता०) वहाँ उसने एक युवक ब्राह्मण को देखा। उसके दर्शन से वह कामविह्वल हो गयी। उसने अपनी सखी से कहा—सखि, तुम पुरुष को पकड़ कर मेरी मां के पास अवश्य लाओगी। उत्तरकालिक संस्कृत की कुछ शैलियों में भूतकाल की मान्य अभिव्यक्ति कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप द्वारा होती है (इस प्रकार वेता० में सर्वाधिक प्रयोग, नौ-दश से भी अधिक)।

अ—अन्य भाषाओं की तरह अन्य० एक० भाव-कर्मवाच्य रूप अकर्मक और सकर्मक धातुओं से निर्बाध बनाया जाता है : उदा० **इहाऽऽगम्यताम्** यहाँ आइए; **त्वया तत्रैव स्थीयताम्** तुम वहीं ठहरो; **सर्वैर्जालमादायोड्डीयताम्** (हितो०) सब जाल लेकर उड़ें।

२—यङन्तरूप

१०००—यङन्त (कभी-कभी भृशार्थक भी कहा जाता है) यौगिक धातुरूप में से ऐसा एक होता है जो ऊपर वर्णित रूपनिर्माणों के सादृश्य से सर्वाधिक न्यून भिन्न है। यह द्वितीय क्रियारूप-वर्ग (६४२ नि० वि०) की वर्तमान-प्रक्रिया की तरह अभ्यस्त प्रकृति का रूपविधान है, किंतु एक ऐसी प्रकृति का, जो सवलीकृत अभ्यास के चलते विशिष्ट होती है। यह यौगिक क्रियारूपों में से किसी अन्य की अपेक्षा वर्तमान-प्रक्रिया की सीमाओं से बाहर निश्चित रूप से कम विस्तारित है।

अ—यङन्त क्रियारूप धातु के मुख्य क्रियारूप द्वारा व्यक्त क्रिया के आधिक्य अथवा आवृत्ति को सूचित करता है।

१००१—वैयाकरणों के अनुसार यङन्त क्रियारूप भाषा की प्रायः सभी धातुओं से बनाया जा सकता है—अपवाद होते हैं, अनेकाच् धातुएँ, वे धातुएँ जिनके रूप केवल णिजन्त-जैसे चलते हैं (नीचे, १०५६), और सामान्यतः अजादि धातुएँ।

अ—किंतु उत्तरकालिक भाषा में यङन्त वस्तुतः वहुत विरल हैं, इतने

विरल की यह निश्चित रूप से कहना कठिन हो जाता है कि इनके प्रसंग में देशी वैयाकरणों द्वारा दिये गये नियमों को क्या महत्व दिया जाय ? न तो पूर्वतर काल में ही ये सामान्य हैं, ऋ० वे० को (अपेक्षाकृत) छोड़कर, जो कि वेद और ब्राह्मण तथा सूत्र ग्रंथों से उद्धरणीय सम्पूर्ण संख्या (प्रायः सौ से ऊपर) के लगभग छः-सात रखता है। ऋ० वे० में जितने हैं उनके आधे से कम अ० वे० में आते हैं, और इनमें से अनेक ऋग्वेद वाले मंत्रों में; उत्तरकालिक भाषा से इनके लगभग बीस उद्धरणीय हैं, किंतु अधिकांशतः मात्र एक या दो प्रयोगों में।

आ—फलतः, नीचे दिये जाने वाले विवरण में रूपनिर्माण का वास्तविक स्वरूप जो कि प्राचीनतर भाषा में परिलक्षित है, मुख्यतः और विशेषतः ध्यान में रखा जायेगा; और उदाहरण उन रूपों के होंगे जो वहाँ प्रयोग में प्राप्त हैं।

१००२—सबल यङन्त अभ्यास का कार्य तीन विभिन्न ढंगों से होता है :

(१) अ—अन्यत्र की तरह साम्यास अक्षर परवर्ती स्वर के साथ एकाकी व्यंजन को लेकर होता है, तथा जहाँ तक व्यंजन का प्रश्न है, वर्तमान और परोक्ष वाले अभ्यास के नियम लागू होते हैं (५९०); किंतु स्वर गुरु होता है, धातुमूलक **अ** और **ऋ** (या **अर्**) **आ** द्वारा अभ्यस्त होते हैं, इ-स्वर **ए** द्वारा और उ-स्वर **ओ** द्वारा।

उदाहरण होते हैं : **वावद्, वावध्, शाश्वस्, रारन्ध्; दादृ, दाधृ; चेकित्, तेतिज्, नेनी, वेव्ली, शोशुच्, पोप्रुथ्, चोक्षु, जोहू।**

(२) आ—साम्यास अक्षर में अन्त्य व्यंजन होता है जो धात्वन्त से गृहीत है। एक या दो अपवादों के साथ यह व्यंजन या तो **र्** (अथवा इसका रूपान्तर **ल्**) या अनुनासिक होता है।

उदाहरण हैं : **चर्चर्, चल्चल्, सर्सृ, मर्मृज्, जर्हृष्; चङ्क्रम्, जङ्घन्, तंस्तन्, दन्दश्** (**√दंश् या दश्**), **जञ्जभ्** (**√जम्भ् या जभ्**), **तन्तस्** (**√तंस् या तस्**), **नन्नम्** (**√नम्**) **यंयम्** (**√यम्**)। नासिक्य आदि-व्यंजन के सम कर दिया जाता है।

इ—**अ** या **ऋ** स्वर वाली धातुएँ ही अभ्यास का यह रूप बनाती हैं, किंतु ऐसी धातुओं के साथ यह अन्य रूपों के किसी की अपेक्षा अधिक सामान्य होता है।

ई—इस कोटि के अनियमित रूपनिर्माण हैं : द्वित्व में **र्** या **न्** से भिन्न अन्त्य के साथ, **वद्वध्**; द्वित्व में अन्त्य अनुनासिक के साथ, जो धातु में अप्राप्त है, **जङ्गह्** (ऋ० वे०), **जञ्जप्** (श० ब्रा०; और **जङ्गूयत्** पं० ब्रा० संभवतः √(**गु**) से निष्पन्न है; उत्तरकालिक भाषा में **दन्दह्** भी प्राप्त होता है);

अभ्यास में अनियमित आदि व्यंजन के साथ, **जर्भुर**, (तुलनीय √(भृ) से वैदिक लिट्रूप **जभार**, ७८९ आ), **गल्गल्** √(**गल्**) से; **ऋ** या **अर्** अंश के विभिन्न रूपान्तरण के साथ, **दर्दर्** और **दर्दिर्** **चर्कर्** और **चर्किर्** **तर्तर्** और **तर्तुर्** **चर्चर्** और **चर्चुर्**, **जर्गुर्** और **जल्गुल्** ।

उ—**इ** या **ऋ** मात्र अजादि धातुएँ जिनसे यङन्तप्रकृति बनती हैं । **इ** **इयास्** (? पं० उप० एक वार) बनाती है; **ऋ** अनियमित **अलर्** या **अलृ** बनाती हैं । **ईय** प्रकृति के लिए, दे० नीचे १०२१ आ ।

(३) ऊ—साभ्यास अक्षर के अन्त्य व्यंजन के साथ **इ**—स्वर के जुड़ने से द्वित्व द्व्यक्षर होता है । प्राचीनतर भाषा यह **इ**—स्वर द्विक व्यंजन से पूर्व ह्रस्व होता है, और एकाकी से पूर्व दीर्घ ।

उदाहरण होते हैं : **गनीगम्** (किंतु **गंनिग्मतम्**), **वरीवृत्**, **वनीवाह्**, **चनिष्कद्**, **सनिष्वन्**; **नवीनु**, **दविद्युत्** (और कृदन्तक्रियारूप **दंविध्वत्** किंतु **तंवीतुअत्**) । **इ** की मात्रा को लेकर एकमात्र अपवाद **दविधाव** है ।

ए—प्राचीनतर भाषा में द्वित्व की यह विधि लगभग तीस धातुओं में लागू होती है । इस प्रकार अन्त्य अथवा उपधा **न्** (एक वार **म्**), और अभ्यासाक्षर में **न्** वाली धातुओं में, **पत्**, **फन्**, **सन्**, **स्वन्**, **हन्**, **गम्**; **क्रन्द्**, **श्चन्द्**, **स्कन्द्**, **स्यन्द्**; अन्त्य अथवा मध्य **ऋ**, और अभ्यासाक्षर में **ऋ** वाली धातुओं में, **कृ** बनाना, **तृ**, **भृ** **वृ**, **मज्**, **मृश्**, **वृज्**, **वृत्**, **सृप्**; साथ ही **म्लुच्** (**मलिम्लुच्**) पुनः धातु में अप्राप्त **न्** को अभ्यास में ग्रहण करने वाली धातुओं में केवल **वह्** (श० ब्रा०—वैयाकरण **कस्**, **पत्**, **पद्** को भी प्रस्तुत करते हैं; तथा **पनीपद्** उत्तरकाल में उद्धरणीय है; पुनः आ० श्रौ० सू० में **चनीखुदत्** मिलता है जिसके लिए तै० ब्रा० का पाठ **कंनीखुनत्** है); अन्ततोगत्वा, धातुमूलक-स्वर-जैसे **उ** या **ऊ** को रखने वाली धातुओं में, **इ**—स्वर के पूर्व **अव्** के साथ, **तु**, **धू**, **तु**, **द्युत्** ।

ऐ—इस वर्ग में अभ्यासवाले व्यंजन (५९०) के रूप को लेकर सामान्य नियमों का उल्लंघन **घनीघन्** और **भरीभृ** में और **गनीगम्**, **करीकृ** (किंतु नियमित **चरीकृ** भी प्राप्त है), **कनिक्रन्द्** और **कनिष्कन्द्** (किंतु **चनिष्कन्द्** भी आता है) में होता है; साथ ही **कनीखुन्** में ।

ओ—**चेकित्** तथा **जङ्घन्** और **घनीघ्नन्** में अभ्यास होने पर अपेक्षाकृत अधिक मौलिक कण्ठ्य रूप में प्रतिवर्तन अन्यत्र होने वाली प्रक्रिया के अनुरूप होता है ।

१००३—एक ही धातु की यङन्त प्रकृति एकाधिक ढंगों से बनायी जा सकती है।

इस प्रकार प्राचीनतर भाषा में **दादृ** और **दर्दृ**; **दाघृ** और **दर्घृ**; **चाचल्** और **चर्चर्** (तथा **चर्चुर्**); **तर्तर्** (और **तर्तुर्**) तथा **तरीतृ**; **जङ्गम्** और **गनीगम्**; **जङ्घन्** और **घनीघन्**; **पम्फन्** और **पनीफन्**; **मर्मृज्** और **मरीमृज्**; **मर्मृश्** और **मरीमृश्**; **वर्वृत्** और **वरीवृत्**; **जर्भृ** और **भरीभृ**; **दोधू** और **दवीधू**; **नोनु** और **नवीनु**; **वावध्** और **बद्बध्**।

१००४—नियमित यङन्त रूपविधान का आदर्श साभ्यास क्रियारूप-वर्ग (६४२ नि० वि०) की वर्तमान-प्रक्रिया है; और वस्तुतः यह अधिकांश रूप में प्रत्ययों, प्रकृति के सबलीकरण, और स्वरपात को लेकर पालित होता है। किंतु आदर्श के उल्लंघन विरल नहीं हैं; तथा रूप सामान्यतः इतने विरल प्रयोग वाले हैं कि संतोषजनक वर्गीकरण और निरूपण संभव नहीं है।

अ—सर्वाधिक विशिष्ट अनियमितता प्रकृति और प्रत्यय के मध्य में **ई** का प्रचुर प्रयोग है। वैयाकरणों के अनुसार यह व्यंजनादि तिङ्प्रत्यय से पूर्व सभी सबल रूपों में विहित है; तथा ई से पूर्व अंत्य स्वर में गुण-सबलीकरण होता है, किंतु मध्यम अपरिवर्तित बना रहता है।

वर्तमान-प्रक्रिया

१००५—हम वर्तमान-प्रक्रिया के अंगों का उल्लेख क्रम में करेंगे, प्रथमतः उन्हें रखना है जो उत्तरकालिक भाषा में नियमित-जैसे माने गये हैं और तदनन्तर दिखाना है कि रूपनिर्माण पूर्वतरकालिक ग्रन्थों में किस प्रकार प्राप्त है। चूँकि बहुत-से वैयाकरण आत्मनेपद रूपविधान को नहीं मानते हैं, और आत्मनेपदी रूप वेद में भी खूब कम हैं, आत्मनेपद के लिए रूपतालिका प्रस्तुत करने का कोई प्रयास नहीं किया जायगा।

१००६—रूपविधान के उदाहरणस्वरूप धातु **विद्** जानना को रखा जा सकता है जिसकी **यङन्त** प्रकृति **वेविद्** होती है, अथवा सबल रूपों में **वेवेद्**।

अ—न इससे और न किसी अन्य धातु से कुछ विकीर्ण भाव से अधिक रूप वस्तुतः उद्धरणीय हैं।

१—निश्चयार्थक लट्

	एकव०		द्विव०	बहुव०
उ०	वेवेद्मि,	वेविदीमि	वेविद्वस्	वेविद्मस्
म०	वेवेत्सि	वेविदीषि	वेवित्थस्	वेवित्थ
अ०	वेवेत्ति,	वेविदीति	वेवित्तस्	वेविदति

आ—√(ह्वृ) से सहायक-स्वर के साथ एकवचन रूप जोह्वीमि, जोह्वीषि, जोह्वीति होंगे।

१००७—अ-प्राचीनतर भाग में पाये जाने वाले रूप सामान्यतः रूप-तालिका के तुल्य होते हैं। उदाहरण हैं : उ० एकव०, चर्कर्मि, वेवेष्मि; म० एकव०, अर्लर्षि, दर्दर्षि; अ० एकव०, अलर्ति, दार्धर्ति, वेवेति, नेनेक्ति, जङ्घन्ति, कनिक्रन्ति, गनीगन्ति; अ० द्विव०, जर्भृतस्; उ० बहुव०, नोनुमस्; म० बहुव०, जाग्रथ; अ० बहुव०, दाध्रति, नानदति, भरिभ्रति, वर्वृतति, दविद्युतति, नेनिजति तथा अनियमित रूप से, वेविषन्ति; और सहायक स्वर के साथ, जोह्वीमि, चाकशीमि; चाकशीति, नोनवीति, दर्दरीति, जर्भुरीति। द्व्यक्षर वाले द्वित्व के साथ किसी प्रकृति से सहायक स्वर ई इसके रूपों में से किसी में नहीं आता है।

आ—ई और सबल प्रकृति से युक्त एकमात्र द्विवचन रूप प्राप्त होता है : यथा—तर्तरीथस्।

इ—प्रयोग में प्राप्त आत्मनेपदी रूप हैं : उ० एकव०, जोगुवे, नेनिजे; अ० एकव०, नेनिक्ते, सर्स्रते; और अनियमित स्वरपात के साथ, तेतिक्ते; देदिष्टे; धातुमूलक अंत्य नासिक्य के अनियमित लोप के साथ, नंन्नते; ते के स्थान में ए तिङ्प्रत्यय के साथ, चेकिते, जङ्गहे, जोगुवे, बावधे, और (अनियमित स्वर); अ० द्विव०, सर्स्राते; अ० बहुव०, देदिशते।

२—वर्तमानार्थ लेट्

१००८—अ-मुख्य तिङ्प्रत्ययों से युक्त लेट्-रूप अत्यंत विरल हैं : केवल जङ्घनानि जागरासि (अ० वे०) उपलब्ध हुए हैं; तथा आत्मनेपद में तन्तसैते।

आ—गौणतिङ्प्रत्ययों के साथ रूप अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त हैं : इस प्रकार, म० एकव०, जङ्घनस्, जल्गुलस्; अ० एकव०, जागरत्, चेकितत्, बोभवत्; चर्कृषत्, जङ्घनत्, बर्भृहत्; मर्मृजत्, मर्मृशत्, पर्फरत्, दर्दिरत्, चनिस्कदत्, दविद्युतत्, सनिष्वणत्; उ० द्विव०, जङ्घनाव; उ० बहुव०, चर्किराम्, वेविदाम; अ० बहुव०, पापतन्, शोशुचन्, चर्किरन्, तथा द्विक प्रकार-चिह्न के साथ, चाकशान् (अ० वे०)। आत्मनेपद में केवल अन्य० बहुवचन रूप प्राप्त हैं : यथा—जङ्घनन्त, जर्हृषन्त, मर्मृजन्त, नोनुवन्त, शोशुचन्त।

३—वर्तमानार्थ विधिलिङ्

१००९—इस प्रकार में असवलीकृत प्रकृति देखी जाती है, जहाँ सामान्य तिङ्प्रत्यय (५८६) होते हैं जो कि उदात्त युक्त हैं। इस प्रकार :

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	वेविद्याम्	वेविद्याव	वेविद्याम
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

आ—प्राचीनतर भाषा में विधिलिङ् केवल एक या दो उदाहरणों में देखा जाता है : यथा—परस्मै० वेविष्यात् (अ० वे०), जागृयास (कौ० ब्रा०) जाग्रियात् (ऐ० ब्रा०), जागृयाम (वा० सं० मै० सं०; किन्तु जाग्रियाम तै० सं०); ऋ० वे० में केवल चाकन्यात् (परोक्ष ?) मिलता है; आत्मने० नेनिजीत (काठक०)।

४—वर्तमानार्थ लोट्

१०१०—लोट् के नियमित रूप, जिनमें सामान्य उत्तम पुरुष लेट् रूप सम्मिलित हैं, यों होंगे :

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	वेविदानि	वेविदाव	वेविदाम
म०	वेविद्धि	वेवित्तम्	वेवित्त
अ०	वेवेतु, वेविदीतु	वेवित्ताम्	वेविदतु

१०११—अ-प्राचीनतर लोट्रूप विधिलिङ्रूपों की अपेक्षा कम विरल होते हैं। उत्तम पुरुष रूप ऊपर दिये गये हैं (जान्वनानि, एकमात्र उदात्तयुक्त उदाहरण, आदर्श की संगति में नहीं आता है, किन्तु साभ्यास वर्तमान के लेट् के अनुरूप है); वास्तविक लोट्रूप हैं : म० एकव०, दादृहि, ददृहि, चर्कृधि, जागृहि, नेनिग्धि, रारन्धि; तिङ्प्रत्यय तात् चर्कृतात् और जागृतात् में पाया जाता है; और द्वितीयरूप (जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है, ५७१ आ) अ० वे० में उत्तम पुरुष एकवचनरूप—जैसा प्रयुक्त है; बर्बृहि में तिङ्प्रत्यय हि से पूर्व ह् का अन्यत्र असम रूप लोप देखा जाता है; अ० एकव०, दाधर्तु, वेवेष्टु, दर्दर्तु, मर्मर्त्तु; म० द्विव०, जागृतम्; अ० द्विव०, जागृताम्; म० बहुव०, जागृत; चङ्क्रमत (ऋ० वे०, एकवार) में अनियमित संयोजन-स्वर प्राप्त है। आत्मनेपद में एकमात्र नेनिक्ष्व (श० ब्रा०) मिलता है।

आ—सहायक ई वाले लोट्-रूपों में से कोई ऋ० वे० में नहीं पाया जाता है; अ० वे० में वावदीतु और जोहवीतु हैं, और ऐसे रूप यदा-कदा ब्राह्मणों में

प्राप्त होते हैं; अ० वे० में नियम के प्रतिकूल तंस्तनीहि और जङ्घनीहि भी आये हैं; वा० सं० में चाकशीहि प्राप्त है।

५—वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप

१०१२—भृशार्थक कृदन्तक्रियारूप, परस्मैपदी और आत्मनेपदी दोनों ही, प्राचीनतर भाषा में आपेक्षिक दृष्टि से सामान्य होते हैं। साभ्यास वर्तमान के रूपों की तरह ये बनाये जाते हैं और इनके रूप चलते हैं; तथा इनमें अभ्यास वाले अक्षर पर स्वरपात होता है।

उदाहरण हैं: परस्मै०, चांकशत्, नांनदत्, चेंकितत्, मेंम्यत्, शोंशुचत्, रोंरुवत्, दंद्रत्, मंर्मृजत्, जंङ्घनत्, नंन्नमत्, पंनीफनत्, कंनिक्रदत्, दंविद्युतत्;—आत्मने०, वावधान, मंम्यान, चेंकितान, योंयुवान, रोंरुचान, जंर्भुराण, संस्राण, जञ्जभान, नंन्नमान, दंन्द्रशान। किसी भी आत्मनेपदी कृदन्तक्रियारूप में द्व्यक्षर वाला द्वित्व नहीं देखा जाता है।

१०१३-अ—अपने स्वरपात के कारण रारहाणं, रारक्षाणं, और जाहृषाणं (जंहृषाण के अतिरिक्त) संभवतः परोक्ष कृदन्तक्रियारूपों—जैसे माने जा सकते हैं, यद्यपि इन धातुओं से गुरु-द्वित्व वाले कोई दूसरे परोक्षरूप नहीं आते हैं। तथापि बद्बधानं और मर्मृजानं (साथ ही मंर्मृजान) निस्संदिग्ध यङन्तरूपों के चलते अनुमान अनिश्चत रह जाता है। शूंशुचान प्रभृति के लिए, देखिये ८०६-अ।

आ—ऋ० वे० में परित्यक्त-धात्वच् वाला षष्ठी एकवचन रूप जंङ्घ्नतस एक बार आया है; कंनिक्रत् कंनिक्रदत् के लिए एक बार प्रयुक्त लगता है; यदि चाकंत् को √(का) (ग्रास्मैन्न) से संबद्ध किया जाय, तो यह आकारांत धातु से यङन्त का एकमात्र उदाहरण है, और इसका उदात्त अनियमित है। मर्मृशन्तस् (ऐ० ब्रा०) संभवतः भ्रामक पाठ हैं; किंतु अनियमितरूप से सुरक्षित नासिक्य से युक्त रूप रामा० महाभा० में तथा उत्तरकाल में वार-वार पाये जाते हैं: यथा—लेलिहन्, देदीप्यन्तीम् (महाभा०), जाज्वलन्त् (महाभा०, रामा०), सरीसृपन्तौ (भाग० पु०), राटन्ती (रामा०)।

६—लङ्

१०१४—लङ् के रूप यों नियमानुरूप चलते हैं:

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	अंवेविदम्	अंवेविद्व	अंवेविद्म
म०	अंवेवेत्, अंवेविदीस्	अंवेवित्तम्	अंवेवित्त
अ०	अंवेवेत्, अंवेविदीत्	अंवेवित्ताम्	अंवेविदुस्

१०१५—पूर्वतर ग्रंथों में पाये गये लङ्रूप बहुसंख्यक नहीं होते हैं। ये, इनमें उन रूपों को सम्मिलित कर लिया गया है जिनसे आगम लुप्त है, इस प्रकार है : परस्मैपद में, उ० एकव० **अचाकशम्, देदिशम्**; म० एकव०; **अजागर्, अदर्दर्, दर्दर्**; अ० एकव०, **अदर्दर्, अदर्धर्, अवरीवर्, दर्दर्, कंणिष्कन्, दंविद्योत्, नंवीनोत्**; म० द्वि० **अदर्दृतम्**; उ० बहुव०, **मर्मृज्म**; अ० बहुव०, **अनन्नमुस्, अर्दादिरुस्, अचक्रंषुस्, अंजोहवुस्, अनोनवुस्**; तथा सहायक ई के साथ, अ० एकव० में, **अवावचीत्; अंवावशीत्, अंवावरीत्, अंयोयवीत्, अंरोरवीत्, अंजोहवीत्**; और अनियमित ढंग से, अ० द्विव० में, **अवावशीताम्**। आत्मनेपदी रूप अत्यंत कम हैं : उदा०, अ० एकव०, **अंदेदिष्ट, अंनन्नत** (धातु के दुर्वल रूप में धातुमूलक अन्त्य के लोप के साथ); अ० बहुव०, **मर्मृजत** और **अवावशन्त** (यदि इसे यहाँ रखा जाय, तो अ-प्रकृति में इसका अन्तरण देखा जाता है)।

१०१६—**यौगिक आत्मनेपदी रूपविधान**। जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रत्येक यङन्त प्रकृति से वर्तमान-प्रक्रिया में एक विशेष यौगिक क्रियारूप वनाया जा सकता है जो आकृति की दृष्टि से कर्मवाच्य के अनुरूप होता है, और केवल आत्मनेपदी तिङ्प्रत्ययों को लगाकर उदात्तचिह्न **यं** द्वारा वनाया जाता है। तो भी, यह कर्मवाच्यार्थ नहीं रखता है, किंतु अर्थ और प्रयोग लेकर यह सरलतर क्रियारूप से अभिन्न है।

अ—इस **य** से पूर्व अन्त्य स्वर का विकास उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कर्मवाच्य-चिह्न **य** से पूर्व (७७०)।

आ—आत्मनेपद में रूपविधान विलकुल **अ**—अन्तवाली अन्य किसी प्रकृति की तरह होता है : यथा—**√(मृज्)** से, यङन्त प्रकृति मर्मज्, निश्चयार्थ लट् **मर्मृज्यें, मर्मृज्यंसे, मर्मृज्यंते** प्रभृति वनाया जाता है : विधिलिङ् **मर्मृज्यंय, मर्मृज्यंथास्, मर्मृज्यंत** इत्यादि; लोट् **मर्मृज्यंस्व, मर्मृज्यंताम्** प्रभृति; कृदन्तक्रियारूप **मर्मृज्यंमान**; लङ् **अंमर्मज्ये, अंमर्मृज्यथास्, अंमर्मृज्यत** इत्यादि ; लेट् रूप नहीं मिलते हैं।

इ—खूव कम विकीर्ण स्थलों में इन **यं**-रूपों में कर्मवाच्यार्थ प्राप्त है : यथा—**जङ्घन्यमान** मण्डु० उप० में; **वम्भ्रम्यते, दाध्मायमान, पेपीयमान** उत्तरकालिक भाषा में। पुनः कर्तृवाच्य कृदन्तक्रिया रूप (५२९ अ) अज्ञात नहीं हैं : यथा—**देदीप्यन्तीम्** (महाभा०), **दोधूयन्त्** (महाभा० भाग० पु०)।

१०१७—उत्तरकालिक भाषा में यङन्त का यह रूप अन्य की अपेक्षा अधिक सामान्य है : पूर्वतरकालिक भाषा में यह आपेक्षिक दृष्टि से विरल है।

अ—ऋ० वे० में य—रूप आठ धातुओं से बने हैं, जिनमें पाँच से सरलतर क्रियारूप के पद भी प्राप्त हैं; अ० वे० एक और युक्त करता है। अन्य पूर्वतर-कालिक ग्रंथ (जितने परीक्षित हैं) लगभग और बीस, और इनकी आधी से उसी प्रकार सरलतर क्रियारूप के पद प्राप्त हैं। इस प्रकार : √(मृज्) से, **मर्मृज्यंते** प्रभृति, और **मरीमृज्येत**; √(तृ) से, **तर्तूर्यन्ते**; √(चर्) से, **चर्चूर्यमाण**; √(नी) से, **नेनीयेरन्** प्रभृति; √(वी) से, **वेवीयते**; √(रिह्) से, **रेरिह्यंते** प्रभृति; **विज्** से, **वेविज्यंते**; √(स्कु) से, **चोष्कूयंसे** प्रभृति; √(दिश्) से, **देदिश्यते**; √(काश्) से, **चाकश्यंते** प्रभृति; √(वद्) से, **वावद्यमानः** √(नम्) से, **नन्नम्यध्वम्**; √(वह्) से, **वनीवाह्येत** इत्यादि (दीर्घीकृत धात्वच् के साथ, अन्यत्र अज्ञात); √(क्रन्द्) से, **कनिक्रद्यमान**; √(वृत्) से, **वरीवर्त्यमान** (श० ब्रा० : **वरीवृत्य** अपेक्षित है); √(मृश्) से, **अमरीमृश्यन्त** (श० ब्रा० ? ग्रंथ का पाठ **अमरीमृत्स्यन्त** हैं); √(युप्) से, **योयुप्यंन्ते** प्रभृति; √(नुद्) से, **अनोनुद्यन्त**, √(व्ली) से, **अवेव्लीयन्त**; √(जभ्) से, **जञ्जभ्यते** प्रभृति; √(जप्) से, **जञ्जप्यमान**; इत्यादि।

लिट्

१०१८—लिट् सीधे यङन्त प्रकृति से बनाया जाय, अथवा केवल यौगिक परोक्ष (नीचे, १०७० नि० वि०) माना जाय—इस विषय को लेकर वैयाकरण असहमत हैं।

अ—यङन्त यौगिक परोक्ष का कोई उदाहरण कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ है (**जागृ** से बने को छोड़कर, १०२० अ)। ऋ० वे० में यङन्त रूप से अभ्यासापन्न धातु से असंदिग्ध लिट्-रूप बनाये जाते हैं : उदा० **दविधाव** और **नोनाव**, अ० एकव०, तथा **नोनुवुस्**, अ० बहुव०; तथा पुनः **दोद्राव** (तै० सं०) **योयाव** और **लेलाय** (मै० सं०), और **लेलय** (? श० ब्रा०) मिलते हैं, ये सभी वर्तमानों के अर्थ में प्रयुक्त हैं। इनमें **जागर** उ० एकव० और **जागार** अ० एकव० जोड़े जा सकते हैं; किंतु इनके लिए, देखिए नीचे, १०२० अ।

लुङ्, लृट् प्रभृति

१०१९—पूर्ण धातुज क्रियारूप के अवशिष्ट अंकों को लेकर भी वैयाकरण सहमत नहीं हैं (इस प्रकार के रूपों के प्रयोग, स्पष्टतः, इतने विरल हैं कि इनको लेकर भी नियमों का कोई आधार नहीं बन सकता); सामान्यतः

यङन्त, प्रकृति को भी रूप-निबंधन के लिए धातु-जैसी ग्रहण करना संभव है, इसमें सहायक स्वर का प्रयोग नित्य होता है जहाँ यह सर्वदा सरल क्रियारूप में प्रयुक्त है।

अ—इस प्रकार, √(विद्) यङन्त प्रकृति **वेविद्** से लुङ् **अवेविदिषम्** बनेगा, साथ ही आशीर्लिङ् **वेविद्यासम्**, भविष्यरूप **वेविदिष्यामि** और **वेविदितास्मि**, कृदन्तक्रियारूप **वेविदित**, **वेविदितव्य** प्रभृति, तुमर्थकरूप **वेविदितुम्**, तथा पूर्वकालिक क्रियारूप **वेविदित्वा** और **वेविद्य**। पुनः, जहाँ यङन्त क्रियारूप यौगिक आत्मनेपदी होता है, लुङ् और भविष्य संबद्ध आत्मनेपदी रूप का ग्रहण करेंगे।

आ—प्राचीन भापा में इसका संकेत कठिनता से मिलता है। ऋ० वे० में **हिषे** और **स्तुषे** (८९४ ई) जैसे रूपनिर्माण के अन्य० एकव० आत्मने० रूप **चंक्रुषे**, और भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप **वितन्तसाय्य** और **मर्मृजेन्य** तथा **वावृधेन्य** आते हैं; और श० ब्रा० में कृदन्तक्रियारूप **वनीवाहित**, और तुमर्थक **देदीयितवै** प्राप्त हैं। **जागरिष्यन्त** और **जागरित** के लिए, द्रष्टव्य परवर्ती कडिका।

१०२०—धातु **गृ** (या **गर्**) जगना में प्रथमतः यङन्त द्वित्व के अतिरिक्त कोई वर्तमान-प्रक्रिया नहीं होती है; तथा इसकी यङन्त प्रकृति, **जागृ**, धातु की प्रयोगिता का ग्रहण और पूर्णतर क्रियारूप का निर्माण बहुत पहले आरम्भ कर देती है; जब कि वैयाकरणों द्वारा यह प्रकृति शुद्ध और धातुवर्ग में अंतर्भूत मानी जाती है और इसके रूप सर्वत्र इसी ढंग से चलते हैं। इसके जो भी रूप प्राचीन-तर भापा में मिलते हैं, वे ऊपर अन्य यङन्तरूपों के साथ दिये गये हैं। वर्तमान-प्रक्रिया के लिए ये वे होते हैं जो उत्तरकाल में नियमित-जैसे स्वीकृत हैं। प्राचीन-तर परोक्ष ऋ० वे० में प्राप्त अन्य यङन्त परोक्षरूपों में तुल्य होता है : उदा० **जागर** प्रभृति, साथ ही कृदन्तक्रियारूप **जागृवांस्**; और भविष्य **जागरिष्यं**, कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप **जागरित**, और भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप **जागरितव्य** ब्राह्मणों में पाये जाते हैं। प्राचीन लुङ् (ऋ० वे०) सामान्य अभ्यस्त या तथाकथित णिजन्त लुङ् हैं : उदा० **अजिगर्**। उत्तरकालिक भापा में वैयाकरण विशेप अभ्यास के साथ लिट् रूप **जजागार** प्रभृति, इप् - लुङ् **अजागरिपम्**, साथ ही आशीर्लिङ् **जागर्यासम्** और सभी कुछ प्रस्तुत करते हैं जो कि सम्पूर्ण क्रियारूप के बनाने में अपेक्षित है। लिट् रूप **जगार** रामा० महाभा० तथा उत्तरकाल से उद्धरणीय है, उसी प्रकार यौगिक **जागराम् आस**। पुनः महाभा० में विकृत रूप **जागृमि**, और **जागरति** और **जाग्रमाण**-जैसे अ-रूप भी मिलते हैं।

१०२१—अ—प्रकृति इरज्य (परस्मैपदी केवल), नियमित करना, जिससे अनेक रूप ऋ० वे० में बने हैं, √(रज्) या ऋज् से यङन्तरूप में मानी गयी हैं। तो भी, इसमें यङन्त रूपनिर्माण का कोई सादृश्य उपलब्ध नहीं होता है। ऐसी ही वस्तुस्थिति इरध् प्रसन्न करना की होती है (केवल इरधन्त और इरंध्यै, स्पष्टतः इरधध्यै के लिए)।

आ—आत्मनेपदी प्रकृति ईंय, जो प्राचीनतम भाषा में असाधारण नहीं है, बहुधा √(इ) जाना का यङन्त मानी जाती है, किंतु इसमें किसी प्रकार का औचित्य नहीं है, क्योंकि यह यङन्त के साथ किसी प्रकार का रूप-सादृश्य नहीं रखती है। विकीर्ण उ० बहुव० ईमहे, जो ऋ० वे० में सामान्य है, संदिग्ध स्वरूप लेकर है।

१०२२—धातु ली, विचलित होना, भृशार्थक अभ्यास के साथ, लेली नियमित रूपाविधान वाली है और स्वरपात में बिलकुल अनियमित है : यथा— लट् लेलायति और लेलायते, कृदन्त क्रियारूप लेलायन्ति और लेलंयतस् (षष्ठी एकव०) और लेलायमान, लङ् अलेलायत् और अलेलेत् तथा अलेलीयत, लिट् लेलाय और लेलंय (?)।

१०२३—√(दृ) या दर् से ऋ० वे० का असंगत रूप दर्त् (या दर्द्), म० और अ० एकव० निस्संदेह यङन्त से संबद्ध किया जाता है, मानो दर्दर् से संक्षेपीकृत हो। ऋ० वे० में एक बार अवरीवुस् (या—वुर्) प्राप्त है जहाँ अर्थकी दृष्टि से अवरीवृतुस् वैसा √(वृत्) का रूप अपेक्षित है। रूप रराणता (ऋ० वे०, एक बार) भ्रांत लगता है।

१०२४—स्पष्ट आधिक्य अथवा पौनःपौन्य का अर्थ यङन्त-जैसे वर्गीकृत रूपों में सर्वदा सहज प्राप्त नहीं हो सकता है, और इनमें से कुछ में यह सर्वथा लुप्त है। इस प्रकार, चित्, निज् , विष् धातुएँ अपनी यङन्त वर्तमान-प्रक्रिया को इस रूप में प्रस्तुत करती हैं, मानो यह सामान्य क्रियारूप वर्ग से हो; न तो यह अन्यथा गृ (जागृ) के साथ है। वैयाकरण निज् और विष् के रूपविधान को साभ्यास वर्तमान-प्रक्रिया में रखते हैं, जहाँ अनियमित रूप से सबलीकृत अभ्यास हैं; और वे इसी प्रकार विच् और विज् का ग्रहण करते हैं; जागृ को, जैसा कि हमने देखा है, वे सरल धातु मानते हैं।

अ—√(द्रा) दौड़ना के यङन्त दरिद्रा को भी वैयाकरण सरल धातु बनाते हैं, और क्रियारूपों की सम्पूर्ण श्रेणी प्रस्तुत की जाती है : जैसे ददरिद्रौ; अदरिद्रासीत् इत्यादि। यह प्राचीनतर भाषा में नहीं आती है (अपवादरूप

दरिद्रत् तै० सं०, जिसके लिए वा० सं० मै० सं० का पाठ दरिद्र है)। तथा-कथित धातु वेवी कांपना शुद्ध यङन्त है।

१०२५—यङन्त प्रकृति से कर्मवाच्य, सन्नन्त, णिजन्त प्रभृति का भी निर्माण वैयाकरणों द्वारा विहित है : यथा—वेविद् से, कर्मवाच्य वेविद्ये; सन्न० वेविदिषामि; णिज० वेविद्रयामि; णिजन्त का सन्न०, वेविदयिषामि। किंतु इस प्रकार के रूपनिर्माण अत्यधिक विरल होते हैं; उद्धरणीय वरीवर्जयन्ती अ० वे० जागरयन्त् तै० ब्रा० प्रभृति; दाधारयती जै० ब्रा०, दन्दशयित्वा द० कु० च०।

३—सन्नन्त रूप

१०२६—सन्नन्त क्रियारूप से शुद्ध धातु द्वारा व्यक्त अवस्था या क्रिया के लिए इच्छा का बोध कराया जाता है : यथा—पिबामि मैं पीता हूँ, सन्न० पिपासामि मैं पीना चाहता हूँ; जीवामि मैं जीता हूँ, सन्न० जिजीविषामि मैं जीना चाहता हूँ। इस प्रकार का क्रियारूप भाषा में किसी शुद्ध धातु से तथा किसी णिजन्त प्रकृति से भी बनाया जा सकता है।

अ—सन्नन्त क्रियारूप, यद्यपि वर्तमान-प्रक्रिया से अन्यत्र इसके रूप प्राचीनतम भाषा में अत्यधिक विरल हैं, यङन्त की अपेक्षा अधिक प्राचीन और अधिक पूर्णरूप से समग्र क्रिया-प्रक्रिया में विस्तारित है। इसके रूप वर्धमान पुनरावर्तन के भी होते हैं; ऋ० वे० में णिजन्तों की अपेक्षा बहुत कम हैं, ब्राह्मणों और उत्तरकाल में अपेक्षाकृत बहुसंख्यक; वेद और ब्राह्मण में जिन धातुओं (लगभग एक सौ) का सन्नन्त क्रियारूप देखा गया है, उस समग्र संख्या की एक तिहाई से ऋ० वे० में वैसा नहीं मिलता है।

१०२७—सन्नन्त प्रकृति दो संलक्षणों के योग द्वारा सरल धातु से बनायी जाती है : (१) अभ्यास, जो नित्य उदात्त होता है; (२) संलग्न स—किंतु जो (लुङ् और लृट् के कालचिह्नों की तरह) कभी-कभी अपने पूर्व सहायक स्वर इ का ग्रहण करता है, जिससे इष बन जाता है।

अ—श० ब्रा० के अन्तिम भाग में कुछ प्रयोग, जहाँ स्वरपात अन्य ढंग से होता है—यथा, तिष्ठासेत्, यियासन्तम्, विविदिषन्ति, ईप्संन्तस्—संभवतः भ्रांतियों के रूप में ही माने जायेंगे।

१०२८—धातु सामान्यतः अपरिवर्तित बनी रहती हैं, किंतु निम्नलिखित अपवाद हैं :

अ—स से पूर्व अन्त्य इ या उ को दीर्घ होता है, जैसे चिक्षीष, चिकीष, जिगीष; शुश्रूष, जुहूष, चुक्षूष।

आ—स से पूर्व अंत्य ऋ ईर् या ऊर् हो जाता है, यथा—चिकीर्ष, तितीर्ष (साथ ही अनियमित ढंग से तूतूर्ष ऋ० वे०)। दिधीर्ष, सिसीर्ष, तिस्तीर्ष (तुस्तूर्ष भी), जिहीर्ष; बुभूर्ष, मुमूर्ष (मात्र उदाहरण उद्धरणीय हैं)।

इ—इष के पूर्व अंत्य इ–या उ–या ऋ–स्वर में नित्य तथा उपधा इ या उ या ऋ में वैकल्पिक गुण-सबलीकरण होता है; प्राचीनतर ग्रंथों से उदाहरण उद्धरणीय नहीं है; उत्तरकाल में **शिशयिष, शिशरिष; चिकर्तिष, निनर्तिष, मिमर्दिष, विवर्षिष, शुशोभिष** मिलते हैं; किंतु **रुरुदिष** होता है। और भी विशिष्ट अपवाद होते हैं।

ई—**आ** अंतवाली कुछ धातुएँ इस स्वर को **ई** में या **इ** में भी दुर्बल कर देती हैं: यथा—√(गा) जाना से **जिगीष**; √(पा) पीना से **पिपीष** (साथ ही **पिपास**); √(हा) हटाना (**जिहीते**, ६६४) से **जिहीष** (अ० वे०); √(धा) से **दिधिष** (साथ ही **धित्स**)।

उ—**अन्** या **अम्** अंतवाली कुछ धातुएँ स्वर को दीर्घ कर देती हैं: यथा—√(गम्) से **जिगांस** (**जिगमिष** भी); √(हन्) से **जिघांस**; √(मन्) से **मीमांस**; और √(तन्) से **तितांस**।

ऊ—√(चि) से **चिकीष** में, √(चित) से **चिकित्स** में, √(जि) से **जिगीष** में, √(हन्) से **जिघांस** में द्वित्व के बाद आदि के कण्ठ रूप में प्रतिवर्तन देखा जाता है; तथा √(हि) से **जिघीष** निष्पन्न माना जाता है (कोई प्रयोग नहीं)।

ए—**वन्** और **सन्** धातुएँ **वा** और **सा** धातु-रूपों से **विवास** और **सिषास** बनाती हैं।

ऐ—धातु **जीव् जुज्यूष** (श० ब्रा०, **जिजीविष**, वा० सं०) बनाती है; तथा **ईव्** अंतवाली अन्य धातुओं में (७६९) **स** के पूर्व इसी प्रकार का परिवर्तन अपेक्षित है और **इष** के पूर्व गुण होता है: उदा० √(सीव्) से **सुस्यूष** या **सिसेविष**। **स्वप् सुषुप्स** बनाती है। धूर्व-से **दुधूर्ष** बनाया जाता है।

ओ—जब सन्नन्त-चिह्न **ष्** (१८४ उ) होता है, तो आदि **स** अभ्यास के बाद सामान्यतया **ष्** में अपरिवर्तित छोड़ दिया जाता है: यथा—**सिसाङ्क्ष** (श० ब्रा०: √(सञ्ज्), और **सुस्यूष** तथा **सिसनिष** वैयाकरणों के मतानुसार; किंतु **तुष्टूष** उपलब्ध होता है।

औ—पुनः वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट और भी रूप दिये जा सकते हैं:

√(नश्) नष्ट होना से **निनङ्क्ष** (या **निनशिष**); √(मज्ज) से **मिमङ्क्ष** (**मिमङ्क्षु** में आता है); √(मृज्) से **मिमार्जिष** (या **मिमृक्ष**)।

१०२९—अभ्यास के व्यंजन को लेकर सामान्य नियम (५९०) लागू होते हैं : यदि धातु में अ–स्वर या ऋ या इ–स्वर रहता है, तो स्वर **इ** होता है : यदि धातु में उ–स्वर हो, तो यह **उ** होता है। किंतु :

अ—कुछ धातुओं से अभ्यासाक्षर में दीर्घ स्वर होता है : यथा—√(बध्) या **वाध्** से **वीभत्स**; √(मन्) से **मीमांस**; और √(तुर्) से **तूतूर्ष** (ऋ० वे०); **दधिषु** (अ० वे०) और **दूदङ्क्षु** (श्रेण्य० सं०) संभवतः अशुद्ध रूप हैं।

आ—√(अश्) से **आशिशिष** (श० ब्रा०) बनाया जाता है, और √(ऋध्) से (वा० सं०) **एदिधिष** (साभ्यास लुङ् में कभी-कभी आनेवाले द्वित्व की जैसी अभ्यास-विधि से ८६२)। प्राचीनतर भाषा में केवल इतनी स्वरादि धातुएँ हैं जिनसे सन्नन्त प्रकृति बनायी जाती है, अपवादस्वरूप **आप्** और **ऋध्** हैं जिनमें संक्षेपीकृत प्रकृतियाँ प्राप्त हैं, देखिए परवर्ती कंडिका। उत्तरकालिक भाषा में पुनः **एजिषिष** (√(इष्) खोजना) और **ईचिक्षिष** (√(ईक्ष्)) होते हैं; तथा वैयाकरण और जोड़ते हैं, जैसे—**अर्जिहिष** (√(अर्ह्)), **उन्दिदिष** (√(उन्द्)), **अर्दिधिष** (√(ऋध्))।

इ—ऋ० वे० में **इनक्ष** और **इयक्ष** प्रकृतियाँ प्राप्त हैं जो विकृत अभ्यास के साथ √(नश्) प्राप्त करना और √(यज्) के सन्नन्तों-जैसे गृहीत हैं।

१०३०—अनेक धातुएँ, जिनमें कुछ ऐसी सम्मिलित हैं जो अधिक सामान्य प्रयोग वाली होती हैं, संक्षेपीकृत प्रकृति बनाती हैं जो स्पष्टतः एकाक्षर में धातु और अभ्यास से निष्पन्न है : यथा—√(आप्) से **ईप्स**; √(दा) से **दित्स**।

अ—प्राचीनतर भाषा में इस प्रकार की संक्षेपीकृत प्रकृतियाँ ये प्राप्त हैं : √(धा) से **धित्स** (साथ ही, **दिधिष**); √(दा) से **दित्स** (साथ ही, **दिदास**; √(दभ्) से **दिप्स** (**धीप्स** जै० ब्रा०); √(शक्) से **शिक्ष**; √(सह्) से **सीक्ष** : ये ऋ० वे० में प्राप्त हैं; अ० वे० में √(आप्) से **ईप्स** (ऋ० वे० में एक बार **अप्स** है) और √(ऋध्) से **ईर्त्स** और प्राप्त होते हैं : अन्य ग्रंथों में √(लभ्) से **लिप्स** (श० ब्रा०) या **लीप्स** (तै० ब्रा०), √(रभ्) से **रिप्स** (गो० ब्रा०), √(पद्) से **पित्स** (श० ब्रा०), √(दह्) (**दिह्** नहीं, क्योंकि मध्य स्वर-जैसे इ वाली किसी धातु से आकुञ्चित रूप नहीं देखा जाता है) से **धीक्ष** पाये जाते हैं। पुनः उत्तरकालिक भाषा में √(पत्) से **पित्स**, णिजन्त अर्ध-धातु **ज्ञप्** से (नीचे, १०४२ ए) **ज्ञीप्स** और √(मा)

मापना से (**मि** और **मी** धातुओं से भी विहित) अनियमित **मित्स** प्राप्त होते हैं; तथा वैयाकरण √(**राध्**) से **रित्स** बनाते हैं। साथ ही, **मोक्ष** को (अत्यंत संदिग्ध रूप से) √(**मुच्**) से सन्नन्त प्रकृति के तुल्य माना जा सकता है।

१०३१—सहायक स्वर **इ** का प्रयोग पूर्वभाषा में खूब विरल है, किंतु उत्तर काल में अपेक्षाकृत अधिक सामान्य; तथा वास्तविक प्रयोग में न आने वाली अनेक प्रकृतियों में वैयाकरण इसे संभव या अपेक्षित नहीं मानते हैं।

अ—सामान्यतः यहाँ भविष्य रूपों (९३४, ९४३ अ) के सादृश्य पालन को नित्य अथवा वैकल्पिक माना गया है, यों तो निरपवाद नहीं है।

आ—**इ** के प्रयोग का कोई उदाहरण ऋ० वे० में नहीं पाया जाता है, और केवल एक ही अ० वे० में (**पिपतिष**), वा० सं० में (**जिजीविष**) और तै० सं० (**जिगमिष**) में। पूर्वकाल के ग्रंथों में पाये जाने वाले अन्य उदाहरण होते हैं : **अशिशिष, चिक्रमिष, जिग्रहीष** (**इ** के स्थान में **ई** के साथ, जैसा कि इस धातु में अन्यत्र प्राप्त है), **चिचरिष, एदिधिष, जिजनिष, दिदीक्षिष, बिबाधिष, रुरुचिष, विवादिष, विविदिष, शिशासिष, तिष्टिघिष, जिहिंसिष** : इनमें अत्यधिक केवल श० ब्रा० में मिलते हैं। **गम्, ग्रह्, चर्, जीव्, पत्, बाध्, विद्** धातुओं से प्रकृतियाँ सहायक स्वर के साथ भी बनायी जाती हैं।

१०३२—**रूपविधान : वर्तमान-प्रक्रिया**। सन्नन्त प्रकृति के क्रियारूप वर्तमान-प्रक्रिया की अन्य **अ**–प्रकृतियों की तरह (७३३ अ) पूर्ण नियमितता के साथ बनाये जाते हैं, दोनों पदों में, सभी प्रकारों (प्राचीनतर भाषा में लेट् को सम्मिलित कर लेने से) में, तथा कालवाची कृदन्तक्रियारूपों और लङ् के साथ। यहाँ केवल उत्तम पुरुष रूपों को प्रस्तुत कर देना पर्याप्त होगा। परस्मैपदी आदर्श के लिए √(**आप्**) प्राप्त करना से **ईप्स** प्राप्त करने की इच्छा; आत्मनेपदी के लिए √(**तिज्**) तीक्ष्ण होना से **तितिक्ष** लिये जा सकते हैं (द्रष्टव्य नीचे, १०४०)।

१—निश्चयार्थ लट्

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	ईप्सामि	ईप्सावस्	ईप्सामस्	तितिक्षे	तितिक्षावहि	तितिक्षामहि
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

२—वर्तमानार्थ लेट्

उ०	ईप्सानि	ईप्साव	ईप्साम	तितिक्षै	तितिक्षावहै,	तितिक्षामहै
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

३—वर्तमानार्थ विधिलिङ्

उ०	ईप्सेयम्	ईप्सेव	ईप्सेम	तितिक्षेय	तितिक्षेवहि	तितिक्षेमहि

४—वर्तमानार्थ लोट्

म०	ईप्स	ईप्सतम्	ईप्सत	तितिक्षस्व	तितिक्षेथाम्	तितिक्षध्वम्

५—वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप

ईप्सन्त् (स्त्री० ईप्सन्ती) तितिक्षमाण

६ लङ्

उ०	ऐप्सम्	ऐप्साव	ऐप्साम	अतितिक्षे	अतितिक्षावहि	अतितिक्षामहि

अ—प्राचीनतर भाषा से रूपविधान लेकर प्रायः किसी प्रकार की अनियमितताएँ प्राप्त नहीं हैं। **मसि** अंतवाला उ० बहुव० अथवा **थन** या **तन** अंतवाला म० बहुव० कोई रूप नहीं मिलता है; **तात्** अंतवाले लोट् का केवल **ईप्सतात्** है। उद्धरणीय लेट्रूप **सानि, सात्** और **सत्, सान्** और **सन्त** अंतवाले होते हैं। कौ० ब्रा० उप० में **जिज्ञासेत** (तुलनीय ७३८ आ) प्राप्त है। किंतु स्त्री० वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप **सिषासती** (**सिषासन्ती** के स्थान में) एक या दो बार प्राचीनतर ग्रंथों में आता है; तथा ऋ० वे० में **दिधिषाण** प्राप्त है।

आ—रामा० महाभा० तथा उत्तरकाल में **अ**-भिन्न क्रियारूप के कादाचित्क रूप प्राप्त होते हैं : यथा—**सिसृक्षमस्** (भाग० पु०), **तितिक्षमहे** और **बुभूषते** अ० बहुव० (महाभा०); तथा स्त्री० कृदन्त क्रियारूप **लिप्सती** और **चिकीर्षती** (महाभा०; ४४९ आ के प्रतिकूल)। असंगत रूप **जिघांसीयात्** भी महाभा० और वशिष्ठ० में मिलता है।

१०३३–अ—वर्तमान-प्रक्रिया से अन्यत्र सन्नन्त रूप प्राचीनतम भाषा में अत्यधिक विरल हैं। ऋ० वे० में **मिमिक्ष्** प्रकृति से केवल लिट्रूप प्राप्त हैं—इस प्रकार, **मिमिक्षथुस्**, **मिमिक्षतुस्**, **मिमिक्षुस्**; **मिमिक्षे**, **मिमिक्षिरे**—साथ ही वर्तमान रूप **मिमिक्षति**, **मिमिक्ष** प्रभृति, **मिमिक्षन्त्** (वर्त० कृदन्तक्रियारूप) : ये सूचित करते हैं कि **मिमिक्ष्** या **मिक्ष्** ने एक स्वतंत्र धातु के स्वरूप का ग्रहण किया है। अ० वे० में दो लुङ् रूप

ईर्त्सीस् और **अचिकित्सीस्**, तथा **मीमांस** (दे० नीचे, १०३७ अ, १०३९ अ) से एक या दो कालवाची कृदन्तक्रियारूप मिलते हैं—इनके सब उन प्रकृतियों से निष्पन्न हैं जहाँ इनका स्पष्ट सन्नन्तार्थ लुप्त हो गया है और इनमें एक स्वतंत्र प्रयोगिता आ गयी है। अन्य पूर्वतर ग्रंथों से प्राप्त रूप नीचे विस्तार से दिये जायेंगे।

आ—उत्तरकालिक भाषा में धातुज रूपों की संपूर्ण प्रक्रिया का निर्माण सन्नन्त क्रियारूप से विहित है, अपने अंत्य स्वर को छोड़कर सन्नन्त प्रकृति धातु-जैसी मानी जाती है। इस प्रकार :

१०३४—**परोक्ष**। सन्नन्त परोक्ष यौगिक (१०७० नि० वि०) होता है।

अ—इस प्रकार, **ईप्सां चकार**, इत्यादि; **तितिक्षां चक्रे** इत्यादि। श० ब्रा० में इस प्रकार के रूप **√(क्रम्)**, **√(धूर्व्)**, **√(बाध्)**, **रुह्** से बनाये जाते हैं; तथा छान्दो० उप० में **मन्** से।

आ—ऋ० वे० में **मिमिक्ष्** से बने सामान्य प्रभेद के स्पष्ट लिट्रूप पूर्ववर्ती कडिका में निर्दिष्ट हो चुके हैं। पुनः ऐ० ब्रा० में (८-२१-१०), **दिदासिथ** तूने देने की इच्छा की है, एक बार प्राप्त है।

१०३५—**लुङ्**। लुङ् **इष्**-रूप वाला होता है : उदा० **ऐप्सिषम्**, **अतितिक्षिषि**।

अ—अ० वे० में **अचिकित्सीस्** और **ईर्त्सीस्** (आगमहीन, **मा** निषेधार्थक के साथ, ५७९) प्राप्त हैं। ता० ब्रा० में **ऐप्सीत्** है; श० ब्रा० में **ऐर्त्सीत्**, **आचिकीर्षीस्** तथा **अजिघांसीस्** और **असीमांसिष्ठास्**; कौ० ब्रा० में **जिज्ञासिषि**; जै० उप० ब्रा० में **ऐप्सिष्म**; तथा ए० आ० में **अधित्सिषम्**। उत्तरकालिक भाषा में कोई उदाहरण नहीं पाये गये हैं।

आ—**आशीर्लिङ्** रूप भी विहित है—यथा, **ईप्स्यासम्**, **तितिक्षिषीय**; किंतु यह प्रयोग में कभी नहीं आता है।

१०३६—**भविष्य**। सहायक स्वर **इ** के साथ भविष्यरूप बनाये जाते हैं : उदा० **ईप्सिष्यामि** और **ईप्सितास्मि**; **तितिक्षिष्ये** और **तितिक्षिताहे**।

अ—श० ब्रा० में **तितिक्षिष्यते** और **दिदृक्षितारस्** प्राप्त हैं। **जिज्ञास्यामस्** (महाभा०), **दिधक्ष्यामि** (रामा०) और **मीमांस्यन्त** (गो० गृ० सू०) निस्संदेह वर्तमान-रूप हैं, जिनमें भ्रान्तिवश **स** के लिए **स्य** रखा गया है।

१०३७—**धातुज संज्ञाएँ** और **विशेषण**। ये भी सहायक स्वर **इ** के योग से, सब स्थानों-जहाँ उस स्वर का ग्रहण संभव है, पर बनाये जाते हैं।

अ—प्राचीनतर भाषा में प्राप्त हैं : **त** अंतवाला कृदन्त-क्रियारूप, **मीमांसित** (अ० वे०, गो० ब्रा०), **जिज्यूषित** (ऐ० ब्रा०), **शुश्रूषित** और **धीक्षित** (श० ब्रा०);—**तव्य** अंतवाला भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप, **लीप्सितव्य** (ऐ० ब्रा०), **दिध्यासितव्य** (श० ब्रा०); **यान्त**, **जिज्ञास्य** (श० ब्रा०) :—**त्वा** अंतवाला पूर्वकालिक क्रियारूप, **मीमांसित्वा** (काठक०)।

१०३८—सन्नन्त प्रकृति से व्युत्पन्न अन्य रूप-योग्य प्रकृतियों में अधिकांशतः सर्वाधिक सामान्य **उ** अंतवाले विशेषण हैं—उदा० **तितिक्षु**, **दिप्सु**, **बीभत्सु** **सिपासु** (ऋ० वे० एक वार **दिदृक्षु**)—तथा **आ** अंतवाली भाववाचक संज्ञा—उदा० **ईप्सा**, **बीभत्सा**, **मीमांसा**, **शुश्रूषा**—जिनमें से दोनों भाषा के प्रारम्भिक काल से वर्धमान स्वातंत्र्य के साथ बनाये जाते हैं, विशेषतः प्रथम जिसमें वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप की प्रयोगिता और रचना (२७१ अ) विद्यमान है। **एन्य** प्रत्ययान्त कुछ विशेषण (भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप-लक्षण रखने वाले, ९६६ आ) प्राचीनतर भाषा में मिलते हैं : यथा—**दिदृक्षेण्य** (ऋ० वे०), **शुश्रूषेण्य** (तै० सं०), **निनीषेण्य** (पं० ब्रा०), **जिज्ञासेन्य** (ऐ० ब्रा०) और अनियमित द्वित्व के साथ (स्पष्टतः) **पपृक्षेण्य** (ऋ० वे०), **दधिषेण्य** (जै० ब्रा०); और **दिदृक्षेय** (ऋ० वे०) उसी प्रकार का रूप-निर्माण है। ऋ० वे० में **सिपासनि** और **रुरुक्षणि** तथा **सिषासतु** (?) भी प्राप्त हैं। उत्तरकालिक भाषा में ऊपर उदाहृत कुछ रूपनिर्माणों (उ और आ, तथा **स्य** और **सितव्य** अंतवालों) के अतिरिक्त **अक** अंतवाले कुछ प्रत्ययान्त शब्द पाये जाते हैं, यथा—**चिकित्सक**, **बुभूषक**; **अन** अंतवाले, यथा—**जिज्ञासन**, **दिध्यासन**; तथा खूब विरल भाव से **अनीय** (**चिकित्सनीय**) और **तृ** (**शुश्रूषितृ**) अंतवाले; **आ** अंतवाली संज्ञा से निस्संदेह **इन्** अंतवाले यौगिक शब्द, यथा—**ईप्सिन्**, **जिगीषिन्** (इनमें से एक या दो प्राचीनतर भाषा में प्राप्त होते हैं)। पुनः **अ**—अंतवाले विशेषणों का उदाहरण हमें **बीभत्स** (ब्रा० सू०, तथा उत्तरकाल) में प्राप्त है, और संभवतः **अवलिप्स** (अ० प्रा०) में; **अजुगुप्स**, **दुश्चिकित्स** जैसे शब्द आ-अंतवाली संज्ञा के साथ संबंधवाचक-जैसे ही माने जा सकते हैं। **इस्** अंतवाली संज्ञा-प्रकृतियों के लिए, दे० ३९२ ई।

१०३९—**यौगिक अथवा तृतीयक क्रियारूप** सन्नन्त धातु (अथवा अंत्य अ के विना प्रकृति) में कर्मवाच्यचिह्न **य** को जोड़कर कर्मवाच्य रूप बनाया जा सकता है : यथा—**ईप्स्यते** प्राप्त किये जाने की इच्छा की जाती है;—तथा इसी

प्रकार णिजन्तचिह्न अ॑य (१०४१) को जोड़कर णिजन्त : यथा—**ईप्स॑यामि** प्राप्ति की इच्छा जगाता हूँ।

अ—प्राचीनतर भाषा में इन रूपनिर्माणों के **मीमांस्य॑मान** (निस्संदेह-**सं॑मान** के लिए पाठ, अ० वे०), **लिप्स्य॑मान** (श० ब्रा०) और **रुरुत्स्यमान** (काठक०) प्राप्त हैं। आधे दर्जन के तथाविध कर्मवाच्य रूप उत्तरकाल में उद्धरणीय हैं, और एक या दो णिजन्त रूप : उदा० **चिकित्स्यते, विवक्ष्यते, जिज्ञास्यते; चिकीर्षयन्त्, चिकित्सयिष्यति**।

आ—णिजन्त प्रकृतियों के आधार पर वने सन्नन्त क्रियारूप के लिए, जो ब्राह्मणों के काल से ही पाया जाता है; देखिए नीचे, १०५२ आ।

१०४०—कुछ प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो आकृति में सन्नन्तरूप हैं किंतु इन्होंने सन्नन्तार्थ के वैशिष्ट्य को खो दिया है और स्वतंत्र धातुओं के भाव का ग्रहण कर लिया है। उदाहरण हैं—**चिकित्स्** आरोग्य करना, **जुगुप्स्**, घृणा करना, **तितिक्ष्** सहना, **बीभत्स्** घृणापूर्वक अविश्वास करना, **मीमांस्** विचार करना, **शुश्रूष्** आज्ञापालन करना। वस्तुतः भाषा में ऊष्म अंत्य वाली स्पष्ट धातुओं में से कुछ उत्पत्ति की दृष्टि से सन्नन्तों की सजातीय होती हैं : उदा० **शिक्ष्**, **शक्** का सन्नन्त।

अ—सन्नन्त और भविष्य के निकट संबंध (तुलनीय ९४८ आ) के कारण एक की प्राप्ति यदा-कदा वहाँ होती है जहाँ वस्तुतः दूसरे की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार **राजानम् प्रयियासन्तम्** (श० ब्रा०) प्रस्थान करने वाले राजा को; **प्राण उच्चिक्रमिषन्** (छन्द० उप०) प्राण निकलने को है; **मुमूर्षुरिवाऽभवत्** (हितो०) वह मरने को ही था।

४—णिजन्त रूप

१०४१-अ—उत्तरकालिक भाषा में अधिकांश धातुओं से सम्पूर्ण णिजन्त क्रियारूप वनाने का विधान है। सामान्यतया सवलीकृत धातु में णिजन्त चिह्न **अ॑य** को संलग्न कर देने पर णिजन्त प्रकृति अपना मूल वनाती है।

आ—किंतु **अ॑य** चिह्न से वनी हुई सभी णिजन्त प्रकृतियाँ णिजन्तार्थ वाली नहीं होती हैं; और इनके एक भाग को वैयाकरण एक क्रियारूप वर्ग, दशम अथवा चुरादिगण के विधायक-जैसा मानते हैं, जिससे धातुओं के रूप अन्य वर्गों की तरह, और या तो स्वतः अथवा दूसरों के साथ (७७५) चलते हैं।

इ—ऋ० वे० में प्रेरणार्थ रहित अनुपात पूरी-पूरी एक तिहाई का होता है। रूपनिर्माण अन्य क्रियारूप-वर्गों में से किसी की, इनके तथा शुद्ध नामधातुओं के

मध्यवर्ती की, अपेक्षा अधिक स्पष्टतः नामधातुक है। रूपनिर्माण में प्रेरणार्थ स्वतः प्रतिष्ठित हुआ है, और प्रधान बन गया है, यद्यपि अनन्यतम नहीं। उत्तरकालिक उत्पत्ति और संभवतः व्युत्पत्तिमूलक प्रकृतिवाली अनेक धातुएँ इस वर्ग में अन्तर्भूत हैं, और कुछ प्रत्यक्ष नामधातुएँ भी, जिनमें केवल सामान्य नामधातुक स्वरपात का अभाव है (नीचे, १०५६)।

ई—यङन्त या सन्नन्त किसी की अपेक्षा णिजन्त रूपनिर्माण कहीं अधिक होता है और निश्चितरूप से अधिक विस्तारित है। पूर्वकालिक भाषा में यह तीन सौ धातुओं के अधिक से बनाया गया है (ऋ० वे० में लगभग एक सौ पचास से); किंतु प्राचीनतम काल में वर्तमानकालिक प्रक्रिया से बाहर के रूप (युक्त साभ्यास लुङ्रूपों से भिन्न, १०४६) बहुत कम होते हैं।

१०४२—णिजन्त-चिह्न **अय** से पूर्व धातु की प्रक्रिया यों होती है :

अ—मध्यग अथवा आदि इ, उ, ऋ, लृ का गुण-सबलीकरण होता है (यदि इसकी प्राप्ति हो, २४०) : इस प्रकार √(विद्) से **वेदय**, √(चुद्) से **चोदय**, √(तृप्) से **तर्पय**; और √(क्लृप्) से **कल्पय** (एकमात्र उदाहरण); किंतु **चिन्तय, गुल्फय, दृंहय**।

आ—किंतु कुछ धातुओं में सबलीकरण का अभाव है : ये हैं, प्राचीनतर भाषा में, **चित्** (**चितय** और **चेतय**), **इष्, इल्, रिष्** (**रिषय** और **रेषय**), **विप्** (**विपय** और **वेपय**), **तुज्, तुर्, तुष्** (**तुषय** और **तोषय**); **द्युत्** (**द्युतय** और **द्योतय**), **रुच्** (**रुचय** और **रोचय**), **शुच्** (**शुचय** और **शोचय**), **शुभ्** (**शुभय** और **शोभय**), **कृप्, मृद्, स्पृह्**; तथा ऋ० वे० में **ग्रभ्** **गृभय** बनाती है। इसके विपरीत **दुष्** और **गुह्** स्वर को दीर्घ कर देती हैं। **मृज्** से अन्य रूपों की तरह कभी-कभी वृद्धि होती है : यथा—**मार्जय** (साथ ही **मर्जय**)। दूसरी ओर **स्र्वेय** (साथ ही **श्रीवय**), **हेडय, मेक्षय** में गुण अनियमित ढंग से होता है (२४० आ०) उत्तरकालिक भाषा में इसी प्रकार की अनियमितताएँ **गिरय, तुलय** (साथ ही **तोलय**), **छुरय** (**छोरय** भी) **मुषय, स्फुरय** है। प्राचीतर भाषा में सबलीकरण रहित किन्हीं रूपों में प्रेरणार्थ नहीं रखा गया है।

इ—अंत्यस्वर का वृद्धि-सबलीकरण होता है : यथा—**चायय, शायय, च्यावय, भावय, धारय, सारय**।

ई—किंतु इ या ई अंतवाली किसी धातु में वृद्धि वेद में नहीं होती है (अन्यथा **पायय** [क, नीचे,] पा, की अपेक्षा **पी** से हो)—जैसा कि उस

प्रकार की धातुओं से, वस्तुतः; नियमित णिजन्त रूप कठिनता से उद्धरणीय हैं; केवल ऋ० वे० में क्षि प्राप्त करना से क्षययं (साथ ही क्षेपय) प्राप्त है; कुछ वैकल्पिक विहित रूपों के लिए, द्रष्टव्य नीचे, ओ। तथापि, ब्रा० और सू० में (√(सि) या सा) शायय और सायय मिलते हैं; और उत्तरकाल में— आयय, चायय, स्नायय, डायय, नायय।

उ—कुछ धातुएँ गुण-सवलीकरण के साथ भी रूप सुरक्षित रखती हैं : यथा —च्यु, द्रु, प्लु, यु पृथक् करना, श्रु, पू, स्तु, स्रु; जृ नष्ट करना, दृ छेदना, सृ, स्मृ, हृ; वृ चुनना से उत्तरकाल में वरय होता है। (यह वे० में अप्राप्त है; रामा० महाभा० में भी वारय)।

ऊ—लघ्वक्षर में मध्यग अथवा आदि अ कभी-कभी दीर्घीकृत है और यदा-कदा अपरिवर्तित बना रहता है : इस प्रकार भाजय, स्वापय, आदय; जनय, श्रथय, अनय, (किंतु मन्दय, वल्गय, भक्षय)।

ए—प्राचीनतर भाषा में धातुएँ, जो अपना ह्रस्व अ बनाये रखती हैं, होती हैं : जन्, पन्, स्वन्, धन्, रन्, स्तन्, गम् (गामय एक बार ऋ० वे० में), तम्, धम्, रज् (सामान्यतया रञ्जय), प्रथ्, श्रथ्, श्नथ्, व्यथ्, स्वद्, छद् प्रसन्न करना (छन्दय भी), नद्, ध्वस् (ध्वंसय भी), रह्, मह् (मंहय भी) नभ् (नम्भय भी), त्वर, स्वर, ह्वल्। पुनः, उत्तरकालिक भाषा में क्वण्, ज्वर, त्रप्, दय्, पण्, रच् रन्, घंटी बजाना, वध्, वल्, वश, श्लघ्, स्खल्, स्थग्। दोनों प्रकार के रूप (या तो पूर्वकालिक भाषा में या उत्तरकालिक में; अथवा एक साथ लेकर दोनों में), अद्, कल्, क्रम्, क्षम्, खन्, घट्; चम्, चल्, ज्वल्, त्वर्, दल्, ध्वन्, नद्, नम्, पत्, भ्रम्, मथ्, मद्, यम्, रभ्, लग्, लल्, वम्, व्यध्, शम् शान्त होना, श्रम्, श्वस्, स्वप् द्वारा बनाये जाते हैं। स्वर को दीर्घ करनेवाली धातुएँ निश्चित रूप से अपेक्षाकृत बहुसंख्यक होती हैं।

ऐ—यदि धातु के सबल रूपों में से किसी में नासिक्य गृहीत होता है, तो यह सामान्यतः णिजन्तप्रकृति में आता है : यथा—दम्भय, दंशय, इन्धय, लिम्पय, कन्धय, शुन्धय, कृन्तय, दृंहय। कतिपय धातुओं से सानुनासिक अथवा निरनुनासिक दोनों ही प्रकृतियाँ बनायी जाती हैं : यथा (ऊपर ए में निर्दिष्टों को छोड़कर) कुञ्चय और कोचय, ग्रन्थय और ग्रथय, बृंहय और बर्हय, भ्रंशय और भ्रशय, शुन्धय और शोधय, सञ्जय और सज्जय,

सिञ्चय और सेचय। इनमें से कुछ में वर्तमान-प्रकृतियों का प्रभाव देखा जाता है।

ओ—अंत्य आ वाली अनेक धातुएँ और ऋ०-धातु क्रियारूप-चिह्न से पूर्व प् जोड़ देती हैं : यथा—दापय, धापय, स्थापय; अर्पय।

औ—इस प्रकार की प्रकृतियाँ प्राचीनतर भाषा में क्षा, ख्या, गा गाना गायय भी), ग्ला, घ्रा, ज्ञा, दा देना, दा विभक्त करना, द्रा दौड़ना, धा रखना और धा स्तनपान करना, मा मापना, म्ला, या, वा वहना, स्था, स्ना, हा हटाना धातुओं से बनायी जाती हैं; उत्तरकालिक भाषा में क्ष्मा, ध्मा और हा छोड़ना बढ़ती हैं। ज्ञा और स्ना से अ० वे० में तथा उत्तरकाल में ह्रस्वीकृत रूप ज्ञपय और स्नपय पाये जाते हैं; और श्रा से केवल श्रपय (ऋ० वे० में नहीं)। पुनः, उत्तरकालिक भाषा में ग्ला ग्लपय बनाती है, और म्ला म्लपय।

क—आकारान्त धातुओं से प्रकृतियाँ, जिनमें प् नहीं देखा जाता है, होती हैं, पूर्वतरकाल में गा गाना से गायय (गापय भी), छायय, √(पा) पीना (या पी) से पायय, √(प्या) या प्याय से प्यायय; √(सा) (या सी) से सायय; साथ ही उत्तरकाल में, √(ह्वा) (या ह्व) से ह्वायय;—और पुनः वैयाकरणों के अनुसार वा बुनना, व्या और शा (या शि) धातुओं से।

ख—वही प् अन्य सहवर्ती अनियमिततताओं के साथ कुछ इकारान्त और ईकारान्त धातुओं द्वारा भी गृहीत होता है : यथा—प्राचीनतर भाषा में √(क्षि) प्राप्त करना से क्षेपय (ऋ० वे०, साथ ही क्षेयय); √(जि) से जापय (वा० सं० और उत्तरकाल में); √(ली) लगना से लापय (तै० ब्रा० और उत्तरकाल; उत्तरकाल में लायय भी); श्री से श्रापय (वा० सं० एक बार) अधि + (इ) से अध्यापय (सू० और उत्तरकाल);—उत्तरकाल में क्षि नष्ट करना से क्षपय (क्षयय भी); √(मी) से मापय; स्मि से स्मापय (साथ ही स्मायय); √(ह्री) से ह्रेपय; और इनके अतिरिक्त वैयाकरण √(क्री) से क्रापय; √(चि) एकत्रित करना से चापय (साथ ही चायय), √(भी) से भापय (साथ ही भायय और भीषय); √(री) से रेपय, और √(व्ली) से व्लेपय बनाते हैं। पुनः √(रुह्) रोहय (वे० और उत्तरकालिक) के अतिरिक्त रोपय बनाती है, और √(क्नू) क्नोपय (आगे चलकर) बनाती है।

ग—अपेक्षाकृत अधिक असंगत रूप, जिनमें तथाकथित णिजन्त प्रत्यक्षतः व्युत्पन्न संज्ञा की नामधातु है, होते हैं : √(पा) रक्षा करना से पालय; प्री से प्रीणय; √(ली) से (वैयाकरणों के अनुसार) लीनय; √(धू) से (अर्थ की

दृष्टि से प्रेरणारहित) धूनय; √(भी) से भीषय; √(हन्) से घातय; √(स्फा) या स्फाय से स्फावय।

प्राकृत में णिजन्त प्रकृति सभी धातुओं से आपय (के तुल्यक) के योग द्वारा बनायी जाती है; तथा इस प्रकार के रूपनिर्माणों के कतिपय रूप (लगभग एक दर्जन) संस्कृत ग्रन्थों से, अधिकांशतः सर्वाधिक परवर्ती काल के, उद्धरणीय हैं; किंतु क्रीडापय, जीवापय और दीक्षापय तीन रामा० महाभा० में मिलते हैं और वे अशापय और क्षालापय, दो प्रयोग सूत्रों में भी प्राप्त हैं।

१०४३—**रूपविधान : वर्तमान-प्रक्रिया।** णिजन्त प्रकृति का रूप वर्तमान-प्रक्रिया में विल्कुल अन्य अ-अंतवाली (७३३ अ) प्रकृतियों की तरह चलता है; यहाँ √(धृ) से धार॑य प्रकृति को आदर्श के रूप में ग्रहण कर विविध रूपनिर्माणों के उत्तम पुरुष रूपों को सामान्यतः प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा। इस प्रकार :

१—निश्चयार्थ वर्तमान

परस्मैपदी

	एकव०	द्विव०	बहुव०
उ०	धार॑यामि	धार॑यावस	धार॑यामस्
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

आत्मनेपदी

उ०	धार॑ये	धार॑यावहे	धार॑यामहे
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

अ—ऋ० वे० और अ० वे० दोनों में **मसि** अंतवाले परस्मै० उत्तम० बहुव० रूप **मस्** अंतवाले रूपों से बड़ी संख्या में अधिक होते हैं (दश और एक के अनुपात में)। **थन** अंतवाले परस्मै० मध्यम० बहुव० रूपों का कोई उदाहरण नहीं मिलता है, **अते** के स्थान में **ए** अंतवाले आत्मने० अन्य० एकव० रूपों का उदाहरण प्राप्त नहीं है।

२—वर्तमान लेट्

लेट् के प्रसंग में वे सभी रूप उदाहृत किये जा सकते हैं जो प्राचीनतर भाषा में प्रयुक्त प्राप्त हुए हैं :

परस्मैपदी

उ०	धार॑याणि	धार॑याव	धार॑याम
म०	धार॑यासि धार॑यास	धार॑याथस्	धार॑याथ

अ०	धार॑याति धार॑यत्	धार॑यातस	धार॑यन्

आत्मनेपदी

उ०	धार॑ये	धार॑यावहै	
म०	धार॑यासे		धार॑याध्वे धार॑याध्वै
अ०	धार॑याते धार॑यातै	धार॑यैते	

आ—ऐते अंतवाला केवल एक द्विव० आत्मने रूप मिलता है : माद॑यैते (ऋ० वे०)। उत्तम० द्विव० रूप को छोड़कर ऐ अंतवाला एकमात्र ऋ० वे० आत्मने० रूप मादयाध्वै होता है। मध्यम० और अन्य० एकव० परस्मै० रूपों में मुख्य तिङ्प्रत्यय गौण की अपेक्षा अधिक सामान्य है।

३—वर्तमान विधिलिङ्

परस्मैपदी

उ०	धार॑येयम् इत्यादि	धार॑येव इत्यादि	धार॑येम इत्यादि

आत्मनेपदी

उ०	धार॑येय इत्यादि	धार॑येवहि इत्यादि	धार॑येमहि इत्यादि

इ—विधिलिङ् रूप प्राचीनतम भाषा में खूब विरल होते हैं (चार ऋ० वे० में, दो अ० वे० में); ये ब्राह्मणों में अधिक सामान्य हो जाते हैं। एत के बजाय (तुलनीय ७३८ आ) ईत अंतवाला आत्मने० अन्य० एकव० रूप एकबार ब्रा० में (कामयीत, ऐ० ब्रा०) आता है, सू० में अतिविरल नहीं है (एक या दो दर्जन उदाहरण उद्धरणीय हैं) तथा महाभा० और उत्तरकाल में भी प्राप्त है। ईरन् अंतवाले अनुरूपी अन्य० बहुव० रूपों के केवल एक या दो उदाहरण निर्दिष्ट किये जा सकते हैं (कामयीरन् आ० श्रौ० सू०, कल्पयीरन् आ० गृ० सू०)।

४—वर्तमान लोट्

परस्मैपदी

म०	धार॑य इत्यादि	धार॑यतम् इत्यादि	धार॑यत इत्यादि

आत्मनेपदी

म०	**धार्यस्व**	**धार्येथाम्**	**धार्यध्वम्**
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

ई—**तात्** प्रत्ययान्त लोट् पुरुषरूप मिलते हैं : **धारयतात्** (अ० वे०) और **च्यावयतात्** (श० ब्रा०) मध्यम० एकव० रूप होते हैं; **पातयतात्** (श० ब्रा०) अन्य० एकव० रूप हैं; **गमयतात्** और **च्यावयतात्** (काठक० प्रभृति), और **वारयतात्** (त० ब्रा०) मध्यम० बहुव०-जैसे प्रयुक्त हैं, तथा इस प्रकार के अन्त प्रत्यय का एकमात्र ज्ञात उदाहरण है।

५-वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप

धार्यन्त् **धार्यमाण**

उ—परस्मैपदी कृदन्तक्रियारूप का स्त्रीलिंग नियमित तथा सामान्य रूप से **अन्ती** (४४९ इ) लगाकर बनाया जाता है। किंतु **अती** अंतवाले बहुत कम उदाहरण पाये जाते हैं (प्राचीनतर भाषा में एक : **नमयती** आपस्त०)।

ऊ—**मान** अन्तवाला आत्मनेपदी कृदन्तक्रियारूप ऋ० वे० (केवल **यातयमान**) से आरम्भ कर भाषा के समग्र इतिहास में बनाया जाता है, और एकमात्र पूर्वतर कालिक भाषा में पाया जाता है (**ईरयानस्** [उसी प्रकार ?], मै० सं० २–७–१२, स्पष्टतः भ्रामक पाठ है, संभवतः **ईरया नस्** के लिए)। किंतु रामा० महाभा० में और उत्तरकाल में **आन** से बनने वाला निश्चित रूप से अधिक सामान्य है: उदा० **कामयान, चिन्तयान, वेदयान**। **मान** अंतवाले अधिक नियमित कृदन्तक्रियारूप की अपेक्षा यह अधिसंख्यक धातुओं से उद्धरणीय है। चूँकि यह स्वरचिह्नित ग्रन्थों मे से किसी में नहीं आता है, इसका स्वराघात निर्धारित नहीं किया जा सकता है।

६—लङ्

परस्मैपदी

उ०	**अधारयम्**	**अधारयाव**	**अधारयाम**
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

आत्मनेपदी

उ०	**अधारये**	**अधारयावहि**	**अधारयामहि**
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

१०४४—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वर्तमान-प्रक्रिया से अन्यत्र अय-अंतवाली णिजन्त प्रकृति से रूपनिर्माण प्राचीनतम भाषा में खूब सीमित है।

ऋ० वे० में **स्यामि** अंतवाले भविष्य के दो रूप, एक कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप (**चोदित**), और ध्यै अंतवाले दश तुमर्थक रूप पाए जाते हैं; साथ ही एक या दो तृ अंतवाली प्रत्ययान्त संज्ञाएँ **बोध** (**यितृ, चोदयित्री**), इष्णु अंतवाली पाँच, इत्नु अन्तवाली सात और कुछ अ-अंतवाली (**अतिपारय, निधारय, वाचमीङ्खय, विश्वमेजय**) और उ अंतवाली (**धारयु, भावयु, मन्दयु**। अ० वे० में दो सू भविष्यरूप और **त्वा** अंतवाले चार पूर्वकालिकक्रियारूप; और कुछ प्रत्ययांत संज्ञा-प्रकृतियाँ, जिनमें एक से यौगिक भविष्य (**गमयाँ चकार**) बनाया जाता है। ब्राह्मणों में क्रियावाली यौगिक रूप अपेक्षाकृत बहुसंख्यक और विविध बन जाते हैं, जैसा कि विस्तार से नीचे देखा जाएगा।

१०४५—**परोक्ष**। मान्य णिजन्त परोक्ष यौगिक (१०७१ अ) होता है; **आ**-अंतवाली प्रत्ययांत संज्ञा णिजन्त-प्रकृति से बनायी जाती है और इसके आम् अंतवाले द्वितीया विभक्तिरूप में सहायक क्रिया जोड़ी जाती है। इस प्रकार,

धारयाँ चकार (या **आस**; १०७० आ)
धारयाँ चक्रे।

अ—इस परोक्ष का कोई उदाहरण ऋ० वे० अथवा सा० वे० अथवा वा० सं० में नहीं मिलता है, केवल एक—**गमयाँ चकार** अ० वे० में है, और केवल आधे दर्जन के उदाहरण कृष्ण यजुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों में हैं, किंतु ये ग्रंथ के मंत्र भागों में नहीं मिलते। श० ब्रा० (जहाँ ये खूब प्राप्त हैं: संभवतः मुख्य रूप से इसका कारण है कि यह ग्रंथ अपने वर्णनात्मक काल के रूप में अधिकांशतः लङ् की जगह परोक्ष का प्रयोग करता है) को छोड़कर अन्य ब्राह्मणों में भी ये कदापि साधारण नहीं होते हैं।

१०४६—**लुङ्**। णिजन्त क्रियारूप का लुङ् अभ्यासवाला है, जो सामान्यतया णिजन्त-प्रकृति से स्वतंत्र होता है, किंतु यह सीधे धातु से बनाया जाता है।

अ—इसका विवेचन पूर्णरूप से हो चुका है (ऊपर, ८५८ नि० वि०)।

आ—णिजन्त के साथ इसका समायोजन संभवतः साभ्यासरूप-जैसे इसके भृशार्थक लक्षण पर आधृत है, और क्रमिक विकास का विषय है; वेद में यह बहुसंख्यक धातुओं से (ऋ० वे० में इसके प्रयोगों को तिहाई से अधिक; अ० वे० में पंचमांश से) बनाया जाता है जहाँ **अय**-वाली णिजन्तप्रकृति प्राप्त नहीं है।

इ—तो, √(धृ) का णिजन्त लुङ् यों होता है:

उ०	**अदीधरम्**	**अदीधराव**	**अदीधराम**
	इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

उ०	अदीधरे इत्यादि	अदीधरावहि इत्यादि	अदीधरामहि इत्यादि

उदाहरण का रूप पूर्णतः ८६४ में दिया गया है।

१०४७—कुछ स्थलों में जहाँ धातु ने णिजन्त-चिह्न से पूर्व विशिष्ट रूप का ग्रहण किया है—यथा **प्** या **ष्** के योग द्वारा (ऊपर, १०४२ ओ, नि० वि०)—साभ्यास लुङ् शुद्ध धातु के बजाय इसी रूप से बनाया जाता है : उदा० √(स्था) के लिए **स्थाप** (प्रकृति **स्थापय**) से **अतिष्ठिपम्**। आप् अंतवाली अर्ध-धातुओं से इस स्वरूप वाली लुङ्-प्रकृतियाँ **अर्पिप** (√(ऋ)) **जीजप** या **जीजिप**, **जिज्ञप** या **जिज्ञिप**, **शिश्रप**, **तिष्ठिप**, **जीहिप**; एकमात्र अन्य उदाहरण प्राचीनतर भाषा से √(**भी**) के लिए **भीष्** से **बिभिष** होता है।

१०४८—किंतु णिजन्त क्रियारूप-प्रकृतियों से **इष्**-लुङ् के कुछ विकीर्ण रूप पाये जाते हैं : यथा—**ध्वनयीत्** (ऋ० वे० तै० सं० में इसके स्थान पर बिलकुल असंगत रूप **ध्वनयित्** प्राप्त है), **व्यथयीस्** और **ऐलयीत** (अ० वे०), **प्यायिष्ठास्** और **अवादयिष्ठास्** (कौ० ब्रा० उ०), प्राचीनतर भाषा में (ऋ० वे० में नामधातु-प्रकृति से **ऊनयीस्** भी मिलता है); उत्तरकालिक भाषा में, **अह्लादयिषत** (द० कु० च०), और संभवतः **अघातयिथास्** (महाभा०; **इष्ठास्** के लिए : तुल० ९०४ ई०)। णिजन्त **रोपय** से कर्मवाच्य अ० एकव० **अरोपि** परवर्ती प्रयोगवाला होता है (शत०)।

१०४९—वैयाकरणों द्वारा णिजन्त क्रियारूप के लिए आशीर्लिङ् का निर्माण वस्तुतः विहित है : आत्मने० में इसके अंत्य अ के स्थान में सहायक इ का आदेश किया जाता है; परस्मै० में णिजन्त मूल में सबलीकृत धातु के रूप से, किंतु वहीं जहाँ णिजन्त-चिह्न विद्यमान नहीं रहता। उदाहरणस्वरूप—

धार्यासम् प्रभृति। **धारयिषीय** प्रभृति।

यह रूपनिर्माण आपाततः काल्पनिक माना जा सकता है।

१०५०—**भविष्य**। दोनों भविष्य रूप, हेतुहेतुमद् को युक्त कर, णिजन्त प्रकृति से इसके अंत्य **अ** के स्थान को ग्रहण कर सहायक इ के योग द्वारा बनाये जाते हैं। इस प्रकार :

स्-भविष्य

धारयिष्यामि प्रभृति	**धारयिष्ये** प्रभृति
धारयिष्यन्त्	**धारयिष्यमाण**

लृङ्

अधारयिष्यम् अधारयिष्ये

यौगिक भविष्य

धारयितास्मि

अ—यह ऊपर कहा जा चुका है कि ऋ० वे० और अ० वे० में केवल दो उदाहरण प्राप्त हैं जिनमें प्रत्येक स्-भविष्य का है, और यौगिक रूपों में से कोई प्राप्त नहीं है। द्वितीय कोटि वाले रूप ब्राह्मणों में अपेक्षाकृत बड़ी संख्या में आने लगते हैं, किंतु और भी विकीर्ण ढंग से कृदन्त क्रियारूपों के साथ, और लृङ् रूप (केवल अधारयिष्यत् श० ब्रा०; अलापयिष्यथास् छान्दो० उप०); परवर्ती कोटि वाले रूपों के दो उदाहरण (पारयितास्मि और जनयितासि) श० ब्रा० में उपलब्ध हैं। उत्तरकालिक भाषा से दोनों रूपनिर्माणों के उदाहरण उद्धरणीय हैं (साथ ही आत्मनेपदी रूप दर्शयिताहे : ९४७ इ)।

१०५१—धातुज संज्ञाएँ और विशेषण। दो विभिन्न ढंगों से ये बनाये जाते हैं : या तो (१) पूर्ण णिजन्‍-तप्रकृति से (उसी रूप में यथा भविष्यरूप, ऊपर वर्णित); या (२) णिजन्त ढंग से सबलीकृत धातु-स्वरूप से (णिजन्त-चिह्न के लोप के साथ)।

अ—परवर्ती कोटि में होते हैं कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप, यथा धारित; य अंतवाले भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप और पूर्वकालिक क्रियारूप, जैसे धार्य, धार्य; तथा अम् अंतवाला पूर्वकालिक क्रियारूप, यथा धारम्; साथ ही प्राचीनतर भाषा में, धातु तुमर्थक रूप, यथा—धारम् प्रभृति (९७० अ)। पूर्ववर्ती कोटि में होते हैं त्वा अंतवाले तुमर्थक रूप और पूर्वकालिक क्रियारूप, यथा धारयितुम्, धारयित्वा, और तव्य अंतवाला भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप, यथा धारयितव्य (साथ ही, प्राचीनतर भाषा में तवै और ध्यै अंतवाले तुमर्थक रूप, यथा जनयितवै, ईरयध्यै इत्यादि)। सहायक स्वर इ का ग्रहण प्रत्येक रूपनिर्माण में होता है जहाँ कहीं इस स्वर की प्राप्ति होती है।

आ—कर्मवाच्य कृदन्त क्रियारूप के उदाहरण ईरित, वासित, श्रावित होते हैं। किंतु अर्ध-धातु ज्ञप् (१०४२) से सहायक-स्वर रहित ज्ञप्त बनाया जाता है।

इ—त्वा अन्तवाले तुमर्थकरूप और पूर्वकालिक क्रियारूप के उदाहरण, जोपयितुम्, धारयितुम्; कल्पयित्वा, अर्पयित्वा हैं। किंतु रामा० महाभा० में तथा उत्तरकाल तक में तुमर्थक रूप णिजन्त-चिह्न के लोप के साथ यदा-कदा

बनाये जाते हैं : उदाहरणार्थ—शेपितुम्, भावितुम्, धारितुम्, मोचितुम्)।

ई—य और अम् अंतवाले पूर्वकालिक क्रियारूपों के उदाहरण—भाज्य, धार्य, पाद्य, वास्य, नाग्य, स्थाप्य; भाजम्, स्थापम् होते हैं। किंतु धात्वक्षर में धातु से किसी प्रकार का भेद न रखनेवाली प्रकृतियाँ पूर्वकालिक क्रियारूपों में णिजन्त चिह्न अय् को सुरक्षित रखती हैं जिससे मुख्य क्रियारूप में रहनेवाले से इसका पृथक् किया जाय : उदा०—क्रमय्य, गमय्य, जनय्य, ज्वलय्य, कलय्य, शमय्य, रचय्य आपय्य।

उ—तव्यान्त भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूपों के उदाहरण तर्पयितव्य, गमयितव्य; ह्वाययितव्य हैं; य—अन्त वालों के, स्थाप्य, हार्य, याज्य; अनीय—अंतवालों के स्थापनीय, भावनीय।

ऊ—प्राचीनतर भाषा में आनेवाले अन्य रूपनिर्माणों के उदाहरण यों होते हैं : धातु-तुमर्थक,-स्थापम्, वासस्;—तु अंतवाले तुमर्थक रूप द्वितीया-विभक्ति से भिन्न—जनयितवे; जनयितवै, पाययितवै, श्रोतयितवै; शमयितोस्;—ध्यै अंतवाले तुमर्थक रूप इषयध्यै, ईरयध्यै, तंसयध्यै, नाशयध्यै, मन्दयध्यै, मादयध्यै, रिष्यध्यै, वर्तयध्यै, वाजयध्यै, स्यन्दयध्यै (सभी ऋ० वे०);—आय्य अन्तवाले भविष्यकालिक कृदन्तक्रिया-रूप, पनयाय्य, स्पृहयाय्य, त्रययाय्य (? त्रा)

ए—णिजन्त-प्रकृति से अन्य संज्ञा-शब्द असामान्य नहीं हैं, जो निश्चित रूप से गौण क्रियारूप-प्रकृतियों में से किसी की अपेक्षा अधिक बहुसंख्यक और विविध होते हैं। उदाहरण (१०४४ में उदाहृतों से भिन्न कोटियों के) हैं : अर्पण, दापन, प्रीणन, भीषण; ज्ञापक, रोपक; पतयालु, स्पृहयालु; जनयति, ज्ञप्ति।

ऐ—प्रत्ययान्तों के सभी वर्ग, जैसा कि देखा जायगा, स्वरपात को लेकर शुद्ध धातु से तुल्य रूपनिर्माणों के सादृश्य को रखते हैं, और इनमें णिजन्त-प्रकृति के विशिष्ट स्वरपात का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता है।

१०५२—**यौगिक या तृतीयक क्रियारूप**। णिजन्त प्रकृति से कर्मवाच्य और सन्नन्त क्रियारूप बनाये जाते हैं। इस प्रकार—

अ—कर्मवाच्य प्रकृति णिजन्तवत् सबलीकृत धातु में सामान्य कर्मवाच्य-चिह्न य जोड़कर बनायी जाती है। णिजन्त-चिह्न लुप्त कर दिया जाता है : यथा, धार्यते।

आ—इस प्रकार के कर्मवाच्य रूप कठिनता से वेद में प्राप्त होते हैं (केवल **भाज्यं**—अ० वे०), किंतु लगभग तीस उदाहरण ब्राह्मणों और सूत्रों में मिलते हैं; उदाहरण **ज्ञप्यं**—(तै० सं०) **साद्य**—(काठक०) **पाद्य**—(ऐ० ब्रा०), **वाद्य**—(तै० ब्रा०), **स्थाप्य**—(गो० ब्रा०) होते हैं : ये उत्तरकाल में खूब सामान्य हो जाते हैं।

इ—सन्नन्त प्रकृति अभ्यास और चिह्न इष के योग द्वारा बनायी जाती है और इस चिह्न का आदि स्वर सन्नन्त प्रकृति का स्थानापन्न होता है : यथा—**दिधारयिषति**।

ई—ये भी ब्राह्मणों और उत्तरकाल में यदा-कदा प्राप्त होती है (लगभग चालीस प्रकृतियाँ उद्धरणीय हैं) : उदाहरण—**पिपाययिष** (काठक०), **बिभावयिष** और **चिकल्पयिष** तथा **लुलोभयिष** (ऐ० ब्रा०), **दिद्रापयिष** और **रिराधयिष** तथा **आपिपयिप** (श० ब्रा०) इत्यादि।

उ—यङन्त और सन्नत प्रकृतियों से बने णिजन्तों के लिए, देखिए ऊपर, १०२५, १०३९।

५—नामधातु

१०५३—नामधातु क्रियारूप वह है जिसका आधार नामिक प्रातिपदिक होता है।

अ—अब ऐसा व्यापक रूप से माना जाता है कि संस्कृत क्रिया की वर्तमान प्रक्रियाओं में से अधिकांश वर्तमान-प्रक्रिया के तुल्य अन्य रूपनिर्माणों के साथ अपनी चरम उत्पत्ति में नामधातु हैं, तथा अनेक वास्तविक धातुएँ तथाविध स्वरूपवाली होती हैं। नामधातुएँ, जो इस प्रकार अभिहित हैं, उनसे केवल इस दृष्टि में भिन्न होती हैं कि इनकी उत्पत्ति नवीन और अप्रच्छन्न है।

१०५४—वैयाकरण मानते हैं कि भाषा में किसी भी संज्ञा-प्रकृति **अ** (संयोजन स्वर-जैसे, जो इसे द्वितीय सामान्य क्रियारूप की तरह रूपायित होने में समर्थ करता है) से भिन्न अन्य किसी योग के बिना वर्तमान-प्रकृति में परिवर्तित की जा सकती है, और तथाविध क्रियारूप चलता है।

अ—किंतु इस प्रकार के रूपनिर्माण वास्तविक प्रयोग में विरल हैं। ऋ० वे० में कुछ विकीर्ण और संदिग्ध उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिनमें सर्वाधिक स्पष्ट **भिषक्ति** वह आरोग्य करता है, **भिषज्** वैद्य से है; यह धातु-वर्ग के रूप की तरह बनाया जाता है : **अभिष्णक्** नासिक्यवर्ग की पद्धति पर बना इसका लङ्-रूप प्रतीत होता है; और **पत्यते** वह शासन करता है, **पति** प्रभु का नामधातु-

रूप-जैसा लगता है : अन्य संभाव्य प्रयोग **इषणस्** प्रभृति, **कृपंणन्त**, **तरुषेम** प्रभृति, **वनुषन्त**, **भुरजन्त**, **वंनन्वति** हैं। अन्य प्राचीनतर ग्रंथों से **कव्यंन्त्** (तै० सं०), **अंश्लोनत्** (तै० ब्रा०), **उन्मूलति** (षड्विं० ब्रा०) **स्वधामहे** (शां० श्रौ० सू०) उद्धरणीय हैं। पुनः, वहुसंख्यक प्रयोग, अधिकांशतः विकीर्ण, उत्तरकालिक भाषा में पाये जाते हैं : उदाहरणार्थ—**कलहन्त्** (महाभा०), **अर्घन्ति** (पञ्च०), **अब्जति** (शत्रु०), **गर्दभति** (स० द०), **उत्कण्ठते** (सा० द०), **जगन्नेत्रति** (प्रस०), **केलिश्वेतसहस्रपत्रति** (प्रस०)।

१०५५—सामान्यतया नामधातु-क्रियारूप का आधार उदात्तस्वर युक्त **यं** द्वारा नामिक प्रकृति से वनाया जाता है।

अ—नामिक प्रातिपदिक के अंत्य **अ** के साथ णिजन्त-चिह्न **अय** वनाने वाले तथाकथित णिजन्त क्रियारूप के **य** के साथ इस **य** का सारूप्य संदेह का विषय शायद ही है। **य** वर्ग के (७५९), कर्मवाच्य (७६८) के, तथा यौगिक यङन्त (१०१६) के **य** के साथ इसका संवंध अत्यधिक संदिग्ध है।

१०५६—नामधातु और णिजन्त क्रियारूपों के बीच धातुओं का एक वर्ग आता है जो उत्पत्ति की दृष्टि से स्पष्टतः नामधातु है, किंतु णिजन्त के स्वराघात को सुरक्षित रखता है। उदाहरण, जो कि भाषा के पूर्वतम काल में दृष्टिगोचर होने लगते हैं, **मन्त्रंयते** वोलता है, सलाह लेता है (√**मन्**+**त्र**, **मन्त्र** से) **कीर्तयति** स्मरणार्थ उत्सव मनाता है (√**कृ** प्रशंसा करना, **कीर्ति** से), **अर्थयति** या **ते** प्रयोजन वनाता है, खोजता है (**अर्थ** प्रयोजन, लक्ष्य से), **वर्णयति** वर्णना करता है (**वर्ण** रंग से), **कथयति** या—**ते**, किसी वस्तु के कैसे को देता है, वर्णन करता है (**कथम्** कैसे ? से), इत्यादि होते हैं। ये तथा अन्य समानरूप जो ऐसी धातुओं से निष्पन्न हैं, जिनकी वर्तमान-प्रक्रिया नहीं होती है (यद्यपि इनसे उस प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य विकीर्ण रूप धातु से सीधे वनाये जाते हैं) अथवा जिनमें यह अन्य वर्तमान-प्रक्रियाओं के साथ णिजन्तार्थ के विना प्राप्त है, वैयाकरणों द्वारा स्वतंत्र क्रियारूप-वर्ग, चुरादि-वर्ग-जैसे माने जाते हैं (ऊपर ६०७, ७७५)।

१०५७—नामधातु-रूप भाषा के इतिहास में पूर्वतम काल से आरंभ कर वनाये जाते हैं।

अ—ये ऋ० वे० में अत्यंत प्रयुक्त हैं जहाँ सभी कोटियों के सौ से ऊपर प्राप्त हैं; अ० वे० उनके आधे ही आते हैं (और पुरुषवोधक रूप लगभग उनकी तिहाई से ही : अवशिष्टों से वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप, अथवा प्रत्ययान्त संज्ञाएँ); ऐ० ब्रा० में वीस से कम; श० ब्रा० में शायद ही एक दर्जन से अधिक;

आदि। उत्तरकालिक भाषा में ये सैकड़ों उद्धरणीय हैं, किंतु प्रकृतियों की एक बहुत संख्या से केवल एक या दो उदाहरण प्रयुक्त हैं; प्रयोग-बाहुल्य में आने वाले वे हैं जिन्होंने चुरादि वर्ग स्वरूप का ग्रहण कर लिया है।

१०५८—नामधातु का अर्थ अन्य भाषाओं की तरह अत्यंत वैविध्य लेकर होता है; इसके सर्वाधिक प्रयुक्त रूपों के कुछ हैं : तद्वत् होना, तद्वत् आचरण करना, प्रतिनिधित्व करना; तद्वत् ग्रहण करना या मानना; प्रेरक होना, बनना, व्यवहार करना, प्रयोग करना, चाहना, इच्छा करना, लालायित होना—वह जो नामिक प्रकृति द्वारा द्योतित है।

अ—प्रातिपदिकान्त्य के विकास की विधियाँ भी विभिन्न होती हैं, और वैयाकरण रूप-वैशिष्ट्यों में अर्थ वैशिष्ट्यों का एक अल्पाधिक निश्चित निर्देश करते हैं; किंतु इस प्रकार के निर्देश का केवल संदिग्ध पोषण शब्दों के प्रयोगों में होता है जैसा कि उत्तरकालिक भाषा में तथा उससे भी कम पूर्वतरकालिक भाषा में उपलब्ध है। फलतः नामिक प्रकृति के अंत्य और नामधातु चिह्न य॑ के पूर्व इसके विकास की विधि—दोनों को लेकर आकारिक वर्गीकरण प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

१०५९—अ—**अ-अंतवाली प्रकृतियों से**। संज्ञा-प्रकृति का अंत्य अ अत्यधिक समय अपरिवर्तित रहता है : यथा—**अमित्रय॑ति** शत्रु बनता है, विरोधी होता है; **देवय॑ति** देवता की स्तुति करता है, पवित्र होता है।

आ—किंतु अ बहुधा दीर्घीकृत भी होता है : यथा—**अघाय॑सि**, अघात पहुँचाता है; **प्रियाय॑ते** प्रिय होता है; **अश्वाय॑ति** घोड़े की खोज करता है; **अशनाय॑ति** भोजन चाहता है।

इ—जब कि वेद में नामधातु रूपनिर्माण के विभिन्न प्रकार सुस्पष्ट रूप में विभक्त हैं, इनमें से किसी का विशिष्ट प्राबल्य परिलक्षित नहीं है, उत्तरकालिक भाषा में नामधातुओं की बड़ी संख्या (पूर्णतः आठ में सात) ऊपर निर्दिष्ट दो कोटियों की होती हैं; उदाहरणस्वरूप अ-प्रकृतियों से बनी, और **अय** या **आय** रूपवाली, प्रथम कोटि प्रधान होती है। पुनः, **अय** अंतवाली नामधातुओं में परस्मैपदी रूप और सकर्मकार्थ तथा **आय** अंतवाली नामधातुओं में आत्मनेपदी रूप और अकर्मकार्थ अथवा **रिफलेक्सीव** अर्थ रखने की एक निश्चित प्रवृत्ति देखी जाती है। अनेक स्थलों में एक ही प्रकार की प्रकृति से समतुल्य रूपनिर्माण इस पार्थक्य को रखते हैं : उदाहरणार्थ—**कलुषयति** गंदा करता है, **कलुषायते** कलुषित है अथवा होता है; **तरुणयति**, तरुण बनाता है, **तरुणायते** स्वयं तरुण होता है; **शिथिलयति** शिथिल करता है, **शिथिलायते** स्वयं शिथिल होता है।

इस अंतर के स्पष्ट संकेत वेद में नहीं देखे जाते हैं; यद्यपि वहाँ भी ह्रस्व **अ** और दीर्घ **आ** से युक्त अनुरूपी पद साथ-साथ आते हैं।

ई—अंत्य **अ** कभी-कभी **ई** (खूव विरल भाव से **इ**) में परिवर्तित हो जाता है : यथा—**अध्वरीयति** यज्ञ करता है; **तविषीयति** वलवान् होता है; **पुत्रीयति** अथवा **पुत्रियति** पुत्र की इच्छा करता है; **मांसीयति** मांस के लिए लालायित होता है; **सज्जीयते** प्रस्तुत होता है; **चन्द्रकान्तीयति** चन्द्रकांत मणि की तरह होता है। इस रूप की पचास प्रकृतियाँ भी उद्धरणीय नहीं हैं।

उ—यह यदा-कदा (**न्** या **र्** के वाद) लुप्त हो जाता है—यथा—**तुरण्यति** तेज होता है; **अध्वर्यति** यज्ञ करता है।

ऊ—विकास की अन्य विधियाँ विकीर्ण होती हैं : इस प्रकार, **स्** का योग, यथा **स्तनस्यति** में, स्तन (पान) की इच्छा करता है; **ए** में **अ** का परिवर्तन होता है, यथा **वरेयति** में, वर वनता है।

१०६०—**आ-अंतवाली प्रकृतियों** से। अंत्य **आ** सामान्यतया सुरक्षित रहता है, यथा **गोपायति** गोपा की तरह वनता है, रक्षा करता है; **पृतनायति** युद्ध करता है; किंतु यह कभी-कभी अ-प्रकृति की अन्य विधियों में भी विकसित है : यथा—**पृतन्यति** युद्ध करता है; **तिलोत्तमीयति** तिलोत्तमा वनती है।

१०६१—**इ, ई** तथा **उ, ऊ अंतवाली प्रकृतियों** से। ऐसी प्रकृतियाँ (विशेषरूप से **ऊ ऊ** अंतवाली) खूव विरल हैं। इनमें **य** के पूर्व **ई** और **ऊ** सामान्यतया देखे जाते हैं : यथा—**अरातीयति** (**-तिय्**-भी) शत्रुता करता है; **जनीयति** (**-निय्**-भी) पत्नी की खोज करता है; **सखीयति** मैत्री की इच्छा करता है; **नारीयते** नारी के तुल्य वनता है;—**शत्रूयति** शत्रु के तुल्य आचरण करता है; **ऋजूयति** सीधा वनता है; **वसूयति** धन की इच्छा करता है; **असूयति** ईर्ष्या करता है, असंतुष्ट होता है; ह्रस्व **उ** के साथ, **गातुयति** गतिशील वनाता है।

अ—अपेक्षाकृत अधिक विरल भाव से **इ** या **उ** की प्रक्रिया **अ** की-जैसी होती है (अन्यथा **य्** या **व्** के लोप के साथ यह गुणीकृत है) : यथा—**घुन्नयति** घर्राटे के शब्द को करता हुआ आता है; **लघयति**-सरलतर वनाता है। कभी-कभी सोष्मध्वनि जोड़ी जाती है जैसा कि **अ** (ऊपर, १०५९ ऊ) : इस प्रकार **अविष्यति** प्रचण्ड होता है; **उरुष्यति** रक्षा करता है। **धी** से ऋ० वे० **धियायते** वनाता है।

१०६२—अन्य **स्वरान्त-प्रकृतियों** से । अ–अंत्य **ऋ री** में परिवर्तित होता है : यथा—**मात्रीयति** माता की तरह आचरण करती है (एकमात्र उद्धरणीय उदाहरण) ।

आ—संध्यक्षर, कुछ स्थलों में जहाँ ये प्राप्त हैं; अपने अंत्य अंश को अंतःस्थ में परिवर्तित करते हैं : यथा **गव्यति** गाय की इच्छा करता है, पशुचारण के लिए जाता है ।

१०६३—**व्यंजनप्रकृतियों** से । अंत्य व्यंजन **य** से पूर्व साधारणतया बना रहता है : यथा—**भिषज्यति,** वैद्य का कार्य करता है, आरोग्य करता है; **उक्षण्यति** बैल-जैसा आचरण करता है; **अपस्यति** कर्मठ होता है; **नमस्यति** नमस्कार करता है; **सुमनस्यते** प्रसन्न बना रहता है; **तरुष्यति** युद्ध करता है ।

अ—किंतु अंत्य **न्** कभी-कभी लुप्त हो जाता है, और पूर्ववर्ती स्वर की प्रक्रिया अंत्य-जैसी होती है : यथा—**(राजन्)** से **राजायते** अथवा **राजीयति** राजकीय वैभव से युक्त होता है;—**कर्मन्** से **कर्मयति, स्वामिन्** से **स्वामीयति** स्वामी-जैसा आचरण करता है : **वृषन्** से **वृषायते** एकमात्र उदाहरण प्राचीनतर भाषा से उद्धरणीय है । तथाविध-प्रक्रिया वाले अन्य व्यंजनों के कादाचित्क प्रयोग मिलते हैं : यथा—**ओजस्** से **ओजायते, मनस्** से **मनायते;**—जबकि दूसरी ओर **अ** स्वर **य** से पूर्व उस प्रकार के व्यंजन में यदा-कदा युक्त किया जाता है : यथा—**इष्** से **इषयति, सत्वन्** से **सत्वनायति ।**

१०६४—व्यंजनान्त प्रकृतियों का सर्वाधिक विपुल वर्ग उनका होता है जहाँ **य** से पूर्व **स्** देखा जाता है और जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है, सोष्म-ध्वनि सादृश्य के चलते कभी-कभी अंत्य स्वर में जोड़ी जाती है, जिससे नाम धातु-चिह्न वस्तुतः **स्य**—अथवा **इ** या **उ** स्वर के बाद **अ** के जुड़ने से भी, **अस्य** बन जाता है, तथा वैयाकरणों द्वारा यह स्वतंत्र चिह्न के रूप में गृहीत है जिससे इच्छार्थक नामधातु बनती है : यथा—**सुमखस्यते** आनन्दित है; **जीवनस्य—** (**स्या** जीने का प्रेम); **वृषस्यति** पुरुषार्थ की इच्छा करता है (इतने उद्धरणीय उदाहरण), **मधुष्यति** अथवा **मध्वस्यति**-मधु की इच्छा करता है; **क्षीरस्यति** दूध के लिए लालायित होता है ।

१०६५—वैयाकरण **काम्य** अंतवाले नामधातु-रूपों के एक विशिष्ट वर्ग को मानते हैं जो वस्तुतः अपने उत्तरपद में काम वाली सामासिक संज्ञा-प्रकृति से बने हुए साधारण रूप होते हैं : यथा—**रथकाम्यति** रथ की कामना करता है (काठक० : एकमात्र उदाहरण जो प्राचीनतर भाषा में प्राप्त है); **अर्थकाम्यति**

धन की इच्छा करता है; **पुत्रकाम्यति** पुत्र की कामना करता है (इतने ही उद्धरणीय उदाहरण होते हैं); ये **रथकाम** प्रभृति संबंधवाची सामासिकों से बनते हैं। पुनः, **अर्थापायति** धन-जैसा ग्रहण करता है (एकमात्र उद्धरणीय) प्राकृतीकृत णिजन्त रूप वाली प्रकृति का उदाहरण होता है (१०४२ घ)।

अ—असंगत रूप निर्माण की प्रकृतियाँ **दीर्घ** से **द्राघय; दृढ** से **द्रढय,** और संभवतः **मृदु** से **म्रदय** होती हैं।

१०६६—अ—वेद में कतिपय नामधातु-प्रकृतियाँ आती हैं जिनकी तद्रूपी संज्ञा-प्रकृतियाँ नहीं पायी जाती हैं। यद्यपि सबों के लिए अथवा लगभग इनके सबों के लिए सजातीय शब्द देखे जाते हैं: यथा—**अङ्कूय́, स्तभूय́, इपुध्य; धिषण्य́, रिषण्य́, रुवण्य, हुवन्य, इषण्य́; रथर्य̋, श्रथर्य̋, सपर्य̋; इयस्य** (श० ब्रा०), **इरस्य́, दशस्य́, मखस्य́, पनस्य́, सचस्य́**। अन्य अंतवाले विशेषतः नवीन क्रियारूप वर्ग के आरंभिकों की तरह लगते हैं।

आ—पुनः, **आय** अंतवाली प्रकृतियों के एक वैदिक वर्ग में, जो सामान्यतया **ना**-वर्ग (७३२) की वर्तमान-प्रक्रियाओं में समाविष्ट हो गयी हैं, तथा उस वर्ग के रूपों के साथ प्राप्त हैं, अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में वह स्वरूप उपलब्ध होता है: यथा—**गृभ्णाति** के साथ **गृभाय́ति**। इनमें से **गृभाय́, मथाय́; प्रषाय́, मुषाय́, श्रथाय, स्कभाय́, स्तभाय́** ऋ० वे० में प्राप्त हैं। अन्य कुछ में **ना**-वर्गी सहवर्ती नहीं मिलते हैं: यथा—**दमाय́, शमाय́, तुदाय́** (अ० वे०); तथा **पनाय́ नशाय, वृषाय** (√(वृष्) वरसना), **वसाय́** (√(वस्) वस्त्र धारण करना), और संभवतः **अशाय** (√(अश्) प्राप्त करना)।

इ—यहाँ ध्वनियों के अनुरणनमूलक संयोगों से साधारणतः आवृत्ति द्वारा बनाये गये अर्धनामधातुरूप भी उल्लिखित किये जा सकते हैं: यथा—**किटकिटाय, थतथताय, भिषभिषाय, शरशराय**।

१०६७—ऋ० वे० और अ० वे० में णिजन्त स्वराघात के साथ नामधातु प्रकृतियाँ हैं: ऋ० वे० **अङ्ख́य, अर्थ̋य, इष́य,** (**इषय́** भी), **ऊर्ज̋य, ऋत́य, कृप́य, मन्त्र́य, मृग́य, वव्र́य, वाज́य** (**वाजय́** भी), **वील́य, सुष्व́य** (**सुष्वय́** भी); अ० वे० में **कीर्त̋य, धूप́य, पाल́य, वीर́य, सभाग́य** विशेष प्राप्त हैं।

अ—**अ́न्तीय** और **ह́स्तय** (ऋ० वे०) का उदात्त पूर्णतः अनियमित है।

१०६८—**रूपविधान**। नामधातु-प्रकृतियों के रूप अ-अंतवाली अन्य प्रकृतियों की तरह (७३३ अ) संपूर्ण वर्तमान-प्रक्रिया में नियमित ढंग से चलते हैं। इस प्रक्रिया से अन्यत्र सभी रूप-अपवादस्वरूप ऐसी प्रकृतियों से बने रूप जो कि णिजंत अथवा **चुर्** वर्ग के अंतर्भूत मानी जाती हैं और जिनमें उस वर्ग वाले नियम सभी दृष्टियों से लागू होते हैं—अत्यधिक विरल हैं।

अ—ऋ० वे० में वर्तमान-प्रक्रिया से भिन्न कोई रूप उपलब्ध नहीं होता है; अपवाद-स्वरूप **ऊनयीस्** (**मा** निषेधार्थक के साथ), मध्यम० एकव० इष्-लुङ् रूप (तुलनीय १०४८)। इस लुङ् के अन्य उदाहरण होते हैं **आसूयीत्** (श० ब्रा०), **पापयिष्ट** (तै० सं० : बहुव० **मा** निषेधार्थक के साथ), तथा **अवृपायिषत** (वा० सं० प्रभृति)। ई के लिए ऐ (५५५ इ) के साथ रूप **अंसपयैंत्** (अ० वे० १५–२–२०) लुङ्रूप हो सकता है, किंतु, जैसा कि छंद से प्रतीत होता है, संभवतः अशुद्ध पाठ है; **अमनस्यैत्**, जो निश्चित रूप से लङ् है, तै० ब्रा० (२–३–८) में प्रयुक्त लगता है। ब्राह्मणों में अन्य रूप प्रयोग में आने लगे हैं : यथा—भविष्यरूप **गोपायिष्यति** (श० ब्रा०), **मेघायिष्यंन्त्**, **कण्डूयिष्यंन्त्**, **शीकायिष्यंन्त्** (तै० सं०), कृदन्तक्रियारूप **भिषज्यित** (? जै० ब्रा०—जित) और **इयसितं** (श० ब्रा०), **कण्डूयितं**, **शीकितं** और **मेघितं** (तै० सं०), पूर्वकालिक क्रियारूप **संश्लक्ष्ण्य** (श० ब्रा०), इत्यादि। उत्तरकालिक भाषा में भी वर्तमान-प्रक्रिया से अन्यत्र रूप (**त** अंतवाले कृदंतक्रियारूप को छोड़कर) केवल विकीर्ण होते हैं, तथा तृतीयक क्रियारूप के पदों में कठिनता से कोई प्राप्त हैं : **धूमायय** और **असूयय** (महाभा०) णिजन्त रूप और **अभिषिषेणयिष** (शिशु०) सन्नन्तरूप उदाहरण होते हैं।

आ—नामधातु प्रकृतियों से नामिक प्रत्ययान्त शब्द णिजन्त प्रकृतियों (१०५१ ए) से प्रत्ययों के सादृश्य का पालन करते हैं। प्राचीनतर भाषा में उ और आ (विशेष रूप से प्रथम) अंतवाले सर्वाधिक संख्यक होते हैं; आगे चलकर **अन** अंतवाला अन्य सबों से अधिक प्रचलित हो जाता है।

———

अध्याय—१५

यौगिक और सामासिक क्रियारूप

१०६९—एक यौगिक रूपनिर्माण, यौगिक भविष्य रूप, ऊपर (९४२ नि० वि०) निर्दिष्ट हो चुका है, चूँकि उत्तरकालिक भाषा में यह प्रत्येक धातुज क्रियारूप का स्वीकृत अंग बन गया है और चूँकि यह मुख्यतः यौगिक होते भी अपने विभिन्न अंगों में इस प्रकार संगलित हो चुका है और निर्माण में ऐसा परिवर्तित हो गया है कि प्रचुर मात्रा में समग्र काल-रूपनिर्माण के स्वरूप का ग्रहण कर लेता है।

अधिकांशतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण अन्य रूपनिर्माण इस वर्ग में हैं—

यौगिक परोक्ष

१०७०—यह (यद्यपि वेद में प्रायः अज्ञात है और ब्राह्मणों में क्रमिक रूप से ही प्रयोग में प्राप्त है) ऐसा काल है जो श्रेण्य संस्कृत में व्यापक रूप से बनाया जाता है और प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होता है।

अ—√(कृ) बनाना, अपेक्षाकृत अधिक समय, √(अस्) होना और खूब विरले √(भू) होना-जैसी सहायक क्रिया के परोक्षकाल रूप में आ (स्वराघात संयुक्त) अंतवाली व्युत्पत्तिज संज्ञा-प्रकृति के द्वितीय-विभक्तिरूप के पूर्वयोग द्वारा बनाया जाता है।

आ—प्राचीनतर भाषा में (दे० नीचे, १०७३ ई) कृ प्रायः एकमात्र सहायक क्रिया है जो इस काल के बनाने में प्रयुक्त है, अस् बहुत कम बार आयी है तथा भू कभी नहीं। उत्तरकाल में भी भू सर्वथा विरल (यह महाभा० नव बार प्राप्त है, छः बार रघु० में और अन्यत्र कुछ बार), किंतु अस व्यापकरूप से प्रचलन में आती है, जब कि कृ केवल कदाचित्क होती है।

इ—और भी अन्य सहायक पदों द्वारा बने यत्किञ्चित् समान रूपनिर्माण उत्तरकालिक भाषा में अज्ञात नहीं है : यथा **वरयाम् प्रचक्रमुस्** (महाभा०), **पूरयाम्** (प्रभृति) **व्यधुस्** (वीरचरित), **मृगयामवासीत्** (वहीं)।

१०७१—यौगिक परोक्ष यों प्राप्त होता है :

अ—यह यौगिक क्रियारूप का स्वीकृत परोक्ष होता है : यङन्त, सन्नन्त, णिजन्त और नामधातु; आ अंतवाली संज्ञा उस वर्तमान-प्रकृति से बनी है जो

प्रत्येक क्रियारूप का सामान्य आधार है : यथा—√(बुध्) से यङन्त **बोबुधाम्**, सन्नन्त **बुभुत्साम्**, णिजन्त **बोधयाम्** ; नामधातु **मन्त्रयाम्** ।

आ – णिजन्त प्रकृतियों से (उन नाम-धातुओं को सम्मिलित कर जिन्होंने णिजन्तों का स्वरूप ग्रहण कर लिया है : १०५६) रूपनिर्माण ही सर्वाधिक प्रयुक्त होता है । केवल कुछ सन्नन्त उद्धरणीय हैं (१०३४ अ), तथा यङन्तों में एकमात्र **जागरामास** (१०२० अ; साथ ही **जजागार**) ।

इ—गुरु अक्षर में स्वर (प्रकृति से दीर्घ अथवा स्थान-भाव से दीर्घ) के साथ आरम्भ होने वाली अधिकांश धातुएँ इसी परोक्ष को बनाती हैं, सरल परोक्ष को नहीं : उदाहरण-स्वरूप √(आस्) बैठना से **आसाम्**, √(ईक्ष्) देखना से **ईक्षाम्**; √(उज्झ्) छोड़ देना से **उज्झाम्** ; √(एध्) बढ़ना से **एधाम्** (इतने ही उदाहरण हैं जो उद्धरणीय हैं) ।

ई—धातुएँ **आप्** और **ऋच्**, तथा दो व्यंजनों के पूर्ववर्ती **अ** से आरम्भ होने वाली (और अभ्यास के रूप में **आन्** ग्रहण करने वाली, ७८८) धातुएँ अपवादभूत हैं ।

उ—अनेकाच् धातुएँ (अर्थात्, वे प्रकृतियाँ जो वैयाकरणों द्वारा धातुएँ-जैसी गृहीत हैं) इस रूपनिर्माण वाला अपना परोक्ष रखती हैं : यथा—**चकासाम्** । किंतु **ऊर्णु** (७१३) से केवल **ऊर्णोनाव** रूप विहित है; जब कि **जागृ** (१०२०) से परोक्ष के दोनों रूप बनाये जाते हैं और **दरिद्रा** (१०२४ अ) से वैसा ही विधान है ।

ऊ—कुछ अन्य धातुएँ सामान्य साभ्यास परोक्ष के अतिरिक्त यौगिक रूप बनाती हैं । इस प्रकार प्राचीनतर भाषा में ही **शायाम्, तायाम्, निलयाम्, वासाम्** (√(वस्) वास करना), **विदाम्** (√(विद्) जानना), **व्ययाम्** प्रकृतियाँ, और **विभयाम्** और **जुहवाम्** साभ्यास प्रकृतियाँ पायी जाती हैं, उत्तरकालिक भाषा में **अयाम्, जयाम्, दयाम्, नयाम्, स्मयाम्, ह्वयाम्**, और साभ्यास **विभराम्** विशेष होती हैं; तथा वैयाकरण **उष्, कास्** और अभ्यास युक्त **ह्री** से इसी प्रकार के रूपनिर्माणों का विधान करते हैं । प्रत्येक अवस्था में प्रकृति वर्तमान-प्रकृति से अंत्य स्वर के गुण के साथ बनायी जाती है ।

१०७२—आत्मनेपद का यौगिक परोक्ष √(कृ) के आत्मनेपदी रूपविधान के साथ बनाया जाता है । कर्मवाच्य प्रयोग के लिए **अस्** और **भू** सहायक क्रियाओं से आत्मनेपदी रूप विहित माने गये हैं ।

अ—**भू** के एक या दो परवर्ती उदाहरण आत्मनेपदी रूपविधान के साथ देखे गये हैं, किंतु **अस्** का कोई नहीं ।

आ—इस रूपनिर्माण की रूपावली प्रस्तुत करना अनावश्यक है; क्योंकि सहायक क्रियाओं का रूपविधान वही होता है जो इनके स्वतंत्र प्रयोग में : √(कृ) के रूपविधान के लिए, देखिए ८०० क; √(भू) वाले के लिए, दे० ८०० ई; √(अस्) वाले के लिए, दे० ८०० ग।

इ—संज्ञा और सहायक-क्रिया का संयोग इतना घनिष्ठ नहीं होता कि इनके बीच अन्य शब्द यदा-कदा प्रयुक्त नहीं किये जायँ; यथा—**मीमांसाम् एवं चक्रे** (श० ब्रा०) उसने केवल चिन्तन किया; **विदां वा इदमयम् चकार** (जै० ब्रा०) उसने वस्तुतः इसे जाना; **प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार** जिसने नहुष को नीचे गिराया (रघु०)।

१०७३—ऊपर वाला विवरण **आम्** अंतवाली व्युत्पत्तिज संज्ञा के साथ यौगिक रूपनिर्माण का होता है जैसा कि यह विशेष रूप से उत्तरकालिक भाषा में प्राप्त है; पूर्वतरकालिक भाषा में इसका स्वरूप तो अपेक्षाकृत अधिक सामान्य वाला होता है, किंतु अधिक विरले **कृ** धातु के विभिन्न रूपों के साथ उस प्रकार की संज्ञा के साथ संयोजन प्राप्त है। इस प्रकार :

अ—यौगिक परोक्ष का केवल एक उदाहरण (छंदोवद्ध) वैदिक ग्रन्थों के सम्पूर्ण कलेवर में मिलता है : उदाहरणार्थ, **गमयां चकार** (अ० वे०) ब्राह्मणों में णिजन्त प्रकृतियों से बने उदाहरण स्वच्छन्द आने लगते हैं; किंतु श० ब्रा० (जहाँ ये चौबीस धातुओं से प्राप्त हैं और इनमें से कुछ अनेक प्रयोगों के साथ) को छोड़कर अन्यत्र ये संख्या में खूब कम होते हैं। सन्नन्त प्रकृतियों से ये और भी अधिक विरल हैं (केवल सात प्रयोग प्राप्त हैं जिनमें से पाँच श० ब्रा० में द्रष्टव्य १०३४ अ); और यङन्तों से ये अज्ञात हैं। मुख्य क्रियारूप के यौगिक परोक्षरूप ऊपर निर्दिष्ट हो चुके हैं (१०७१ ऊ : श० ब्रा० में आठ प्रकृतियाँ और लगभग अस्सी प्रयोग, मुख्यतः **ईक्ष्**, **भी** और **विद्** से; **विद्** से निष्पन्न रूप ग्रन्थों की सर्वाधिक संख्या में प्राप्त है)।

आ—सहायक-क्रिया के लुङ् के साथ रूप प्राचीनतम ब्राह्मणों में उतने होते हैं जितने परोक्ष के साथ। इस प्रकार **अकर्** के साथ **रमयाम्** (काठक०), **जनयाम्** और **सदयाम्** तथा **स्वदयाम्** और **स्थापयाम्** (मै० सं०) मिलते हैं; तथा **अक्रन्** के साथ **विदाम्** (तै० सं०, तै० ब्रा०, मै० सं०)। लुङ्० विधिलिङ् अथवा आशीर्लिङ् के साथ एकमात्र **पावयां क्रियात्** (मै० सं०) प्राप्त हुआ है।

इ—अन्य कालों के साथ इस प्रकार के संयोजन पूर्णतः अज्ञात नहीं हैं : यथा—**जुहवां करोति** (शां० श्रौ० सू०)। इसी तरह उत्तरकालिक भाषा

में भी, जहाँ इस प्रकार के प्रयोग आवा दर्जन वाले उद्धरणीय हैं : यथा—**विदां करोति** (पञ्च०), **विदां करोतु** और **कुर्वन्तु** (पञ्च० प्रभृति)।

ई—सहायक-क्रिया के रूप में कृ के वजाय **अस्** के प्रयोग के केवल दो या तीन उदाहरण प्राचीनतर भाषा में पाये जाते हैं : ये हैं—**मन्त्रयाम् आस** (ऐ० ब्रा०, गो० ब्रा०), **जनयामास** (श्वे० उप०) और **ईक्षामास** (शां० श्री० सू०)।

उ—उदात्त संयुक्त सहायक-क्रियारूप का एकमात्र उदाहरण स्वर-चिह्नित ग्रन्थों में मिला है : उदा० **अतिरेचयाँ चक्रुस्** (श० ब्रा०)। जैसा कि अपेक्षित था, संयोजन-भाव से संज्ञा भी अपना उदात्त सुरक्षित रखती है (तुलनीय ९४५)।

कृदन्तक्रियारूप यौगिक वाक्यांश

१०७४—क्रिया-कालों की जैसी प्रयोगिता वाले वाक्यांशों के निर्माण में संयोजक-क्रिया से युक्त (अथवा इससे रहित भी) भूतकालिक अथवा भविष्य-कालिक कृदन्तक्रियारूप का प्रचुर प्रयोग, विशेष रूप से उत्तरकालिक भाषा में, ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है (९९९)। किंतु अन्य सहायक-क्रियाओं के साथ अथवा अन्य कृदन्त-क्रियारूपों के साथ वने-जैसे दूसरे तथाविध संयोजन-भाषा के किसी युग में अज्ञात नहीं है।

अ—ये वेद में भी आते हैं, किंतु ब्राह्मणों में खूब अधिक सामान्य और सुस्पष्ट होते हैं, और पुनः उत्तरकालिक भाषा में गौणरूप वन जाते हैं।

१०७५—विभिन्न रूपनिर्माणों के उदाहरण यों होते हैं :

अ—क्रिया **इ** जाना के कालों के साथ (सामान्यतः वर्तमानकालिक) कृदन्त क्रियारूप। यह समग्रतः सर्वाधिक व्यापक और सर्वाधिक प्रचलित प्रयोग वाला संयोजन होता है। यथा—**अयज्वनो विभजन्नेति वेदः** (ऋ० वे०) वह तो अयाज्ञिक के धन को वितरित कर देता है; **यथा सूच्या वासः संदधद् इयादेवमेवैताभिर्यज्ञस्य छिद्रं संदधद् एति** (ऐ० ब्रा०) जिस प्रकार कोई सूई से वस्त्र को (नियमतः) मरम्मत करे, उसी प्रकार इनसे यज्ञ की त्रुटि को सुधारना चाहिए; **अग्निर्वा इदं वैश्वानरो दहन्नैत्** (पं० ब्रा०) वैश्वानर अग्नि ने इस सृष्टि को प्रज्वलित रखा; **तेऽसुराः पराजिता यन्तो द्यावापृथिवी उपाश्रयन्** (ता० ब्रा०) इन पराजित असुरों ने द्युलोक और पृथ्वीलोक की शरण ली; **तेऽस्य गृहाः पशव उपमूर्यमाण ईयुः** (श० ब्रा०) ये पशु, उसके परिवार, सदा नष्ट कर दिये जायँ।

आ—क्रिया **चर्** जाना (निरन्तर अथवा नियमित रूप से) के साथ वैसा ही रूप, जो पूर्ववर्ती की अपेक्षा और अधिक स्पष्टता से निरन्तरित अथवा प्रकृति-गत क्रिया को द्योतित करता है। इस प्रकार—**अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः** (अ० वे०) अग्नि अग्नि में निरन्तर प्रविष्ट होती है; **अदण्ड्यं दण्डेन घ्नन्तश्चरन्ति** (पं० ब्रा०) वे अदंडच पात्र को दंड द्वारा प्रहार करने का अभ्यास करते हैं।

इ—**आस्** बैठना और **स्था** खड़ा होना क्रियाओं के साथ उसी प्रकार के अर्थ से युक्त तथाविध रूप प्राप्त हैं। उदाहरणस्वरूप—**जुह्वत आसते** (काठक०) वे हवन करने लगे हैं; **तेऽपक्रम्य प्रतिवावदतोऽतिष्ठन्** (ऐ० ब्रा०) दूर जाकर, वे प्रबल प्रतिवाद करते रहे। उत्तरकालिक भाषा में **स्था** विभिन्न प्रकार के विधेय रूपों के साथ सातत्यार्थ वाले क्रियामूलक वाक्यांशों के निर्माण में प्रायशः प्रयुक्त है।

ई—**अस्** और **भू** होना के साथ वर्तमानकालिक अथवा भूतकालिक अथवा भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप। कृदन्तक्रियारूप प्रायशः भविष्यकालिक है : **अस्** नित्य भाव से विधिलिङ् रूप में प्रयुक्त होती है, **भू** सामान्यतया अन्य रूपों में। यथा—**यः पूर्वमनीजानः स्यात्** (ऐ० ब्रा०) जिसने कोई पहिले यज्ञ किया नहीं है; **समावदेव यज्ञे कुर्वाणा आसन्** (गो० ब्रा०) उन्होंने यज्ञ में वही किया; **परिक्रीडन्त आसन्** (मै० सं०) वे खेल रहे थे; **यत्र सुप्त्वा पुनर्नाऽवद्रास्यन् भवति** (श० ब्रा०) जब सोकर वह फिर सोने नहीं जाता है; **हव्यं हि वक्ष्यन् भवति** (ऐ० ब्रा०) क्योंकि वह हव्य को ले जाने की इच्छा करता है; **दास्यन्त् स्यात्** (काठक०) देने जा रहा हो; **यंन वाहनेन स्यन्तस्यन्त् स्यात्** (श० ब्रा०) जिस वाहन से वह निकलने वाला ही हो। परोक्ष और परिपूर्ण परोक्ष तथा भविष्य परोक्षकाल वाली यथार्थ अभिव्यक्तियाँ इस माध्यम से संभव हैं, और जब तब ये होती हैं, किंतु नित्य और निरंतर रूप में नहीं।

पूर्वसर्गात्मक उपसर्गों के साथ संयोग

१०७६—क्रियामूलक रूपप्रक्रिया के सभी रूप, पुरुषबोधक तिङन्तरूप अथवा अन्य रूप—मुख्य और गौण दोनों रूप प्रक्रियाओं के और कुछ अंशों में नामधातु के भी (जहाँ तक कि नामधातु-प्रकृतियाँ प्रयोगिता में शुद्ध धातु के सम हो गयी हैं)—अधिक समय दिशावाची शब्दों के साथ रखे जाते हैं, ये शब्द क्रियाविशेषणात्मक स्वरूप के घटक होते हैं, और तथाकथित पूर्वसर्ग अथवा उपसर्ग हैं।

अ—वस्तुतः, उत्तरकालिक भाषा में यह धातु और उपसर्ग द्वारा बनी हुई-जैसी एक संयुक्त धातु है जिससे तदनन्तर सम्पूर्ण क्रियारूप (प्रत्ययों के साथ : नीचे, अध्याय–१७) बनाया जाता है ठीक उसी प्रकार जैसा सरल धातु से। तथापि, वहाँ भी (तथाविध और विशेष रूप से प्राचीनतर भाषा में १०८१ अ–इ) संयोग इतना शिथिल है और पद अपनी इतनी स्वतंत्र प्रयोगिता बनाये रहते हैं कि अधिकांश शब्द कोशों में (सर मोनीयर विलियम्स का कोश अपवाद-रूप है) उपसर्गों के साथ प्रत्येक धातु का क्रियारूप सरल धातु के अन्तर्गत रखा जाता है, न कि उपसर्गों के वार्णिक क्रम में। किंतु व्युत्पत्तिज शब्द सर्वसम्मति से अपने स्वतंत्र वार्णिक स्थान में सरल शब्दों की तरह प्रतिष्ठित किये जाते हैं।

१०७७—वे उपसर्ग जिनकी तथाविध प्रयोगिता भाषा के समग्र इतिहास में होती है, नीचे अपने मौलिक अर्थों के साथ वर्णिक क्रम में प्रस्तुत किये जाते हैं :

अ॑ति आगे को, पर, पीछे, ऊपर, अधिक;
अ॑धि ऊपर, आगे की ओर, पर, ऊपर होकर;
अ॑नु पीछे, साथ-साथ, ओर;
अन्त॑र् दो के बीच, अनेकों के बीच, अन्दर;
अ॑प दूर, पीछे, आगे;
अ॑पि प्रति, निकट में या पर;
अ॑भि को, प्रति, विपरीत (बहुधा उपलक्षित प्रहार के साथ);
अ॑व नीचे, दूर;
आ॑ प्रति; तक, पर;
उ॑द् ऊपर, दूर तक या बाहर;
उ॑प को, ओर, प्रति;
नि॑ नीचे; में, भीतर;
नि॑स् बाहर, सामने;
प॑रा आगे तक, दूर प्रति;
प॑रि घेर कर, चारों ओर;
प्र॑ आगे, आगे की ओर, प्रति, पहले;
प्र॑ति विपरीत दिशा में, पीछे या पीछे की ओर, विपरीत, बदले में;
वि॑ पृथक्, भिन्न, दूर, बाहर;
स॑म् संग, साथ, एक साथ।

अ—वस्तुतः इनमें से कुछ दूसरों की अपेक्षा अधिक व्यापक और प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हैं। पुनरावर्तन के क्रम में ये प्राचीनतर भाषा में (धातुओं की संख्या की गणना करने पर, जो ऋ० वे० और अ० वे० में प्राप्त हैं) इस प्रकार होते हैं : **प्र, आ, वि, सम्, अभि, नि, उद्, परि, अनु, उप, प्रति, अव, निस्, अति, अप, परा, अधि, अपि, अन्तर्।** **अपि** उत्तरकालिक भाषा में उपसर्ग की तरह अधिक सीमित प्रयोगवाला है, संयोजक शब्द, भी, साथ ही, बन गया है।

आ—ऊपर दिये गये अर्थ केवल प्रमुख हैं। धातु और उपसर्ग के संयोगों में बहुत परिवर्तन, शाब्दिक और उपलाक्षणिक दोनों ही, इनमें प्राप्त हैं—तथापि शायद ही इस प्रकार कि मौलिक अर्थ से संक्रमण के क्रम निर्धारण सरल न हो जाय। वस्तुतः यदा-कदा धात्वर्थ उपसर्ग के योग द्वारा परिवर्तित प्रायः ही परिलक्षित होता है। **परि, वि** और **सम्** द्वारा भृशार्थ अविरले द्योतित होता है।

१०७८—उपर्युक्तों के मूलतः सजातीय, किंतु अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता के साथ क्रियाविशेषणीभूत रूप, तथा अपेक्षाकृत अधिक सीमित प्रयोग वाले उपसर्ग ये हैं : **अ॑छ** (या **अ॑छा**), प्रति, तक : ऋ० वे० में बहुत कुछ प्रचलित है, (बीस से अधिक धातुओं के साथ), किंतु अ० वे० में ही असाधारण (केवल दो धातुएँ), ब्रा० में खूब सीमित और उत्तरकालिक भाषा में पूर्णतः लुप्त हो गया है।

आवि॑स् , प्रकट, दृष्टिगोचर : केवल **भू, अस्** और **कृ** धातुओं के साथ प्रयुक्त;

तिर॑स् , अंत तक, आरपार, दृष्टि से दूर : **कृ, धा, भू** के अतिरिक्त अन्य धातुओं से शायद ही प्रयुक्त (ऋ० वे० तीन या चार धातुओं के साथ);

पुर॑स् , सामने, आगे : केवल आधे दर्जन की धातुओं, विशेषरूप से **कृ, धा, इ** से साथ प्रयुक्त;

प्रादुस्, दृष्टिगोचर : केवल **भू, अस्, कृ** के साथ।

अ—कुछ और, यथा **बहिस्**, बिना, रहित, **अलम्** (**भू** और **कृ** के साथ) पर्याप्त, यथायोग्य : **साक्षात् प्रकट,** साधारण क्रियाविशेषणों से कम ही भिन्न होते हैं।

१०७९—और भी सीमित प्रयोग वाले और क्रियाविशेषणार्थ के बजाय संज्ञार्थ रखने वाले हैं :

श्रद् (या श्रथ् ?), केवल धा (ऋ० वे० में, एक वार कृ के साथ भी) : श्रद्धा, विश्वास, प्रतीति;

हिङ्, केवल कृ के साथ (और श्रेण्य संस्कृत में आर्प प्रयोग) : हिङ्कृ शब्द करना, हिङ्कृ, मन्द, कलकल।

अ—पुनः इनके अतिरिक्त और भी अधिक आकस्मिक संयोग होते हैं : द्रष्टव्य नीचे, १०९१।

१०८०—एक ही धातु से पूर्व एकाधिक उपसर्ग रखे जा सकते हैं। दो के संयोग अधिक सामान्य हैं; तीन के सयोग न्यून सामान्य हैं; तीन से अधिक के संयोग विरल होते हैं। इनका क्रम सामान्यतया केवल अर्थ की अपेक्षाओं को लेकर निर्धारित होता है, प्रत्येक युक्त उपसर्ग द्वारा संयोग में जिससे पूर्व यह लगाया जाता है, विशेष परिवर्तन उत्पन्न होता है। किंतु आ पूर्वकालिक अथवा उत्तरकालिक भाषा में अन्य किसी के पहले प्रायः कभी नहीं रखा जाता।

अ—अन्य उपसर्ग में आ के स्पष्ट पूर्वयोग के खूब विरल उदाहरणों में (यथा आविहन्ति महाभा०, आवितन्वानः भाग० पु०) में क्रियाविशेषण के रूप में स्वतंत्र विधि से प्रयुक्त आ की स्थिति मानना सर्वाधिक समीचीन होगा।

१०८१—श्रेण्य संस्कृत में उपसर्ग क्रियापद के अव्यवहित पूर्व मिलता है।

अ—किंतु पूर्वतर भाषा में (विशेषतः वेद में; कम साधारण और अधिक सीमित रूप से ब्राह्मण में) इसकी स्थिति बिलकुल स्वतंत्र होती है, यह किसी अन्य शब्द अथवा शब्दों द्वारा क्रिया से अलग किया जा सकता है और अपने संबद्ध पद के वाद भी आ सकता है; यह अकेला भी मिल सकता है जहाँ यह गम्यमान क्रिया का विशेषण रूप होता अथवा अन्य उपसर्ग के साथ मिलकर अभिहित क्रिया का।

आ—इस प्रकार, सं देवाँ एह वक्ष्यति (ऋ० वे०) वह यहाँ देवों को लायेगा; प्रण आयूंषि तारिषत् (ऋ० वे०) वह हमारी आयु बढ़ाए; तावा यातम् उप द्रवत् (ऋ० वे०) तुम दोनों यहाँ शीघ्र आओ; गमद् वाजेभिरा स नः, (ऋ० वे०) वह अन्न लेकर यहाँ हमारे पास आये; परि माम् परि मे प्रजाम् परि नः पाहि यद् धनम् (अ० वे०) मेरी, मेरी सन्तति की, और जो कुछ धन हमारा है उसकी, रक्षा करो; यतः सद्य आ च परा च यन्ति (अ० वे०) जहाँ से वे प्रत्येक दिन आगे बढ़ते हैं, और अलग होते हैं; व्यहं सर्वेण पाप्मना [अवृतम्] वि यक्ष्मेण सम् आयुषा (अ० वे०) मैंने सब पाप से, रोग से अलग रखा है, जीवन के साथ [अपने

को मैंने युक्त किया है]; वि ह्यनेन पश्यति (ऐ० ब्रा०) क्योंकि इससे वह देखता है; विंवा एषं प्रजंया पशुंभिर् ऋध्यते (तै० ब्रा०) वह सन्तति और पशुओं से वञ्चित किया जाता है।

इ—क्रिया से पृथक् अथवा परवर्ती उपसर्ग के तीन या चार उदाहरण उत्तरकालिक भाषा से उद्धृत किये गये हैं; किंतु संभवतः प्रत्येक स्थल में उपसर्ग क्रियाविशेषण-जैसा माना जा सकता है।

१०८२—उपसर्गों से संयुक्त क्रिया-पदों के स्वराघात को लेकर केवल वही स्थिति विवेचनीय है जहाँ उपसर्ग क्रिया के ठीक पहले (यथा नित्य रूप से उत्तरकालिक भाषा में) आता है; अन्यथा क्रिया और उपसर्ग दो स्वतंत्र शब्दों के रूप गृहीत हैं।

१०८३-अ—पुरुषबोधक क्रियापद, जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है—(५९२), सामान्यतया उदात्तरहित होता है : ऐसे पद के पूर्व उपसर्ग का अपना उदात्तस्वर रहता है; अथवा यदि दो या अधिक उस रूप के पूर्ववर्ती होते हैं, तो क्रिया के निकटतम वाला सोदात्त है और अन्य अपना उदात्तत्व खो देते हैं।

आ—किंतु यदि क्रियापद उदात्त युक्त होता है, तो उपसर्ग का, अथवा उपसर्गों का उदात्त-स्वर लुप्त हो जाता है।

इ—अर्थात्, प्रत्येक स्थिति में नियमानुसार मिलने वाले उपसर्ग अथवा उपसर्गों के साथ क्रिया तो एकता बनाये रखती है जिससे सम्पूर्ण संयोग में केवल एक उदात्त का ग्रहण विहित है।

ई—उदाहरण होते हैं : परे हि नारी पुंनर् एंहि क्षिप्रंम् (अ० वे०) दूर चली जाओ, नारि; फिर शीघ्र आओ; अंथास्तं विपंरेतन (ऋ० वे०) तब तुम अपने घर की ओर चले जाओ; समांचिनुष्वानुसम्प्रंयाहि (अ० वे०) एक साथ चयन करो, और एक साथ निकल पड़ो; यंद् गृहांन् उपोदैंति (अ० वे०) जब वह अपना घर पहुँचता है; एवां च त्वं सरम आजगंन्थ (ऋ० वे०) अब तुम, हे सरमा, इस प्रकार अपने घर को आ गये हो; येंनाऽऽविष्टितः प्रविवेंशिथाऽपः (ऋ० वे०) जिससे आविष्ट होकर तुमने जल में प्रवेश किया।

१०६४—तथापि, उपसर्ग में अनाकस्मिक ढंग से एक अधिक स्वतंत्र प्रयोगिता प्राप्त है जो दिशावाची सामान्य क्रियाविशेषण अथवा संज्ञा से संबद्ध या उसकी विशेषता बतलाने वाले पूर्वसर्ग (इस पद के प्रचलित आधुनिक अर्थ में) की-जैसी होती है। ऐसी स्थिति में यह संयुक्त क्रिया का अंग नहीं बनाया जा

सकता है, और इसका अपना उदात्त सुरक्षित रहता है। प्रयोग की दोनों कोटियाँ एक-दूसरी में संपृक्त होती हैं और किसी स्पष्ट तथा निश्चित रेखा द्वारा विभक्त नहीं हो सकती हैं।

अ—ऋ० वे० में कतिपय स्थल (लगभग तीस) होते हैं जहाँ पद-पाठ अनावश्यक रूप से तथा संभवतः भ्रामक रूप से उदात्त-युक्त क्रियापद (अथवा अन्य उपसर्ग) के पूर्ववर्ती उपसर्ग में स्वतंत्र उदात्त-स्वर प्रस्तुत करता है : उदाहरणस्वरूप, पद-विघटन के साथ, आ अरुहत् में आरुहत्, वि अचेत् में व्यचेत्, अभि अवर्पीत् में अभ्यवर्पीत्, वि आ असरत् में व्यासरत् (आ-अरुहत् प्रभृति के स्थान में)।

१०८५—क्रिया-प्रक्रिया के कृदन्तरूपात्मक अंशों—कालवाची कृदन्तक्रियारूपों, तुमर्थरूपों और पूर्वकालिक क्रियारूपों—के साथ संयोग में सामान्य नियम यह है कि उपसर्ग संयोग के दूसरे पद के लिए अपना उदात्त छोड़ देता है। किंतु इसके विपरीत उपसर्ग कभी-कभी उदात्त हो जाता है : यथा, जबकि संयुक्त होता है—

अ—त या न अंतवाले कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप के साथ : उदा० परेत दूर गया हुआ; अन्तर्हित छिपा हुआ; अवपन्न गिरा हुआ; सम्पूर्ण पूरा (तुल० १२८४)।

आ—किंतु इस नियम के कुछ अपवाद मिलते हैं : उदाहरणार्थ, ऋ० वे० में निचित, निष्कृत, प्रशस्त, निपत्त इत्यादि; अ० वे० में, अपक्रीत।

इ—तु अंतवाले तुमर्थक रूप (९७२) के साथ इसके सभी प्रयोगों में : यथा—संहर्तुम् एकत्रित करने के लिए; अपिधातवे ढँकने के लिए; अवगन्तोस् उतरने का। द्विगुणित उदात्तीकृत तवै अंतवाला चतुर्थ्यन्तरूप अपना अंत्य उदात्त सुरक्षित रखता है, किंतु दूसरे को पीछे उपसर्ग पर ले आता है : यथा—अन्वेतवै पीछा करने के लिए; अपभरतवै ले जाने के लिए।

१०८६—धातु और उपसर्ग के बीच संयोग की संश्लिष्टता केवल इनके स्वर-ऐक्य से ही संकेतित नहीं होती है, अपितु संधि के नियमों (अर्थात् १८५, १९२) से भी, जिनके चलते दोनों के पारस्परिक अनुकूलन कुछ अंशों में ऐसे होते हैं मानो ये एकल शब्द के खंड हों।

१०८७—कुछ विशिष्ट अनियमितताएँ द्रष्टव्य हैं :

अ—उत्तरकालिक भाषाओं में अपि, अधि और अव कुछ धातुओं और उनके व्युत्पत्तिज के साथ कभी-कभी आदिस्वर को खो देती हैं : इस प्रकार—नह और धा के साथ अपि, स्था के साथ अधि, गाह् प्रभृति के साथ अव, यथा—

पिनद्ध, पिहित, धिष्ठित, वगाह्य, वतंस, वदान्य, वष्टभ्य, वमज्जन, वेक्षण, वलेपन। वेद में √(कृ) के साथ कुछ प्रयोगों में स्पष्टतः **निस्** के स्थान में **इष्** पाया जाता है।

आ—उपसर्ग का अंत्य स्वर, विशेष रूप से इ, (अत्यधिक समय प्राचीनतर भाषा में) कभी-कभी दीर्घीकृत होता है, विशेषतः व्युत्पत्तिज शब्दों में, उदा० **प्रतीकार, नीवृत्, परीहार, वीरुध्, अधीवास, अपीवृत, अभीवर्त, अनूरुध्, अवायती, प्रावृष्, उपावसु**। वेद में निषेधार्थक **अन्** के बाद **अनु** का आदि कभी-कभी दीर्घ कर दिया जाता है: यथा—**अनानुद, अनानुकृत्य**।

इ—√(इ) जाना के संयोग में **परा, परि** और **प्र** उपसर्ग कभी-कभी अपने र् को ल् में परिवर्तित करते हैं। इस ढंग से एक प्रकार की यौगिक प्रकृति **पलाय्** भागना बनायी जाती है जिसका रूप **अ-वर्ग** के अनुसार आत्मनेपद में चलता है, जो ब्राह्मणों से आरम्भ कर उत्तरकाल में असाधारण नहीं है, और जिसकी उत्पत्ति का बोध इस तरह लुप्त हो जाता है कि इससे पूर्व कभी-कभी पूर्वाश्लिष्ट आगम गृहीत होता है: यथा—**अपलायिष्ठास्** (शां० श्रौ० सू०), **अपलायत** (रामा०), **अपलायन्त** (महाभा०); इससे यौगिक परोक्ष **पलायां चक्रे** बनाया जाता है। प्रकृति **पल्यय्**, जिसका रूप उसी प्रकार चलता है, केवल एक या दो ग्रन्थों में मिलती है (श० ब्रा०, जै० ब्रा०, जै० उप० ब्रा०) तथा **प्लाय्** मै० सं० से अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हुआ है। **निलायत** (तै० सं०; तै० ब्रा०; पद-पाठ में अविभक्त) लङ् रूप और **निलयां** चक्रे (श० ब्रा०) परोक्षरूप भी निस्संदेह **निस्** से युक्त √(इ) से तुल्य रूपनिर्माण होते हैं, यद्यपि आकृति और अर्थ में प्रायः **√(ली)+नी** से बने रूपों के सवर्गी हैं। इसी प्रकार **परि** संयोग **पल्यङ्ग्** (श० ब्रा०, शां० श्रौ० सू०) में **पलि** हो जाता है, चाहे इसे नामधातु रूपनिर्माण-जैसा माना जाय अथवा **√(अङ्ग)+परि** जैसा। पुनः मै० सं० में एक बार **प्लाक्षारयन्** (३–१०–२, व्युत्पत्ति में) प्राप्त है।

ई—कृ बनाना धातु **सम्, परि, निस्** और **उप्** के बाद कभी-कभी आदि **स्** ग्रहण करती है (अथवा अपेक्षाकृत अधिक मौलिक परिस्थिति से सुरक्षित रखती है): यथा—**संस्कुरुते, समस्कुर्वन्, संस्कृत** इत्यादि; **परिष्कृण्वन्ति, परिष्कृत** इत्यादि; **निरस्कृत; उपस्कृत**। पुनः **अप** और **प्रति** के बाद कुछ परिस्थितियों में √(कृ) बिखेरना से उसी ढंग में **स्** का योग वैयाकरणों द्वारा विहित है (केवल **अपस्किरमाण, प्रतिचस्करे**, दोनों उत्तरकालिक, उद्धरणीय हैं)।

उ—**दा** देना और **दा** काटना धातुओं के कर्मवाच्य कृदन्तरूप में उपसर्ग के वाद वहुधा संक्षेपीकृत रूप **त्त** प्राप्त है—जिस उपसर्ग का अंत्य स्वर, यदि **इ** हो, दीर्घीकृत होता है (तुलनीय ९५५ ऊ, और **ति** अंतवाला व्युत्पत्तिज, नीचे, ११५७ इ)।

ऊ—कुछ विकीर्ण प्रयोगों में आगम उपसर्ग और धातु के बीच न आकर उपसर्ग से पूर्व गृहीत है : यथा—**अवषट्कार्षीत्** (गो० ब्रा०); **उदप्रपतत्** (ऐ० ब्रा०); **अन्वसंचरत्, प्रत्यसंहरत्, प्रत्यव्यूहत्, अन्ववीक्षेताम्, अप्रैषीत्, असम्भ्रमत्** (महाभा०); **अभ्यनिमन्त्रयत्** (हरि०); **व्यावस्थापि** (स० द० स०); **पलाय्** से वने रूप भी तुलनीय, ऊपर इ। पुनः ऐ० ब्रा० में एकवार **निनियोज** (**नियुयोज** के लिए, जैसा शां० श्रौ० सू० के अनुरूपी अवतरण में पठित) प्राप्त होता है। भाषा की स्पष्ट धातुओं में से कुछ धातु और उपसर्ग के तथाविध ऐक्य के परिणामस्वरूप मानी गई हैं : यथा—**आ + अप्** से **आप्, वि + अच्** से **व्यच्, अति + अज्** से **त्यज्**।

ए—उपसर्ग **उद्** के वाद—**स्था** और **स्तम्भ्** के आदि **स्** का लोप ऊपर देखा जा चुका है (२३३ इ) पुनः (१३७ अ, इ) धातु के आदिस्वर के साथ उपसर्ग के संयोग की कुछ विशिष्टताएँ दी गयी हैं।

१०८८—उपसर्गों के अपेक्षाकृत अधिक सामान्य क्रियाविशेषणात्मक प्रयोगों के लिए तथा उनके पूर्वसर्गात्मक प्रयोगों के लिए, देखिए, परवर्ती अध्याय।

१०८९—क्रियापदों के साथ **अ** या **अन्** निषेधमूलक, **दुस्** अशोभन और **सु** शोभन निपातों के संयोग के लिए, देखिए ११२१ आ, ए, ओ। क्रियाओं में **तराम्** और **तमाम्** तुलनार्थक और अतिशयार्थक प्रत्ययों के योग के लिए, देखिए ऊपर, ४७३ इ।

अन्य क्रिया-समास

१०९०—ऊपर यह कहा गया है कि पूर्वसर्गात्मक उपसर्गों में से कुछ धातुओं के वहुत कम वर्गों के साथ ही संयोग में प्रयुक्त किये जाते हैं, उदाहरणार्थ वे जिनका अर्थ उन्हें सहायक तथा यौगिक प्रयोगों में सर्वाधिक उपयुक्त वनाता है—यथा **कृ** वनाना, **भू** और **अस्** होना, **धा** रखना, **इ** जाना—तथा इनमें से प्रथम यौगिक क्रियारूप वनाने के लिए **आम्** अंतवाले पद के साथ संयोग में व्यापक रूप से प्रयुक्त हैं। इस प्रकार की धातुएँ भाषा के पूर्वतम काल से ही, किंतु वर्धमान पुनरावर्तन के साथ, संज्ञा विशेषण अथवा क्रियाविशेषणवाची अन्य रूपों के साथ यत्किंचित् तुल्य संयोगों में प्रयुक्त हुई हैं; और आंशिक रूप में यह

प्रयोग अन्ततोगत्वा क्रियार्थ-अभिव्यक्ति के साधनों की वृद्धि की नियमित और अनिश्चित रूप से विस्तरणीय विधि में विकसित हो गया है।

१०९१—अ–प्राचीनतर भाषा में **कृ** और **भू** धातुओं के साथ कतिपय (अधिकांशतः) साभ्यास अनुकरणात्मक संयोग प्राप्त हैं, जिनमें पूर्वाश्लिष्ट पद **आ** या **ई** अंतवाला (मुख्यतः प्रथम) होता है : यथा—ऋ० वे० में, **अक्खलीकृत्य** टरटर करता हुआ, **जञ्जनाभंवन्त्** गनगनाता हुआ, **अललाभंवन्त्** आनन्द लेता हुआ, **किकिराकृणु** अश्रु; अ० वे० में **मष्मषाऽकरम्** मैंने कुचल दिया है; वा० सं० में **मस्मसा** तै० सं० मी; मै० सं० **मृस्मृषा**) **कुरु**; तै० सं० में **मल्मलाभंवन्त्**; काठक० में, **मन्मलाभवन्त्, किक्किताकार**; मै० सं० में, **विबिबाभंवन्त्, भभंराऽभवत्** ऐ० ब्रा० में **बबबाकुर्वन्त्**। स्वरपात, जहाँ कहीं संकेतित है, सहवर्ती उपसर्गवाले क्रियारूपवाला-जैसा होता है।

आ—पुनः, √(कृ) के साथ यज्ञ में प्रयुक्त, और अधिकांशतः **आ** अंतवाले उच्चरणों के साथ संयोग : यथा—**स्वाहा, स्वधा, स्वगा; वंषट** भी। इनमें भी स्वरपात सामान्यतया सोपसर्ग क्रियावाला होता है : यथा—**स्वगाकरोति** (श० ब्रा०; किंतु **स्वधा करोति** [?] तै० आ०), **वषट्कुर्यात्** (मै० सं०); तथा अन्य उपसर्ग के साथ, **अनुवंषट्करोति** (श० ब्रा०)।

इ—इस प्रकार के संयोगों में समरूप वाले सामान्य शब्दों के या दो उदाहरण भी मिलते हैं : यथा—**शूला कुर्यात्** (श० ब्रा०), **शूल** (**शूंल**) पर भूनना चाहिए; **अनृणाकर्तोस्** (ऐ० ब्रा०) उऋण होने से; **ऐक्याभावयन्त्** (ऐ० आ०) मिलाते हुए।

१०९२—संज्ञा **नमस्**, प्रणाम, स्तुति, अपेक्षाकृत अधिक वास्तविक संज्ञार्थ में √(कृ) से संयुक्त होती है : वेद में केवल पूर्वकालिक क्रियारूप के साथ, **नमस्कृत्य** (साथ ही **हस्तगृह्य** और **कर्णगृह्य**, ऊपर ९९० आ)।

आ—√(इ) जाना के साथ एकमात्र संयोग द्वितीया विभक्तिरूप **अस्तम्** आश्रय में देखा जाता है, जो ऋ० वे० में केवल साधारण वाक्यांशों में आता है, किंतु अ० वे० कालवाची कृदन्तक्रियारूपों के साथ संयुक्त है—**अस्तंयन्त्, अस्तमेष्यन्त्**, (उपसर्ग के साधारण समासों के-जैसे स्वरपात के साथ)—तथा ब्राह्मणों और उत्तरकालिक भाषा में बिलकुल उपसर्ग की तरह विकसित हो गया है : यथा—**अस्तमेति** (श० ब्रा०)।

इ—**कृ** और **भू** के धातुज रूपों के संयोग में विशेषणों के अन्य साधारण द्वितीयाविभक्तिरूप यदा-कदा प्राचीनतर भाषा में पाये जाते हैं : यथा—**शतंकृत्य**

और नग्नंकृत्य (तै० सं०), नग्नभावुक, पामनम्भावुक, इत्यादि (तै० सं० प्रभृति); अनरुष्करोति (श० ब्रा०)।

१०९३—पूर्व, किंतु पूर्वतम नहीं, काल की भाषा में कृ या भू के साथ (और खूब विरले अस् के साथ) इस प्रकार संयुक्त होनेवाली संज्ञा-प्रकृति, प्रथमतः कृदन्तज संज्ञाओं और सामान्य व्युत्पत्तिओं में, और तदनन्तर क्रियारूपों में भी, (संदिग्ध उत्पत्तिवाली) नित्य अंत्य ई का ग्रहण करने लगती है।

अ—इसका कोई उदाहरण ऋ० वे० में उपलब्ध नहीं है, यदि अक्खलीकृत्य (ऊपर, १०९१ अ) के ई की तथाविध व्याख्या न की जाय। अ० वे० संदिग्ध वातीकृत और वातीकार को छोड़कर केवल फलींकरण प्राप्त है। ब्राह्मण भाषा में उदाहरण और अधिक मिलने लगते हैं : यथा—तै० सं० में, श्येतीं, मिथुनीं, मुष्टीं; तै० ब्रा० में, विशेषरूप से, फलीं, कूरीं, उद्वासीं; श० ब्रा० में इनमें से कुछ के अतिरिक्त अन्य उदाहरण भी एकी काल्वालीं, तीव्री दरिद्री, ब्राह्मणी, मिथुनीं, स्त्रीं; और अश्वाभिधानीं, जिसका (मुष्टीं की तरह) ई सामान्य व्याकरणिक रूपवाला हो सकता है; काठक० में द्वी; गो० ब्रा० में प्रवणी; षड्० ब्रा० में वज्री; ऐ० ब्रा० में मती (मत्य से)। उपनिषद् और सूत्र से द्वैती (मै० उप०), समी (कात्या० श्रौ० सू०) नवी, और कुशली (आश्व० गृ० सू०) इस सूची में जोड़े जा सकते हैं। स्वरपात सामान्यतया ऊपर वर्णित तुल्य संयोगों के-जैसा होता है (१०९१) यथा—कूरीकुर्वन्ती, स्त्रीकृत्य, ब्राह्मणीभूय, मिथुनीभवन्त्यौ, फलीकर्तवै, कूरीकृत; किंतु कभी-कभी मात्र संस्थिति प्राप्त होती है; यथा—मिथुनीं भवन्तीस् (तै० सं०), फलीं क्रियमाणानाम् (तै० ब्रा०), वज्रीभूत्वा (तै० आ०)। ई की प्रक्रिया विभिन्न होती है : कभी प्रगृह्य अंत्य की तरह, यथा श्येतीं अकुरुत और मिथुनीं अभवन् (तै० सं०); तो कभी साधारण परिवर्तन के साथ, यथा—मिथुन्यैनया स्याम्, मिथुन्याभिः स्याम्, और रुव्यंकुर्वत (श० ब्रा०)।

आ—इस प्रकार के आरम्भिकों से उत्तरकालिक भाषा में निम्नलिखित नियम होता है :

१०९४—√(कृ) और √(भू) धातुओं के (तथा √(अस्) के भी; किंतु इस प्रकार की स्थितियाँ अत्यधिक विरल हैं) क्रियारूपों अथवा कृदन्तरूपों के साथ उपसर्ग की तरह कोई संज्ञा या विशेषण प्रकृति संयुक्त की जा सकती है। यदि प्रकृति का अंत्य अ अथवा इ—स्वर हो, तो यह ई में परिवर्तित हो जाता है; यदि उ—स्वर, तो यह ऊ में परिवर्तित हो जाता है।

अ—उदाहरण हैं : **स्तम्भीभवति** स्तम्भ होता है; **एकचित्तीभूय** एक मन होकर; **उपहारीकरोषि** तू उपहार प्रस्तुत करता है; **नखप्रहारजर्जरीकृत** चंगुल की चोट से छिन्न-भिन्न कर; **शिथिलीभवन्ति** शिथिल होते हैं; **कुण्डलीकृत** कुण्डलाकार बनाकर; **सुरभीकृत** सुगन्धित किया हुआ; **आधीकरण** न्यास रखना; **ऋजूकृत्य** सीधा करके; **हेतूकरण** कारण बनाना। नामधातुओं के प्रयोग की तरह (१०५९ इ) यहाँ **अ**–प्रकृतियों के साथ संयोग अधिक बहुसंख्यक होते हैं, और बहुलता से उत्तरकालिक भाषा में (एक हजार से कम ही प्रायः उद्धरणीय हैं) मिलते हैं, किंतु अधिकांशतः प्रत्येक केवल एक या दो से; **इ**– और **उ**–प्रकृतियों के साथ बने खूब अल्पसंख्यक होते हैं। कुछ अवस्थाओं में **अन्** और **अस्** अंतवाली प्रकृतियाँ **ई** में इन अंत्यों के परिवर्तन के साथ प्राप्त होती हैं : उदा० **आत्मी-कृ युवी-भू; उन्मनीकृ, अमनी-भू;** व्यंजन के बाद अन्त्य **य** का सम्प्रासरण **ई** में होता है : यथा—**कांसी-कृ,**; तथा **कांदिशी-भू**-जैसे अनियमित प्रयोग मिलते हैं। अंत्य **ऋ** का परिवर्तन **रि** में होना विहित है, किंतु कोई उदाहरण उद्धरणीय नहीं हैं। **भू** के साथ संयोगों की अपेक्षा **कृ** के साथ वाले संयोग प्रायः दुगने से अधिक होते हैं, तथा **अस्** वाले उदाहरण देखने को नहीं मिलते हैं।

आ—इस प्रकार के संयोग संदिग्ध अथवा बिलकुल अस्पष्ट प्रकृतिवाले तत्वों के साथ यदा-कदा बनाये जाते हैं : **उररीकृ, उरीकृ**।

इ—संयुक्त संज्ञा-प्रकृति के अंत्य-जैसे **आ** के उदाहरण उत्तरकालिक भाषा में सर्वथा अप्राप्त नहीं हैं (तुल० १०९१) : यथा—**दुःखा-कृ, निष्कुलाकृ, शम्बा-कृ** तथा एक या दो अन्य उदाहरण।

१०९५—सभी रूपों में जो धातुज प्रक्रिया का निर्माण करते हैं अथवा जो उनसे संबद्ध हैं, कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप संश्लिष्य तत्त्व-जैसा अपनी प्रक्रिया में सर्वाधिक घनिष्ठ रूप से सामान्य विशेषण के समीकृत है। इसके बाद पूर्वकालिक क्रियारूप और भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप आते हैं। ऊपर निरूपित स्वरूप वाले संयोग कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूपों और पूर्वकालिक क्रियारूपों के साथ खूब सामान्य हैं।

अध्याय—१६

अव्यय

१०९६—संस्कृत में अव्यय शब्द स्वतंत्र शब्द-भेदों में अपेक्षाकृत कम स्पष्ट ढंग से विभक्त हैं जितना कि सामान्यतः भारत यूरोपीय में अन्यत्र—विशेपरूप से इस तथ्य के कारण कि पूर्वसर्गों का वर्ग शायद ही यथार्थ अस्तित्व रखता है, अपितु इसका प्रतिनिधित्व कुछ क्रियाविशेषणात्मक शब्द करते हैं जो अल्पाधिक मात्रा में पूर्वसर्ग की तरह प्रयुक्त होते हैं। तथापि, ये संक्षेप में यहाँ सामान्य शीर्पकों के अन्तर्गत वर्णित होंगे।

क्रियाविशेषण

१०९७—**अंत्य प्रत्ययों द्वारा क्रियाविशेषण।** क्रियाविशेपणों के वर्ग, कभी-कभी वड़ी संख्या में, विशेप रूप से सार्वनामिक प्रकृतियों में, किंतु संज्ञा और विशेपण प्रकृतियों में भी, क्रियाविशेषणात्मक अंत्य प्रत्ययों के योग द्वारा वनाये जाते हैं।

अ—इस प्रकार के अंत्य प्रत्ययों तथा शब्दरूप वाले विभक्तिचिह्नों के वीच किसी प्रकार का परमार्थक भेद नहीं होता है; तथा इस विभाग के क्रियाविशेपण कभी-कभी कारक-रूपों की तरह प्रयुक्त होते हैं।

१०९८—**तस्** प्रत्यय के साथ अपादानार्थ वाले क्रियाविशेपण वनाये जाते हैं, और अविरले ये अपादानात्मक रचना भी रखते हैं। ऐसे रूप वने हैं :

अ—सार्वनामिक प्रातिपदिकों से, **अ॑तस्**, **इ॒तस्**, **त॑तस्**, **य॑तस्**, **कु॑तस्**, **अमु॑तस्**, **स्वतस्** (पूर्वतर काल में अप्राप्त) में; पुरुपवाची सर्वनामों की **त्** या **द्** अंतवाली सार्वनामिक प्रकृतियों से (४९४) : यथा—**मत्त॑स्** (एकमात्र उदाहरण वे० में), **त्वत्तस्**, **अस्मत्तस्**, **युष्मत्तस्**; तथा सार्वनामिक व्युत्पत्तिजों से : यथा—**इतर॑तस्**, **कतर॑तस्**।

अ—प्रत्येक वर्ग की संज्ञा और विशेपण-प्रकृतियों से, पूर्वतम काल से ही, किंतु अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र रूप से उत्तरकाल में प्राप्त हैं : उदा० **मुखत॑स्**, **अग्रत॑स्**, **ऋभुत॑स्**, **ऋक्त॑स्**, **हृत्त॑स्**, **शीर्पत॑स्**, **जन्मत॑स्**, **नरत॑स्**, **यजुष्टस्**, **पार॑तस्**, **अन्य॑तस्**; **अन्यतर॑तस्**, **सर्व॑तस्**, **दक्षिणत॑स्**, **अभीपत्तस्** (एक वार ऋ० वे० में, विभक्तिरूप से : **पत्सुत॑स्**)।

इ—कुछ पूर्वसर्गों से : यथा—अभितस्, परितस्, अन्तितस्।

उ—पंचमी प्रयोग के उदाहरण हैं : अतो भूयः (ऋ० वे०) इससे अधिक; ततः षष्ठात् (ऋ० वे०) उस छठे से; अतोऽन्येन (श० ब्रा०) इससे भिन्न किसी से; सर्वतो भयात् (आ० गृ० सू०) सभी प्रकार के भय से; कुतश्चिद् देशादागत्य (हितो०) किसी एक स्थान से आकर; पुरादितः (रामा०) इस नगर से; तस्मात् प्रेतकायतः (कथा स० सा०) उस मृत-शरीर से।

ऊ—किंतु स्पष्ट अपादानार्थ बहुधा मिटा रहता है, और क्रियाविशेषण विशेष रूप से अपेक्षाकृत अधिक सामान्य आधारार्थ बनाये रखता है : यथा—अग्रतस् आगे; अस्मत्समीपतः, हमारे सामने; धर्मतस्, धर्मानुरूप; छागतस (हितो०) बकरे को लेकर; गुणतोऽधिकः (मनु०) गुण में अधिक।

१०९९—त्र (प्राचीनतर भाषा में बहुधा त्रा) प्रत्यय द्वारा सप्तम्यर्थ वाले, और यदा-कदा सप्तमीरूप वाले भी, क्रिया विशेषण बनाये जाते हैं।

अ—ये क्रियाविशेषण तस् अंतवालों की तुलना में बहुत कम हैं। ये मुख्यतः सार्वनामिक प्रातिपदिकों तथा अर्धसर्वनाम प्रकृतिवाले अन्य प्रातिपदिकों से बनाये जाते हैं : यथा—त्र अंतवाले अत्र, तत्र, यत्र, कुत्र, अमुत्र, अन्यत्र विश्वत्र, सर्वत्र, उभयत्र, अपरत्र, उत्तरत्र, इतरत्र, अन्यतरत्र, पूर्वत्र, परत्र, समानत्र, एकत्र, अनेकत्र, एकैकत्र; त्रा अंतवाले अस्मत्रा, सत्रा, पुरुत्रा, बहुत्रा, दक्षिणत्रा। किंतु कुछ त्रा अंतवाले साधारण संज्ञाओं से मिलते हैं : यथा—देवत्रा, मर्त्यत्रा, पुरुषत्रा, मनुष्यत्रा, पाकत्रा, शयुत्रा, कुरु-पञ्चालत्रा। त्रा अंतवाले अपने उदात्त द्वारा दूसरों से भिन्न होते हैं।

आ—अधिकरणात्मक रचना के उदाहरण होते हैं : हस्त आ दक्षिणत्रा (ऋ० वे०) दाहिने हाथ में; यत्राऽधि (ऋ० वे०) जिसमें; एकत्र पुरुषे (महाभा०) एक ही पुरुष में; अत्र मारात्मके (हितो०) इस हिंसक जीव में; प्रभुत्वं तत्र युज्यते (हितो०) प्रभुत्व उसमें फबता है। पुनः चूँकि सप्तमी = विभक्तिरूप गति के लक्ष्य को द्योतित करने में भी प्रयुक्त होता है (३०४), इसलिए त्र अंतवाले क्रियाविशेषणों में द्वितीया एवं सप्तमी की प्रयोगिता भी प्राप्त हैं : यथा—तत्र गच्छ वहाँ अथवा उधर जाओ; पथो देवत्रा यानान् (ऋ० वे०) देवताओं के पास जाने वाले मार्ग।

११००—स्थानवाची एक या दो अन्य प्रत्यय होते हैं :—

अ—ह, इह यहाँ, कुह कहाँ ? तथा वैदिक विश्वह (विश्वहा, विश्वाहा भी) सर्वदा (तुलनीय नीचे, ११०४ आ); और इह (अत्र प्रभृति की तरह; १०९९ आ) यदा-कदा अधिकरण कारकत्व के साथ प्रयुक्त होता है : उदा० इह समये (हितो०) इस अवसर में।

आ—तात्, जो प्रथमतः स्थान अथवा दिशावाची शब्दों में युक्त किया जाता है : यथा—क्रियाविशेषणीभूत द्वितीया विभक्तिरूपों में, प्राक्तात्, उदक्तात्, तावत्तात्; क्रियाविशेषणीभूत पंचमी विभक्तिरूपों में, आरात्तात् उत्तरात्तात्, पराकात्तात्; तथा पूर्वसर्गात्मक क्रियाविशेषणों में, पश्चात्तात्, अधस्तात्, अवस्तात्; परस्तात्, पुरस्तात्, बहिष्टात्। स्पष्टतः इन अंतिम तीन रूपों के सादृश्य से प्रत्यय का रूप स्तात् उपरिष्टात् (और भाग० पु० उदस्तात्) में प्राप्त होता है।

इ—हि, उत्तराहि (श० ब्रा०) और दक्षिणाहि (अनुद्धरणीय)।

११०१—प्रत्यय था द्वारा प्रकारवाची क्रियाविशेषण, विशेषतः सार्वनामिक मूलों अथवा प्रकृतियों से बनाये जाते हैं।

अ—इस प्रकार, तथा, यथा, कथा और इत्था (जिनके साथ-साथ कथम् और इत्थम् मिलते हैं, और श० ब्रा० में इत्थात् प्राप्त है); तथा विरल प्रयोग इमथा और अमुथा। पुनः अथ (वे० अथा भी) तदनंतर, निस्संदेह इनकी कोटि में आती है। इनके अतिरिक्त कुछ विशेषण और संज्ञा-प्रातिपदिकों से, जो अधिकांशतः अर्ध-सर्वनाम प्रकृति वाले हैं : यथा—विश्वथा, सर्वथा, अन्यथा, उभयथा, अपरथा, इतरथा, यतरथा, यतमथा, कतरथा, कतमथा, पूर्वथा, प्रत्नथा, ऊर्ध्वथा, तिरश्चथा, एकथा (जै० ब्रा०), ऋतुथा, नामथा (एक बार, अ० वे०); और एवथा।

आ—यथा वेद में साधारणतः उदात्तरहित हो जाता है, जब यह इवार्थ में उपमानवाची संज्ञा के बाद प्रयुक्त हो : यथा—तायवो यथा (ऋ० वे०) चोरों के समान।

११०२—प्रकार के एक या दो अन्य प्रत्यय हैं :

अ—ति, इति इस प्रकार, जो पूर्वतम काल से ही, विशेषणतः उद्धरण के निपात के रूप में, उद्धृत शब्दों के बाद खूब सामान्य ढंग से प्रयुक्त है।

आ—उदाहरण होते हैं : ब्रह्मजायेऽयम् इति चेदवोचन् (ऋ० वे०) यदि उन्होंने कहा है 'यह ब्राह्मण की पत्नी है'; तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किंनु तिष्ठसीति (अ० वे०) देवों ने उसे कहा 'व्रात्य, तुम क्यों खड़े हो ?' बहुधा,

इति अपेक्षाकृत अधिक लाक्षणिक ढंग से प्रयुक्त होता है : यथा—**यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति** (अ० वे०) जो कोई विश्वास करता है कि देव हैं; **तं व्याघ्रम् मुनिर्मूषिकोऽयमिति पश्यति** (हितो०) मुनि उस बाघ को उसी प्रकार देखता है कि यह सचमुच चूहों; **यूयं किमति सीदथ** (हितो०) क्यों (शाब्दिक कौन कारण देकर) तुम बैठे हो ?

इ—किंतु **इति** अपेक्षाकृत कम विशिष्ट ढंग से अनुकृति को सूचित करने में इंगित को द्योतित करने में यदा-कदा प्रयुक्त होता है : उदाहरणार्थ, **बर्हिष्टे अस्तु बाल इति** (अ० वे०) वल्ल के साथ यह तुममें से निकल पड़े; **इत्यग्रे कृषत्यथेति** (श० ब्रा०) वह पहले इस तरह जोतता है, तब इस तरह; अथवा यह वक्ष्यमाण का पूर्वनिर्देश करता है; उदा० **यन्न्वित्याहुरन्यानि छन्दांसि छन्दांसि वर्षीयांसि कस्माद् बृहत्युच्यत इति** (पं० ब्रा०) जब वे अब इस प्रकार कहते हैं : अन्य छन्द बड़े हैं, क्यों बृहती कही जाती है ?' यह कतिपय व्युत्पत्तिजों और सामासिकों का निर्माण भी करता है : उदाहरणस्वरूप, **इतिथ** इतनी बार, **इतिवत्** इस रूप में; **इत्यर्थम्** इसलिए; **इतिहास** कथा अथवा पुराण (शाब्दिक० वस्तुतः इस प्रकार यह हुआ)। द्वितीयविभक्ति के विधेय के रूप में **इति** के साथ प्रथमाविभक्तिरूप के प्रयोग के लिए द्रष्टव्य २६८ आ।

इ—**इ॑ति** के प्रत्यय के साथ **त॑ति** प्रभृति वाला (५१९) तुलनीय है। श० ब्रा० में दो या तीन वार शब्द **ति** में संक्षेपीकृत है।

ई—**इव** (उदात्तरहित) तुल्य, तरह और **एव॑** (वे० में बहुधा **एवा॑**), पूर्वतरकाल में इस प्रकार, उत्तरकाल में पूर्ववर्ती पद का प्रवलार्थक निपात—इन दोनों का **व** ; 'इस प्रकार' के लिए उत्तरकाल में सजातीय **एव॑म्** प्रयुक्त है जो ऋ० वे० में शायद ही मिलता है, और अ० वे० में केवल √(**विद्**) के साथ : यथा—**एवं॑ विद्वान्** इस प्रकार जान कर।

उ—उत्तरकालिक वैदिक (अ० वे० प्रभृति, तथा ऋ० वे० के उत्तरकालिक खंडों में) ग्रंथों में **इव** की गणना अपेक्षाकृत अधिक समय केवल एकाक्षर **व** की तरह होती है।

११०३—अ–**दा** प्रत्यय द्वारा कालवाची क्रियाविशेषण बनाये जाते हैं, किंतु प्रायः केवल सार्वनामिक मूलों से।

आ—इस प्रकार, **तदा॑, यदा॑, कदा॑,** (ऋ० वे० में **क॑दा** भी), **इदा॑** (केवल वे० में); और **स॑दा,** इसके अतिरिक्त पूर्वतररूप **स॑दम्** पाया जाता है। इनके अतिरिक्त, प्राचीनतर भाषा में केवल **सर्व॑दा;** उत्तरकाल में कुछ

दूसरे, **अन्यदा**, **एकदा**, **नित्यदा**। अर्घ-समम्यर्थ कारक यदा-कदा **कदाचिद् दिवसे** (रामा०) किसी दिन, जैसे वाक्यांशों में देखा जाता है।

इ—प्रायः सजातीय **दानीम्** से **इदानीम्**, **तदानीम्**, **विश्वदानीम्**, **त्वदानीम्** (उदात्त रहित) बनाये जाते हैं। **विश्वदानी** तै० ब्रा० में विशेषण-जैसा आता है।

ई—**र्हि** द्वारा सार्वनामिक मूलों से **तर्हि**, **एतर्हि**, **यर्हि**, **कर्हि**, **अमुर्हि** बनाये जाते हैं।

उ—प्रत्यय **दि**, जो केवल **यदि** अगर में प्राप्त है, आकृति और अर्थ दोनों दृष्टियों से संभवतः **दा** का सजातीय है। **सदर्दि** (मै० सं०) संदिग्ध प्रकृति वाला होता है।

११०४—**धा** प्रत्यय द्वारा गुना, वार, ढंग प्रभृति अर्थ वाले क्रियाविशेषण विशेष रूप से संख्यावाची शब्दों से बनाये जाते हैं।

अ—इस प्रकार, **एकधा**, **द्विधा** (**द्विधा** और **द्वेधा** भी), **त्रिधा** (प्राचीनतर भाषा में साधारणतया **त्रेधा**), **षड्ढा** (**षोढा** और **षड्धा** भी), **द्वादशधा**, **एकान्नविंशतिधा**, **सहस्रधा**, इत्यादि। पुनः इसी प्रकार अर्ध-संख्यात्मक प्रकृति वाले शब्दों से, यथा—**अनेकधा**, **कतिधा**, **ततिधा**, **बहुधा**, **पुरुधा**, **विश्वधा**, **शश्वधा**; **अपरिमितधा** **यावद्धा**, **एतावद्धा**, **मासधा**। बहुत कम स्थलों में सामान्य संज्ञा और विशेषण प्रातिपदिकों से भी : यथा—**मित्रधा** (अ० वे०) **प्रियधा** (तै० सं०; **प्रेधा** मै० सं०), **ऋजुधा** (तै० ब्रा०), **उरुधा** और **चित्रधा** (भाग० पु०); तथा एक क्रिया विशेषण से, **बहिर्धा**।

आ—निपात **अध** या **अधा**, **अथ** का वैदिक समरूप, संभवतः इसी कोटि में आता है (ह्रस्वीकृत अंत्य के साथ **पुरुध** और **विश्वध** एकाधिक वार ऋ० वे० मिलते हैं); **अद्धा**, वस्तुतः, भी, और संभवतः **सह**, साथ, जिसका वैदिक समरूप **सध**–कतिपय वैदिक सामासिक पदों में प्राप्त है। पुनः ह अंतवाले अन्य क्रियाविशेषण (११०० अ) इसी प्रकार की उत्पत्ति के हो सकते हैं।

११०५— कुछ संख्यावाची शब्दों से **स** के साथ गुणनवाची क्रियाविशेषण बनाये जाते हैं : यथा—**द्विस्**, **त्रिस्** **चतुर्** (संभवतः **चतुर्स्** के लिए) : ८०९ अ।

अ—एक बार के लिए समानन्तर शब्द, **सकृत्**, व्युत्पत्तिज की अपेक्षा सामासिक ही है; तथा इसी प्रकार की प्रकृति अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से **पंचकृत्वस्**, **नवकृत्वस**, **अपरिमितकृत्वस्** प्रभृति में होती है, यद्यपि **कृत्** और **कृत्वस्** को देशी वैयाकरण प्रत्यय मानते हैं; पूर्वतर काल के ग्रंथों में

(अ० वे०, श० ब्रा०, मै० सं०) **सप्तकृत्वस्**, **दशकृत्वस्**, **द्वादश कृत्वस्** **अष्टावेव कृत्वस्** प्रभृति प्राप्त होते हैं। ऐ० ब्रा० में अतिरिक्त संयोग **त्रिष्कृत्वः** मिलता है।

आ—**दिव्** दिन, के विभक्तिरूप से प्राप्त अर्ध-प्रत्यय **द्युस्** इसी ढंग से विभिन्न निर्धारक शब्दों में, जो सामान्यतया **ए** अंतवाले कर दिये जाते हैं, युक्त किया जाता है: यथा—**अन्येद्युस्** दूसरे दिन, **उभयेद्युस्** (अ० वे०—**यद्युस्**) किसी एक दिन, **पूर्वेद्युस्** पिछले दिन।

११०६—**शस्** प्रत्यय द्वारा विशेष रूप से संख्यावाची या परिमाणवाची प्रकृतियों से परिमाण या माप अथवा प्रकारबोधक कतिपय क्रियाविशेषण बनाये जाते हैं जो सामान्यतया विभाजकी रूप में प्रयुक्त हैं।

अ—उदाहरण हैं: **एकशस्** एक के बाद एक **शतशस्** सौ बार; **ऋतुशस्** प्रत्येक ऋतु, **पच्छस्** पद-पद पर, **अक्षरशस्** प्रत्येक अक्षर, **गणशस्** गणों में, **स्तम्बशस्** गुच्छों में, **परुश्शस्** अंग-अंग में, **तावच्छस्** इतनी संख्या अथवा इतने परिमाण में; और अपेक्षाकृत अधिक सामान्य ढंग से, **सर्वशस्** पूर्णतः, **मुख्यशस्** मुख्य रूप में, **कृच्छ्रशस्** कठिनता से; **मन्मशस्** ध्यान देकर।

११०७—**वत्** प्रत्यय द्वारा भाषा के प्रत्येक काल में बड़ी उन्मुक्तता से ढंग, तुल्य प्रभृति अर्थवाले क्रियाविशेषण बनाये जाते हैं।

अ—इस प्रकार, **अङ्गिरस्वत्** अङ्गिरस् की तरह, **मनुष्वत्** (ऋ० वे०)-जैसा मनु ने किया, **जमदग्निवत्** जमदग्नि के ढंग से; **पूर्ववत्** अथवा **प्रत्नवत्** अथवा **पुराणवत्** पुराने के-जैसा, **काकतालीयवत्** कौए और ताल के फल के न्याय से।

आ—वस्तुतः यह **वन्त्** प्रत्यय (१२३३ ऊ) का क्रियाविशेषणवत् प्रयुक्त द्वितीयाविभक्तिरूप (क्रियाविशेषण वाले उदात्त-स्थानान्तरण के साथ: नीचे ११११ ए) है जो वेद में उसी प्रकार के अर्थ वाले कुछ विशेषण समासों को बनाता है: यथा—**त्वावन्त्** तेरे समान, **मावन्त्** मेरी तरह, प्रभृति।

११०८—संज्ञाओं में **सात्** प्रत्यय लगाकर अर्ध-क्रियाविशेषण बनाये जाते हैं: जो संज्ञा द्वारा व्यक्त की स्थिति अथवा प्राप्ति के अर्थ को द्योतित करते हैं, ये होना, हो जाना और बनना क्रियाओं के साथ ही प्रयुक्त होते हैं: उदाहरण-स्वरूप, अत्यधिक समय **कृ** और **भू**, किंतु **अस्**, **गम्**, **या** और **नी** (और वैयाकरणों के अनुसार, **सम्पद्**)। उत्तरकालिक साहित्य से लगभग पचीस उदाहरण उद्धरणीय हैं; किंतु पूर्वतरकालिक से कोई नहीं, जहाँ ऐसा

कुछ प्राप्त नहीं है जिससे रूपनिर्माण की उत्पत्ति को लेकर आलोक मिल सके। **सात्** के **स्** का परिवर्तन **ष** में संभवतः नहीं है। क्रिया के साथ संयोग इतना घनिष्ठ नहीं होता है कि **त्वा** अंतवाले पूर्वकालिक क्रिया के लिए (९९०) **य** अन्तवाले रूप का प्रयोग किया जाय; तथा दूसरे शब्द कभी-कभी संज्ञा और क्रिया के बीच रखे जाते हैं।

अ—उदाहरण हैं : **सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते** (महाभा०) सभी कर्मों को मिट्टी में मिला देता है; **लोकोऽयं दस्युसाद् भवेत्** (महाभा०) यह संसार दुष्टों का शिकार हो जायगा; **यस्य ब्राह्मणसात् सर्वं वित्तमासीत्** (महाभा०) जिसकी सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों को दी गयी; **नियतं भस्मसाद् याति** (हरि०) यह निश्चित रूप से भस्मसात् कर दिया जाता है; **अग्नीन् आत्मसात् कृत्वा** (याज्ञ०) अग्निदेवों को अपनाकर।

११०९—अ–कुछ दूसरे क्रियाविशेषणों में अल्पाधिक स्पष्टता के साथ प्रत्यय अवधारित किये जा सकते हैं जो संज्ञा प्रत्ययविधान अथवा रूपविधान के नहीं होते। इस प्रकार उदाहरणार्थ—**प्रातर्** सवेरे और **सनुतर्** दूर; **दक्षिणित्** दाहिने हाथ से और **चिकित्वित्** विवेक से; **नूनम्** अब, और **नानानम्** विभिन्न रूप से। किंतु ये रूप मुख्यतः इतने विरल और संदिग्ध होते हैं कि यहाँ आलोच्य नहीं हो सकते।

आ—रामा० महाभा० में क्रियाविशेषणों का एक छोटा वर्ग (लगभग एक दर्जन के उद्धरणीय हैं) प्राप्त होने लगता है जो द्विरुक्त संज्ञाप्रकृति का रूप प्राप्त है जहाँ प्रथम प्रयोग **आ** अंतवाला होता है और द्वितीय **इ** अंतवाला : उदाहरणार्थ—**हस्ताहस्ति** हाथों-हाथ, **रथारथि** एक रथ के विरुद्ध दूसरा रथ; **कर्णाकर्णि** कानों-कान।

इ—उपर्युक्त क्रियाविशेषण पूर्वसर्ग के रूप में प्रायः कभी प्रयुक्त नहीं होते हैं। किंतु परवर्ती विभाग वाले अनेक स्थलों में तथाविध प्रयुक्त हैं।

१११०—**क्रियाविशेषणों के रूप में सविभक्तिक-रूप**। क्रियाविशेषणों में से अधिकांश अल्पाधिक स्पष्ट रूप से आकृति लेकर प्रकृतियों से बने विभक्ति-रूप हैं जो अन्यथा प्रयोग में अप्राप्त हैं। या पुनः ज्ञात-प्रकृतियों के कतिपय रूप, सार्वनामिक या नामिक या विशेषणिक, क्रियाविशेषणार्थ के साथ प्रयुक्त होते हैं, वास्तविक विभक्तिरूपों से प्रयोग की विशेष भिन्नता से पृथक् होता है जिसके साथ रूप की अनियमितता कभी-कभी रहती है।

११११—द्वितीया-विभक्तिरूप क्रियाविशेषण की तरह सर्वाधिक बाहुल्य से और व्यापक रूप से प्रयुक्त होता है। इस प्रकार—

अ—सार्वनामिक प्रातिपदिकों से : यथा—**यद्** अगर, जब कि प्रभृति; **तद्** तब प्रभृति; **किम्** क्यों, क्या इत्यादि; **इदम्** अब, यहाँ; **अदस्** सामने इत्यादि। स्पष्टतः, इसी प्रकार की प्रयोगिता के साथ (अधिकांशतः वैदिक) निपात होते हैं—**कद्**, **कम्** और कम् (?), **इद्**, **चिद्** (प्रत्येक काल में प्रचलित हैं), **स्मद्** और **सुमद्**, **ईम्** और **सीम्** (कुछ की दृष्टि में सर्वनामार्थ से युक्त ही), **कीम्**। **इद्** वाले संयुक्तपद **चेद्** यदि, **नेद्** नहीं तो, **एद्**, **स्विद्**, **कुविद्** होते हैं; चिद् वाला **कुचिद्**; **कीम्** वाले **नकीम्** और **माकीम्**, तथा **आकीम्**।

आ—नामिक प्रातिपदिकों से : यथा—**नाम** नाम से; **सुखम्** सुखपूर्वक; **कामम्** इच्छानुसार, यदि आप चाहें; **नक्तम्** रात में; **रहस्** गुप्त रूप से; **ओषम्** शीघ्रता से (वे०); इत्यादि।

इ—विशेषण प्रातिपदिकों से, अपरिमित संख्या में : यथा—**सत्यम्** सचमुच, **चिरम्** बहुत समय तक; **पूर्वम्** पहले; **नित्यम्** लगातार; **भूयस्** और अधिक, फिर; **विश्रब्धम्** विश्वस्त होकर; **प्रकाशम्** प्रकट रूप में; इत्यादि।

ई—नपुंसक एकवचन ऐसा रूप है जो इस ढंग से साधारणतया व्यवहृत है; तथा यह विशेषतः संयुक्त विशेषण-प्रकृतियों में से अनेक से निर्मित-जैसा उस रूप में प्रयुक्त होता है, बहुधा ऐसी प्रकृतियों से जो शायद ही विशेषणार्थ में मिलती हैं, अथवा जो सर्वथा अज्ञात हैं। इन क्रियाविशेषण-समासों में से कुछ, जिनका पूर्वपद अव्यय है, भारतीय वैयाकरणों द्वारा समासों का एक विशिष्ट वर्ग माने गये हैं, जिसे **अव्ययीभाव** (१३१३) कहते हैं।

उ—किंतु स्त्रीलिंग एकवचन भी यदा-कदा प्रयुक्त होता है, विशेष रूप **तराम्** और **तमाम्**, तथाकथित तुलनार्थक क्रियाविशेषण प्रत्ययों में, जो कि निपातों में (तुल० १११९), तथा क्रियारूपों के साथ (४७३ इ) जोड़े जाते हैं : उदा० **नतराम्**, **कथंतराम्**, **उच्चैस्तराम्**, **शनैस्तराम्**, **ज्योक्तमाम्**। प्राचीनतम भाषा (ऋ० वे० और अ० वे०) में इन प्रत्ययों के स्त्रीलिंग रूप के स्थान पर नपुंसक ही प्रायः प्रयोग में मिलता है, देखिये १११९।

ऊ—संदिग्ध रूप अथवा संयोग के अनेक क्रियाविशेषण आर्ष संज्ञा अथवा विशेषण प्रकृतियों के द्वितीय विभक्तिरूपों की तरह संभवतः व्याख्यात हैं। उदाहरण हैं : **तूष्णीम्** चुपचाप; **सायम्** संध्या में; **साकम्** एक साथ, से (पूर्वसर्ग); **अरम्** या **अलम्** पर्याप्त (उत्तरकालिक भाषा में √(कृ) के साथ उपसर्ग के ढंग से प्रयुक्त है : १०७८ अ); **प्रायस्** प्रायः; **ईषत्** यत्किञ्चित्; **अम्नस्** अप्रत्याशित रूप से; **बहिस्** बाहर; **मिथु** और **मिथस्**, **मुहु** और

मुहुस्, **जातु**, इत्यादि। **मद्रिक्** प्रभृति और **निर्णिक्** (ऋ० वे०) संभवतः उन विशेषणों के संकुचित रूप हैं जिनका अन्त्य √(**अच्**) या **आञ्च्** (४०७ मु० वि०) है। उत्तरपदों के रूप में अन्य धातुओं की प्राप्ति **उशधक्**, **आनुषक्** और **आयुषक्**, **अनुष्ठु** और **सुष्ठु**, **युगपत्** प्रभृति के लिए भी संभव है। आ अंतवाले रूपों के अतिरिक्त **अम्** अंतवाले भी तुलनीय, ऊपर, ११०१ अ, ११०२ उ, ११०३ आ।

ए—(वैदिक) **द्रवत्** शीघ्रता से, में, क्रियाविशेषणीभूत प्रयोग के लिए उदात्तस्वर का परिवर्तन (वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप **द्रवन्त्** दौड़ता हुआ) द्रष्टव्य है; **द्रह्यत्** दृढ़ता से (ऋ० वे०, एक बार) अन्य उदाहरण हो सकता है, तरवर्थक और तमवर्थक प्रत्ययों में (ऊपर, उ) इसी प्रकार का परिवर्तन देखा जाता है; और **वत्** वाले शब्दों में भी यह मानना अपेक्षित है (११०७)।

१११२—तृतीया-विभक्तिरूप भी क्रियाविशेषणार्थ के साथ बहुधा प्रयुक्त है : सामान्यतया एकवचन में, किंतु यदा-कदा बहुवचन में भी।

अ—सार्वनामिक प्रातिपदिकों के : यथा **एना** और **अया**, **कया**, **अना**, **अमा**, **अमुया**।

आ—संज्ञा-प्रातिपदिकों के : यथा—**क्षणेन** तुरंत; **अशेषेण** पूरी तरह; **विशेषेण** विशेष रूप से; **दिवा** दिन में; **दिष्टया** सौभाग्य से, **सहसा** अचानक; **अक्तुभिस्** रात में; इत्यादि।

इ—विशेषणों के, नपुंसक (पुंलिंग से अभिन्न) और स्त्रीलिंग दोनों ही : यथा—**अखिलेन** पूर्णरूप से; **प्रायेण** प्रायः; **दक्षिणेन** दक्षिण की ओर; **उत्तरेण** उत्तर की ओर; **अन्तरेण** भीतर; **चिरेण** बहुत देर; —**शनैः** और **शनकैः** धीरे; **उच्चैस्** ऊँचे; **नीचैस्** नीचे; **पराचैस्** दूर; **तविषीभिस्** बलपूर्वक; इत्यादि।

ई—अधिक संदिग्ध प्रयोग, अधिकांशतः प्राचीनतर भाषा से, यों उदाहृत किये जा सकते हैं : **तिरश्चता**, **देवता**, **बाहुता**, और **सस्वरता** (सब ऋ० वे०), ता अंतवाली संज्ञाओं से समदिक् तृतीया विभक्तिरूप; **द्विता**, **तादीत्ना**, **ईर्मा**, **मृषा**, **वृथा**, **सचा**, **अस्था** (?), **मुधा** (वे० नहीं), **अधुना** (ब्रा०, और उत्तरकालिक)।

उ—क्रियाविशेषणवत् प्रयुक्त तृतीयाविभक्तिरूप अन्य किसी स्थल की अपेक्षा अधिक समय सहज तृतीयाविभक्तिरूपों से आकृति की विभिन्नताओं को लेकर भिन्न होते हैं : इस प्रकार, विशेषतः अनियमित स्वरपात के चलते : यथा-**अमा** और **दिवा** (ऊपर निर्दिष्ट); संभवतः **गुहा**; **अपाका**, **आसया**; **कुहया**

(?) ; नक्तया, स्वप्नया, समना, अदत्रया, ऋतया, उभया, सुम्नया (?) दक्षिणा, मध्या; नीचा, प्राचा, उच्चा, पश्चा, तिरश्चा; वसन्ता; कुछ उकारान्त प्रातिपादिकों में विभक्तिचिह्न के पूर्व य् न्यस्त होता है जो उदात्तयुक्त है : यथा—अमुया (उपर्युक्त), आशुया, साधुया, रघुया, धृष्णुया, अनुष्ठुया, मिथुया :—और उर्विया (उर्व्या) और विश्वया (यथार्थतः विश्वया) अपेक्षाकृत किंचित् अनियमित होते हैं।

१११३—चतुर्थीविभक्तिरूप में क्रियाविशेषणवत् प्रयोग बहुत कम प्राप्त है।

अ—उदाहरण होते हैं—अपराय भविष्य के लिए (ऋ० वे०; परिवर्तित स्वरपात के साथ); चिराय देर तक; अर्थाय वास्ते; अह्नाय तुरन्त।

१११४—पंचमी-विभक्तिरूप अविरले क्रियाविशेषणवत् प्रयुक्त होता है। इस प्रकार :

अ—सार्वनामिक प्रातिपादिकों के : यथा—कस्मात् क्यों ? अकस्मात् एकाएक, अप्रत्याशित ढंग से; आत्, तात्, यात् (वे०—अस्मात् प्रभृति सार्वनामिक पदों के स्थान पर सामान्य रूप)।

आ—संज्ञाप्रातिपदिकों के : यथा—आसात् समीप; आरात् दूर; बलात् बलपूर्वक; कुतूहलात् स्पर्धावश; सकाशात् ओर से।

इ—अत्यधिक समय, विशेषण-प्रातिपदिकों के : यथा—दूरात् दूर; नीचात् नीचे; पश्चात् पीछे ; साक्षात् प्रकटरूप में, वास्तविक रूप में; समन्तात् पूर्ण रूप में; अचिरात् शीघ्र; प्रत्यक्षतमात् (ऐ० ब्रा०) सर्वाधिक स्पष्ट रूप में, प्रत्यन्तात् (सू०) अन्त तक।

ई—कुछ स्थलों में क्रियाविशेषणवत् तथाविध प्रयुक्त पंचमीविभक्तिरूपों में परिवर्तित स्वरपात पूर्वकालिक भाषा में देखा जाता है : यथा—अपाकात् दूर से अमात् नजदीक से; सनात् पुराने जमाने से (किंतु तृ० रूप सना); उत्तरात् उत्तर दिशा से; अधरात् नीचे।

१११५—षष्ठीविभक्तिरूप क्रियाविशेषण की तरह प्रायः कभी प्रयुक्त नहीं होता है।

अ—प्राचीनतर भाषा में अक्तोस् रात में, और वस्तोस् दिन में, मिलते हैं; उत्तरकाल में चिरस्य देर तक।

१११६—सप्तमीविभक्तिरूप क्रियाविशेषणात्मक प्रयोगिता के साथ कभी-कभी व्यवहृत है। इस प्रकार :

अ—संज्ञा और विशेषण प्रातिपदिकों से : आके सभी; आरे और दूरे दूर; अभिस्वरे पीछे; अस्तमीके आश्रय में; ऋते विना (पूर्वसर्ग०); अग्रे

आगे; स्थाने ठीक तौर पर; सपदि तत्काल;-अर्थे और-कृते (पदरचना में अतिप्रचलित) वास्ते; अपरीषु परवर्ती काल में; आदौ प्रथम; रहसि एकान्त में।

१११७—यहाँ तक कि प्रथमाविभक्तिरूप भी (वैदिक) किस् प्रश्नवाचक-निपात और इसके सामासिकों, नकिस् और माकिस्, निषेधमुख निपातों, में रूढ़ प्रतीत होता है। पुनः अञ्च्-प्रकृतियों से पुं० एकवचन रूप (यथा पराङ् ऐ० ब्रा०, न्याङ् आपस्त०) कभी-कभी नपुंसकरूपों के आदेश स्वरूप प्रयुक्त पाये जाते हैं।

१११८—उपसर्ग और सजातीय शब्द। उपसर्ग, जो पूर्ववर्ती अध्याय (१०७६ मु० वि०) में वर्णित हो चुके हैं, वस्तुतः क्रियाविशेषण हैं जो क्रिया-मूलों और इनके अधिक संबद्ध व्युत्पत्तिजों में विशिष्ट कार्य और विधि रखते हैं।

अ—क्रिया के साथ इनका आकस्मिक शिथिलता संयोग ऊपर (१०८४) निर्दिष्ट हो चुका है। (तथापि सामान्य क्रियाविशेषणार्थ अपि है जिसने उत्तर-कालिक भाषा में उपसर्ग से क्रियाविशेषण अथवा समुच्चयबोधक शब्द में अपने कार्य को मुख्यतः परिवर्तित कर दिया है); किंतु इनके पूर्वसर्ग-भूत प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हैं : देखिए नीचे, ११२५ आ।

आ—संज्ञाओं के साथ संयोग में ये (अन्य क्रियाविशेषणीभूत तत्वों की तरह) अधिक समय विशेषणार्थ रखते हैं: देखिए नीचे, १२८१ नि० वि०, १३०५।

१११९—उपसर्गों में से अनेक (जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है, ४७३-४) तर और तम, अथवा र और म, प्रत्ययों द्वारा तुलनार्थक और अतिशयार्थक विशेषण बनाते हैं : यथा—उ॑त्तर और उत्तम॑, अ॑धर और अधम॑ अ॑पर और अपम॑, अ॑वर और अवम॑, उपर, तथा उपम॑, तथा प्रथम॑ निस्संदेह इसी प्रकार के स्वरूप का है; साथ ही अ॑न्तर और अ॑न्तम। पुनः इस प्रकार के व्युत्पन्न विशेषणों के द्वितीयाविभक्तिरूप (अधिकांशतः प्रयोग में अन्यथा अप्राप्त) अपने उपसर्गों में तरवर्थकों, और विरले तमवर्थकों की प्रयोगिता रखते हैं : यथा—सं॑शितं चिन् संतरं॑ सं॑ शिशाधि (अ० वे०) जो कुछ उत्तेजित है, उसे और उत्तेजित करो, वितरं॑ वि॑ क्रमस्व (ऋ० वे०), और व्यापक रूप से क्रमण करो; प्र॑ तं॑ नय प्रतरं॑ वस्यो॑ अ॑च्छ (ऋ० वे०) उसे आगे ले जाओ, और भी आगे प्रगति की ओर; उ॑द् एनम् उत्तरं॑ नय (अ० वे०) उसे और भी अधिक ऊपर ले जाओ।

अ—उन उदाहृतों के अतिरिक्त नि॑तरम्, अप॑तरम्, अभि॑तरम्, अव॑तरम्, परा॑तरम्, परस्त॑रम् भी पाये जाते हैं। ब्राह्मणों में तथा उत्तरकाल में (ऊपर १११९ उ) इनके स्थान पर स्त्रीलिंग द्वितीया-विभक्तिरूप प्रयुक्त है : यथा—अतितराम् और अतितमाम्, अभितराम्, अनुतमाम्, आतमाम्, प्रतितराम्, नितराम्, उत्तराम्, प्रतराम् और प्रतमाम्, वितराम्, संतराम् (ऋ० वे० भी, एकबार)।

११२०—उत्पत्ति और प्रकृति में उपसर्गों के सजातीय, और क्रियाओं के साथ संयोग को छोड़कर अन्यत्र इनके समान प्रयुक्त कुछ अन्य क्रियाविशेषण होते हैं : यथा—अव॑स् नीचे; अध॑स् तले (और अधस्तराम्); प॑रस् दूर (और परस्तराम्); पुरा॑ पहले; अन्तरा॑ (स्पष्टतः अन्तर् + आ) में, बीच में, अ॑न्ति नीचे; उप॑रि ऊपर; और सह॑ (उपर्युक्त, ११०४ आ) साथ-साथ संग, और स॑चा एक साथ, संग, इनके साथ उल्लिखित किये जा सकते हैं। विना॑ रहित, और विषु॑-अलग वि॑ से संबद्ध प्रतीत होते हैं।

११२१—अवियोज्य पूर्वसर्ग। क्रिया विशेषणीभूत पूर्व-प्रत्ययों में से अल्प-संख्यक केवल दूसरे पदों के संयोग में ही पाये जाते हैं। इस प्रकार :

अ—निषेधार्थक पूर्व प्रत्यय अ या अन्—स्वरों के पूर्व अन्, व्यंजनों के पूर्व अ।

आ—यह विशेष रूप से अगिनत संज्ञाओं और विशेषणों के साथ युक्त किया जाता है; अपेक्षाकृत अत्यधिक विरलभाव से क्रिया विशेषणों के साथ : यथा—अकु॑त्र और अ॑पुनर् (ऋ० वे०), अ॑नेव (अ० वे०), अ॑नधस् (तै० ब्रा०), अकस्मात्, असकृत्; विरल स्थितियों में सर्वनामों के साथ भी (यथा—अतद्, अकिञ्चित्); तथा उत्तरकालिक भाषा में यदा-कदा क्रियाओं के साथ भी, यथा—अस्पृहयन्ति (भाग० पु०, शिशु०) वे नहीं चाहते हैं, अलोकयति (स० द०) वह नहीं देखता है। यदा-कदा इसका पूर्व-योग अपने में ही होता है : उदा० अनकाममार, अनविप्रयुक्त, अनवद्य (?)।

इ—बहुत कम स्थलों में निषेधार्थक अ दीर्घीकृत लगता है : यथा—आ॑सत् अविद्यमान, आ॑देव देवरहित, आ॑राति शत्रु, आशौ॑च अपवित्रता, आ॑तुर अस्वस्थ (?)।

ई—स्वतंत्र निषेधार्थक क्रियाविशेषण, न॑ और मा॑, केवल अपवाद स्वरूप स्थलों में ही पदरचना में प्रयुक्त होते हैं : देखिए नीचे, ११२२ उ।

उ—सहचर पूर्वप्रत्यय स॑ संज्ञाओं और विशेषणों के पूर्व स॑म् पूर्वसर्ग के स्थान पर, और सह॑ के विनिमेय के रूप में प्रयुक्त है।

ऊ—निन्दार्थक पूर्वसर्ग **दुस्** असंगत, बुरी तरह से (√(**दुष्**) का समरूपी २२५ अ)।

ए—यह उसी प्रकार युक्त होता है कि जिस प्रकार **अ** या **अन्**। क्रियारूप के साथ संयोगों में से कम-से-कम एक उदाहरण उद्धरणीय मिलता है : **दुश्चरन्ति** (रामा०) बुरी तरह व्यवहार करते हैं।

ऐ—समान्तर प्रशंसार्थक पूर्व प्रत्यय **सु** सुन्दर अपने प्रयोग को लेकर सामान्यतः पूर्ववर्ती से इतने घनिष्ठ भाव से मिलता-जुलता है कि यहाँ इसका उल्लेख करना अत्यधिक संगत है, यद्यपि यह स्वतंत्र निपात जैसा प्राचीनतम भाषा में (ऋ० वे० में दो सौ से अधिक वार; अ० वे० के विशिष्ट खण्डों में केवल चौदह वार) और कभी-कभी उत्तरकाल में भी अविरले प्रयुक्त होता है।

ओ—निपात **सु** ब्रा० में और उत्तरकाल में क्रियापद से पूर्व कभी-कभी आता है, तथा वे० में इसके स्वतंत्र प्रयोग के अविलम्ब लोप तथा **अ** और **दुस्** (ऊपर, आ, ए) के सादृश्य को ध्यान में रखकर इसे संभवतः कम-से-कम आंशिक रूप में क्रिया के साथ पदरचना के अन्तर्निहित मानना चाहिए। अ० वे० का पद-पाठ १९-४९-१० **सु-अपायति** है, किंतु इसका साक्ष्य थोड़े महत्व का है, अथवा किसी प्रकार के महत्व का नहीं होता है। काठक० में **न सु विज्ञायेते** और **न वै सु विदुः** प्राप्त हैं, तथा केन० उप० में **सु वेद** है; ता० ब्रा० में **सुसम्बोधयति** (?) पाया जाता है; महाभा० और भाग० पु० में **सूपतस्थे** आता है; रामा० में **सुशक्यन्ते** मिलता है।

औ—प्रश्नवाचक सर्वनाम (५०६) के विस्मयादिबोधक और सामान्यतया निन्दार्थक पूर्वसंश्लिष्ट रूप अवियोज्य पूर्व प्रत्ययों के सर्वाधिक तुल्य होते हैं।

११२२—**विविध क्रियाविशेषण**। क्रियाविशेषणात्मक प्रकृति और कार्य करने वाले अन्य शब्द, जो ऊपर वर्णित वर्गों में से किसी में स्पष्टतः अवधार्य नहीं हैं, यों उल्लिखित किये जा सकते हैं :

अ—विस्मयादिबोधक निपात (अंशतः, केवल प्राचीनतर भाषा में) : यथा—**अङ्ग**, **हन्त**, **किल**, **खलु**, **तु** (प्राचीनतर भाषा में विरल), **वै**, **वाव** (केवल ब्राह्मण भाषा में), **हि**, **हिन**, **उ**, **अह**, **ह**, **घ**, **समह**, **स्म**, **भल**।

आ—इनमें से **हन्त** स्वीकृत और उत्तेजना सूचक शब्द है, **हि** ने अनुमेयार्थ का भी ग्रहण कर लिया है, और क्रियापद को, जिसके साथ यह संयोग बनाता है (५९५ उ), उदात्तयुक्त बनाता है, **स्म** कभी-कभी वर्तमानकाल में भूतकालार्थ उत्पन्न करता देखा जाता है (७७८ आ); **उ** बहुधा अन्य निपातों के अन्त्य **अ**

के साथ संयुक्त किया जाता है : यथा—अथो, नो, मो, उतो, उपो, प्रो; किंतु क्रियारूपों के साथ भी, जैसे—दत्तो, विद्यो। इस प्रकार से उत्पन्न ओ प्रगृह्य होता है अर्थात् सन्धि नहीं हो सकती है (१३८ इ)। सजातीय प्रयोगिता वाले निपात, जो ऊपर संकेतित हो चुके हैं, इव, कम् या कम्, चिद्, जातु, एवं होते हैं। विस्मयादिवोधक निपातों में से कुछ उत्तरकालिक अलंकृत काव्य में केवल पूर्त्यर्थ के साथ प्रयुक्त हैं, जो छन्दः पूर्ति (पाद-पूरण छन्द पूरक) के निमित्तसाधन-जैसे होते हैं : यथा—विशेषरूप से ह, हि, तु, स्म।

इ—निषेधार्थक निपात हैं : न शुद्ध निषेध को, और मा वारण को द्योतित करने वाले हैं।

ई—मा के साथ क्रिया की पद-रचना के लिए, देखिए ऊपर, ५७९। वेद में नु (या नू : २४८ अ) कभी-कभी निषेधार्थ भी रखता है। पद तुलनार्थक वैदिक न के लिए, देखिए नीचे, ए, ऐ।

उ—नहि में न हि के साथ संयुक्त है, दोनों खण्ड अपने पूर्ण अर्थ को सुरक्षित रखते हैं; नेद् नहीं तो, इद् के साथ भी। यह संभवतः ननु और चन में विद्यमान है, किंतु हिन (ऋ० वे०, एक वार) में नहीं। सामान्यतः न तो न, न मा पद-रचना में निषेध सूचक समासों में प्रयुक्त हैं, अपि तु इसके विपरीत अवियोज्य निषेधार्थक पूर्व प्रत्यय अ या अन् प्रयुक्त होता है (११२१ अ), वैदिक निपात नकिस् और माकिस, नकीम् और माकीम् अपवाद होते हैं; नचिरम् और माचिरम् नपुंसक हैं; और उत्तरकालिक भाषा में अन्य कतिपय।

ऊ—प्रश्नबोधक निपात वे ही होते हैं जो ऊपर दिये जा चुके हैं : कद्, किम्, कुविद्; स्विद्, ननु, जिनमें से अंतिम आपत्ति अथवा प्रवोधन को पुरःस्थापित करता है।

ए—तुलनार्थक निपातों के उदात्तरहित इव और यथा (साथ ही उदात्तरहित जबकि तथाविध प्रयुक्त हैं) निर्दिष्ट हो चुके हैं। प्राचीनतम भाषा में न भी वहुतायत से प्रयोगवाला है, (उदात्त के अभाव के विना) वही स्थान और प्रयोगिता प्राप्त है जैसा पूर्ववर्ती में।

ऐ—तुलनार्थक न के उदाहरण होते हैं : ऋषिद्विष इषुं न सृजत द्विषम् (ऋ० वे०) ऋषि के शत्रु के ऊपर तुम्हारा कोप तीर की तरह छूटे; वयो न वृक्षम् (अ० वे०) जिस प्रकार पक्षी वृक्ष को; गौरो न तृषितः पिव (ऋ० वे०) प्यासे भैंसे की तरह पीओ। इस प्रयोग की व्याख्या निषेधार्थ के अनुकूलन और स्थानान्तरण के रूप में सामान्यतया की जाती है : यथा—[यद्यपि निश्चित रूप से] [विलकुल] प्यासा भैंसा नहीं; और इसी तरह दूसरे।

ओ—स्थानबोधक निपातों में, ऊपर निर्दिष्टों के अतिरिक्त, क्वं कहाँ ? का संकेत किया जा सकता है (वे० में कुअ पाठ नित्य अपेक्षित है)।

औ—कालबोधक निपात हैं : नु अव (नू भी : नूनम् ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है, ११०९ अ), अद्य और सद्यस् तथा सदिवस् (ऋ० वे०, एक वार) आज, तत्क्षण (सबों में दिव् या द्य तत्व की स्थिति मानी गयी है), ह्यस् बीता हुआ कल, श्वस आने वाला कल, ज्योक् (द्यु से संबद्ध भी) बहुत काल तक; पुनर् फिर ।

क—ऊपर निर्दिष्ट के अतिरिक्त प्रकारबोधक निपातों के नाना विभिन्न ढंग से (इसके व्युत्पत्तिज नानानम् के लिए, देखिए ११०९ अ); सस्वर गुप्त ढंग से का निर्देश अपेक्षित है ।

ख—ऊपर के वर्गीकरणों में सभी वैदिक क्रियाविशेषणभूत शब्द तथा उत्तरकालिक भाषा के अधिकांश शामिल किये गये हैं; अवशिष्ट के लिए कोषों को देखिए ।

पूर्वसर्ग

११२३—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पूर्वसर्गों का कोई वास्तविक वर्ग (इस शब्द के वर्तमान अर्थ में) के साथ शब्दों की कोई श्रेणी प्राप्त नहीं है जिसका कार्य संज्ञाओं का अन्वय ज्ञापन हो । किंतु ऊपर निर्दिष्ट क्रियाविशेषण शब्दों में से अनेक संज्ञाओं के साथ इस प्रकार निर्दिष्ट हुए हैं जिससे ये अन्य भाषाओं के अधिक पूर्णतः विकसित पूर्वसर्ग शब्दों के निकट होते हैं ।

अ—यदि इस प्रकार के शब्दों में से कुछ—यथा विना, ऋते—प्रायः केवल पूर्वसर्गों के प्रयोग में आते हैं, किंतु यह मात्र आकस्मिक और अप्रधान है ।

११२४—चतुर्थी = विभक्तिरूप को छोड़कर अन्य सभी विभक्तिरूपों के साथ शब्द इस प्रकार पूर्वसर्ग के रूप में प्रयुक्त होते हैं । किंतु सामान्यतः इनकी क्रिया केवल निर्देशात्मक होती है, संज्ञा के यथार्थ कारकप्रयोग को अधिक स्पष्ट रूप से निर्धारित अथवा पुष्ट करती है । तथापि कभी-कभी कारक प्रयोग का पता लगाना सरल नहीं है, और तब संज्ञा पूर्वसर्गों द्वारा अधिक संश्लिष्ट ढंग से 'संबद्ध' प्रतीत होती है—अर्थात्, इसका कारक-रूप पूर्वसर्गों के साथ अपने साहचर्य से अधिक स्वच्छंद रूप में निर्धारित मालूम होता है । ऐसा अत्यधिक समय द्वितीया विभक्ति रूप को लेकर सही है; और षष्ठी-विभक्ति के प्रसंग में भी जिसमें (२९४ आ) अन्यत्र की तरह यहाँ भी अपने प्रयोग की प्राकृतिक परिधि का विस्तार प्राप्त है ।

११२५ अ—सप्रत्यय रूपवाले क्रियाविशेषणों (१०९७ मु० वि०) में पूर्वसर्गात्म प्रयोगिता न्यूनतम मात्रा में मिलती है (अपवाद विशेपरूप से तस् प्रत्यय से बने कुछ शब्द हैं, १०९८)।

आ—उपसर्गों में से अधिकांश (अपवाद उद्, नि, परा, प्र होते हैं; तथा अव और वि प्राय: तथाविध हैं) विभक्तिरूपों के साथ अपने पूर्वसर्गात्मिक अथवा अर्धपूर्वसर्गात्मिक प्रयोगों को सुरक्षित रखते हैं; किंतु ऐसा उत्तरकालिक की अपेक्षा प्राचीनतर काल में अधिक है : श्रेण्य भापा में प्रयोग मुख्यत: प्रति, अनु और आ तक सीमित है।

इ—अधिक संगत पूर्वप्रत्ययों के सजातीय दिशासूचक शब्दों में से अधिकांश पूर्वसर्ग के रूप में प्रयुक्त हैं : इनमें से कुछ—यथा सह, विना, उपरि, अन्तरा, पुरा—पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों में निर्वाध रूप से प्राप्त हैं।

ई—क्रियाविशेपणवत् प्रयुक्त विभक्तिरूप अनेक स्थलों में पूर्वसर्गवत् भी प्रयुक्त होते हैं; अत्यधिक समय, जैसा कि अपेक्षित है, षष्ठी विभक्तिरूप के साथ; किंतु अधिक समय; साथ ही पूर्वकाल से ही, द्वितीया विभक्तिरूप के साथ, अपेक्षाकृत अधिक विरल भाव से अन्य विभक्तिरूपों के साथ।

उ—अव संक्षिप्त विवेचन के लिए हम विभक्तिरूपों को प्रस्तुत करेंगे—उन विभक्तिरूपों से आरंभ कर, जो सर्वाधिक न्यून स्वतंत्रता के साथ प्रयुक्त हैं।

११२६—**सप्तमीविभक्तिरूप**। यह विभक्तिरूप सबों में सर्वाधिक कम उन शब्दों के साथ प्रयुक्त होता है जिन्हें पूर्वसर्ग की संज्ञा प्राप्त हो सकती है। दिशासूचकों में अन्तर् और इसका उत्तरकालिक व्युत्पन्न रूप अन्तरा अन्दर, में अर्थवाले अत्यधिक समय इसके साथ जोड़े जाते हैं, और ऐसा श्रेण्य तथा प्राचीन दोनों भाषाओं में प्राप्त है। इसके साथ अतिप्रचलित वैदिक प्रयोग वाले आ और अधि होते हैं : यथा मर्त्येष्वा मनुष्यों में; पृथिव्याम् अध्योपधी: पृथ्वी पर सभी वनस्पतियाँ; तेजो मयि धारयाऽधि (अ० वे०) मुझमें तेज लाओ;—अपि और उप अपेक्षाकृत अधिक विरल होते हैं : यथा—या अपाम् अपि व्रते (सन्ति) (ऋ० वे०) जो जल के अन्दर हैं; अमूर्या उप सूर्ये (सन्ति) (ऋ० वे०) जो ऊपर सूर्यलोक में हैं—सचा साथ-साथ ऋ० वे० में विरल नहीं है; किंतु उत्तरकाल में प्राय: सर्वथा अज्ञात है।

११२७—**तृतीयाविभक्तिरूप**। इस विभवित के साथ प्रयुक्त निर्देशक शब्द प्राय: केवल वे होते हैं जिनमें सहचारी सार्वनामिक प्रकृति स विद्यमान है : यथा—सह (सर्वाधिक व्यवहृत), साकम्, सार्धम्, ससम्, समया, सरथम्; और वेद में पूर्वप्रत्यय सम्: उदा० ते सुमतिभि: सम् पत्नीभिर्न

वृ॑पणो नसीमहि (ऋ० वे०) हम तुम्हारे अनुग्रहों के साथ उसी प्रकार मिलें, जिस प्रकार पुरुष अपनी पत्नियों से। विश्लेषार्थक पंचमी के लिए (२८३ अ) तृतीया के आदेश द्वारा विना रहित (वैदिक नहीं) तृतीया का ग्रहण कभी-कभी करता है; तथा इसी प्रकार वेद में अव॑स् नीचे और प॒र॑स् दूर, जिनके साथ पंचमी भी, साथ ही अपेक्षाकृत अधिक नियमित रूप से; बनायी जाती है। पुनः अधि ऋ० वे० में स्नु॑ना और स्नु॑भिस् तृतीयारूपों के साथ प्रयुक्त हैं, जहाँ सप्तमी अपेक्षित होगी।

११२८—**पंचमीविभक्तिरूप**। पंचमी की पूर्वसर्गात्मक रचनाओं में (जैसा कि ऊपर संकेतित और आंशिक रूप से उदाहृत हो चुका है, २९३), कारक का पंचम्यर्थ और युक्त निपातों का मात्र निर्देशार्थ अधिकांशतः स्पष्ट रूप से निर्धारित किये जा सकते हैं। उपसर्गों में से अनेक अल्पाधिक मात्रा मे इस विभक्तिरूप के साथ प्राचीनतर भाषा में युक्त होते हैं; अत्यधिक समय, अ॑धि और प॒रि, अपेक्षाकृत विकीर्ण भाव से, अ॑नु, अ॑प, अ॑व, प्र॑ति और अपायार्थक नि॑स् और वि॑। आ॑ यहाँ से, के साथ पंचमी के अर्थ में परिवर्तन, जिससे यह अपने विसंगी द्वितीया विभक्तिरूप का कार्यपूरण करता है, अच्छी तरह ऊपर (२९३ इ) में उल्लिखित हो चुका है। पूर्वप्रत्यय के सजातीय निर्देशक शब्दों में अनेक—यथा ब॒हि॑स्, पु॒र॑स्, अ॒व॑से, अ॒ध॑स्, प॒र॑स्, पु॒रा॑, वि॒ना॑ और ति॒र॑स् ओझल—पूर्ण नियमित रचना द्वारा इस विभक्तिरूप के साथ आते हैं। साथ ही, सविभक्तिकरूप अ॒र्वा॑क्, प्रा॑क्, प॒श्चा॑त्, ऊ॒र्ध्व॑म्, पू॒र्व॑म्, प॑रम् और ऋ॒ते॑ विना, जिनकी पंचमी के साथ स्वाभाविक रचना पूर्वकाल में प्रवल है।

११२९—**द्वितीयाविभक्तिरूप**। उपसर्गों और सजातीय शब्दों में से अनेक के साथ द्वितीया विभक्तिरूप होते हैं। सर्वाधिक वास्तविक ढंग से (चूँकि द्वितीया मुख्यतः को-कारक है) वे सब ऐसे हैं जिनसे किसी वस्तु के प्रति गति या कार्य का वोध होता है : यथा—अ॒भि॑, प्र॑ति, अ॑नु, उ॑प, आ॑, अ॑ति और अ॑धि और पा॒र परे अर्थ में, ति॒र॑स् ओर से, अ॒न्त॑र् और अ॒न्त॒रा॑, जब कि अर्थ बीच में होता है, प॑रि चारों तरफ उदाहरण होते हैं : या॑ः प्र॒दि॑शो अ॒भि सू॒र्यो॑ वि॒च॑ष्टे (अ० वे०) जिन दिशाओं को सूर्य सब ओर देखता है; अ॑बो॒ध्य॒ग्निः प्र॒त्या॒यती॑मु॒षास॑म् (ऋ० वे०) उदीयमान उषा से मिलने के लिए अग्नि जगा दिया गया है; गच्छेत् कदाचित् स्वजनं प्रति (महाभा०) वह कहीं स्वजन के पास चली जाय; इमम् प्रक्ष्यामि नृपतिम् प्रति (महाभा०) उसे मैं राजा के विषय में पूछूँगा; मम चि॒त्तम॑नु चि॒त्तेभि॒रे॑त (अ० वे०).

अपने चित्त से मेरे चित्त का अनुसरण करो; **एह्यानः** (अ० वे०) यहाँ हमारे पास आओ; **उप न एह्यर्वाणा** (ऋ० वे०) हमारे पास आओ; **यो देवो मर्त्याँ अति** (अ० वे०) देव जो मनुष्यों के परे हैं; **अधिष्ठाय वर्चसाध्यन्यान्** (अ० वे०) तेज में वह सबों से आगे बढ़ कर है; साथ ही, **अभितस्** और **परितस्** जिनका अर्थ सरल **अभि** और **परि** के तुल्य हैं; तथा **उपरि** ऊपर (अधिकतर षष्ठी के साथ)। सामान्य कर्मकारक रचना के अपेक्षाकृत कम सदृश इस विभक्ति का प्रयोग **अधस्, परस्, पुरस्, विना** के साथ होता है, साथ ही अन्य विभक्तियाँ जो उन निपातों के अर्थ के अधिक अनुकूल मालूम होती हैं। पुनः क्रियाविशेषणात्मक सविभक्तिक-रूपों के अधिकांश के विषय में, जिनके साथ द्वितीया प्रयुक्त होती है, ऐसा ही कहा जा सकता है। इस प्रकार, स्थिति अथवा दिशा के अनेक तृतीया विभक्ति रूप : यथा—**येऽवरेणाऽऽदित्यम् ये परेणाऽऽदित्यम्** (तै० ब्रा०) वे जो सूर्य के नीचे हैं, वे जो सूर्य के परे हैं; **अन्तरेण योनिम्** (श० ब्रा०) गर्भ के अन्दर; **ते हीदमन्तरेण सर्वम्** (ऐ० ब्रा०) क्योंकि यह सम्पूर्ण लोक इनके बीच है; **उत्तरेण गार्हपत्यम्** (श० ब्रा०) गार्हपत्य अग्नि के उत्तर की ओर; **दक्षिणेन वेदिम्** (श० ब्रा०) वेदि के दक्षिण की ओर; **दक्षिणेन वृक्षवाटिकाम्** (शाकु०) वृक्षोद्यान के दक्षिण की ओर; **निकषा यमुनाम्** (हरि०) यमुना के पास। इसी प्रकार **ऊर्ध्वम्** और **पूर्वम्** कर्मकारक द्वितीया तथा पंचमी के साथ प्रयुक्त होते हैं, और यह बात उत्तर-कालिक **ऋते** में लागू है। इस विभक्ति के साथ **ऋते अभिमुखम्** प्रति की रचना आपेक्षिक दृष्टि से अधिक संगत है।

११३०—**षष्ठीविभक्तिरूप।** वे शब्द जिनके साथ षष्ठी-विभक्तिरूप आता है, अधिकांशतः संज्ञाओं के विभक्तिरूप होते हैं अथवा संज्ञावत् प्रयुक्त विशेषणों के, जिनमें नामिक-प्रकृति इतनी पर्याप्त मात्रा में सुरक्षित रहती है कि इनके स्वाभाविक अनुबंध के रूप में इस विभक्ति की प्राप्ति संभव है। इस प्रकार के होते हैं—सप्तमीरूप **अग्रे** आगे, **अभ्याशे** समीप, **अर्थे** और **कृते** के लिए, **निमित्ते** और **हेतौ** कारण; तथा अन्य विभक्तिरूप, यथा—**अर्थाय, कारणात्, संकाशात् हेतोस्।** पुनः निस्संदेह, किंतु अपेक्षाकृत कम प्रत्यक्षतः और स्पष्टतः, इसी प्रकृति के अन्य विशेषण विभक्तिरूप होते हैं (इनमें कुछ जिनसे अन्य रचनाएँ प्राप्त हैं, ऊपर निर्दिष्ट हो चुके हैं) : यथा—**अधरेण, उत्तरेण** और **उत्तरात्, दक्षिणेन** और **दक्षिणात्, पश्चात्, ऊर्ध्वम्, अनन्तरम्, समक्षम्, साक्षात्।** दिशावाची अधिक उपयुक्त शब्दों के साथ इसकी रचनाएँ (प्राचीन-

तम भाषा में प्रायः पूर्णरूप से अज्ञात है) अपेक्षाकृत अधिक संदिग्ध होती हैं, और षष्ठीविभक्ति के प्रयोग के सामान्य शैथिल्य के ही निर्देशन हैं : इस प्रकार यौगिक **परितस्, परतस्** और **अन्तितस्** तथा **परस्तात्** और **पुरस्तात्** के साथ (ये ब्राह्मण भाषा में प्राप्त हैं : यथा—**संवत्सरस्य परस्तात्** एक बरस के बाद; **सूक्तस्य पुरस्तात्**, सूक्त के पूर्व (ऐ० ब्रा०)); **अन्ति, अधस्, अवस्, पुरस्** के साथ; **उपरि** ऊपर (उत्तरकाल में साधारण); और **अन्तर्** के साथ।

संयोजक

११३१—संयोजक भी शब्दों के स्वतंत्र वर्ग के रूप में प्रायः अप्राप्त हैं।

अ—संस्कृत में उपवाक्यों का संयोग सामान्यतः अति सरल प्रकृति वाला होता है; अन्य भारत यूरोपीय भाषाओं में जो कार्य गौण संयोजकों द्वारा संपादित होता है, वह यहाँ शब्दों की रचना द्वारा, पूर्वकालिक क्रियारूपों के (९९४), **इति** (११०२), विभक्ति वाली भाववाचक संज्ञाओं तथा अन्य के प्रयोग से होता है।

११३२—संबंधबोधक यौगिक क्रियाविशेषण, जो दिये जा चुके हैं (१०९८ मु० वि०), वस्तुतः संयोजकों की तरह माने जा सकते हैं; तथा सजातीय प्रयोगिता वाले कुछ अन्य निपत, यथा **चेद्** और **नेद्** (११११ अ)।

११३३—मूलतः संयोजक के प्रयोग में आने वाले **च** और तथा **वा** 'या' हैं (दोनों उदात्तरहित होते हैं; और वाक्य अथवा उपवाक्य में प्रथम स्थान का ग्रहण कभी नहीं करते हैं)।

अ—प्राचीनतर भाषा में समुच्चयार्थ में **च** के साथ विशेष रूप से **उत** मिलता है (उत्तरकाल में यह अधिक अनिश्चित प्रयोग का निपात बन जाता है); तथा **अपि, ततस्, तथा, किंच** अन्य निपातों और निपातों के संयोगों के साथ उपवाक्यों के संयोजकों के रूप में बहुधा प्रयुक्त होते हैं।

आ—प्रतिकूल सूचक **तु** लेकिन होता है (प्राचीनतर भाषा में विरल है); साथ ही अपेक्षाकृत दृढ़ता से **उ** (उदात्तविहीन)।

इ—अनुमेयार्थ वाला **हि** क्योंकि (मूलतः, तथा अधिकांशतः प्रत्येक काल में केवल विस्मयादिबोधक) होता है; तुलनीय ऊपर, ११२२ आ।

ई—कभी-कभी **च** (तथा इसके यौगिक **चेद्**) का अर्थ यदि होता है।

उ—क्रियाविशेषणों के शीर्षक के अंतर्गत पूर्वोक्त निपातों के उन प्रयोगों को लेकर विशेष विस्तार में जाना अनावश्यक है, जिन प्रयोगों की अनल्प संगति के साथ अथवा अपेक्षाकृत अधिक संगति के साथ क्रियाविशेषणों के बजाय संयोजकों की संज्ञा दी जा सकती है।

विस्मयादिबोधक

११३४—वे वक्तव्य, जिनका वर्गीकरण विस्मयादिवोधकों के रूप में किया जाता है, अन्य भाषाओं की तरह अंशतः ध्वनि-संकेत, अंशतः अनुकृतिमूलक तथा अंशतः अन्य शब्द भेदों के खंडित और विकृत रूप होते हैं।

११३५–अ—ध्वनि-संकेतों के वर्ग में, उदाहरण रूप, **आ, हा, हाहा, अहह, हे, है** (अ० वे०), **अयि, अये, हये** (ऋ० वे०), **अहो, वाट्** (ऋ० वे०), **बत** (ऋ० वे०) या **वत** और (संभवतः) **हिक्** और **हुरुक्** (ऋ० वे०)।

आ—अनुकरण अथवा अनुकृतिमूलक वक्तव्य हैं—उदाहरणार्थ, (प्राचीन-भाषा में) **चिश्चा** सनसनाहट (तीर की, ऋ० वे०), **किकिरा** (धड़कन, ऋ० वे०) **बाल्** और **फट्** (**फंस्** ?) या **फल्** उछाल (अ० वे०) **भुक्** अनुरणन (अ० वे०); **शल्** थपथपाना (अ० वे०); **आप्**, **होष्**, **अस्** और **हस्** (पं० ब्रा०); और **कृ** तथा **भू** के साथ पद-रचना में दिये गये शब्दों को देखिए, ऊपर १०९१।

इ—संज्ञाएँ तथा विशेषण, जिन्होंने विस्मयादिवोधक प्रकृति का ग्रहण कर लिया है, उदाहरणार्थ—**भोस्** (संबोधन **भवस्** के लिए, ४५६); **अरे** या **रे** (**अरि** शत्रु का संबो०); **धिक्** धिक्कार ! (ध्वनि-संकेत ही हो सकता है, किंतु संभवतः √(दिह्) से निष्पन्न); **कष्टम्** मुझे दुःख है ! **दिष्ट्या** भाग्य से ! **स्वस्ति** कल्याण हो। **सुष्ठु, साधु,** सुन्दर, शोभन ! इनमें से कोई विस्मयादिवोधक प्रयोग में वैदिक नहीं होते हैं।

अध्याय—१७

सविभक्तिक शब्दों का प्रत्यय-विधान

११३६—क्रियारूप-योग्य प्रकृतियों के मूलों से रूपनिर्माण—यथा काल-प्रकृतियाँ, प्रकार-प्रकृतियाँ और यौगिक क्रियारूप की प्रकृतियाँ (मुख्यतः एक दूसरी से भिन्न नहीं, न जैसा कि माना जाता है; वस्तुतः शब्द-रूपायित प्रकृतियों के रूप-निर्माण से भिन्न) सर्वाधिक सुविधानुसार ऊपर क्रियावाले अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार प्रत्ययान्त क्रियाविशेषणों का रूपनिर्माण (मुख्यतः विभक्ति-रूपनिर्माण से भिन्न नहीं) अव्ययों के अध्याय में। पुनः उन

शब्द-रूपायित प्रकृतियों का—उदाहरणस्वरूप, तुलनार्थक का तथा तुमर्थकों और कालवाची कृदन्तक्रियाओं का—जो अपने आप सर्वाधिक घनिष्ठ भाव से रूपविधान की प्रक्रियाओं से संबद्ध हैं—रूपनिर्माण भी अल्पाधिक मात्रा में पूर्णतः निरूपित हो चुका है। किंतु सविभक्तिक प्रकृतियों के एक वृहत् अंश के रूपनिर्माण का व्यापक और गहन विषय विशिष्ट अध्याय के लिए अवशिष्ट था।

अ—वस्तुतः, यहाँ विषय के केवल संक्षिप्त और सारभूत विवेचन के लिए ही आवश्यक सीमाओं के अन्दर प्रयास होगा—प्रत्येक काल के रूपविधायक तत्वों का सर्वांगपूर्ण अन्वेषण न होगा; उससे कम मात्रा में प्रत्येक तत्व के विभिन्न प्रयोगों का पूर्ण विवरण; सर्वाधिक न्यून मात्रा में उद्भवों का विवेचन; किंतु क्षेत्र की सामान्य रूप-रेखा देने और अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म अनुसंधान प्रस्तुत करने से शिक्षार्थी को शब्दों के उस विश्लेषण में, जो कि उसके आरम्भिक प्रयास का अपेक्षित विषय है, पर्याप्त आलोक प्राप्त होगा।

आ—स्वर-चिह्नित ग्रन्थों की सामग्री तथा विशेष रूप से वैदिक सामग्री मुख्यतः ध्यान में रखी जाएगी (जो कुछ वैदिक है उसका कोई भी अंश जान-बूझकर अपरीक्षित नहीं रहेगा); तथा दिये गये उदाहरण यथासंभव वे शब्द होंगे जो अपने चिह्नित स्वर के साथ इस प्रकार के ग्रन्थों में प्राप्त हैं। कोई शब्द, जो इस प्रकार प्रमाणित नहीं है, स्वरयुक्त नहीं किया जायेगा, किंतु उनका ग्रहण होगा जिनमें आधार विशिष्ट रूप से प्राप्त है।

११३७—धातुएँ स्वतः, क्रियामूलक तथा सर्वनाममूलक अपने मूल रूप में, अथवा किसी संयोग के बिना, नामिक प्रकृतियों की तरह प्रयुक्त होती हैं।

अ—क्रियामूलक धातुओं के इस प्रयोग के लिए, दे० नीचे, ११४७।

आ—तथाकथित सार्वनामिक धातुएँ मुख्यतः नामिक होती हैं; और फलतः प्रत्यय-प्रक्रिया लेकर अपने विशेष विकास में ये अन्य नामिक प्रकृतियों के अनुरूप होती हैं, क्रियामूलक धातुओं के अनुरूप नहीं।

११३८—इसके अन्यत्र इस प्रकार की प्रत्येक प्रकृति प्रत्यय लेकर होती हैं। पुनः ये प्रत्यय दो सामान्य वर्गों में विभक्त होते हैं :

(१) **मुख्य प्रत्यय** अर्थात् वे जो धातुओं के साथ सीधे जोड़े जाते हैं;

(२) **गौण प्रत्यय** अर्थात् वे जो प्रत्ययान्त प्रकृतियों (साथ ही सार्वनामिक धातुओं, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है; और कभी-कभी निपातों) के साथ युक्त किये जाते हैं।

अ—मुख्य प्रत्ययों का विभाग भारतीय वैयाकरणों के (अपेक्षाकृत अधिक नियमित) कृत् और (अपेक्षाकृत कम नियमित) उणादि प्रत्ययों के लगभग अनुरूप होता है; गौण इनके तद्धित प्रत्यय होते हैं।

११३९—किंतु यह विभागीकरण महत्वपूर्ण होते हुए भी सैद्धांतिक और व्यावहारिक दृष्टि से नित्य नहीं है। यथा—

अ—प्रत्यय मुख्य के प्रयोग और परिप्रेक्ष्य का ग्रहण कर लेते हैं जिनमें वस्तुतः गौण तत्व विद्यमान रहता है—अर्थात् इनसे युक्त पूर्वतम शब्द पूर्वतः व्युत्पादित शब्दों के साथ गौण प्रत्ययों के जोड़ने से बने हुए थे।

आ—इसके विविध उदाहरण नीचे निर्दिष्ट होंगे : इस प्रकार भविष्य-कालिक कृदन्तप्रत्यय— **तव्य, अनीय** इत्यादि, प्रत्यय **उक** और **अक, त्र** प्रभृति। उल्लेख्य स्थलों की अपेक्षा अधिक स्थलों में यह उत्पत्ति संभव है; तथा ऐसा ही दूसरों के साथ माना जा सकता है जिनमें रचना के स्पष्ट चिह्न नहीं देखे जाते हैं।

इ—अपेक्षाकृत कम अधिक समय मुख्य प्रयोग का प्रत्यय नामधातुक 'मूल्यों' के साथ प्रयोग के माध्यम द्वारा अथवा अन्य किसी ढंग से अंशतः गौण बन जाता है : उदाहरण **यु, इमन्, ईयस्** और **इष्ठ, त**।

११४०—पुनः, मुख्य प्रत्यय केवल अधिक मौलिक धातुओं में नहीं जोड़े जाते, अपितु सामान्यतः समान स्वतंत्रता के साथ उन तत्वों में, जिन्होंने मुख्य क्रियारूप का आधार बनकर उसी प्रकार की प्रकृति का ग्रहण कर लिया है—तथा साथ ही, कुछ अंशों में यौगिक क्रियारूप, क्रियारूप प्रकृतियों के मूलों में और कालरूप-विधान, काल-प्रकृतियों के मूलों में जोड़े जाते हैं।

अ—इसके सर्वाधिक स्पष्ट उदाहरण कालवाची कृदन्तक्रियारूप, वर्तमान भूत और परोक्ष, होते हैं जो प्रत्येक आकृति के काल और क्रियारूप-प्रकृतियों से समान ढंग से बनाये जाते हैं। तुमर्थकरूप (९६८ मु० वि०) केवल छिट-पुट स्थलों में अपने को काल-प्रकृतियों में युक्त करते हैं, तथा क्रियारूप-प्रकृतियों से केवल असंहत रूप में पूर्वतर काल में बनाये जाते हैं; तथा ऐसी ही वस्तुस्थिति भविष्य-कालवाची कृदन्त क्रिया रूपों की होती है।

आ—यत्किंचित् व्यापक रूप में सामान्य विशेषण और संज्ञा-शब्द क्रियारूप-प्रकृतियों से, विशेषतः णिजन्त क्रियारूप के मूल से, बनाये जाते हैं : देखिए नीचे प्रत्यय **अ** (११४८, औ, क), **आ** (११४९ इ, ई०), **अन्** (११५० ग), **अस्** (११५१ ऐ), **अनि** (११५९ आ), **उ** (११७८ ए-ओ), **ति** (११५७ ए), **तृ** (११८२ उ), **त्नु** (११९६ आ), **स्नु** (११९४ आ), **उक**

(११८० ई०), आकु (११८१ ई०), आलु (११९२ आ), तु (११६१ ई)।

इ—काल-प्रकृतियों से उदाहरण बहुत कम होते हैं, किंतु अज्ञात नहीं है : इस प्रकार वर्तमान-प्रकृतियों से कादाचित्क व्युत्पत्तिज आ (११४८ औ), आ (११४९ ई, उ), अन (११५० घ), इ (११७८ ऊ), त (११७६ उ), तु (११६१ ई), उक (११८० ई), त्र (११८५ उ), ति (११५७ ए), विन् (या इन्; १२३२ आ, ११८३ अ) अंतवाले होते हैं; स्पष्टतः लुङ् स्वरूप वाले स् अंतवाली प्रकृतियों से (तुमर्थक रूपों और भविष्यकालवाची कृदन्त क्रियारूपों के अतिरिक्त), अ (११४८ औ), अन (११५० औ), अनि (११५९ आ), अन् (११६० अ), आन (११७५), अस् (११५१ इ), ई (११५६ आ), इष्ठ (११८४ अ), उ (११७८ ऊ), उस् (११५४ अ), त् (११८२ उ), इन् (११८३ अ) अंतवाले कादाचित्क व्युत्पत्तिज हैं।

११४१—सोपसर्ग धातुओं में भी मुख्य प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

अ—इस प्रकार मूलतः और नियमतः पूर्वसर्गों के साथ व्युत्पादित शब्दों के निर्माण की विधि जो भी हो, भाषा के प्राप्त जीवन में सर्वत्र ऐसा मालूम होता है कि धातु और इसका पूर्वप्रत्यय अथवा अनेक पूर्वप्रत्यय इकाई बनाते हैं जिससे व्युत्पादित रूप उसी प्रकार बनाया जाता है जिस प्रकार सरल धातु से, केवल धात्वर्थ में वही परिवर्तन प्राप्त है जो उन पूर्वसर्गों से संयुक्त शुद्ध क्रियारूपों में देखा जाता है।

आ—प्रत्येक प्रकार के व्युत्पादित रूप इस ढंग से नहीं बनाये जाते हैं; किंतु मुख्यतया वे वर्ग जिनमें सर्वाधिक क्रिया-तत्व रहता है अथवा जो तुमर्थकों और कालवाची कृदन्तक्रियारूपों की प्रयोगिता के सर्वाधिक तुल्य होते हैं।

इ—पूर्व प्रत्ययों के साथ ऐसे व्युत्पत्तिजों का प्रयोग तथा उनका स्वराघात नीचे प्रत्येक अंत्य प्रत्यय के अन्तर्गत निर्दिष्ट होंगे। ये मुख्यतः (अपने तुलनात्मक पुनरावर्तन के लगभग क्रम में) धातु-प्रकृतियों को छोड़ कर अ, अन, ति, तर् और त्र, इन्, य, यन् और मन्, इ और उ, अस् तथा कुछ अन्य अंतवाले होते हैं।

११४२—दोनों वर्गों के अन्त्य प्रत्यय कभी-कभी अपने मूलों में पूर्ववर्ती संयोजन-स्वर द्वारा जोड़े जाते हैं—अर्थात्, उसके द्वारा जो उस प्रकृति का ग्रहण करता है, तथा उसकी यथार्थ उत्पत्ति को लेकर हमारे अज्ञान और अनिश्चितता के चलते सर्वाधिक सुविधा और सहजभाव से वह इसी नाम से अभिहित हो

सकता है। इन स्वरों और मौलिक प्रत्ययस्वरूप-जैसे गृहीत होने वालों के वीच स्पष्टतः भेदक रेखा नहीं खींची जा सकती है।

इन दो वृहत् वर्गों में से प्रत्येक अधिक विशेष विवरण में अव प्रस्तुत किया जायेगा।

(१) मुख्य प्रत्यय

११४३—धातु का रूप। धातु का रूप जिसमें मुख्य प्रत्यय जोड़ा जाता है, अत्यधिक परिवर्तन का विषय हो सकता है। यथा :

अ—यहाँ सर्वाधिक उपलब्ध सवलीकरणवाला परिवर्तन है, जो गुण अथवा वृद्धिभाव द्वारा प्राप्त है। प्रथम उन सव स्थितियों में (वस्तुतः उन स्थलों को छोड़ कर, जहाँ गुण-परिवर्तन का निषेध सामान्यतया है : २३५, २४०) संभव है : यथा—√(विद्) से वेद, √(मुद्) से मोद, √(वृध) से वर्ध; √(इ) से अयन, √(सु) से सवन, √(सृ) से सरण; इत्यादि। किंतु द्वितीय केवल उन्हीं स्थितियों में विहित है जहाँ परिणामी स्वर के रूप में दीर्घ आ रह जाता है; अर्थात् अंत्य-भिन्न अ के साथ, और स्वर से पूर्व अंत्य इ-या उ-स्वर और ऋ के साथ : यथा—√(नद्) से नाद, √(गृभ्) या ग्रभ् से ग्राभ, √(वह्) से वाह, √(नी) से नाय, √(भू) से भाव, √(कृ) से कार; ऐसा सवलीकरण जिससे वैद और मौद वनेंगे मुख्य प्रत्ययविधान के साथ नहीं आता है।

आ—क्रियारूप में सवलीकरण-स्वरूप उदात्त के साथ प्रत्यय विधान में सवलीकरण कोई स्पष्ट संवंध नहीं रखता है; न तो इसकी प्राप्ति लेकर कोई सामान्य नियम निर्धारित किये जा सकते हैं; प्रत्येक प्रत्यय के लिए इसका निर्देश विस्तार में अपेक्षित है। इसी प्रकार अन्य अच्-परिवर्तन, जो रूपविधान में और काल—और प्रकार—प्रकृतियों के रूपनिर्माण में प्राप्त होने वालों की सामान्य तुल्यता रखते हैं।

इ—कंठ्य में अंत्य तालव्य या ह् का प्रतिवर्तन निर्दिष्ट हो चुका है (२१६)। अंत्य न् या म् यदा-कदा लुप्त हो जाता है, जैसा कि पूर्व विवेचित रूपनिर्माण में।

ई—अंत्य ह्रस्वाच् के वाद कभी-कभी त् युक्त किया जाता है; अर्थात् जहाँ धातु अंत्य प्रत्यय के विना प्रकृति की तरह तथा परवर्ती य् या वन् के व (११६९), वर और वरी (११७१), यु एक वार (११६६) और य (१२१३ अ) के पहले प्रयुक्त है। इन अंत्य प्रत्ययों के पूर्व त् की उपस्थिति ति और तु प्रत्ययों से मौलिक गौण प्रत्यय का संकेत करने वाली प्रतीत होती है।

उ—धातु कभी-कभी अभ्यस्त कर दी जाती है : विरले अंत्य प्रत्यय के विना प्रयोग में (११४७ इ, उ); अत्यधिक समय अ (११४८ क), इ (११५५ उ), उ (११७८ ई) के पूर्व; किंतु अन्य प्रत्ययों के पूर्व भी, यथा—आ (११४९ उ), अन (११५० ग), वन (११७० अ), वन् और वरी (११६९ ई, ११७१ अ, आ), वनि (११७० आ), वि (११९३), वित् (११९३ आ), अनि (११५९ आ), इन् (११८३ अ), त्नु (११९६ अ), त (११७६ अ), ति (११५७ ई), थ (११६३ अ), तृ (११८२ आ), त्र (११८५ ऊ), ऊक (११८० ऊ), अक (११८१ अ), ईक (११८६ इ), म (११६६ आ)।

११४४—**स्वरपात**। स्वरपात के स्थान-निर्धारण लेकर कोई सामान्य नियम स्थिर नहीं किये जा सकते हैं; प्रत्येक प्रत्यय का स्वतः विवेचन इस दृष्टि से अपेक्षित है।

अ—बहुत कम प्रत्ययों के प्रसंग में क्रियाबोधक संज्ञा अथवा तुमर्थक शब्द होने पर धातु को तथा कर्त्रर्थ संज्ञा अथवा कालवाची कृदन्तक्रियापद होने पर प्रत्यय को उदात्तित करने की किञ्चित् प्रवृत्ति देखी जा सकती है : देखिए नीचे अ, अन, अस् अन् और मन् प्रत्ययों को, जहाँ उदाहरण वर्णित हैं। एक ही प्रत्यय से बने शब्दों में स्वरपात के भेद कभी-कभी लिंग के भेदों से संवद्ध भी हैं। द्रष्टव्य अस् और मन् प्रत्यय।

११४५—अपने अर्थ की दृष्टि से मुख्य प्रत्यय सामान्यतः दो बड़े वर्गों में विभक्त होते हैं, एक वह जो क्रिया-मूल द्वारा व्यक्त क्रिया को सूचित करता है, दूसरा व्यक्ति या वस्तु को जिसमें क्रिया होती है, कारक अथवा कर्ता—द्वितीय या तो संज्ञावत् अथवा विशेषणवत् है। प्रथम वर्ग अपेक्षाकृत अधिक भाववाचक, तुमर्थक होता है; द्वितीय अपेक्षाकृत अधिक स्थूल, कालवाची कृदन्तक्रियारूप। अन्य अर्थ मुख्यतः रूपान्तरण अथवा विशेषीकरण-जैसे माने जा सकते हैं।

अ—वे शब्द भी, जो क्रिया की प्राप्ति के सूचक हैं, कर्मवाच्य कृदन्तक्रिया-रूप, जैसा कि नपुंसक अथवा आत्मपरक रूप में इनका प्रयोग भी प्रमाणित करता है, कर्तृत्व के विशिष्ट रूप से रूपान्तरित शब्द हैं। भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है (९६१ मु० वि०), गौण प्रत्ययान्त रूप हैं जो मूलतः क्रिया से संवद्ध को व्यक्त करते हैं।

११४६—किंतु ये दोनों वर्ग रूपनिर्माण की प्रक्रियाओं में स्पष्टतः वियुक्त नहीं होते हैं। प्रायः ही क्रियार्थक संज्ञा बनाने वाला ऐसा कोई प्रत्यय है जो कर्त्रर्थ

संज्ञाओं अथवा विशेषणों का निर्माण भी नहीं करता है; यद्यपि ऐसे भी कम नहीं हैं जिनसे केवल द्वितीयरूप बनते हैं। नीचे विस्तार में इनका विवेचन प्रस्तुत करते समय हम प्रथमतः उन प्रत्ययों को रखेंगे जिनसे दोनों वर्गों के व्युत्पादित रूप बनते हैं, और तदनन्तर उनको जिनसे केवल कर्त्रर्थ संज्ञाएँ बनती हैं।

अ—विभिन्न प्रत्ययों के निर्धारण में सुविधार्थ इनकी निम्नलिखित तालिका कडिकाओं के साथ उसी क्रम में रखी जाती हैं जिसमें इनका विवेचन हुआ है :

—	११४७	यु	११६५	इन्	११८३
अ	११४८	म	११६६	ईयस्, इष्ठ	११८४
आ	११४९	मि	११६७	त्र	११८५
अन	११५०	मन्	११६८	क	११८६
अस्	११५१	वन्	११६९	य	११८७
तस्, नस्, सस्	११५२	वन, नि, नु	११७०	र	११८८
इस्	११५३	वर	११७१	ल	११८९
उस्	११५४	अन्त्	११७२	व	११९०
इ	११५५	वांस्	११७३	रि	११९१
ई	११५६	मान	११७४	रु	११९२
ति	११५७	आन	११७५	वि	११९३
नि	११५८	त	११७६	स्नु	११९४
अनि	११५९	न,इन,उन	११७७	स्न	११९५
अन्	११६०	उ	११७८	त्नु	११९६
तु	११६१	ऊ	११७९	स	११९७
नु	११६२	उक	११८०	असि	११९८
थ	११६३	अक	११८१	अभ	११९९
थु	११६४	तृ या तर्	११८२	विविध	१२००–१

११४७—**प्रत्ययविहीन प्रकृतियाँ; धातु-शब्द।** इन शब्दों का तथा इनके प्रयोगों का विवेचन अच्छी तरह पूर्णरूप में ऊपर हो चुका है (३२३, ३४८ मु० वि०, ३८३ मु०, ४००, ४०१)।

अ—ये विशेषरूप से (उत्तरकालिक भाषा में, प्रायः ऐकान्तिक भाव से) समासों के अंत्य-जैसे प्रयुक्त हैं, और इनमें क्रियार्थ संज्ञाओं (अधिकांशतः तुमर्थकों की तरह : ९७१) तथा कर्त्रर्थ संज्ञाओं और विशेषणों (बहुधा द्वितीया-विभक्ति की विशेषता बतलाने वाले, २७१ उ) के-जैसे दोनों मौलिक अर्थ विद्य-

मान हैं। क्रियार्थसंज्ञाओं के रूप में ये मुख्यतः स्त्रीलिंग होते हैं (३८४ : किंतु अनेक स्थलों में ये ऐसी स्थितियों में नहीं हैं जिनसे लिंग निर्धारित हो)।

आ—थोड़ी-सी संख्या वाले शब्दों में, अधिकांश विरल प्रयोग वालों में, अभ्यस्त धातु प्रत्यय के बिना प्रयुक्त होती है।

इ—वैदिक प्रयोग हैं : सरल अभ्यास के साथ, सस्यंद्, चिकित्, दद्दह्, दिद्यु और दिद्युत्, जुहू और संभवतः गङ्गा और शिशु; यङन्त अभ्यास के साथ, नेनी, मलिम्लुच्, यवीयुध् तथा जोगू और वनीवन् (सामान्य धातुमूलक स्वरपात के स्थान में यङन्तवाला स्वरपात)। दरिद्र में अ-शब्द रूप वाला अन्तरण देखा जाता है। असूर्सू संभवतः असू-सू सामासिक-जैसा माना जा सकता है।

ई—यदि धातु ह्रस्व-स्वरान्त होती है, तो त् नियमित और सामान्यरूप से युक्त किया जाता है (३८३ ऊ-ओ)।

उ—उदाहरण पूर्वोद्धृत स्थल में दिये जा चुके हैं। जगत् में त् √(गम्) के अभ्यास वाले विकृत रूप में जुड़ा है, और ऋणयात् (तै० ब्रा०, एक बार) से यह दीर्घस्वर के बाद प्रयुक्त मालूम होता है। एकमात्र उदाहरण श्रुत्कर्ण (ऋ० वे०), जिसके पास सुनने को कान हैं, में इस वर्ग की प्रकृति समास के पूर्वपद के रूप में आती है।

ऊ—उपसर्गों के संयोग में इस रूप के शब्द बहुसंख्यक होते हैं। स्वरपात (अन्य पूर्ववर्ती तत्व के साथ इसी प्रकार संयोग की तरह) धातु-मूल पर रहता है।

ए—स्वराघात को लेकर कुछ अपवाद हैं : यथा—अवसा, उपस्तुत्; तथा रूप की अन्य अनियमिताओं के साथ, परिज्रि, उपस्थ, उपस्थि।

११४८—अ-प्रत्यय द्वारा शब्दों का एक अत्यन्त विपुल और विषम वर्ग बनाया जाता है, जहाँ विभिन्न अर्थ और धातु की विभिन्न प्रक्रिया प्राप्त हैं :—गुण-सबलीकरण वृद्धि-सबलीकरण, अपरिवर्तित संरक्षण और अभ्यास।

अधिकांशतः ये दो सामान्य व्यापक शीर्षों के अन्तर्गत विभक्त हो सकते हैं; किंतु आंशिक रूप में ये अपेक्षाकृत अधिक विशिष्ट अर्थों में विशेषीकृत हो गये हैं।

(१) अ-धातु के गुण-सबलीकरण के साथ (जहाँ इसकी प्राप्ति संभव है : २३५, २४०) ये अधिसंख्यक होते हैं, अन्य सबों के दुगुने से भी अधिक।

आ—अनेक क्रियार्थ संज्ञाएँ : यथा—श्र॑म थकावट, ग्र॑ह पकड़, अ॑य गति, वे॑द ज्ञान, ह्व॑ पुकार, क्रो॑ध रोष, जो॑ष भोग, त॑र पार करना, स॑र्ग निकलना।

इ—अनेक कर्त्रर्थ संज्ञाएँ : यथा—क्षम॑ रोगी, स्वज॑ संकोचक, जीव॑ प्राणी, मेघ॑ बादल, चोद॑ प्रेरक, प्लव॑ नाव, सर॑ स्रोत, सर्प॑ साँप, भोज॑ उदार, खाद॑ भक्षण करता हुआ।

ई—यहाँ दिये गये उदाहरणों में से वे जो आ के अन्तर्गत हैं धात्वक्षर को उदात्तित करते हैं और वे जो इ के अन्तर्गत हैं अंत्य को। पुनः यह संभवतः प्रयोगों की बड़ी संख्या में ऐसा तथ्य है जो प्रत्ययान्त शब्दों के वर्गों से संबद्ध है; जिससे अन्य प्रत्ययों के साथ सजातीय तथ्यों को लेने से यह भाषा की सामान्य प्रवृत्ति के रूप में इस प्रकार के स्वर-भेद का संकेत करता है। कुछ कादाचित्क प्रयोग एक ही रूप के प्राप्त होते हैं जहाँ स्वर-भेद से पहली अथवा दूसरी प्रयोगिता देखने को मिलती है : यथा—ए॑ष शीघ्र, एष॑ शीघ्र, होने वाला; शा॑स शासन, शास॑ शासक; (अन्य उदाहरण चोद, शाक, शोक होते हैं; अस्, अन, अन्, मन् अन्तवाले अन्य व्युत्पत्तिजों के साथ इस प्रकार का भेद तुलनीय)। किंतु अपवाद अनेक होते हैं : इस प्रकार, उदाहरणस्वरूप जय॑, जव॑, स्मर॑ क्रियार्थ संज्ञाएँ; श्र॑व, मो॑घ, स्त॑व, कर्त्रर्थ संज्ञाएँ—तथा प्रस्तुत प्रसंग में जितना भी अनुसंधान हुआ है, उससे अधिक व्यापक और गहन अनुसंधान की अपेक्षा है जिससे निर्दिष्ट स्वरपात प्रत्यय-प्रक्रिया में भाषा के नियम-जैसा निर्धारित किया जाय।

(२) उ—धातु के वृद्धि-सबलीकरण के साथ—किंतु केवल वहीं जहाँ आ परिणामी धात्वच् होता है : अर्थात् मध्य अ का, तथा अंत्य ऋ (सर्वाधिक समय), उ या ऊ, इ या ई (विरले) का।

ऊ—क्रियार्थ संज्ञाओं के उदाहरण हैं : का॑म प्रेम, भा॑ग हिस्सा, नाद॑ शब्द, दाव॑ दहन, तार॑ पार करना।

ए—कर्त्रर्थ संज्ञाओं के उदाहरण हैं : ग्राभ॑ पकड़ने वाला, वाह॑ ढोने वाला, नाय॑ ले जाने वाला; जार॑ प्रेमी।

(३) ऐ—असबलीकृत धातु के साथ उदाहरण कम बहुत प्राप्त हैं : उदाहरणार्थ, कृश॑ दुबला, तुर॑ तेज, युग॑ जुआ, स्रुव॑ चम्मच, प्रिय॑ प्यारा, व्र॑ समुदाय, शुच॑ चमकीला।

ओ—इस वर्ग के कतिपय शब्द जो विशेषतः समास में प्रयुक्त होते हैं

वस्तुतः अ-शब्दरूप में धातु-प्रातिपदिकों के अंतरण के परिणामस्वरूप हैं। उदा० **घुष, स्फुर, तुद, दृश, विद, किर**।

औ—थोड़े-से अ-प्रातिपदिक क्रियारूप-प्रकृतियों से, अधिकांशतः णिजन्त-प्रकृतियों से, विशेषतः प्राचीनतर भाषा में बनाये जाते हैं: यथा—**आसय, इलय, ईङ्खय, एजय, धारय, पारय, मृडय, शमय** (तुलनीय आ-प्रातिपदिक, ११४९ इ, ई); सन्नन्त से भी, यथा **बीभत्स** (तुलनीय १०३८)। काल-प्रकृतियों से भी कादाचित्क उदाहरण मिलते हैं: इस प्रकार, **नु**-प्रकृतियों से, अथवा उसी से बनी यौगिक प्रकृतियों से, **हिन्वं, इन्व, जिन्व, पिन्व, सिन्व, सुन्व, अश्नुव**; अन्य प्रकृतियों से, **पृण, मृण, स्तृण, पुन, जान, पश्य, मन्य, दस्य, जुर्य, क्षुध्य, स्य, तिष्ठ, जिघ्र, पिब**; भविष्य-प्रकृतियों से, **करिष्य** (जे० ब्रा०), **जनिष्य, भविष्य, रुचिष्य** (?); स्पष्टतः लुङ्-प्रकृतियों से, **जेपं, नेपं, पर्षं, पृक्ष** (?), **होष**।

(४) क—अभ्यस्त धातुरूप से अ अंतवाले व्युत्पत्तिज व्यापक वर्ग के होते हैं, जो अधिकांशतः प्राचीनतर भाषा में प्रयुक्त हैं। ये कभी-कभी सरल अभ्यास के साथ बनाये जाते हैं। इस प्रकार **चचरं, चिकित, दध्रं, दधृषं, बभस, बभ्र, बव्रं, शिशयं, शिश्नथ** (क्रियार्थ संज्ञा), **सस्नं**; किंतु अधिक समय यङन्त अभ्यास के साथ; इस प्रकार, केवल सबलीकृत, **चाक्ष्मं, चाचल, जागर, नानद, लालस, वीवधं** (?), **मेमिष, रेरिहं** और **लेलिह, वेविजं, नोनुव, मोमुघं, रोरुद, लोलुप**; युक्त व्यंजन के साथ—**चङ्कश, चङ्क्रम, जङ्गम, चञ्चल, जञ्जप, दन्ध्वन, नन्नम, जर्जल्प, जर्जर, तर्तुर, दर्दिर, मुर्मुर, गद्गद**; द्व्यक्षरिक, **करिक्र, कनिक्रदं, चराचरं** और **चलाचलं, मरीमशं, मलिम्लुचं, वरीवृतं, सरीसृपं पनिष्पदं, सनिष्यदं, सनिस्रसं, पतापत, मदामद, वदावद, घनाघनं**। इनमें से अनेक यङन्त क्रियारूप-प्रकृति से माने जा सकते हैं; किंतु इनके कुछ से ऐसा रूप देखा जाता है जो यङन्त क्रियारूप में अप्राप्त है।

(५) ख—सोपसर्ग धातुओं से इस प्रत्यय के साथ व्युत्पादित शब्द रूप-निर्माण की सभी विधियों में खूब सामान्य होते हैं (प्रत्येक में स्वतंत्र शब्दों के पुनरावर्तन के अनुपात में); वस्तुतः पूर्व-प्रत्ययों से युक्त यौगिक प्रकृतियों के वृहत्तम वर्ग का निर्माण करते हैं। अर्थ की दृष्टि से ये दोनों वर्गों के होते हैं। स्वरपात कुछ अपवादों के साथ अंत्य चिह्न पर होता है—तथा यह क्रियार्थ-संज्ञा अथवा कर्त्रर्थ संज्ञा-जैसी प्रकृति की प्रयोगिता से निरपेक्ष है।

ग—उदाहरण हैं: **संगमं** सम्मेलन, **निमेषं** पलक, **अभिद्रोहं** शत्रुता,

अनुकर सहायता, **उदान** उच्छ्वास, **प्रत्याश्राव** प्रतिवचन; **परिचर** विचरण करनेवाला, **संजय** विजयी, **विबोध** जागरण करनेवाला, **अतियाज** अति-धार्मिक, **उदार** प्रेरक, उन्नत, **उत्तुद** उत्तेजक, **संगिर** निगलने वाला, **आदर्दिर** कुचलने वाला, **अधिचङ्क्रम** आरोही।

घ—स्वरपात लेकर अपवादों का एकमात्र निश्चित वर्ग अमन्त (ऊपर, ९९५) क्रियाविशेषणात्मक पूर्वकालिक क्रियारूपोंवाला प्रतीत होता है, जहाँ धात्वक्षर उदात्तित है। बहुत कम दूसरी प्रकृतियों में तथाविध स्वर प्राप्त है: उदाहरणार्थ—**उत्पात** अपशकुन, **आश्रेष** महामारी। कुछ अन्य रूपों में, अधिकांशतः कर्त्रर्थ-संज्ञाओं में, स्वरपात पूर्वप्रत्यय पर होता है: उदाहरणस्वरूप, **व्योष** (अर्थात् **वि-ओष**) दाहक, **प्रतिवेश** पड़ोसी, **आभग** अंशक; किंतु साथ ही **संकाश** रूप।

ङ—अवियोज्य पूर्व-प्रत्ययों तथा अन्य तत्त्वों के साथ इन व्युत्पत्तिजों के अवशिष्ट समासों के लिए देखिए परवर्ती अध्याय। यहाँ केवल यह उल्लेख किया जा सकता है कि इस प्रकार के समास बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं, तथा अ-प्रत्ययान्त शब्द में बहुधा कर्तृवाच्य कृदन्तक्रियारूप-प्रयोगिता प्राप्त है और अधिकतर इसके पूर्व में विभक्तिरूप, अत्यधिक समय द्वितीयाविभक्तिरूप, आता है।

च—भाषा में अनेक शब्द अ प्रत्ययान्त मालूम होते हैं, जब कि इनका संबंध किसी धातु से जोड़ा नहीं जा सकता, जो अन्यथा तथाविध निर्धारित की जा सकती है।

११४९—अ—**आ** अंतवाली प्रकृतियों की एक बड़ी संख्या स्त्रीलिंग विशेषण होती है जिनके अनुरूपी **अ**-अंतवाले पुंलिंग और नपुंसक विशेषण (३३२, ३३४) हैं। किंतु साथ ही, **अ** अंतवाले कतिपय प्रत्ययों के अपने स्त्रीलिंग रूप दीर्घ आकारान्त होते हैं जिनसे अल्पाधिक संख्या में क्रियार्थ-संज्ञाएँ बनती हैं। ये नीचे विभिन्न प्रत्ययों के अंतर्गत दिये जायेंगे।

आ—तथापि पुनः धातु में **आ** जोड़ कर बनायी गयी स्त्रीलिंग क्रियार्थ संज्ञाओं की एक बड़ी संख्या प्राप्त है, और वहाँ स्वतंत्र स्वरूप मिलता है, यद्यपि ये वस्तुतः आंशिक रूप में धातुसंज्ञाओं के अंतरण हैं (११४७)। सामान्यतया इनमें धातु का असबलीकृत रूप देखा जाता है, और (जैसा कि स्वर-चिह्नित ग्रंथों में प्राप्त हैं) उदात्तित प्रत्यय है।

आ—उदाहरण हैं—**ईशा** प्रभुता, **क्रीडा** खेल, **दया** अनुकम्पा, **निन्दा**

अपकीर्ति, **शङ्का** संदेह, **हिंसा** क्षति, **क्षमा** धैर्य, **क्षुधा** भूख, **भाषा** वाणी, **सेवा** परिचर्या, **स्पृहा** इच्छा।

इ—किंतु विशेष रूप से, इस प्रकार की **आ**-अंतवाली संज्ञाएँ बड़ी संख्याओं में और पूर्ण स्वतंत्रता के साथ यौगिक क्रियारूपप्रकृतियों से बनायी जाती हैं।

ई—इस प्रकार, विशेषतः सन्नन्त प्रकृतियों से, यथा—**जिगीषा, भिक्षा, वीत्सा, बीभत्सा,** प्रभृति (द्रष्टव्य १०३८); यौगिक परोक्षों के रूपनिर्माण में विशेषतः णिजन्त प्रकृतियों से, किंतु सन्नन्त और यङन्त से भी, तथा मुख्य वर्तमान-प्रकृतियों से भी (१०७१ इ-उ); नामधातु प्रकृतियों से प्राचीनतर भाषा में, यथा—**अश्वया, सुक्रतूया, अपस्या, उरुष्या, असूया, अश्नया, जीवनस्या** इत्यादि, तथा खूब विरले उत्तरकाल में, यथा **मृगया**।

उ—अभ्यस्त प्रकृति से एकमात्र उदाहरण परवर्ती काल का **पस्पशा** होता है; क्योंकि **सूपा, जङ्घा** और **जिह्वा,** जिनमें अभ्यस्त स्वरूप प्राप्त है, संदिग्ध उत्पत्तिवाले हैं। वर्तमान-प्रकृति से **इच्छा** और संभवतः—**ऋच्छा** होते हैं।

११५०—**अन**। इस प्रत्यय से (यथा **अ** से) असंख्य शब्द, अर्थ के दोनों प्रमुख वर्गों के और अविरल विशेषीकरणों के साथ, बनाये जाते हैं। धातु अत्यधिक समय गुण-सबलीकरण ग्रहण करती है किंतु अविरले उसके स्थान पर वृद्धि तथा कुछ स्थितियों में यह असबलीकृत बनी रहती है। इस रूपनिर्माण के शब्द पूर्व-प्रत्ययों से युक्त धातुओं से अधिक होते हैं, तथा रचना में अन्य तत्वों के साथ भी।

अ—नियमित और अतिप्रचलित स्वरपात अर्थ-भेद से निरपेक्ष रहकर धात्वक्षर पर होता है; किंतु अंत्योदात्त वाले प्रयोग भी प्राप्त हैं, तथा कुछ उपधा उदात्त वाले। क्रियार्थ संज्ञाएँ सामान्यतः नपुंसक लिंग की होती हैं। विशेषणों का स्त्रीलिंग **आ** में या **ई** में बनाया जाता है (विस्तार के लिए, देखिए नीचे)। पुनः **अना** और **अनी** अंतवाली कुछ स्त्रीलिंग क्रियार्थ संज्ञाएँ मिलती हैं, जो इस प्रत्यय से संबद्ध मानी जा सकती हैं।

(१) आ—सबलीकृत और उदात्तित धात्वक्षर के साथ। इस शीर्ष के अंतर्गत, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है, रूपों की एक बड़ी संख्या आती है।

इ—गुण-सबलीकरण के साथ: क्रियार्थ संज्ञाओं के उदाहरण होते हैं **सदन** आसन, **रक्षण** रक्षा करना, **दान** देना, **चयन** एकत्र करना, **वेदन** धन, **हवन** पुकारना, क्रिया, **भोजन** भोग, **करण** क्रिया, **वर्धन** वृद्धि, कर्त्रर्थ संज्ञाओं के **तपन** जलाने वाला, **चेतन** दृश्य, **चोदन** प्रेरक।

ई—वृद्धि-सबलीकरण के साथ (केवल उन्हीं स्थितियों जहाँ **आ** धात्वक्षर के स्वर के रूप में बना रहता है) : उदाहरण हैं—**चातन, नाशन, मादन, वाचन, वासन, वाहन, सादन, स्पाशन, स्वादन, आयन, श्रावन, स्रावण, पारण** ।

उ—सोपसर्ग धातुओं से इस रूपनिर्माण के व्युत्पत्तिज शब्द बड़ी संख्या में मिलते हैं; पुनरावर्तन की दृष्टि से केवल **अ** अंतवाले शब्द इनसे अधिक होते हैं (ऊपर, ११४६ ख, ग)। कुछ उदाहरण हैं : **आक्रमण** चढ़ाई, **उद्यान** आरोह, **निधान** आश्रय, **प्राणन** निःश्वास, **विमोचन** छुटकारा और छुटकारा देनेवाला; **संगमन** सम्मेलन और सम्मेलन में शामिल होनेवाला, **अधिविकर्तन** काटना, **अपभ्रंशन** नीचे गिरना । इन व्युत्पतिजों के अन्य सामासिकों के लिए, जिनमें तथाविध स्वराघात (और तथाविध स्त्रीलिंग प्रातिपदिक) देखा जाता है, द्रष्टव्य परवर्ती अध्याय (नीचे, १२७१)। कुछ अपवाद मिलते हैं : **विचक्षण, उपरिशयन**, तथा स्त्रीलिंग शब्द **प्रमन्दनी** और **निर्दहनी** ।

ऊ—इस रूपनिर्माण के विशेषण, शुद्ध अथवा सामासिक, अपना स्त्रीलिंगरूप सामान्यतया ई लगाकर बनाते हैं : यथा—**चोदनी, पेशनी, स्परणी, जम्भनी; प्रज्ञानी, प्रोक्षणी, संग्रहणी, अभिषवणी, विधरणी** (**चेतनी** संदिग्ध अर्थ वाला है, नीचे औ)। किंतु विशेषण-सामासिक, जिसका उत्तरपद **अन** प्रत्ययान्त संज्ञा-शब्द होता है, अपना स्त्रीलिंग **आ** लगाकर बनाता है : यथा—**सूपसर्पणा** प्राप्ति सुलभा, **षड्विधाना** छः विधानों को रखनेवाली, **अनपवाचना** परिहार के अयोग्य ।

(२) अपेक्षाकृत अधिक अनियमित रूपनिर्माण यों वर्गीकृत हो सकते हैं :

ए—अन्त्योदात्त के साथ : कर्त्रर्थ संज्ञाओं और विशेषणों में अनेक; यथा—**करण** कार्यशील (इसके विपरीत **करण** कार्य) **कृपण** दुःखी (इसके विपरीत **कृपण** दुःख), **त्वरण** शीघ्रगामी, **रोचन** दीप्तिमान्, **क्रोचण** चीत्कार करने वाला, **स्वपन** निद्रालु, **क्षयण** निवास योग्य ।

ऐ—ये पूर्ववर्ती वर्ग से भिन्न अपना स्त्रीलिंग **आ** में बनाते हैं : यथा—**त्वरणा, स्पन्दना** । प्राचीनतर भाषा में इसी प्रकार की कुछ क्रियार्थसंज्ञाओं में यही रूप मिलता है : यथा—**अशना, असना, मनना, द्योतना, रोधना, श्वेतना, हसना** (तथा तुलनीय **कपना, रशना**); उत्तरकालिक भाषा में **अना** अंतवाली (वस्तुतः अनेक) स्वरपात की दृष्टि से संदिग्ध होती हैं ।

ओ—इनके अतिरिक्त **अनी** अंतवाले कुछ स्त्रीलिंग शब्द, जो संदिग्ध प्रकृति

वाले होते हैं, उल्लिखित किये जा सकते हैं : **अर्षणी**, **चेतनी**, (**चेतन** में), **तपनी** (**तपन** में), **पृशनी**, **वृजनी** (**वृजन** में), **रजनी**, **तेदनी** ।

औ—उपधा पर स्वर के साथ : विशेषणों की एक छोटी संख्या, यथा—**तुरण** शीघ्र, **दोहन** दुहान, **मनन** मनस्वी, **भन्दन** और **मन्दन** आनन्दित, **सक्षण** विजयी और संभवतः **वक्षणा** वहन करने वाली (अंतिम दो लुङात्मक **स्** के साथ); तथा कुछ अन्य नपुंसक संज्ञाएँ : **दंसन** महत् कार्य, **वृजन** घेर, नगर, **वेपण** सेवा, **कृपण** दुःख (इसके विपरीत **कृपण** दुःखी), साथ ही पुंलिंग **किरण** धूलि ।

क—स्त्रीलिंग का एकमात्र प्राप्त उदाहरण **आ**-अंतवाला है : **तुरणा** । पुनः कुछ स्त्रीलिंग संज्ञाओं में इस प्रकार का रूप मिलता है : **अर्हणा**, **जरणा**, **बर्हणा**, **भन्दना**, **महना**, **मेहना**, **वर्धना**, **वनना**, **वक्षणा** । (पुनः तुलनीय असंगत पुंलिंग संज्ञा **उशना** : ३५५ अ) ।

ख—धातु के सबलीकरण के बिना थोड़ी संख्या के व्युत्पतिज बनाये जाते हैं : यथा (ऊपर उदाहृतों के अतिरिक्त, **कृपण** और **कृपण**, **वृजन** और **वृजनी**, **किरण**, **तरुण**) । अन्य उदात्तयुक्त होते हैं **उरण**, **धुवन**, **पृशन**, **भुवन**, **वृजन**, **वृषण**, **सुवन**; तथा उत्तरकाल में **स्फुरण**, **स्फुटन**, **स्पृहण**, **लुवन**, **लिखन**, **रुदन** प्रभृति प्राप्त होते हैं । ऋ० वे० **रिषण**, **रुवण**, **विपन**, **हुवन** से नामधातुरूप बनाता है ।

ग—**अन** अंतवाले प्रातिपदिक यौगिक-क्रियारूप प्रकृतियों से भी बनाये जाते हैं : इस प्रकार, सन्नन्तों से, यथा—**चिकित्सन** (द्रष्टव्य १०३८); णिजन्तों से, यथा—**ह्रापन**, **भीषण** (देखिए १०५१ ए); नामधातुओं से, बड़ी स्वच्छंदता के साथ, उत्तरकालिक भाषा में, यथा **आकर्णन**, **उन्मूलन**, **श्लक्ष्णन**, **चिह्नन**; यङन्तों तथा अन्य साभ्यास प्रकृतियों से, केवल **चङ्क्रमण**, **जङ्गमन**, **जागरण**, **योयुपन** ।

घ—कुछ अन्य विकीर्ण प्रयोग और भी निर्दिष्ट किये जा सकते हैं : काल प्रकृतियों से, **जिघ्रण**, **ऊर्णवन**, **पश्यन**, **यच्छन**, **सिञ्चन**; पूर्वसर्गों से, **अन्तरण** और **संमन**; अर्थ-पूर्वप्रत्यय **अस्तम्** (११९२ आ) से **अस्तमन** । संदिग्ध संबंध वाले **अना** अंत स्त्रीलिंग शब्द **योषणा**, नारी (साथ ही, **योषन्**, **योषा** इत्यादि) और **पृतना** होते हैं ।

११५१—**अस्** । इस प्रत्यय द्वारा (सामान्यतया धात्वच् के गुण-सबलीकरण के साथ) नपुंसक संज्ञाओं का एक वृहत् वर्ग बनता है जो अधिकांशतः सूक्ष्म (भाव-संज्ञाएँ) होती हैं; किंतु कभी-कभी प्रत्यक्ष प्रयोगिता का ग्रहण भी

करती हैं; पुनः प्राचीनतर भाषा में कुछ कर्त्रर्थ संज्ञाएँ और विशेषण होते हैं, और कतिपय तुमर्थक रूप ।

अ—प्रथम वर्ग के शब्दों में स्वरपात धातु पर होता है, द्वितीय में प्रत्यय पर; तथा कुछ स्थलों में दोनों वर्गों के समरूप शब्द अपने उदात्त लेकर ही विभक्त होते हैं; तुमर्थक रूपों में स्वरपात अधिकांशतः प्रत्यय पर होता है ।

(१) आ—प्रथम तथा मुख्य वर्ग के उदाहरण हैं : अवस् सहायता, अनुग्रह, तपस् उष्णता, प्रयस् आनंद, तेजस् तेज, श्रवस् कीर्ति, दोहस् दोहन, करस् कर्म, प्रथस् चौड़ाई; चेतस् और मनस् मन, चक्षस् आँख, सरस् जलाशय, वचस् वाणी ।

इ—इस वर्ग के कुछ शब्द अनियमित रूपनिर्माण के होते हैं : इस प्रकार, धातु के सबलीकरण के अभाव के साथ, जुवस् शीघ्रता (साथ ही, जवस्), उरस् वक्षःस्थल, मृधस् घृणा; तथा इरस्-(इरस्य-) और वियस्-, और क्रिया-विशेषण तिरस् , मिथस् , हुरस्-, साथ ही शिरस् तुलनीय हैं; वृद्धि सबलीकरण के साथ, -वाचस् , वासस् , वाहस् ,-स्वादस् तथा संदिग्ध संबंधवाले पाजस् , पाथस् और हायस् ;—संभवतः लुङात्मक स् के साथ, हेषस् निक्षेपण अस्त्र;—पीवस् में जो व् प्राप्त है वह धातुमूलक नहीं है ।

ई—धातु के अंत्य आ के बाद प्रत्यय से पूर्व य् का अंतर्निवेश सामान्यतः होता है (२५८) : यथा—धायस् , गायस् । किंतु ऐसे रूपनिर्माण के स्पष्ट अवशेष प्राप्त हैं जहाँ अस् धातुमूलक आ में सीधे जुड़ा था : यथा—आस् और दास् (बहुधा द्व्यक्षर-जैसा पाठ अपेक्षित है), ज्ञास् , मास् ; तथा धा और दा धातुओं से—धस् और दस् ।

(२) उ—वे प्रयोग जहाँ अपने उदात्त लेकर कर्त्रर्थ संज्ञा क्रियार्थ संज्ञा से भिन्न होती है, : अपस् कार्य, और अपस् कार्यशील; यशस् रमणीयता, और यशस् रमणीय, तरस् शीघ्रता, और तरस् (वा० सं० एक वार) शीघ्र; तवस् बल, और तवस् बलवान्; दुवस् , पूजा, और दुवस् प्रसन्न (?); महस् महत्ता, और महस् महान्; रक्षस् पुं० और स्त्री० दोनों के अर्थ राक्षस होते हैं, तथा त्यजस् , पुं० त्याग, और त्यजस् पुं० वंशज (?) के बीच विरुद्धता अपेक्षाकृत बहुत कम स्पष्ट है ।

ऊ—तद्रूपी भावार्थों के बिना अस् अंतवाले विशेषण हैं : तोशस् वरद, यजस् यज्ञ करने वाला, वेधस् धार्मिक, संभवतः आहनस् मूर्धन्य; तथा

विकीर्ण प्रयोगवाले कुछ शब्द; यथा—**वेशस्**, **ध्वरस्**। नामधातु प्रकृति से **मृगयस्** जंगली जानवर (ऋ० वे० एक बार) बनाया जाता है।

ए—किंतु भाववाचक संज्ञाओं के बहुत कम शब्द होते हैं जो नपुंसक नहीं हैं और जिनमें स्वरपात प्रत्यय पर है : यथा—**जरस्** वृद्धावस्था, **भियस्** भय; तथा निस्संदेह **हृवस्** आह्वान और **त्वेपस्** उद्वेग। स्त्रीलिंग शब्द **उपस्** उपः-काल और **दोपस्** रात भी इसके अथवा पूर्ववर्ती अंतिम शीर्ष के अंतर्गत हो सकते हैं।

ऐ—संज्ञा **उपस्** गोद और कुछ व्यक्तिवाची नाम : **अङ्गिरस्**, **नोधस्**, **भलानस्**, **अर्चनानस्**, **नचिकेतस्**, स्पष्टतः **अस्** प्रत्ययांत होते हैं। स्त्रीलिंग शब्द **अप्सरस्** देवाङ्गना संदिग्ध व्युत्पत्ति का है।

ओ—इस विभाग के शब्दों में से कुछ का रूपनिर्माण विशेष उल्लेख के बिना रखा जाएगा।

(३) औ—**अस्** प्रत्यय द्वारा बने तुमर्थक रूप ऊपर (९७३) उल्लिखित हो चुके हैं; इनमें धातु के विभिन्न परिवर्तन और विविध स्वरपात। जिनमें अंतिम संभवतः **सहस्** और **जरस्** के मध्य की तरह लिंग-भेद सूचित कर सकते हैं।

(४) क—सोपसर्ग धातुओं से **अस्** प्रत्ययान्त शब्दों का रूपनिर्माण अति सीमित है—यदि किसी तरह यह विहित हो। उपसर्ग के साथ **अस्** अंतवाले कोई तुमर्थकरूप प्राप्त नहीं होता है, और न तो क्रियार्थ-संज्ञा ही; तथा विशेपण-संयोग कुछ स्थलों में स्पष्टतः और अन्य अधिकांश स्थलों में संभवतः विशेपणवत् प्रयुक्त उपसर्ग के साथ संज्ञा के संबंधवाचक समास होते हैं; सर्वाधिक संभव अपवाद **न्योकस्** और **विष्पर्धस्** है। इस प्रकार इन उदाहरणों में स्वरपात नित्य प्रत्यय पर होता है।

ख—**अर्** अंतवाली कुछ वैदिक प्रकृतियाँ यहाँ निर्दिष्ट की जा सकती हैं, जो अल्पाधिक मात्रा में **अस्** अंतवाली प्रकृतियों के साथ विनिमेय हैं और स्पष्टतः ऐसी प्रकृतियों से संबद्ध हैं। इनका उल्लेख ऊपर १६९-अ में हो चुका है।

सर्वाधिक सामान्य और महत्वपूर्ण **स्** अंतवाले प्रत्यय के साथ दूसरों का निरूपण अत्यधिक समीचीन होगा जो कार्य और संभवतः उत्पत्ति लेकर भी सजातीय है और जो तथाविध ऊष्म ध्वनि अन्तवाला होता है।

११५२—**तस्**, **नस्**, **सस्**। इन प्रत्ययों द्वारा क्रियार्थ संज्ञाओं की अत्यधिक न्यून संख्या बनाई जाती है। इस प्रकार :

अ—तस् से रेतस् वीर्य और स्रोतस् धारा शब्द बनाये जाते हैं।

आ—नस् बनाता है अप्नस् प्राप्ति, अर्णनस् धारा-भरनस् पूजन, रेक्णस् संपत्ति; तथा द्रविणस् धन और परीणस् पूर्णता में वही प्रत्यय संयोजन-स्वरों की वर्तमान प्रयोगिता वाले पूर्वाश्लिष्ट तत्वों के साथ स्पष्टतः देखा जा सकता है। संभवतः दमूनस् गृह-मित्र और ऋजूनस् (ऋ० वे०) सं० व्यक्तिवा० उशनस् (या-ना) सं० व्यक्तिवा० में यही बात लागू होती है।

इ—सस् से संभवतः वप्सस सौंदर्य बना है; तथा तरूषस् इसके साथ उल्लिखित किया जा सकता है (वस्तुतः तरुस-अ ?)।

११५३—इस्। इस् प्रत्यय द्वारा अल्पसंख्यक (लगभग दर्जन की) संज्ञाएँ बनायी जाती हैं।

अ—ये अंशतः भावसंज्ञाएँ होती हैं, किंतु अधिकांश मूर्तरूप में प्रयुक्त हैं। धात्वक्षर का गुण-सबलीकरण होता है, और स्वरपात प्रत्यय पर है (अपवाद-स्वरूप ज्योतिस , प्रकाश, व्यथिस् और आमिस् , कच्चा मांस हैं)। उदाहरण हैं : अर्चिस् , रोचिस, और शोचिस् प्रकाश, छर्दिस् या छर्दिस् आवरण, बर्हिस तृण, वर्तिस् रास्ता, सर्पिस मक्खन, हविस् आहुति, द्योतिस् ज्योति, और क्रविस कच्चा मांस, अविस्-, पाथिस, भ्राजिस्-,महिस्-अस् अंतवाली प्रकृतियों के विकीर्ण परिवर्तन रूप हैं; तथा तुविस् ,-शुचिस् और सुरभिस्–कुछ सामासिकों अथवा व्युत्पत्तिज शब्दों में असंघटनात्मक रूप से तुवि प्रभृति के लिए मालूम होते हैं।

११५४—उस्। इस प्रत्यय से विभिन्न अर्थ, धातु-रूप और स्वरपात वाले कुछ शब्द बनाये जाते हैं।

अ—ये भाव और कर्तृ दोनों के द्योतक शब्द होते हैं। कुछ में स्वरपात की भिन्नता के बिना दोनों अर्थ प्राप्त हैं : यथा—तपुस् उष्णता और उष्ण; अरुस् पीड़ा, पीड़ायुक्त; चक्षुस् चमक और देखने वाली, आँख; वपुस् आश्चर्यजनक और आश्चर्य। संज्ञाएँ अधिकांशतः नपुंसक होती हैं, और उदात्त धात्वक्षर पर होता है : यथा—आयुस , तरुस् , पुरुस् , मुहुस् (? केवल क्रियाविशेषण रूप), मिथुस् (वही), यजुस् , शासुस्। अपवाद हैं : स्वरपात की दृष्टि से, जनुस् जन्म; लिंग की दृष्टि से, मनुस पुरुष, और नहुस् व्यक्तिवाचक संज्ञा। विशेषणों में जयुस् , वनुस् और दक्षुस् जलता हुआ (जो लुङ् प्रकृति से स्वतः संबद्ध लगता है, के प्रत्यय पर स्वरपात प्राप्त है)।

११५५—इ—इस प्रत्यय से सभी लिंगों में शब्दों की एक बड़ी संख्या—विशेषण और पुंलिंग कर्त्रर्थ संज्ञाएँ, स्त्रीलिंग भाववाचक, और कुछ नपुंसक—

बनायी जाती हैं। इनमें धातु का विभिन्न रूप देखा जाता है—सबल, दुर्बल और साभ्यास। इनका स्वरपात भी विभिन्न होता है। इनमें से अनेक के अर्थ अधिक विशेषीकृत होते हैं; तथा अनेक (नपुंसकों के अधिकांश को शामिल कर) अन्यत्र प्रमाणरूप किसी धातु के साथ कठिनता से संबद्ध किये जा सकते हैं।

(१) अ—स्त्रीलिंग क्रियार्थ-संज्ञाएँ अति विभिन्न रूप की होती हैं: यथा—दुर्बल धातु-रूप के साथ, **रुचि** चमक, **त्विषि** प्रकाश; **कृषि** खेती, **नृति** नाच;—गुण सबलीकरण के साथ (जहाँ संभव), **रोपि** कष्ट, **शोचि** उष्णता, **वनि** और **सनि** प्राप्ति;—वृद्धि-सबलीकरण के साथ, **ग्राहि** पकड़, **ध्राजि** गति, **आजि** दौड़; √(**दुष्**) से **दूषि** (तुलनीय **दूषयति**, १०४२ आ) प्राप्त होता है। स्वरपात की भिन्नता, जो किसी प्रकार के नियम में बाँधी नहीं जा सकती है, दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट है। इस रूपनिर्माण के तुमर्थवत् प्रयुक्त कुछ शब्दों में (ऊपर ९७५ आ) दुर्बल धातु-रूप प्राप्त है, और प्रत्यय पर स्वरपात रहता है।

(२) आ—विशेषणों और पुंलिंग कर्त्रर्थ-संज्ञाओं में इसी प्रकार का वैविध्य देखा जाता है। यथा—

इ—असबलीकृत धातु के साथ: **शुचि** चमकीला, **भृमि** उत्साही (√(**भ्रम्**)), **गृभि** धारक।

ई—असबलीकृत धातु (अथवा गुण-परिवर्तन की अयोग्य धातु) के साथ: **अरि** शत्रु, **महि** बड़ा, **अर्चि** किरण, **ग्रन्थि** गाँठ, **क्रीडि** खेल; वृद्धि-विस्तार के साथ, **कार्पि**, **जानि**, **धारि**, **शारि**, **साचि**, **सादि**, **साहि** तथा अस्पष्ट संबंध वाले कुछ शब्द: यथा—**द्रापि** ओढ़नी, **राशि** ढेर, **पाणि** हाथ प्रभृति। विकीर्ण—**आनशि** √(**अश्**) की परोक्ष-प्रकृति (७८८) से निष्पन्न मालूम होता है।

उ—साभ्यास धातु के साथ। यह प्राचीनतर भाषा में एक बृहत् वर्ग है और इसमें अत्यंत विभिन्न रूप प्राप्त हैं। इस प्रकार दुर्बल अथवा संक्षेपीकृत धातु के साथ, **चक्रि**, **जघ्रि** √(**घर्**) **पप्रि**, **सस्रि**, **अम्रि**, **वभ्रि**, **वव्रि**, **जग्मि**, **जज्ञि** √(**जन्**) **तत्नि**, **जघ्नि**, **सस्नि**; **सुष्वि**—**शिश्वि**; तथा अंत्य **आ** के विस्थापन (अथवा प्रत्यय के अनुरूप इसके दुर्बलीकरण) के साथ, **ददि**, **पपि**; **ययि** (एक या दो प्रयोग **ययी** से),—**जज्ञि**, **दधि**;—परिवर्तनीय ऋ अंतवाली धातुओं के उर्-रूप से, **जगुरि**, **ततुरि**, **पपुरि** (**पुपुरि** सा० वे०);—सरल अभ्यास के साथ, **चिकिति**, **युयुधि** **विविचि**;—सबलीकृत अभ्यास के साथ—**चाचलि**, **तातृपि**, **दाधृषि**, **वावहि**, **सासहि**, **तूतुजि** और **तूतुजि**,

यूंयुवि, यूंयुधि; तथा **जर्भरि** और **वम्भारि**। पुनः **कर्करि** वीणा और **दुंदुभि** ढोल इस वर्ग के अंतर्गत होने का लक्षण रखते हैं, किंतु संभवतः अनुकरणमूलक शब्द हैं। स्वरपात, जैसा कि देखा जाएगा, सर्वाधिक समय अभ्यास पर होता है, किंतु अविरले (केवल एक बार धातु पर) अन्यत्र। यह ऊपर (२७१ ऊ) निर्दिष्ट हो चुका है कि **इ** अंतवाले अभ्यस्त शब्द वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप की तरह अविरले द्वितीयाविभक्ति में कर्मपद का ग्रहण करते हैं।

ऊ—उपसर्गों के साथ संयुक्त धातु से **इ** अंतवाले रूपनिर्माण बहुसंख्यक नहीं होते हैं। ये सामान्यतया प्रत्यय पर उदात्तित होते हैं। उदाहरण हैं: **आयजि, व्यानशि, निजघ्नि, परादर्दि, विपासहिं;** किंतु साथ ही, **आजानि, आमुरि, विवव्रि**। अन्य पूर्ववर्ती शब्दों के साथ समस्त **इ** अंतवाले विशेषण या कर्त्रर्थ संज्ञाएँ विरल नहीं हैं, और नियमित रूप से धातु पर उदात्तित हैं: द्रष्टव्य परवर्ती अध्याय, १२७६।

ए—√(**धा**) से व्युत्पत्तिज—**धि** आता है जिसमें अनेक पुंलिंग सामासिक बनते हैं जहाँ भाव और वस्तु दोनों अर्थ प्राप्त हैं: इस प्रकार उपसर्गों के साथ, **अन्तर्धि, उद्धि, निधि, परिधि** इत्यादि। √(**दा**) से इसी तरह **आदि** आरम्भ बनता है, और √(**स्था**) से **प्रतिष्ठि** प्रतिबंध। इस प्रकार के रूपों को धातुमूलक **आ** के विचलन अथवा **इ** में **आ** के दुर्बलीकरण के साथ प्रत्यय **इ** के साथ निर्मित मानना चाहिए, इस विषय में मतों का वैभिन्न्य प्राप्त है।

(३) ऐ—**इ** अंतवाली नपुंसक संज्ञाएँ बहुत कम होती हैं, और संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली हैं: उदाहरण **अक्षि** आँख, **अस्थि** हड्डी, **दधि** दही प्रभृति हैं।

११५६—ई—**ई** अंतवाली (**आ** अंतवाली की तरह, ऊपर ११४९) प्रकृतियाँ अधिकांशतः स्त्रीलिंग विशेषण हैं जो अन्य अंत्य प्रत्ययों की पुंलिंग और स्त्रीलिंग प्रकृतियों के अनुरूप हैं।

अ—इस प्रकार **ई** अंत वाले स्त्रीलिंग रूप **अ**-प्रकृतियों से (३३२, ३३४: तथा देखिए विभिन्न प्रत्ययों को भी), **इ**-प्रकृतियों से (३४४, ३४६), **उ**-प्रकृतियों में (३४४ आ), **ऋ**-प्रकृतियों से (३७६ अ) तथा विभिन्न व्यंजनांत प्रकृतियों से (३७८ अ) बनाये जाते हैं।

आ—किंतु कुछ **ई**-अंतवाली प्रकृतियाँ हैं जो स्वतंत्र व्युत्पादित शब्दों का स्वरूप धारण करती हैं। उदाहरण हैं **दक्षी, देही, नदी, नान्दी, पेषी, वक्षी** (स्पष्टतः लुङात्मक **स्** के साथ), **वेशी, शाकी, शंची, शमी, शिंमी, तरी,**

वापी; ये क्रियार्थसंज्ञाएँ अथवा कर्त्रर्थ संज्ञाएँ होती हैं। उत्तरकालिक भाषा में (जैसा कि ३४४ अ में देखा जा चुका है) इ-और ई-प्रकृतियों का तथा इनके रूपों का अंत्यत सामान्य विनिमय मिलता है।

इ—प्राचीनतम भाषा में कुछ ई-अंतवाले पुंलिंग शब्द भी प्राप्त होते हैं। ऊपर ३५५ आ, ३५६ ये रखे गये हैं और इनके रूपविधान का निदर्शन हो चुका है।

११५७—**ति**। इस प्रत्यय से क्रियार्थ की स्त्रीलिंग संज्ञाओं का एक बड़ा वर्ग बनाया जाता है; तथा कुछ (पुंलिंग) कर्त्रर्थ-संज्ञाएँ और विशेषण भी प्राप्त हैं। सामान्यतया धातु का वही रूप उपलब्ध होता है जो कर्मवाच्य कृदन्त-क्रियारूप (९५२ मु० वि०) **त** से पूर्व—अर्थात् दुर्बल तथा बहुधा दुर्बलीकृत अथवा संक्षेपीकृत रूप।

अ—ऐसा लगता है कि स्वरपात कृदन्तक्रियारूप के सादृश्य में नित्य रूप से प्रत्यय पर होना चाहिए; किंतु भाषा की प्राप्त स्थिति में यह केवल प्रयोगों के अल्पसंख्यक में होता है; अर्थात् लगभग पचास जब कि साठ प्रयोग जहाँ स्वर-पात धात्वक्षर पर है और एक सौ चालीस अनिर्धारित स्वरपात के होते हैं, अनेक शब्द **इति, ऋति, चित्ति, तृप्ति, पक्ति, पुष्टि, भूति, भृति, वृष्टि, शक्ति, श्रुष्टि, सृष्टि, स्थिति**—दोनों स्वरपात रखते हैं।

(२) आ—नियमित रूपनिर्माण के उदाहरण हैं: **राति** दान, **ऊति** सहायता, **रीति** प्रवाह, **स्तुति** प्रशंसा, **भक्ति** विभाग, **विष्टि**, **कीर्ति** यश, **पूर्ति** प्रति-पादन, **मति** विचार, **पीति** पान (√(**प**) कृदंतक्रियारूप **पीत**), **धौति** धारा (√(**धाव्**), भू० कृद० **धौत**);—और उदात्तित धातु के साथ, **गति** चाल, **शांति** चैन, **दिति** विभाग (√(**दा**); मु० कृद० **दित**), **दृष्टि** देखना, **इष्टि** यजन (√(**यज्**), भू० कृद० **इष्ट**), **उक्ति** वचन (√(**वच्**), भू० कृद० **उक्त**) **वृद्धि** बढ़ना।

इ—धातुएँ जो अपना कृदन्तक्रियारूप **इत** में बनाती हैं (९५६), **ति** के पूर्व भी **इ** का ग्रहण नहीं करती हैं: यथा—केवल **गुप्ति–दृप्ति**। कुछ धातुएँ जो अपना कृदन्तक्रियारूप **त** के बजाय **न** में (९५७) बनाती हैं, भावार्थ संज्ञा भी **न** में बनाती हैं (नीचे, ११५८)। पुनः, **तन्** और **रन्** धातुओं से अपेक्षा-कृत अधिक नियमित **तति** और **रति** के अतिरिक्त **तन्ति** और **रन्ति** मिलते हैं; **अंहति** के अतिरिक्त **अंहन्ति** (एक बार वा० सं०) भी। **दा** रूप वाली धातुओं से संयोग में प्रत्ययांत रूप कभी-कभी–**त्ति** (**दाति** के लिए धात्वच् के लोप के साथ: तुलनीय कृदन्तक्रियारूप—**त्त**, ऊपर ९५५ ऊ): यथा—

निरवत्ति (काठक०), **सम्प्रत्ति** (श० ब्रा०), **परित्ति** (तै० ब्रा०), **वसुत्ति**, **भगत्ति**, **मघत्ति** (सभी ऋ० वे०)।

ई—कुछ प्रत्ययांत रूप साभ्यास धातुओं से बनाये जाते हैं; इनका स्वरपात विभिन्न होता है : यथा—**चर्कृति**, **दीधिति** और **दीदिति**, **जिगर्ति** तथा संभवतः व्यक्तिवाचक नाम **ययाति**; √(**जक्ष्**) से **जग्धि** भी (२३३ ऊ)।

उ—सोपसर्ग धातुओं से प्रत्ययांत रूप अनेक होते हैं, और स्वरपात (**त** अंतवाले कृदन्तक्रियारूपों के-जैसे) उपसर्ग पर होता है। उदाहरण हैं **अनुमति**, **अभीति**, **आहुति**, **निर्ऋति**, **व्याप्ति**, **संगति**। प्राप्त अपवाद केवल **आसक्ति** और **आसुति** तथा **अभिष्टि** (**अभिष्टि** भी) होते हैं। उपसर्गों को छोड़कर अन्य संयोगों में स्वराघात साधारणतया वही होता है : देखिए परवर्ती अध्याय (१२७४)।

(२) ऊ—विशेषण और कर्त्रर्थसंज्ञाएँ—जो पुंलिंग रूपों के चलते स्त्रीलिंग भाववाचकों की बजाय इनके साथ संबद्ध की जा सकती हैं—बहुत कम हैं : इस प्रकार **पूति** पवित्र, **वष्टि** उत्सुक, **धूति** हिलानेवाला, **ज्ञाति** संबंधी, **पत्ति** पैदल, **पति** मालिक तथा कुछ अन्य शब्द जो अल्पाधिक मात्रा में संदिग्ध स्वरूपवाले होते हैं। स्वरपात अन्य वर्ग की तरह यहाँ विविध है।

(३) ए—कुछ शब्दों में **ति** प्रत्यय से पूर्व विभिन्न स्वर-संयोजन अथवा प्रकृति-स्वर—देखे जाते हैं। **त**-कृदन्तक्रियारूप प्रभृति का सामान्य मध्यवर्ती **इ** **सनिति**, **उझिति**, **गृहीति** (**ई** इस धातु से सामान्य की तरह : ९०० आ), **पठिति**, **भणिति** में मिलता है; तथा इसके साथ विशेषण **ऋजीति**, व्यक्तिवाचक नाम **तुर्वीति** और **दभीति** तथा अपने दीर्घान्त्य के होते भी **अनींहिती** और **स्नेहिती** रखे जा सकते हैं। **अति** के साथ कुछ शब्द बनाये जाते हैं, इनमें स्वरपात विविध रूप से प्राप्त है : यथा—क्रियार्थ-संज्ञाएँ, **अंहति**, **दृशति**, **पक्षति**, **मिथति**, **वसति**, **रमति**, **व्रतति**, **अमति**, **ध्रजति**; तथा कर्त्रर्थ-शब्द **अराति**, **खलति**, **वृकति**, **रमति**, **दहति**। इनके कुछ में संभवतः प्रकृति-स्वर देखा जा सकता है, जैसा कि **जनयति** और **रसयति** में भी (तथा ऋ० वे० में **गोपयत्य** प्राप्त है)। धातु को अन्यपु० एकव० वर्तमान निश्चयार्थ रूप द्वारा प्रतिपादित करने और इसके शब्दरूप को **ति**-प्रकृति-जैसे बनाने की वैयाकरणों की पद्धति प्राचीनतर भाषा में आरंभ हो जाती है : उदा० **एतिवन्त्** (तै० ब्रा०), **क्षेतिवन्त्** (ऐ० ब्रा०), **यजति** और **जुहोति** तथा **ददाति** (सू०), **नन्दति** (महाभा०)। स्त्रीलिंग **युवति** युवती, तरुणी विच्छिन्न स्वरूप का है।

ऐ—पिछले पैराग्राफ में उदाहृत शब्दों के कुछ में **ति** संभवतः गौण प्रत्यय-जैसा प्रयुक्त है। इसका सजातीय स्वरूप सार्वनामिक प्रातिपदिकों से संख्यावाची शब्दों में, **कति**, **तति**, **यति**, और संख्यावाची शब्दों से, **दशति**, **विंशति**, **षष्टि** प्रभृति, साथ ही पंक्ति (**पञ्च** से); **पदाति** में; और निपात **अद्धा** से **अद्धाति** में मिलता है।

११५८—**नि**। यह प्रत्यय अपने प्रयोगों और अपने प्रत्ययांत रूपों की आकृति को लेकर सामान्यतः पूर्ववर्ती के तुल्य होता है; किंतु यह अपेक्षाकृत खूब कम संख्यावाले शब्दों का निर्माण करता है जिनमें स्त्रीलिंग भाववाचक शब्द अल्पसंख्यक हैं।

अ—जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है (११५४ अ), **त** के स्थान में **न** अंतवाले अपने कृदन्तक्रियारूप को बनाने वाली कुछ धातुएँ **ति** के बजाय **नि** में अपनी क्रियार्थसंज्ञा बनाती हैं। प्राचीनतर भाषा से **ज्यानि** क्षति, **जूनि** उष्णता, **हानि** त्याग (और पुंलिंग **घृणि** और **जूर्णि**) उद्धरणीय हैं, उत्तरकाल में **ग्लानि**, **म्लानि**, **सन्नि** आते हैं।

आ—अन्य वर्ग के शब्द हैं: **अग्नि** खाने वाला, **उष्णि** जलानेवाला, **वह्नि** ले जानेवाला, **जूर्णि** गाने वाला, **तूर्णि** शीघ्र चलने वाला, **भूर्णि** उत्तेजित, **धर्णि** धारण करता हुआ, **प्रेणि** प्यार करने वाला, **वृष्णि** और **वृष्णि** वीर्यवान्; और इनके साथ **पृश्नि** चितकबरा रखा जा सकता है।

इ—**प्रेणि**, **योनि**, **मेनि**, **श्रेणि**, **श्रोणि** में धात्वक्षर का सबलीकरण देखा जाता है, जो कि **ति** प्रत्ययांत शब्दों में अनुपलब्ध है।

ई—सोपसर्ग धातुओं से **नि** प्रत्ययांत शब्द प्रयोग में नहीं मिलते हैं।

उ—**ह्लादुनि** और **ह्लादुनि** में हमें पूर्वाश्लिष्ट **उ** प्राप्त होता है। **अनि** अंतवाले शब्दों में **अ** की वही प्रयोगिता संभवतः होती है, जो **अति** (ऊपर, ११५७ ए) की; किंतु **अनि** ने अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, और इसका विवेचन पृथक् प्रत्यय के रूप में समीचीन होगा।

११५९—**अनि**—इस प्रत्यय से बने शब्दों में वही दोहरी प्रयोगिता मिलती है जो पूर्व संकेतित प्रत्ययों से बने शब्दों में। इनका स्वरपात विभिन्न होता है। इस प्रकार:

अ—स्त्रीलिंग भाव-संज्ञाएँ, यदा-कदा घनीकृत अर्थ के साथ: जैसे **इ्रणि** प्रवृत्ति, **शरणि** क्षति, **द्योतनि** प्रकाश, **क्षिपणि** फेंक, **अशनि** अस्त्र, **वर्तनि** मार्ग; तथा—**अशनि**, **उदनि**, **जरणी**।

आ—विशेषण तथा अन्य कर्त्रर्थ शब्द हैं: **अरणि** अग्नि-यष्टि, **चरणि** गतिशील, **चक्षणि** आलोक देनेवाला, **तरणि** शीघ्र, **धमनि** तुरही, **ध्वसनि** ध्वंस करनेवाला, **वक्षणि** बलदायक, **सरणि** रास्ता। **धरणि** तथा एक या दो अन्य उत्तरकालिक शब्द संभवतः **अनी** अंतवाली प्रकृतियों के प्रकारांतर होते हैं। अभ्यस्त धातुरूप से—**पप्तनि** आता है सन्नन्त मूलों से **रुरुक्षणि, सिषासनि** तथा (पूर्वप्रत्यय के साथ) **आ-शुशुक्षणि** होते हैं। पुनः, थोड़े-से शब्द स्-लुङ् मूल से संबद्ध देखे जाते हैं, यथा **पर्षणि, सक्षणि, चर्षणि**।

इ—यह विवादास्पद है कि **षणि** (९७८) अंतवाले तुमर्थक रूपों को **अनि** अंतवाले रूपनिर्माण के द्वितीया विभक्तिरूपों की तरह यहाँ रखा जाय अथवा लुङात्मक **स्** द्वारा वर्धित धातुओं और मूलों से **अन्** अंतवाले रूपनिर्माण के सप्तमी-विभक्तिरूपों की तरह परवर्ती प्रत्यय के अंतर्गत।

११६०—**अन्**—इस रूपवाले प्रत्यय से अनेक शब्द नहीं बनते हैं, तथा इनमें से कुछएक धातुओं के साथ स्पष्टतः संबद्ध किये जा सकते हैं। कुछ विरल नपुंसक रूप (संदिग्ध तुमर्थक रूपों के साथ-साथ) क्रिया-संज्ञाएँ हैं; अन्य पुंलिंग और नपुंसक कर्त्रर्थ-संज्ञाएँ। स्वरपात विविध होता है।

अ—तुमर्थक रूप जो सप्तमी-विभक्तिरूपों की तरह इस प्रत्यय से संबद्ध माने जा सकते हैं, **षणि** अंतवाले हैं जिनका **स्** काल-मूल का अंत्य हो सकता है। ये सब-के-सब ऊपर दिये गये हैं (९७८)।

आ—अन् अंतवाली अन्य भाव-संज्ञाएँ होती हैं—**महन्** महत्व, **राजन्** प्रभुत्व (ऋ० वे०, एक बार: तुलनीय **राजन्**; स्वरपातसंबंध सामान्य के विपरीत है) और **गम्भन्** गहराई (वा० सं०, एक बार); तथा पं० ब्रा० में एक बार **क्षेप्णा** प्राप्त है।

इ—कर्त्रर्थ संज्ञाएँ (अंशतः संदिग्ध स्वरूपवालीं) हैं—**उक्षन्** बैल, **चक्षन्** आँख, **तक्षन्** बढ़ई, **ध्वसन्** व्यक्तिवाचक संज्ञा, **पूषण्** देवता विशेष, **मज्जन्** मज्जा, **राजन्** राजा, **वृषन्** वीर्यवान्, साँढ़; **संघन्**, **अनीहन्** (**स्नूहन्** आपस्त०), साथ ही, **ग्मन्, ज्मन्, भ्वन्, श्वन्** **श्वन्** के साथ, **श्वन्**, **युवन्**, **योषन्**, तथा **अहन्** **ऊधन्** प्रभृति प्रकृतियाँ (४३०-४३४) जो अन्य त्रुटिपूर्ण प्रकृतियों के रूपनिर्माण की पूर्ति करती हैं।

ई—उपसर्गों के साथ **प्रतिदीवन्** और **अतिदीवन्**, **विभ्वन्** **निकामन्** मिलती हैं।

११६१—**तु** इस रूप-निर्माण के शब्दों में से बहुत से रूप तुमर्थक होते हैं—उत्तरकालिक भाषा में द्वितीया-विभक्तिरूप, पूर्वतरकालिक भाषा में उसी प्रकार

चतुर्थी विभक्तिरूप और पंचमी-षष्ठी विभक्तिरूप; द्रष्टव्य ऊपर, ९७० आ, ९७२। किंतु कुछएक स्वतंत्र रूप से भाव-संज्ञाओं की तरह अथवा स्थूलीकृत अर्थ लेकर भी प्रयुक्त हैं; तथा अत्यधिक थोड़े-से रूप, यत्किंचित संदिग्ध स्वरूपवाले, कर्त्रर्थ-शब्दों की प्रयोगिता से युक्त देखे जाते हैं। ये सभी लिंगों के होते हैं, किंतु मुख्यतः पुंलिंग के। धातु में गुण-सवलीकरण प्राप्त है।

अ—तुमर्थक शब्दों के धात्वक्षर पर स्वरपात होता है, यदि सरल हो; तथा दूसरों में से अधिकांश में उसी प्रकार का उदात्त पाया जाता है, किंतु कुछ शब्द प्रत्यय पर स्वरपात रखते हैं।

आ—उदाहरण हैं : नियमित रूपनिर्माण के, पुं० दा̍तु विभाग, जातु जन्म, धा̍तु तत्व, त̍न्तु सूत, म̍न्तु विचार, ओ̍तु तानावाना, सातु पात्र, से̍तु बन्धन, सो̍तु दबाव; साथ ही, क्र̍तु क्षमता, स̍क्तु सत्तु; स्त्री० व̍स्तु प्रातः; नपुं० वस्तु चीज; वा̍स्तु वासस्थान; प्रत्यय पर स्वरपात लेकर, अक्तु̍ किरण, जन्तु̍ जीवन, गातु̍ रास्ता और गाना, यातु̍ (?) दानव, हेतु̍ कारण, केतु̍ झण्डा (सभी पुं०) : असवलीकृत धातु के साथ, ऋतु̍ ऋतु, पितु̍ पीना, सूतु जन्म तथा स्पष्टतः कृतु (कृ̍त्वस् काल में) वृद्धि-सवलीकरण के साथ, वा̍स्तु (ऊपर)। धा̍तु पीने योग्य और क्रोष्टु गीदड़ कर्त्रर्थ-संज्ञाएँ मालूम होती हैं।

इ—तु अंतवाले तुमर्थकों में (९६८) प्रत्यय से पूर्व संयोजन-स्वर इ बहुधा प्राप्त होता है और कुछ अवस्थाओं में यह ई में दीर्घीकृत है। अन्य प्रयोग में स्त̍रीतु और ध̍रीतु (दोनों दुस् के साथ), ह̍वीतु (सु के साथ) भी मिलते हैं; तुफ̍रीतु इसी रूपनिर्माणवाला लगता है, किंतु अस्पष्ट है।

ई—कुछ स्थलों में प्रत्यय तु अ-अन्तवाले काल-अथवा क्रियारूपमूल में युक्त किया जाता है, यथा—एधतु̍ और वहतु̍; तम्यतु̍ और तप्यतु̍; तथा सिपास̍तु। अंतिम का स्वरपात जीवा̍तु जीवन, के अनुरूप ही है जो पुनः दीर्घ आ के ग्रहण के चलते अपवादरूप हैं; यह कभी-कभी तुमर्थक की तरह प्रयुक्त है।

११६२—नु-इस प्रत्यय से अपेक्षाकृत कम संख्यावाले शब्द बनाये जाते हैं, सामान्यतया पुंलिंग के, तथा भाव और ठोस दोनों अर्थों के साथ।

अ—स्वरपात सामान्यतः प्रत्यय पर होता है, और धातु असवलीकृत होती है।

आ—इस प्रकार, क्षेप्नु̍ झटका, भानु̍ प्रकाश (उत्तरकाल में सूर्य), वग्नु̍ ध्वनि, सूनु̍ पुत्र दा̍नु (अनियमित उदात्तत्व के साथ) पुं० स्त्री० दानव, नपुं० बूँद, ओस; धेनु̍ स्त्री० गाय;—गृध्नु̍ तीव्र, तप्नु̍ जलनेवाला, त्रस्नु भयंकर,

धृष्णु साहसी; तथा विंष्णु विष्णु, और संभवतः स्थाणु स्तम्भ। साथ ही तुलनीय त्नु प्रत्यय, ११९६ अ।

इ—यह (तु की तरह) कभी-कभी पूर्वाश्लिष्ट अ के साथ भी आता है: यथा—क्षिपणुं अस्त्र, क्रदनुं और नदनुं गरजनेवाला, नभनुं (तथा-नू स्त्री०) झरना, विभञ्जनुं (एकमात्र प्रयोग उपसर्ग के साथ) खण्ड-खण्ड करने वाला; तथा संभवतः व्यक्तिवाचक नाम दासनु और कृशानु यहीं आते हैं।

११६३—थ—इस प्रत्यय से वने शब्द प्रायः निरपवाद रूप से भाव-संज्ञाएँ हैं (यद्यपि कुछ ने स्थूलार्थ प्राप्त कर लिया है)। ये सभी लिंगों के होते हैं। धातु दुर्वल (अथवा दुर्वलीकृत भी) रूप वाली होती है, और स्वरपात सामान्यतः प्रत्यय पर होता है।

अ—इस प्रकार : पुं०-इथ जाना, अर्थ प्रयोजन, कृथ निर्माण, गाथं गाना, पक्थं व्यक्तिवाचक संज्ञा, भृथं आहुति, याथ मार्ग, शीथ लेटना, शोथ फूलना, सिक्थ तलछट; तथा अपेक्षाकृत न्यून स्पष्ट संवंधों के, यूथं समूह, रथ यान; नपुं० उक्थं वचन, तीर्थं धाम, नीथं गाना, रिक्थं दाय; और संभवतः पृष्ठं पीठ; स्त्री० (आ के साथ) गाथा गाना; नीथा मार्ग, गीथ गाना और-पीथ रक्षा में धातुमूलक आ ई में दुर्वलीकृत हो जाता है; गथ जाना और हथ हत्या में अंत्य अनुनासिक लुप्त है। विजिगीथं (श० ब्रा० ; वृ० आ० उप०-ईत) विजयी में स्पष्टतः √(जि) के अभ्यास से रूपनिर्माण देखा जाता है।

आ—उपसर्गों के साथ संयोग के कुछ उदाहरण अंतोदात्त वाले होते हैं: यथा—निर्ऋथं नाश, संगथं सम्मिलन, इत्यादि।

इ—प्राचीनतर भाषा में इस प्रत्यय का रूप और भी अधिक सामान्य होता है जिसके पूर्व में अ युक्त है जो संभवतः सविकरण रूप उत्पत्ति वाला होता है, यद्यपि संयोजन-स्वर वन गया है। इस प्रकार—अनथ श्वास, अयथ पाद, चरथ गतिशीलता, त्वेषथ वेग, तथा इसी तरह प्रोथथ, यजथ, रवथ, वक्षथ, उचथ, विदथ, शंसथ, शपथ, शयथ; श्वयथ, श्वसथ, सचथ, स्तनथ, स्तवथ, स्रवथ और दुर्वल धातुरूप के साथ रुवथ; उत्तरकालिक भाषा के विशेष प्रयोग करथ, तरथ, शमथ, सवथ होते हैं। उपसर्ग के चलते स्वरपात आगे अंत्य पर चला आता है : यथा—आवसथं वासस्थान, प्रवसथं अनुपस्थिति; किंतु प्राणथ प्राण की प्रक्रिया इस रूप में हुई है मानो प्रान् पूर्णधातु हो।

ई—अन्य पूर्ववर्ती स्वरों के साथ थ के विकीर्ण संयोग प्राप्त होते हैं: यथा—वरूथ रक्षा, जरूथ क्षय (?); तथा मतुथ √(मन् ?)।

११६४—थु—यह प्रत्यय (थ की तरह, ऊपर) अपने साथ अं को युक्त रखता है, तथा खूब कम व्युत्पादित शब्दों में, जिनका निर्माण यह करता है, केवल अंथु-जैसा प्राप्त होता है।

अ—मात्र वैदिक प्रयोग एजंथु हिलना, वेपंथु कंपन, स्तनुंथ गर्जन हैं। परवर्ती प्रयोग नन्दंथु (तै० सं०), नदथु (उपनि०), क्षवथु (सू०), देवथु, भ्रंशथु, मंजथु, वमथु, श्वयथु, स्फूर्जथु होते हैं।

११६५—यु—इस प्रत्यय से बहुत कम संज्ञाएँ, कर्त्रर्थक और क्रियार्थक दोनों ही, असबलीकृत धातु और विभिन्न स्वरपात के साथ बनायी जाती हैं। इस प्रकार :

अ—भाववाचक संज्ञाएँ (पुं०) मन्युं क्रोध, मृत्युं मरण (धातु से ह्रस्वान्त्य में जुड़े त् के साथ) हैं।

आ—विशेषण प्रभृति हैं द्रुह्यं व्यक्तिवाचक संज्ञा, भुज्युं अदृढ़, मुच्यु (गो० ब्रा० १-१-७), शुन्ध्युं पवित्र, यंज्यु पवित्र, संह्यु सबल, दंस्यु शत्रु; तथा वृद्धि-सबलीकरण के साथ जायुं विजयी।

इ—अन्य यु अंतवाले शब्दों के लिए, देखिए प्रत्यय उ, नीचे ११७८ ऐ, ओ।

११६६—म—इस प्रत्यय से बनी क्रियार्थ-संज्ञाएँ प्रायः सभी पुंलिंग होती हैं; तथा ये विभिन्न धातु-रूप और स्वरपात की हैं, जिस प्रकार कर्त्रर्थ संज्ञाएँ और विशेषण भी प्राप्त हैं।

अ—क्रियार्थ-संज्ञाओं के उदाहरण हैं : अज्मं गति, घर्मं उष्णता; एंम प्रगति, भांम चमकीलापन, संर्म प्रवाह, स्तोंम स्तुति-गान।

आ—कर्त्रर्थ संज्ञाओं प्रभृति के उदाहरण होते हैं : तिग्मं तीक्ष्ण, भीमं भयंकर, शग्मं बलशाली, इध्मं लकड़ी, युध्मं योद्धा। साभ्यास धातु से एकमात्र प्रयोग तूतुमं बलवान् होता है। सरंमा स्त्री० प्रत्यय से पूर्व अ के साथ संदिग्ध उत्पत्तिवाला है।

इ—म अंतवाले अनेक मूल अपने साथ मन् अंतवाले मूलों को रखते हैं, तथा आंशिक रूप में अन् से अ-शब्दरूप के अन्तरण मालूम होते हैं। ऐसे हैं : अज्म, ओंम, एम, अर्म, तोंक्म, दर्मं, धर्मं, नर्मं, यांम, युग्म, चेम, शुष्म; सोंम, सर्मं, होंम।

११६७—मि—मि से बनी बहुत थोड़ी संख्या वाली संज्ञाएँ, पुंलिंग और स्त्रीलिंग, यहाँ सुविधानुसार रखी जा सकती हैं।

इस प्रकार ऋ-धातुओं से-ऊर्मि तरंग, कूर्मि क्रिया, सूर्मि स्त्री० नली; अन्य से, जामि संबंध, भूमि या भूमी स्त्री० पृथ्वी, लक्ष्मी चिह्न; संभवतः रश्मि पंक्ति, किरण भी; तथा विशेषण क्रुध्मि (? ऋ० वे०, एक बार)।

११६८—मन्—इस प्रत्यय से बने अनेक शब्द प्रायः भावार्थ-संज्ञाएँ ही हैं। इनकी बड़ी संख्या नपुंसक होती है, और स्वरपात धात्वक्षर पर होता है; अपेक्षाकृत थोड़े से शब्द पुंलिंग होते हैं, और स्वरपात प्रत्यय पर है। थोड़े से कर्त्रर्थ-शब्द, यदि ये संज्ञाएँ हों, पुंलिंग होते हैं, और स्वरपात द्वितीय कोटि का होता है : कतिपय स्थलों में पुंलिंग और नपुंसक एक और अन्य प्रयोगिता और स्वरपात लेकर दोनों एक साथ उपलब्ध होते हैं। धातु में सामान्यतया गुण-सबलीकरण होता है।

१—अ—नियमित रूप से बने नपुंसक शब्दों के उदाहरण हैं : कर्मन् कार्य; जन्मन् जन्म, नामन् नाम, वर्त्मन् मार्ग, वेश्मन् निवास स्थान, होमन् होम, द्योत्मन् तेज।

आ—पुंलिंग भाववाचकों के उदाहरण हैं : ओमन् अनुग्रह, ओज्मन वल, जेमन् जय, स्वादमन् माधुर्य, हेमन् वेग।

इ—अनुरूपी नपुंसक क्रिया-संज्ञाएँ और पुंलिंग कर्त्रर्थ संज्ञाएँ होती हैं : ब्रह्मन् पूजा और ब्रह्मन् पुरोहित; दामन् दान और दामन् दाता; धर्मन् विधि और धर्मन् व्यवस्थापक; सद्मन् स्थान और सद्मन् स्थानी। किंतु ओमन् मित्र ओमन् पुं० अनुग्रह के विपरीत संबंध में आता है। खूब कम अन्य कर्त्रर्थ-संज्ञाएँ बनती हैं; तथा ब्रह्मन् को छोड़कर सभी विरल प्रयोग की होती हैं।

ई—दूसरी ओर जेमन् और वर्ष्मन् और स्वाद्मन् (तथा वरिमन्) में लिंग और स्वरपात की भिन्नता अर्थ की तुल्य भिन्नता के बिना प्राप्त होती है।

उ—अश्मन् संज्ञा पुंलिंग होते हुए भी धात्वक्षर पर उदात्तित है; तथा इसी प्रकार के दो या तीन अन्य संदिग्ध प्रयोग प्राप्त हैं।

ऊ—तुमर्थक रूपों की तरह (९७४) प्रयुक्त मन् प्रत्ययान्त शब्द अधिकांशतः नपुंसक रूपों के स्वरपात का वहन करते हैं; एकमात्र अपवाद विद्मने है।

ए—प्रत्येक वर्ग के कुछ शब्दों में अनियमित धातुरूप उपलब्ध हैं : यथा—उद्मन्, ऊष्मन् या उष्मन्, भूमन् पृथ्वी, भूमन् आधिक्य, स्यूमन्, सीमन्, भुज्मन्, विद्मन्, शिक्मन्, शुष्मन्; सिध्मन्, तथा कार्ष्मन्, भार्मन्, शाक्मन्।

ऐ—सोपसर्ग धातुओं से मन् प्रत्ययान्त शब्द बहुसंख्यक नहीं हैं। इनमें स्वरपात सामान्यतः उपसर्ग पर होता है, चाहे ये क्रियार्थ संज्ञाएँ हों या विशेषण : यथा—प्रभर्मन् अग्र उत्पादन, प्रयामन् प्रस्थान; अनुवर्त्मन् अनुसरण। विजामन्, प्रतिवर्त्मन् विसर्मन् अपवाद-रूप संभवतः संबंधवाची रूपनिर्माण-वाले होते हैं।

२—ओ। यही प्रत्यय, यद्यपि केवल अपनी भाव-विधायक प्रयोगिता लेकर, अनेक स्थितियों में संयोजन स्वर इ या ई का ग्रहण करता है; तथा इमन् तद्धित प्रत्यय की तरह प्रयुक्त होता है, जहाँ विशेषणों की एक बड़ी संख्या है (पुंलिंग) भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं।

ओ—इमन् और ईमन् अंतवाले नपुंसक शब्द मुख्य रूपनिर्माण हैं जो प्रायः केवल प्राचीनतर में आते हैं : यथा—जनिमन्, धरिमन् (मनु०), वरिमन् (साथ ही, वरिमन्, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट); तथा दरीमन्, धरीमन्, परीमन्, (और परेमन् सा० वे०, एक बार), भरीमन्, वरीमन्, सरीमन्, स्तरीमन्, सवीमन्, और हवीमन। ईमन् अंतवाले ऋ० वे० अन्यत्र कठिनता से प्राप्त होते हैं।

क—प्राचीनतम भाषा में इमन् अंतवाले पुंलिंग-रूप उपर्युक्त नपुंसक-रूपों की अपेक्षा कम प्रयुक्त हैं : ये होते हैं तनिमन् (?), जरिमन्, प्रथिमन, महिमन (साथ ही, समरूप वरिमन् और वरीमन्), वर्षिमन् (साथ ही, समरूप वर्ष्मन् और वष्मन्), हरिमन् और द्राघिमन् (वा० सं०), साथ ही द्राघ्मन् (वे० ब्रा०)। इनमें से कुछ और शुद्ध मन् अंतवाले शब्द अर्थ और साथ ही आकृति की दृष्टि से विशेषणों के साथ संबद्ध होते हैं जिनके सहवर्ती भाववाचक ये प्रतीत होते हैं। मुख्य तरवंत और तमवंत रूपों की समान प्रक्रिया तुलनीय (ऊपर ४६८)। इस प्रकार के रूप हैं : पाप्मन् (पाप, पापीयस् प्रभृति के साथ) द्राघ्मन इत्यादि (दीर्घ, द्राघीयस् इत्यादि के साथ); वरिमन आदि (उरु, वरीयस् आदि के साथ); प्रथिमन् (पृथु प्रतिष्ठ के साथ); हरिमन् (हरि या हरित के साथ); वर्ष्मन् आदि (वर्षीयस प्रभृति के साथ); स्वाद्मन् प्रभृति (स्वादु, स्वादीयस् प्रभृति)। पुनः, ब्राह्मण भाषा में और भी उदाहरण प्राप्त हैं : यथा—धूम्रिमन् (तै० सं० का०), द्रढिमन् (मै० सं०, का० : दृढ, द्रढीयस् प्रभृति के साथ) अणिमन् (श० ब्रा०; तथा अणिमन् सं० लघु०), स्थेमन्, स्थविमन् (सं० बड़ा खण्ड), तरुणिमन् (काठक०), परुषिमन् (ऐ० ब्रा०), अवलिमन् (छान्द० उप०), लोहितिमन् (कौ० ब्रा०); तथा

परवर्ती काल में और भी, **लघिमन्**, **कृष्णिमन्**, **पूर्णिमन्**, **मधुरिमन्**, **शोणिमन्**, इत्यादि।

११६९—**वन्**-इस प्रत्यय से प्रायः केवल कर्त्रर्थ शब्द, विशेषण और संज्ञाएँ, बनाये जाते हैं, जिनमें द्वितीयकोटिक मुख्यतः पुंलिंग हैं। धातु असबलीकृत रहती है, तथा ह्रस्व अंत्य स्वर में प्रत्यय से पूर्व **त्** जोड़ा जाता है। सरल शब्दों तथा इनके सामासिकों—दोनों में स्वरपात नित्य रूप से धातु पर होता है।

अ—**त्** का अंतर्निवेश इस तथ्य का संकेत करता है कि इस रूप के शब्द मूलतः **उ** और **तु** प्रत्ययान्तों में **अन्** के योग से बने हैं; तथापि भाषा में **वन्** ने वर्तमानार्थ प्राप्त कर लिया है और उसका ग्रहण तथाविध अपेक्षित है।

आ—सामान्य रूपनिर्माण के उदाहरण होते हैं: पुं० **यज्वन्** यजन करने वाला, **द्रुह्वन्** आघात पहुँचाने वाला, **शक्वन्** समर्थ, **रिक्वन्** छोड़ने वाला, **जित्वन्** जीतने वाला, **सुत्वन्** सेवन करता हुआ, **कृत्वन्** कर्मशील, **गत्वन्** (**गत-गत्य**) जानेवाला, **सत्वन्** √(**सन्**) योद्धा; नपुं० **पर्वन्** संधि, **धन्वन्** धनुष। सबलीकृत धातु के साथ अनियमित रूप होते हैं—**अर्वन्** जानेवाला, **यावन्** (? अ० वे०). ल जाने वाला; तथा प्रत्यय पर स्वराघात के साथ, **द्वन्** (? वा० सं०) और **विद्वन्** (? अ० वे०)।

इ—सोपसर्ग धातुओं से उदाहरण (जो विरल नहीं हैं) होते हैं: **अतीत्वन्** अतिक्रमण करनेवाला, **उपह्वस्वन्** उपहास करनेवाला, **सम्भृत्वन्** एकत्रित करनेवाला तथा संभवतः **विवस्वन्** चमकने वाला। **अभिसत्वन्** विशेषण-रूप में पूर्वसर्ग के साथ (१३१०) समास होता है। अन्य पदों के साथ समासों के लिए, जहाँ विशिष्ट प्रयोग को छोड़कर तुल्य स्वरपात प्राप्त है, देखिए नीचे, १२७७।

ई—**मुषीवन्** लुटेरा और **सनित्वन्** (प्रत्येक ऋ० वे०, एक बार) मूल ही संयोजन-स्वर के साथ प्राप्त हैं, और इन्हें संभवतः गौण प्रत्ययान्त शब्दों की तरह मानना अधिक संगत होगा—जिनके कुछ इस प्रत्यय से बनाये गये हैं, देखिये नीचे, १२३४। अभ्यस्त धातु से **ररावन्** और **चिकित्वन्** (और संभवतः **विवस्वन्**) बने हैं।

उ—**वन्** प्रत्यय से बनी क्रियार्थ संज्ञाएँ केवल तुमर्थक शब्द होती हैं जो ९७४ में निर्दिष्ट हैं—सिवाय **भुर्वनि** (ऋ० वे०, एक बार) जिसे **भुर्वन्** के सप्तमी विभक्तिरूप-जैसा रखा जाय।

ऊ—**वन्** अंतवाले विशेषणों के समान्तर स्त्रीलिंग रूप (स्पष्टतः) सीधे इस प्रत्यय से नहीं बनाये जाते हैं, अपितु **वर** से और **वरी** अंतवाले होते हैं; द्रष्टव्य नीचे, ११७१ आ।

११७०—**वन, वनि, वनु**—इन प्रत्ययों से बने बहुत कम शब्दों का उल्लेख यहाँ **वन्** के साथ अपेक्षित है (जिसके गौण विस्तार संभवतः दूसरे होते हैं)।

अ—**वन** से **वग्वनं** गप्पी, **सत्वनं** योद्धा (साथ ही **सत्वन्**, ऊपर); तथा अभ्यस्त धातु से, **शुशुक्वनं** प्रकाशमान।

आ—**वनि** द्वारा शुद्ध धातु से **तुर्वणि** तेज और **भुर्वणी** विकल, और अभ्यस्त धातु से **शुशुक्वनि** प्रकाशमान, **दधृष्वणि** साहसी, **तुतुर्वणि** सचेष्ट और **जुगुर्वणि** प्रशंसक, बनाये जाते हैं; **अर्हरिष्वणि** संदिग्ध है।

इ—**वनु** से केवल **वग्वनुं** स्वर, कोलाहल, बना है।

११७१—**वर**—इस प्रत्यय से सभी लिंगों के थोड़े-से शब्द, अधिकांशतः कर्त्रर्थ संज्ञाओं और विशेषणों की प्रयोगिता रखने वाले, बनाये जाते हैं। **वरी** अंतवाले स्त्रीलिंग शब्द अपेक्षाकृत अधिक सामान्य हैं जो पूर्वतम काल में **वन्** अंतवाले पुंलिंग शब्दों के समानन्तर स्त्रीलिंगरूप—जैसे रहे हैं।

अ—**वरं** अंतवाले कुछ पुंलिंग विशेषण आकृति लेकर स्त्रीलिंग रूपों से संबद्ध (स्वरपात में भिन्न) देखे जाते हैं : यथा—**इत्वरं** जाननेवाला, **अद्वर** खानेवाला; तथा पुनः प्राचीनतर भाषा में, **ईश्वरं**, **जावर**, **फर्वर**, **भार्वरं**, **भास्वरं**, **व्यध्वरं** (?), **सद्वर**, **स्थावरं**, और निस्संदेह इनके अंतर्गत **विद्वलं** होता है; उत्तरकाल, **कस्वर**, **गत्वर**, **घस्वर** (**घस्मर** भी), **जित्वर**, **नश्वर**, **पीवर**, **मद्वर**, **सृत्वर**; अभ्यस्त धातु से, **यायावरं** (ब्रा० और उत्तरकालिक)। इनमें से अनेक **आ**-स्त्रीलिंग रूप बनाते हैं।

आ—**वरी** अंतवाले स्त्रीलिंगरूप धातु की प्रक्रिया में तथा स्वरपात में **वन्** अंतवाले पुंलिंग रूपों के तुल्य है जिनके समानन्तर ये होते हैं : यथा—**यंज्वरी**, **जित्वरी**, **सृत्वरी**, **शीवरी**, **यावरी**, इत्यादि (लगभग पचीस ऐसे रूपनिर्माण ऋ० वे० में); साभ्यास धातु से—**शिश्वरी**।

इ—खूब कम संख्या में नपुंसक रूप धातु पर स्वराघात के साथ बनते हैं : यथा—**कर्वर**, कर्तव्य, **गह्वर** (उत्तरकाल में **गभ्वर**) झाड़ी; तथा एक या दो स्त्रीलिंगरूप उपधा पर स्वरपात के साथ, **उर्वरा** क्षेत्र, और **उर्वरी** निम्न (दोनों ही संदिग्ध व्युत्पत्ति के हैं)।

अब हम उन प्रत्ययों का विवरण प्रस्तुत करते हैं जिनसे केवल वे प्रकृतियाँ बनती हैं जहाँ कर्त्रर्थ संज्ञाओं और विशेषणों की प्रयोगिता प्राप्त है; कालवाची

कृदन्तक्रियारूपों के प्रत्ययों के संक्षिप्त उल्लेख से आरंभ किया जा सकता है जो प्रत्यय सामान्यतः पहिले पर्याप्त विवेचित हो चुके हैं।

११७२—**अन्त्** (या **अत्**)—विभिन्न काल-प्रकृतियाँ और क्रियारूप-प्रकृतियों के प्रसंग में (अध्याय ८–१४) जिनके साथ ही यह प्रयुक्त होता है (सीधे धातु के साथ नहीं, सिवाय जहाँ यह काल-प्रकृति की तरह भी प्रयुक्त होती है) परस्मैपदी वर्तमान तथा भविष्यकालिक कृतन्दक्रियारूपों के निर्माणवाले इस प्रत्यय का कार्य ऊपर पूर्णरूप से उल्लिखित हो चुका है।

अ—इसी प्रकार की उत्पत्ति वाले, किंतु स्वतंत्र विशेषणों की तरह प्रयुक्त, कुछ शब्द ४५० में दिये गये हैं। इसी अथवा आकृति की दृष्टि से तुल्य प्रत्यय के साथ **इ॑यन्त्** और **कि॑यन्त्** सार्वनामिक मूलों से (४५१, ५१७ अ) बनाये जाते हैं। पुनः **अ॑द्वयन्त्**, द्विधाभाषी नहीं (ऋ० वे०, एक बार) संख्यावाची **द्वि** से तथाविध रूपनिर्माणवाला मालूम हुआ था—अन्यथा हम अन्तवर्ती के रूप में नामधातुमूलक क्रिया-प्रकृति की कल्पना करें।

११७३—**वांस्** (या **वस्**)—इस प्रत्यय से बने (परस्मैपदी परोक्ष) कृदन्तक्रियारूपों के लिए देखिये ऊपर, ८०२-६ तथा ४५८ मु० वि०।

अ—अनियमित और संदिग्ध रूपनिर्माण के कुछ शब्द ऊपर ४६२ में दिये गये हैं। साथ ही, **उस्** या **उष्** रूप में स्पष्ट अन्तरण प्राप्त हैं। ऋ० वे० में एक बार **व्** **जुजुरुआ॑न्** में स्वर में परिवर्तित है।

आ—प्राचीनतम भाषा में (ऋ० वे०) में संदिग्ध संबंधों के **वस्** अंतवाले खूब कम शब्द प्राप्त हैं: **ऋ॑भ्वस्** और **शि॑क्वस्** चतुर (व्–और वन् अंतवाले शब्दों के साथ-साथ) तथा संभवतः **खिद्वस्** (√**(खाद्)**)। नपुंसक भाववाचक शब्द **व॑रिवस्** चौड़ाई, कक्ष (**उरु॑** चौड़ा से उसी प्रकार संबद्ध जैसा कि **व॑रीयस्** और **वरि॑मन्** के साथ) विलकुल विच्छिन्न है। महाभारत **पीवन्** के स्थान में **पीवान्** प्रथमाविभक्तिरूप का प्रयोग करता है मानो यह **पीवांस्** से हो।

११७४—**मान**—जैसा कि देखा जा चुका है (५८४ आ), इस प्रत्यय के कालवाची कृदन्तक्रियारूप केवल वर्तमान और भविष्यकालिक होते हैं, तथा आत्मनेपदी अथवा व्युत्पन्न कर्मवाच्यार्थ रखते हैं जो कि सामान्यतया उन मूलों से संबद्ध है जिनमें यह प्रत्यय लगाया जाता है।

११७५—**आन**—**आन** अंतवाले कृदन्तक्रियारूप उपर्युक्त रूपों की तरह आत्मनेपदी और कर्मवाच्यार्थ के होते हैं, तथा ये या तो वर्तमान, परोक्ष या (अंशतः **सान** रूप के साथ, ऊपर ८९७ आ) लुङ् हैं।

अ—इसी प्रकार के अंतवाले कुछ अन्य शब्द, जो प्राचीन भाषा में प्राप्त हैं, यहाँ उल्लिखित किये जा सकते हैं। ऋ० वे० में तंकवान, भृंगवाण, वंसवान, ऊर्ध्वसानं विशेषण प्राप्त हैं जो स्पष्टतः कृदन्तक्रियारूप प्रकृतियों के आदर्श पर बने हुए हैं। साथ ही, व्यक्तिवाचक नाम अंप्नवान, पृथवान तथा च्यवान और च्यवतान पाये जाते हैं। पर्शान पाताल संदिग्ध है; रुशांना (ऋ० वे०, एक बार) संभवतः भ्रामक पाठ है; आंप्नान संदिग्ध-स्वरूप वाला है।

११७६—त-सीधे धातु से अथवा क्रियारूप (काल नहीं) प्रकृति से काल-वाची कृदन्त क्रियारूपों के निर्माण में इस प्रत्यय का प्रयोग ऊपर ९५२–६ निर्दिष्ट हो चुका है। इस ढंग से बने कृदन्तक्रियारूप आंशिक रूप से अकर्मक हैं, किन्तु बड़ी मात्रा में (पूर्ववर्ती दो प्रत्ययों से बने रूपों की तरह, किंतु अपेक्षाकृत अधिक बड़े परिमाण में और अधिक निश्चितता से प्रयोगिता लेकर कर्म-वाच्य हैं)।

अ—कुछ सामान्य विशेषण अथवा स्थूलार्थक संज्ञाएँ इस कृदन्तक्रियारूप के अनुकूलन हैं। उदाहरण हैं: तृष्टं रुक्ष, शीतं ठंढ, दृढं (दृढं के लिए: २२४ अ) दृढ; दूतं संदेशवाहक, सूतं रथवाहक; ऋतं अधिकार, घृतं घी, जातं प्रकार, द्यूतं जुआ, नृत्तं नाच, जीवितं प्राण, चरितं व्यवहार, स्मितं धीमी हँसी। विशेषण तिगितं (ऋ० वे०) तीक्ष्ण, से इ के पूर्व कंठ्य ध्वनि में तालव्य-ध्वनि (२१६ ई) का नियमविरुद्ध प्रत्यावर्तन देखा जाता है। वावांत प्रिय एकमात्र उदाहरण साभ्यास धातु से प्राप्त है।

आ—निस्संदेह, नामधातु मूलों से कृदन्त क्रियारूपों के आदर्श और निदर्शन के आधार पर (किंतु जिनके कोई प्रयोग वेद से उद्धरणीय नहीं है—सिवाय भामित ऋ० वे०) इत प्रत्ययान्त शब्द उत्तरकालिक भाषा में संज्ञा और विशेषण प्रकृतियों से बनाये जाते हैं जिनमें युक्त, प्रभावित, योग्य प्रभृति का अर्थ विद्यमान है (तुलनीय ॲड् अंतवाला अंग्रेजी रूपनिर्माण, यथा हर्नड, बेअरफूटॅड, ब्लूकोटॅड)। उदाहरण रथित रथ से युक्त, दुःखित पीड़ित, कुसुमित पुष्पित, दुर्बलित, शक्तिहीन होकर, निःसंशयित संशय रहित, इत्यादि होते हैं।

इ—त अंतवाले कुछ शब्द धात्वक्षर पर स्वरपात रखते हैं, तथा कृदन्त-क्रियारूप वाले शब्दों के साथ इनका संबंध खूब संदिग्ध है: ऐसे हैं अंस्त आश्रय, मंर्त मरणशील, वांत वायु; पुनः इनके साथ गंर्त ऊँचा स्थान, नंक्त रात, हंस्त हाथ उल्लिखित किये जा सकते हैं। व्रतं को साधारणतया त प्रत्ययवाला माना

जाता है, किंतु यह निस्संदेह √(वृत्) (व्रत्-अ व्रद, व्रज की तरह) से निष्पन्न है और मूलतः मार्ग का अर्थ देता है।

ई—अनेक वर्णवाची विशेषण इत अंतवाले हैं, किंतु ये सजातीय अर्थवाली धातुओं के साथ शायद ही सम्बद्ध हैं : यथा—पलित भूरा, असित काला, रोहित, लोहित लाल, हरित हरा; इनके सवर्गी एत चितकवरा और श्येत उजला हैं। इन प्रकृतियों के स्त्रीलिंग आंशिक रूप में अनियमित होते हैं : यथा—एनी और श्येनी, रोहिणी और लोहिनी और हरिणी (किंतु समानंतर पुंलिंग-रूप हरिण भी प्राप्त होता है); तथा असिक्नी, पलिक्नी, और हरिक्नी।

प्राचीनतर भाषा में अत अंतवाले थोड़े-से विशेषण तान्त कृदन्त क्रियारूप शब्दों से पृथक् नहीं किये जा सकते हैं, यद्यपि इनका विशिष्ट अर्थ आंशिक रूप से भविष्यकालिक कृदन्त क्रियारूप वाला है। ये हैं : पचत पकाया हुआ, दर्शत और पश्यत दृष्ट, द्रष्टव्य, देखने योग्य; तथा इसी प्रकार यजत, हर्यत, भरत। पश्यत और हर्यत का य सुस्पष्ट रूप से संकेत करता है कि अ भी वर्तमान काल-प्रकृतिवाला है। रजत रूपहला √(रज्) रंगना के साथ अपेक्षाकृत अधिक संदिग्ध संबंध वाला है; पर्वत पहाड़ यौगिक रूप ही होगा।

११७७—न (तथा इन, उन)—न् प्रत्यय का प्रयोग कुछ धातुओं से त् अंतवाले रूपों के तुल्य कालवाची कृदन्तक्रियारूपों के—या तो प्रथम के साथ-साथ अथवा उनके स्थान में—निर्माण लेकर ऊपर ९५७ में कहा जा चुका है।

अ—इसी प्रत्यय से अनेक सामान्य विशेषण और विभिन्न लिंग वाली संज्ञाएँ (स्त्री० ना लगाकर) बनायी जाती हैं। स्वरपात या तो प्रत्यय पर होता है या धातु पर। कुछ उदाहरण हैं : उष्ण गरम, शुन भाग्यवान्, अश्न अतिलोलुप, श्वित्न उजला; पुं० प्रश्न जिज्ञासा, यज्ञ हवन-कृत्य, घृण उष्णता, वर्ण रंग, स्वप्न शयन; नपुं० पर्ण पक्ष, रत्न मणि (?); स्त्री० तृष्णा प्यास, याच्ञा विनती। किंतु न अंतवाली प्रकृतियों में से अनेक धातुओं के साथ सहज संबद्ध नहीं की जा सकती हैं। कर्ण कान और कर्ण कानदार में स्वरपात की प्रतिस्थापना देखी जाती है।

आ—इन अंतवाले कुछ शब्द संदिग्ध संबंध के होते हैं, किंतु यहाँ उल्लिखित किये जा सकते हैं : यथा—अमिन उग्र, वृजिन कुटिल, दक्षिण दाहिना, द्रविण सम्पत्ति, द्रुहिण, श्रेषिण, हरिण; तथा कनीन जोड़ा जा सकता है।

इ—उन अंतवाले शब्द अन अंतवालों की तरह विभिन्न अर्थ और स्वरपात के होते हैं। ये हैं—अर्जुन, करुण, चेतुन, तरुण, दारुण, धरुण, नरुण,

पत्रुन, मिथुन, यतुन, वयुन, वरुण, शलुन तथा स्त्रीलिंग यमुना; पुनः भ्रूण रखा जा सकता है।

ई—ये सबके-सब भाषा के वास्तविक कालवाची कृदन्तक्रियारूप-प्रत्यय होते हैं। भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप उत्तर और पूर्वतर कालों में, मुख्यतः स्पष्ट तद्धित रूपनिर्माण होते हैं, और इनका विवेचन तद्धित प्रत्ययविधान के अंतर्गत होगा।

अब हम कर्त्रर्थ संज्ञाओं और विशेषणों के बनाने वाले अन्य प्रत्ययों को प्रस्तुत करते हैं, प्रथमतः उनको जिनमें कालवाचीकृदन्तक्रियारूप की प्रयोगिता अल्पाधिक मात्रा में प्राप्त है।

११७८—उ—इस प्रत्यय से कतिपय शब्द विभिन्न स्वरूप के बनाये जाते हैं—विशेषण, और सभी लिंगों की कर्त्रर्थ संज्ञाएँ, जिनमें धातु के विविध परिवर्तन और विविध स्वरपात प्राप्त हैं। यह विशेषतः सन्नन्त (मुख्यतः उत्तरकाल में) और नामधातुक (मुख्यतः पूर्वतरकाल में), कुछ क्रियारूपवाली प्रकृतियों के साथ प्रयुक्त है, जहाँ वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप की प्रयोगिता के साथ विशेषण बनते हैं; तथा ऐसे प्रयोग में यह आंशिक रूप से गौण प्रत्यय का परिप्रेक्ष्य ग्रहण करता है।

अ—अत्यधिक समय धातु दुर्बल (अथवा दुर्बलीकृत) रूप की होती है; किंतु कभी-कभी इसकी वृद्धि होती है; खूब कम समय (यदि गुण की प्राप्ति संभव है) इसका गुण-सबलीकरण होता है—सर्वत्र स्वरपात अथवा लिंग के साथ किसी प्रकार का प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता है। धातुमूलक अंत्य **आ** के बाद सामान्यतया प्रत्यय से पूर्व **य्** (२५८) जोड़ा जाता है। थोड़े-से शब्द साभ्यास धातु से बनाये जाते हैं। किंतु **उ** अंतवाले कतिपय शब्द सहज अथवा किसी प्रकार धातुओं के साथ संबद्ध नहीं किये जा सकते हैं; उदाहरण विशेष रूप से उनके दिये जायेंगे जिनकी स्पष्ट व्युत्पत्ति प्राप्त है।

आ—सामान्य विशेषणों के उदाहरण हैं: उरु चौड़ा, ऋजु सीधा, पृथु विस्तीर्ण, मृदु कोमल, साधु अच्छा, स्वादु मीठा, तपु गरम, वसु अच्छा; जायु जयशील, दारु नाशक; शयु लेटा हुआ, रंकु रिक्त; धायु प्यासा, पायु रक्षक। स्थु (सुष्ठु, अनुष्ठु) में और संभवतः ग्ु,—गु (अग्रेगु) और न्नु (आन्नु) में प्रत्यय से पूर्व अंत्य **आ** लुप्त लगता है।

इ—संज्ञाओं के उदाहरण: पुं० अंशु किरण, रिपु वंचक, वायु वायु-देव अंशुभाग, मंनु मनुष्य, मनु; स्त्री० इषु (पुं० भी) तीर, सिन्धु (पुं० भी) नदी, तनू या तनु शरीर; नपुं० क्षु भोजन।

ई—अभ्यस्त धातुओं से प्रत्ययान्त शब्द हैं : चिकितु, जग्मु, जिग्यु, जिह्नु, सिष्णु, तत्नु (अन्यथा इसे नु या त्नु से बनाया जाय), दिद्यु (?), दद्रु, ययु, या ययु और यियु (अंत्य आ के लुप्त के साथ), पिप्रु (व्यक्ति-वाचक नाम),—दीधयु; तथा तितउ, बभ्रु,—ररु (अररु), मलिम्लु (?) इसी प्रकार के रूपनिर्माण होने का लक्षण लिये हुए हैं।

उ—सोपसर्ग धातुओं से कुछ प्रत्ययान्त शब्द विभिन्न उदात्तत्व के साथ बनाये जाते हैं : उदाहरणार्थ, उपायु निकट आनेवाला, प्रमयु नाश होने वाला, विक्लिन्दु रोग विशेष, अभीशु लगाम (निर्देशक), संवसु एक साथ वास करने वाला।

ऊ—स्पष्टतः, काल-मूलों से तन्यु गरजने वाला, भिन्दु खण्ड करनेवाला, विन्दु पानेवाला (तथा लुङ्मूलक स् के साथ) दक्षु और धक्षु (सभी ऋ० वे०) बनाये जाते हैं।

ए—सन्नन्त 'धातुओं' (अपने अंत्य अ के लोप के साथ मूलों) से उ अंत वाले कृदन्तक्रियारूपात्मक विशेषण प्राचीनतर भाषा में बहुत अधिक हैं (ऋ० वे० में इनके एक दर्जन से अधिक प्राप्त हैं, अ० वे० में इतने नहीं) जिनसे स्पष्ट है कि रूपनिर्माण नियमित हो चुका था जो यथेच्छ विस्तार के योग्य हो गया था; पुनः ऐसे विशेषण उत्तरकाल में प्रत्येक सन्नन्त से बनाये जा सकते हैं। उदाहरण (प्राचीनतर) हैं—दित्सु, दिप्सु, चिकित्सु, तितिक्षु, पिपीषु, मुमुक्षु, इयक्षु, शिशिक्षु; उपसर्ग के साथ, अभिदिप्सु; असंगत स्वरपात के साथ, दिदृक्षु। पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों में ये विशेषण द्वितीयाविभक्ति (२७९ अ) में कर्म का ग्रहण कर सकते हैं।

ऐ—प्राचीनतर भाषा में इस प्रकार के कुछ विशेषण णिजन्तरूपों से बनाये जाते हैं : यथा—धारयु (आग्रहयुक्त), भाजयु, भावयु, मंहयु मन्दयु, श्रमयु; तथा णिजन्त-नामधातु० मृगय से मृगयु निष्पन्न है।

ओ—किंतु अपेक्षाकृत बड़ी संख्या में इस प्रकार के रूपनिर्माण विशेषतः प्राचीनतम भाषा में अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ नामधातुओं से होते हैं (ऋ० वे० में इनके अस्सी के लगभग प्राप्त हैं; अ० वे० केवल इनके चतुर्थांश, छः या आठ ऐसे होते हैं जो ऋ० वे० में अप्राप्त हैं; तथा ब्राह्मणों में ये और भी अधिक विरल हो जाते हैं, जो उत्तरकाल में शायद ही पाये जाते हैं)। अधिकांश स्थितियों में उसी नामधातु प्रकृति के पुरुषवाची क्रियारूप प्रयोग में होते हैं : इस प्रकार, उदाहरणस्वरूप, अघायु, अरातीयु, ऋजूयु, चरण्यु, मनस्यु, उरुष्यु, सपर्यु के; अन्यत्र केवल यन्त् अंतवाले वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप अथवा या

अंतवाली भाववाचक संज्ञा (११४९ ई०) अथवा कुछ भी नहीं। कुछ नामधातु प्रकृतियों के आधार पर सर्वनामों से बनाये जाते हैं : यथा—त्वायु (साथ ही, त्वायंन्त् और त्वाया), युवयु या युवायु, अस्मयु, स्वयु तथा अपेक्षाकृत अधिक असंगतरूप अहंयु और किंयु। विशेपरूप से जहाँ अन्य कोई नामधातुरूप विशेपण के साथ नहीं आते हैं, यह बहुधा सीधे संज्ञा में यु प्रत्यय लगा कर अपेक्षा अथवा इच्छा के साथ अथवा अपेक्षाकृत अधिक सामान्य विशेपणीभूत अर्थ के साथ निर्मित होने का लक्षण रखता है : यथा—यवयु अन्न चाहने वाला, वराहयु वराह की खोज करने वाला, स्तनस्यु स्तन चाहने वाला; ऊर्णायु ऊन का बुना हुआ, युवन्यु युवा, भीमयु भयंकर। पुनः इसी प्रकार 'गौण प्रत्यय यु' प्रत्ययांत विशेपणों के निर्माण विधायक–जैसे प्रयोग और प्रतिष्ठा की कोटि में प्राप्त हो जाता है (यथा अहंयु और किंयु में, ऊपर, तथा निस्संदेह कुछ अन्य शब्दों में भी, यहाँ तक कि ऋ० वे० शब्दों में भी)। ऋ० वे० के तीन प्रयोगों में संज्ञा-प्रकृति का अंत्य अस् इसके पूर्व ओ में भी परिवर्तित हो जाता है : उदाहरणार्थ, अंहोयु, दुवोयु (तथा दुवोया; साथ ही दुवस्यु) अंस्कृधोयु।

आ—वेद में यु अंतवाले शब्द इअ का विघटन नहीं लाते हैं (अपवादभूत धासिउंस् अ० वे०, एक बार, है)।

११७९—ऊ-ऊ-अंतवाले मूल बहुत कम होते हैं, ईकारान्तों के साथ तुलना करने पर भी (११५६)। ये अधिकांशतः उ अंतवाले पुंलिंग शब्दों (३४४ आ) के समान्तर स्त्रीलिंग रूप होते हैं, साथ ही आधे दर्जन के अधिक स्वतंत्र स्त्रीलिंग रूप (द्रष्टव्य ३५५ इ) मिलते हैं।

अ—पूर्वोक्तों के अतिरिक्त कर्पू गड्ढा, चलू (पुंश्चल्‌ में), जनू (प्रजनू में), शम्भु।

११८०—उक-इस प्रत्यय से वे शब्द बनाये जाते हैं जिनमें वर्तमान-कालवाची कृदन्तक्रियारूप की रचना (२७१ ए) और अर्थ सुरक्षित हैं। धातु सबलीकृत होती है, और उदात्त है।

अ—उक-अंतवाले शब्द वेद में शायद ही मिलते हैं; किंतु ब्राह्मणों में ये अतिप्रयुक्त हो जाते हैं, जिनकी भापा के प्रमुख लक्षण ये हैं (लगभग साठ विभिन्न शब्द वहाँ प्राप्त हैं); और ये प्राचीनतर भापा में यदा-कदा पाये जाते हैं। प्रायः ये मूलतः और वस्तुतः उ प्रत्यय में क गौण प्रत्यय को (१२२२) जोड़ देने से प्राप्त होते हैं, किंतु इन्होंने पूर्वरूप से मुख्य रूपनिर्माणों का लक्षण

प्राप्त कर लिया है, और केवल एक या दो स्थलों में उ-शब्द वास्तविक प्रयोग में प्राप्त है जिससे इन्हें बनाना अपेक्षित है।

आ—धातु उतनी ही सबल बनायी जाती है जिससे धात्वक्षर गुरु (७९) हो जाता है; और इस पर स्वरपात होता है चाहे शब्द सरल धातु से बना हो अथवा सोपसर्ग से।

इ—ब्राह्मण भाषा से उदाहरण होते हैं : **वा॑दुक, ना॑शुक, उपक्रा॑मुक, प्रपा॑दुक, उपस्था॑युक** (२५८), **व्या॑युक, वे॑दुक, भा॑वुक; क्षो॑धुक, हा॑रुक, व॑पुक, समर्धु॑क, दं॑शुक, आलम्बु॑क, शिक्षु॑क** (गो० ब्रा०; ऋ० वे० में **शिक्ष॑** प्राप्त है), **प्रमा॑युक** (षड्० ब्रा० में **प्रमायु** मिलता है)।

ई—धातु की आकृति लेकर अपवाद हैं : **निसर्गु॑क** (वृद्धि सबलीकरण के साथ, जैसा कि इस धातु के साथ सामान्य है : ६२७), **कसुक, ऋद्धनुक** (काल-प्रकृति से साथ ही **अ॑र्धुक**)। अ० वे० **सं॑कसुक** (श० ब्रा० में **संक॑सुक** प्राप्त है) और **वि॑कसुक**-जैसा उदात्त बनाता है; ऋ० वे० में **सानुक॑** (जो इसका एकमात्र उदाहरण है, यदि यह ऐसा हो; अ० वे० में √(**हुन्**) से **घा॑तुक**, और **अ॑प्रमायुक** भी प्राप्त हैं) मिलता है; **वसुक॑** (तै० सं० तथा अन्यत्र) संभवतः अन्यस्वरूपवाला है। **आशनायुक** (पं० ब्रा० तथा अन्यत्र) एकमात्र उदाहरण है जो क्रियारूप-प्रकृति से देखा गया है।

उ—उत्तरकालिक प्रयोग में कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका दूसरों के साथ संबंध अल्पाधिक मात्रा में संदिग्ध है : **कार्मुक** और **धार्मुक, त्सारुक, तर्कुक, नान्दुक, पादुका, पेचुक, भिक्षुक, लाबुक, सेदुक, हिण्डुक, ह्लेषुक**। इनमें से केवल **लाबुक उस** रूपनिर्माण के यथार्थ प्रातिपदिक-जैसा मालूम होता है; अनेक अधिक स्पष्ट रूप से गौण प्रत्ययांत होते हैं।

ऊ—**ऊक** (संभवतः **उक**-जैसी उत्पत्ति वाला प्रत्यय) अंतवाले रूप-निर्माण का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है : यथा—**इन्धूक, मज्जूक** तथा अभ्यस्त धातुओं से **जागरू॑क** जागरणशील, **जञ्जपूक** (उत्तरकालिक) जप करने वाला, **दन्दशू॑क** दष्ट करने वाला, **यायजू॑क** अतिशय यज्ञ करने वाला, **वावदूक** (उत्तरकालिक) बहुभाषी; **सलल॑ूक** संदिग्ध है।

११८१—अक-पूर्ववर्ती अवस्था की तरह यहाँ भी हमें अ-प्रत्यय में क के गौण योग से बना प्रत्यय प्राप्त है; किंतु इसका उल्लेख यहाँ उसी कारण से अपेक्षित है जिस कारण से दूसरों का। मुख्य प्रत्यय की तरह इसका स्वच्छन्द प्रयोग उक की अपेक्षा और भी अधिक परवर्ती काल का होता है; प्राचीनतर भाषा में इसके बहुत कम उदाहरण प्राप्त होते हैं।

अ—ऋ० वे० में केवल **सायक** अस्त्र (**पावक** के अतिरिक्त, जिसमें भिन्न स्वरपात प्राप्त है और जो, जैसा कि छंद से परिलक्षित होता है, वस्तुतः **पवाक** है) मिलता है। अ० वे० में **पीयक** और **वधक** विशेष प्रयोग होते हैं तथा वा० सं० में **अभिक्रोशक**। किंतु उत्तरकालिक भाषा में इस प्रकार के प्रत्ययान्त शब्द सामान्य हो जाते है, अधिक समय सबलीकरण द्वारा गुरु मात्रा में धात्वक्षर को उन्नत कर दिया गया है: यथा—**नायक, दायक** (२५८), **पाचक, ग्राहक, बोधक, जागरक**; किंतु **जनक, खनक** भी। वैयाकरण इनके धातुमूलक अक्षर पर उदात्तत्व मानते हैं। ये बहुधा एक ही धातु के भविष्यकालिक कृदन्त-क्रियारूपों के साथ इतरेतर समास में आते हैं: यथा—**भक्ष्यभक्षक** भक्ष्य और भक्षक, **वाच्यवाचक** द्योत्य और द्योतक, इत्यादि।

आ—**अक** प्रत्ययान्त कभी-कभी द्वितीयाविभक्तिवाले कर्म का ग्रहण करते हैं, इसका निर्देश ऊपर (२७१ इ) हो चुका है।

इ—समान्तर स्त्रीलिंग रूप **अका** या **अकी** अंतवाला बनाया जाता है, किंतु अपेक्षाकृत अधिक समय सामान्य ढंग से **इका** अंतवाला: यथा—**नायिका** (**नायका** के साथ), **पाचिका, बोधिका**; तुलनीय तद्धित अक, नीचे, १२२२।

ई—**आक** प्रत्ययान्त शब्द कुछ धातुओं से बनाये जाते हैं: यथा—**जल्पाक, भिक्षाक**; किंतु प्राचीनतर भाषा में बहुत कम मिलते हैं: यथा—**पवाक** (ऊपर, अ), **नभाक, स्मयाक, जहाक** (?), **चलाक, पताका**। **आकु** के साथ ऋ० वे० में णिजन्त-मूल से **मृडयाकु** बनाया जाता है; **पृदाकु** और व्यक्तिवाचक नाम **इक्ष्वाकु** संदिग्ध संबंधवाले होते हैं।

उ—**इक** और **ईक** अंतवाले शब्द **क** शब्दवाले शब्दों के साथ (११८६ इ) वर्णित होंगे।

११८२—**तृ** (या **तर**)—इस प्रत्यय से बने शब्द अपनी रूपनिर्माणविधि और अपने प्रयोग दोनों के चलते एकाधिवार ऊपर (द्रष्टव्य ३६९ मु० वि०, ९४२ मु० वि०) विवेचन के विषय रहे हैं। भाषा के प्रत्येक काल में इससे कर्त्रर्थ-संज्ञाएँ निर्बाध बनाई जाती हैं; प्राचीनतम भाषा में ये अधिक समय कृदंत-क्रियारूपवत् प्रयुक्त हुई हैं जो द्वितीया विभक्ति में कर्म का ग्रहण करती हैं (२१७ ई); उत्तरकाल में ये सहायिका क्रिया के संयोग में आ जाती हैं और भविष्यार्थ का ग्रहण कर यौगिक भविष्यकाल (९४२) का निर्माण करती हैं। इनका समांतर स्त्रीलिंगरूप **त्री** अंतवाला होता है।

अ—धातु में नियमित रूप से गुण-सबलीकरण होता है। संयोजन-स्वर **इ** (अधिक विरले अन्य स्वररूपवाला कोई) बहुधा गृहीत है; यौगिक भविष्य-

कालिक रूपों में इनकी प्राप्ति अथवा अप्राप्ति को लेकर देखिए ऊपर (९४३ अ)।

आ—गुण-परिवर्तन के विना केवल उ॑ष्ट्र हल जोतनेवाला वैल (व्यक्ति-वाचक कर्त्रर्थ-संज्ञा नहीं; स्पष्टतः उ॑क्ष्-तृ : विशेष के लिए संवंध सूचकसंज्ञाएँ तुलनीय)। धातु ग्रह् , सामान्य ढंग-जैसा ई का ग्रहण करती है : यथा ग्रहीतृ॑; तथा ऐसा ही तरीतृ॑, पावीतृ॑, मरीतृ॑, वरीतृ, सवीतृ में प्राप्त है। इसके स्थान में उ-स्वर का ग्रहण त॑रुतृ, और तरुतृ॑, ध॑नुतृ और स॑नुतृ द्वारा होता है; वरूतृ में दीर्घ का; मनो॑तृ और मनोतृ॑ में उ सवलीकृत है। साभ्यास धातु से वावा॑तृ मिलता है।

इ—प्राचीनतर भाषा में स्वरपात कभी-कभी प्रत्यय पर होता है और कभी-कभी धातु पर; अथवा सोपसर्ग धातुओं से यदा-कदा अंत प्रत्यय पर और यदा-कदा उपसर्ग पर।

ई—सामान्यतः धातु पर अथवा उपसर्ग पर स्वरपात शब्द के कृदन्त-क्रिया रूपात्मक प्रयोग का सहवर्ती होता है; किंतु इसके अपवाद होते हैं : वहुत कम (चार) स्थलों में उदात्तित प्रत्यय से युक्त शब्द द्वितीया विभक्तिवाले कर्म का ग्रहण करता है; अपेक्षाकृत अधिक समय धातुवाला उदात्त सामान्य संज्ञार्थ लेकर आता है। मनो॑तृ का स्वरपात अथवा रूप एकाकी अनियमितता है। उदाहरण हैं : जे॑ता ध॑नानि सम्पत्तियों को जीतने वाला है; यू॑यम् म॑र्तं श्रो॑तार : तुम मनुष्य का सुनते हो; किंतु दूसरी ओर, यंता॑ वसूनि विधते धार्मिक को अच्छी चीजें देते हुए; जे॑ता ज॑नानाम् लोगों का जेता।

उ—क्रियारूप-मूलों से तृ अंतवाली इन संज्ञाओं का रूपनिर्माण, जो उत्तर-कालिक भाषा में नियमित और अतिप्रयुक्त है तथा ब्राह्मणों में अति विरल नहीं है, वेद में केवल एक या दो वार उपलब्ध होता है (वोधयितृ॑ और चोदयित्री, ऋ० वे०)। ने॑ष्ट्र पुरोहित-विशेष (ऋ० वे० तथा उत्तरकाल) में स्पष्टतः लुङात्मक स् देखा जाता है।

ऊ—संवंधसूचक शब्द जिन्होंने, जिसी-किसी प्रकार, तृ-प्रत्ययान्तों के स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, होते हैं पितृ॑, मातृ॑, भ्रा॑तृ, या॑तृ; दुहितृ॑, न॑प्तृ, इनमें केवल मातृ॑ और या॑तृ तृ अंतवाले रूपनिर्माण के सामान्य नियमों के अनुरूप हैं।

ए—एक या दो ऋ० वे० उदाहरणों में तृ के लिए तुर् प्राप्त है : चं॑तुर् , स्थातु॑र।

ऐ—प्रत्यय ऋ (या अर) से स्पष्टतः बने **उस्रं सव्यष्ठ, ननांद्, देवृं** होते हैं, अंतिम दो संबंध सूचक शब्द हैं। **ऋ** अंतवाले दूसरे शब्दों के लिए देखिए ३६९।

११८३—**इन्**—यह दूसरा प्रत्यय है जिसने कृत्-स्वरूप और प्रयोग का ग्रहण कर लिया है, जब कि वास्तविक लक्षण लेकर मत्वर्थीय समरूप वाले सामान्य तद्धित प्रत्यय के तुल्य स्पष्टतः बना हुआ है (नीचे, १२३०)।

अ—पूर्वकालिक भाषा में इसने कितनी कृत्-प्रयोगिता प्राप्त की है, यह निर्धारित करना सरल नहीं है। ऋ० वे० और अ० वे० में आने वाले **इन** अंत शब्दों के अधिकांश संबंधवाचक शब्दों के रूप में व्याख्येय होते हैं; अनेक में अन्य प्रयोगिता संभव है, तथा कुछ में यह स्पष्टतः सूचित है : इस प्रकार, **केवलादिंन्, भद्रवादिंन्, नितोदिंन्, आशारैपिंन, अंनामिन्, विव्याधिंन्**; काल-मूल से **अश्नुविन्, पश्यिन्**; (उत्तरकालिक) लुङात्मक **स्** के साथ, **सक्षिन्**; तथा अभ्यास के साथ, **नियर्यिन्, वदावदिन्**। जैसा कि उदाहरण निर्देश करते हैं, उपसर्गों तथा दूसरे पदों के साथ रचना खूब सामान्य है, और इस प्रकार के सभी स्थलों में स्वरपात प्रत्यय पर होता है।

आ—उत्तरकाल में कृत प्रयोग असंदिग्ध है, और इसके उदाहरण, मुख्यतः समासों में बहुत मिलते हैं। धातुमूलक अक्षर सामान्यतया सबलीकृत होता है, मध्यम अ भी कभी-कभी दीर्घीकृत होता है और कभी-कभी अपरिवर्तित बना रहता है। इस प्रकार, **सत्यवादिन्** सच बोलनेवाला, **अभिभाषिन्** संबोधन करनेवाला, **मनोहारिन्** मन को हरनेवाला, **भाविन्** में होने को भविष्यार्थ व्यापक रूप से स्वतः प्रतिष्ठित हो गया है।

इ—**इन्** अंतवाले शब्दों के साथ द्वितीयाविभक्तिक कर्म का प्रयोग ऊपर (२७१ आ) देखा जा चुका है।

११८४—**ईयस्** और **इष्ठ**-ये ऐसे प्रत्यय हैं जो धातु-रूप के विशेषण के अनुरूप भृशार्थक विशेषणों के बनाने से यत्किञ्चित् परिमित सीमाओं में विशेषणात्मक तुलना के प्रत्यय-जैसे प्रयुक्त होने लगे हैं, ये ऊपर तुलना शीर्ष के अंतर्गत (४६६-४७०) पर्याप्त मात्रा में विवेचित हो चुके हैं।

अ—पुनः यह उल्लेखनीय है कि **ज्येष्ठ** का स्वरपात प्राचीनतर भाषा में (केवल एक या दो बार ऋ० वे० में) अंत्य पर भी, **ज्येष्ठं**, होता है, तथा इसका सहसंबद्ध प्राचीनतर भाषा में **कनिष्ठं** भी है, **र्पर्पिष्ठ** लुङात्मक **स्** को युक्त कर धातु के गौण रूप से बना है।

आ—जब तुलनार्थक प्रत्यय का संक्षेपीकृत रूप **यस्** (४७० अ) होता है, तब वेद में इसके **य्** का पाठ **इ** की तरह कभी अपेक्षित नहीं है।

इ—अन्य प्रत्ययों से विरल और विकीर्ण अवस्थाओं को छोड़ कर अन्यत्र कहीं कालवाची कृदन्तक्रियारूपात्मक प्रयोगिता वाले शब्द नहीं बनते हैं, अतः जो बच जाते हैं वे मुख्यतया अपने पुनरावर्तन और वैशिष्ट्य के अनुरूप प्रस्तुत किये जाएँगे।

११८५—**त्र**—इस प्रत्यय से कुछ विशेषण और कतिपय संज्ञाएँ, जो अधिकांशतः नपुंसक होती हैं और बहुधा धातु से व्यक्त क्रिया के कारण अथवा साधन को द्योतित करने वाले विशेषीकृत अर्थ को रखती हैं, बनायी जाती हैं। द्वितीय-कोटि में सामान्यतया गुण-सबलीकरण प्राप्त होता है, किंतु कभी-कभी वह अपरिवर्तित बनी रहती है। स्वरपात विभिन्न होता है, किंतु अपेक्षाकृत अधिक समय धातुमूलक अक्षर पर होता है।

अ—ऊपर कुछ अन्य स्थितियों में जैसी यहाँ भी हमें निस्संदेह मूलतः गौण प्रत्यय प्राप्त होता है जो मुख्य **तृ** या **तर्** (११८२) में **अ** को जोड़कर बना है, किंतु इसका प्रयोग अधिकांशतः मुख्य प्रत्ययवाला होता है।

आ—नपुंसक संज्ञाओं के उदाहरण होते हैं : **गात्र** अंग, **पत्त्र** पाँख, **योक्त्र** बन्धन, **वस्त्र** कपड़ा, **श्रोत्र** कान, **अस्त्र** अस्त्र, **स्तोत्र** स्तुतिगान, **पोत्र** नौका, अपेक्षाकृत अधिक सामान्य अर्थ के साथ, **दात्र**, दान, **क्षेत्र** खेत, **मूत्र** पेशाब, **होत्र** यज्ञ। अन्तोदात्त शब्दों में बहुधा भावार्थ प्राप्त होता है : यथा—**क्षत्र** अधिकार, **राष्ट्र** राज्य, **शास्त्र** शासन, **सत्र** याज्ञिक नियतकाल (साथ ही, **ज्ञात्र** ज्ञान)।

इ—पुंलिंग रूप हैं : **दंष्ट्र** लंबा दाँत, **मन्त्र** स्तुति, **अत्त्र** (या **अत्र** : २३२) निगलनेवाला, **उष्ट्र** बैल, ऊँट तथा कुछ संदिग्ध व्युत्पत्ति वाले, जैसे **मित्र** दोस्त, **पुत्र** बेटा, **वृत्र** शत्रु। **मित्र** और **वृत्र** वेद में भी कभी-कभी नपुंसक होते हैं तथा **मित्र** उत्तरकाल में नियमतः उसी लिंग का है।

ई—(**त्रा** अंतवाले) स्त्रीलिंग शब्द हैं : **अष्ट्रा** अंकुश, **मात्रा** माप, **होत्रा** यज्ञ (साथ ही **होत्र**), **दंष्ट्रा** (उत्तरकाल में, **दंष्ट्र** के लिए), **नाष्ट्रा** नाशक।

उ—अविरले, प्रत्यय से पूर्व संयोजन स्वर आता है, किंतु यह सामान्यतया **तृ** (ऊपर ११८२ अ) के साथ प्रयुक्त संयोजन-स्वर का एकरूप नहीं होता है। क्योंकि **इत्र** अंतवाले शब्दों में स्वरपात **इ** पर होता है : यथा—**अरित्र** (**अरित्र** अ० वे०, एक बार) प्रेरक, नौकादण्ड, **खनित्र** फावड़ा, **पवित्र** झरनी, **जनित्र** जन्मस्थान, **सनित्र** दान, तथा इसी प्रकार—**अवित्र**, **अशित्र**,

चरित्र, तरित्र, धमित्र धवित्र, भवित्र, भरित्र, वादित्र (णिजन्त धातु-सबलीकरण के साथ), वहित्र : इत्र संयोग ने प्रायः स्वतन्त्र प्रत्यय का स्पष्ट स्वरूप प्राप्त कर लिया है। कुछ स्थलों में पूर्ववर्ती स्वर अ भी (कभी-कभी स्पष्टतः वर्तमान-मूल का) होता है : यथा—यजत्र पूजनीय, कृन्तत्र चिथड़ा, गायत्र (स्त्री०-त्री) गीत, दमत्र, पतत्र पक्ष, किंतु साथ ही, अमत्र उग्र, वधत्र मारक शस्त्र, और वरत्रा स्त्री० पट्टी। तरुत्र विजयी तरुतृ का समान्तर होता है। नक्षत्र तारों का समूह, अति संदिग्ध व्युत्पत्तिवाला होता है। संस्कृतत्र (ऋ० वे०, एक बार) गौण रूपनिर्माणवाला मालूम होता है।

ऊ—वे शब्द जो अब भी त्र अंतवाले विशेषणों की तरह प्रयुक्त हैं; अधिकांशतः ऐसे हैं जहाँ प्रत्यय से पूर्व संयोजन-स्वर होते हैं, साभ्यास धातु से एकमात्र उदाहरण है जोहूत्र, आह्वान करनेवाला।

ए—त्रि या त्रु अंतवाले एक या दो शब्द संभवतः त्र अंतवालों के सजातीय रूपनिर्माण-जैसे यहाँ रखे जा सकते हैं : यथा—अत्रि निगलने वाला, रात्रि या रात्री रात; शत्रु (शत्रुः २३२) दुश्मन।

११८६—क—प्रत्यय क गौण प्रत्ययविधान (नीचे १२२२) में अति सामान्य प्रयोगवाला होता है; यह सीधे धातुओं में जुड़ता है, यह कहना प्रायः संदिग्ध है : तथापि, इसके साथ अत्यधिक थोड़े-से मुख्य प्रत्ययांत शब्द ही बनते हैं।

अ—वे शब्द, जिनमें सर्वाधिक स्पष्ट रूप से धातुओं से होने का लक्षण प्राप्त है, पुष्क, मेक (√(मि) निश्चित करना), यस्क व्यक्तिवाचक संज्ञा, शुष्क सूखा, श्लोक (√(श्रु) सुनना) आवाज, विवरण इत्यादि, और—स्फाक परिपूर्ण होते हैं; तथा स्तुका तह और स्तोक बिन्दु दोनों स्तु धातु से संबद्ध लगते हैं; राका स्त्री० व्यक्तिवा० संज्ञा यहाँ रखी जा सकती है।

आ—किंतु क गौण-जैसी अपनी प्रयोगिता में मुख्य-जैसे गृहीत कुछ प्रत्ययों के साथ संयोग में आता है : द्रष्टव्य अक और उक (ऊपर, ११८०, ११८१)।

इ—कुछ शब्द जिनमें इक और ईक धातु में जुड़े लगते हैं, यहाँ सर्वाधिक सुविधानुसार रखे जा सकते हैं, यद्यपि ये वस्तुतः पूर्ववर्ती के तुल्य रूपनिर्माणवाले होते हैं : यथा—वृश्चिक (√(व्रश्च्)) बिच्छू, अनीक (?) मुख। दृशीक आकृति, हभीक व्यक्ति० नाम, मृडीक अनुग्रह, वृधीक विस्तारक, आचरीक और विचरीक कष्ट, ऋजीक प्रकाशमान; ऋषीक; ऋक्षीका; तथा अभ्यस्त धातु से, पर्फरीक फड़फड़ाने वाला (?)। तुलनीय गौण प्रत्यय क (नीचे, १२२२)।

११८७—य—यह सर्वथा संभव है कि इस प्रत्यय से बने शब्दों में से कुछ मुख्य जैसे गृहीत होने में ऊपर निर्दिष्टों के कुछ की अपेक्षा कम उपयुक्त नहीं हैं। किंतु इसी प्रत्यय से बने गौण प्रत्ययान्त शब्दों के एक वृहद् वर्ग से ऐसे शब्द इतनी संदिग्धता और कठिनता से पृथक् किये जा सकते हैं कि इन सबों को, एक साथ गौण रूपनिर्माण शीर्ष के अंतर्गत निरूपित करना अभीष्ट होगा (नीचे, १२१०-१३)।

११८८—र—इस प्रत्यय से विशेषणों की एक बड़ी संख्या बनायी जाती है, जो प्रायः नित्य रूप से दुर्बल धातुरूप के साथ है और जो सामान्य रूप से प्रत्यय पर स्वरपात रखती है। पुनः, कुछ शब्द संज्ञाओं की तरह प्रयुक्त, विभिन्न लिंगों के होते हैं। कुछ अवस्थाओं में प्रत्यय ऐसे पूर्ववर्ती स्वर के साथ देखा जाता है जिसमें संयोजनस्वर का स्वरूप प्राप्त है।

अ—र अंतवाले विशेषणों के उदाहरण हैं: **क्षिप्र** शीघ्र, **छिद्र** विदारित, **तुर** सबल, **भद्र** रमणीय, **शक्र** बलवान्, **शुक्र** चमकदार, **हिंस्र** हानिकारक—धातु पर स्वरपात के साथ, केवल **गृध्र** लालची, **तुम्र** पुष्ट, **धीर** बुद्धिमान् (गौण ?), **विप्र** प्रतिभाशील, **तुग्र** व्यक्ति० नाम।

आ—सोपसर्ग धातुओं से केवल एक या दो उदाहरण मिलते हैं : यथा—**निचिर** सचेत, **निमृग्र** युक्त।

इ—र—अंतवाली संज्ञाएँ होती हैं : पुं० : **अज्र** क्षेत्र, **वीर** पुरुष, **वज्र** कुलिश, **शूर** बलवान् व्यक्ति; नपुं० **अग्र** नोक, **क्षीर** दूध, **रन्ध्र** छेद, **रिप्र** कलंक, स्त्री० **धारा** प्रवाह, **शिप्रा** जबड़ा, **सुरा** मादक पेय।

पूर्ववर्ती स्वर के साथ इस प्रत्यय के रूपों को यहाँ प्रस्तुत करना अधिक संगत होगा, यद्यपि इनमें से कुछ ने अल्पाधिक मात्रा में स्वतंत्र प्रत्ययों की प्रयोगिता प्राप्त कर ली है। यथा :

ई—**अर** से थोड़े-से विरल शब्द बनाये जाते हैं : विशेषण—**द्रवर** दौड़ने वाला, **पतर** उड़ने वाला, (उपसर्ग के साथ) **न्योचर** योग्य; तथा संज्ञाएँ—**गम्भर** गहराई, **तसर** और **त्रसर** ढरकी, **सनर** लाभ—**ऋक्षर** काँटा; **भावर** और **वासर** निस्संदेह गौण रूपनिर्माण के होते हैं; तथा यही बात अधिक संभवतः दूसरों में भी मानी जा सकती है। **आर** से बने शब्दों के रूप में **मन्दार** वृक्षविशेष, **मार्जार** बिड़ाल उल्लिखित किये जा सकते हैं।

उ—**इर** से बने थोड़े-से शब्द होते हैं जिनमें से कुछ सामान्य प्रयोगवाले हैं : यथा—**अजिर** शीघ्र, **खदिर** वृक्षविशेष, **तिमिर** अंधेरा, **ध्वसिर** नाशक, **मदिर** प्रसादनीय, **मुदिर** मेघ, **बधिर** बहरा, **रुचिर** कान्तियुक्त,

इपिर॑ प्राणवान्, अ॑सिर अस्त्र, स्थ॑विर दृढ़; तथा धातुमूलक अंत्य आ के स्थान-विचलन के साथ, स्थिर कड़ा, और स्फिर॑ मोटा; साथ ही, सरिर॑ प्रवाह (सामान्यतया सलिल॑)। ईर से गभीर॑ या गम्भीर॑ गहरा और शं॑वीर बलवान्, और भवतः श॑रीर काय बने हैं।

ऊ—उर से थोड़े-से शब्द बने हैं जिनमें से कुछ का गौणस्वरूप संभव है : यथा—अंहुर॑ (अंहु-र) संकीर्ण, अ॑सुर (अ॑सु-र ?) सप्राण, छिदुर फटने वाला, भङ्गुर॑ टूटनेवाला, भासुर चमकीला, भिदुर फाड़नेवाला, मेदुर मोटा; यादुर जोड़नेवाला, विथुर डगमगानेवाला, विदुर जाननेवाला, विधुर अभाव-वाला। ऊर द्वारा स्पष्टतः स्थूर पुष्ट (तुलनीय स्थ॑विर), खर्जूर वृक्ष विशेष, मयू॑र मोर (अथवा अनुकरण-मूलक ?) बनाये जाते हैं।

११८९—ल-यह प्रत्यय पूर्ववर्ती का दूसरा रूप ही है, जो कुछ शब्दों में उसके साथ विनिमेय है, तो दूसरों में व्यापक अथवा ऐकांतिक रूप में अपने प्रथम निदर्शन से प्रयुक्त है।

अ—परस्पर विनिमय के महत्वपूर्ण उदाहरण होते हैं शुक्ल॑, स्थूल॑, मिश्ल शिथिल॑, सलिल॑।

आ—अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र प्रयोग के उदाहरण हैं : पाल॑ रक्षा करने वाला, अ॑निल (या अनि॑ल) हवा, तृप॑ल प्रसन्न; उत्तरकाल में चपल और तरल (अंतोदात्त माने गये हैं), तथा हर्षुल (वही)। ल अंतवाले अनेक शब्द संदिग्ध व्युत्पत्ति के होते हैं।

११९०—व-स्पष्ट व्युत्पत्ति के बहुत कम शब्द इस प्रत्यय से बनाये जाते हैं—इतने कम कि इनका संगत वर्गीकरण नहीं हो सकता है। ये विविध अर्थ और स्वरपात के होते हैं, और इनमें सामान्यतया दुर्बल धातु-रूप देखा जाता है।

अ—इस प्रकार—ऋक्व॑ प्रशंस्य, ऋष्व॑ उन्नत, तक्व॑ शीघ्र, ध्रुव॑ निश्चित, पक्व॑ पका, पद्व॑ जाने योग्य, यह्व॑ शीघ्र (?), शर्व॑ व्यक्तिनाम, ह्रस्व॑ छोटा, शिक्व॑ चतुर, रण्व॑ प्रसन्न, ऊर्ध्व॑ ऊँचा, वक्र ऐंठा हुआ, ऊर्व॑ मंच; ए॑व शीघ्र, गति, अ॑श्व घोड़ा, स्रक्व या सृक्व कोना; तथा संभवतः उ॑ल्व गर्भवेष्टन; स्त्रीलिंग शब्द पुष्वा (तै० सं० पृष्वा, अ० वे० प्रुष्वा॑) है; संयोजन-स्वर के साथ सचिव संगी, अ॑मीव रोग, और विध॑वा राँड़ है।

आ—व अंतवाले शब्दों से विकीर्ण स्थलों में ही प्रत्यय का विघटन उअ में देखा जाता है।

११९१—रि-इस प्रत्यय से सीधे अथवा पूर्ववर्ती उ के साथ अल्पसंख्यक शब्द बनते हैं।

अ—यथा : अङ्घ्रि या अंह्रि पाँव; अश्रि किनारा, उस्रि प्रातःकाल, तन्द्रि या द्रीं थकान, भूरि प्रचुर, वङ्क्रि पलसी, सूरि रक्षक, तक्रि शीघ्र, वध्रि हिजड़ा, शुभ्रि सुंदर, स्थुरि एकाकी (संघ); तथा उरि के साथ, जसुरि श्रान्त, दाशुरि पवित्र, भागुरि व्यक्ति नाम, सहुरि बलवान्; अङ्गुरि (या अङ्गुलि) अंगुली।

११९२—रु—यह सीधे अथवा पूर्ववर्ती स्वर के साथ कुछ विशेषण और नपुंसक संज्ञाएँ बनाता है।

अ—यथा : अश्रु आँसू, चारु प्रिय, धारु स्तनपान करने वाला, भीरु डरपोक—पूर्ववर्ती अ-स्वर के साथ, अररु विरोधी, पतरु उड़ाकु, वन्दारु स्तुति करने वाला, पियारु उपहासजनक, शरारु अनिष्टकारक; पूर्ववर्ती ए के साथ, तमेरु शिथिल, मदेरु आनन्दजनक, सनेरु प्राप्त करने वाला, हिमेरु शैत्य से परिपूर्ण; स्पष्टतः गौण प्रत्ययांत मित्रेरु सहयोगी, और पेरु (संदिग्धार्थक)।

आ—गौण प्रत्यय लु (द्रष्टव्य १२२७ आ) स्पष्टतः क्रियारूपप्रकृतियों से आ अंतवाली कुछ संज्ञाओं में जोड़ा जाता है; तब ऐसे प्रातिपदिक बनते हैं जिनमें मुख्य स्वरूप प्राप्त है : यथा—पतयालु उड़ने वाला, स्पृहयालु इच्छा करने वाला।

११९३—वि इस प्रत्यय से बनते हैं :

अ—अभ्यस्त धातुओं से दो या तीन प्रत्ययान्त शब्द : जागृवि जाग्रत, दाधृवि धारणशील, दीदिवि देदीप्यमान, तथा कुछ दूसरे शब्द, घृष्वि जीवंत, ध्रुवि दृढ, जिर्वि जीर्ण (अ० वे०; अन्यत्र जिव्रि);-फर्वी संदिग्ध है।

आ—यहाँ चिकित्वित् (ऋ० वे०, एक बार) उल्लिखित किया जा सकता है, जो स्पष्टतः धातु-रूप से वित् प्रत्यय लगा कर बनाया गया है।

११९४—स्नु—इस प्रत्यय से संयोजन-स्वर के विना अथवा उसके साथ कुछ विशेषण शब्द धातुओं से बनाये जाते हैं, किन्तु साथ ही णिजन्त मूलों से।

अ—सरल धातुओं से : सीधे, क्षेष्णु नश्वर, ग्लास्नु रुग्ण, जिष्णु जयशील, दङ्क्ष्णु दर्शन करने वाला, भूष्णु बढ़ने वाला, नि-षत्स्नु बैठने वाला, स्थास्नु स्थिर; संयोजन-स्वर इ के साथ, करिष्णु, काशिष्णु, क्षयिष्णु, गमिष्णु, ग्रसिष्णु, ग्रहिष्णु, चरिष्णु, जनिष्णु, तपिष्णु, त्रपिष्णु, पतिष्णु, भविष्णु, भ्राजिष्णु, मदिष्णु, मविष्णु, यजिष्णु, याचिष्णु, वदिष्णु, वर्धिष्णु, सहिष्णु।

आ—यौगिक क्रियारूपमूलों से : कोपयिष्णु, क्षपयिष्णु, च्यावयिष्णु, जनयिष्णु, तापयिष्णु, नमयिष्णु, पतयिष्णु, पोषयिष्णु, पारयिष्णु, वोधयिष्णु, मादयिष्णु, यमयिष्णु, रोपयिष्णु, वारयिष्णु, शोचयिष्णु; तथा जागरिष्णु। एक असंगत रूपनिर्माण उल्वनिष्णु होता है।

इ—ये प्रत्ययान्त शब्द उपसर्गों के साथ निर्वाधयुक्त किये जाते हैं : उदा० निपतनु, प्रजनिष्णु, अभिशोचयिष्णु, संवारयिष्णु।

ई—ऐसा असंभव नहीं है कि इस प्रत्यय का स् मूलतः प्रातिपदिकवाला हो जिसमें नु जोड़ा गया है। इस प्रकार का स्वरूप क्रविष्णु, कच्चे मांस (क्रविस्) के लिए लालायित में अब भी दृष्टिगोचर है; तथा वधस्नु, वृधस्नु (?), और प्रथस्नु (?) में भी।

११९५-स्न—अत्यन्त थोड़े-से शब्दों में यह प्रत्यय प्राप्त है।

अ—यह तीक्ष्ण तेज में देखा जाता है, और संभवतः श्लक्ष्ण, स्क्ष्ण, मार्तन में; तथा गेष्ण और देष्ण (साधारणतः त्र्यक्षरिक : दइष्ण) दान में। अंतिम रूपों को छोड़कर अन्यत्र इसके पूर्व में इ अप्राप्त है; किन्तु (ऊपर स्नु की तरह) इसके पूर्व वधस्न हिंसक शस्त्र, करस्न कलाई में अ देखा जाता है; नदीष्ण निपुण गौण प्रत्ययान्त मालूम होता है। स्त्रीलिंग रूप मृत्स्ना माटी, ज्योत्स्ना चाँदनी हैं।

११९६—त्नु—यह प्रत्यय स्नु के साथ (ऊपर, ११९४) समान ढंग से प्रयुक्त होता है।

अ—सरल धातुओं के साथ प्रयुक्त होने पर तृ सामान्यतया ह्रस्व धात्वन्त्य के वाद परिशिष्ट त्-जैसा माना जा सकता है, जिसमें तव नु जोड़ा जाता है : यथा—कृत्नु सक्रिया, गत्नु (? ऋ० वे०), हत्नु मारक, तत्नु (?) फैलाता हुआ; तथा अभ्यस्त धातुओं से, जिगत्नु जल्दी करता हुआ, और जिघत्नु हिंसा करता हुआ; किंतु दत्नु तोड़ता हुआ भी। पुनः संयोजन-स्वर के साथ, द्रवित्नु दौड़ता हुआ, दयित्नु (? ला० श्रां० सू०)।

आ—णिजन्त-मूलों के साथ : उदाहरणार्थ, द्रावयित्नु जल्दी करता हुआ, पोषयित्नु पोषण करता हुआ, मादयित्नु नशा उत्पन्न करता हुआ, तनयित्नु और स्तनयित्नु वज्र, सूदयित्नु वहता हुआ, अमायित्नु रोग उत्पन्न करता हुआ।

इ—पूर्ववर्ती अ के साथ, पीयत्नु धिक्कारता हुआ, मेहत्नु नदी विशेष, आरुजत्नु नष्ट करता हुआ; और कवत्नु कृपण (संदिग्ध व्युत्पत्ति)।

११९७—स-पूर्ववर्ती संयोजन-स्वर से युक्त अथवा विहीन प्रत्यय मूलक **स** अंतवाले शब्द विषम वर्ग के होते हैं, और अधिकांशतः संदिग्ध व्युत्पत्तिवाले हैं। इस प्रकार :

अ—मात्र **स** के साथ : **गृत्स** चतुर, **जेष** जयी (प्रायः, लुङात्मक **स्** ? ११४८), **दृक्ष** दृष्टिपात करता हुआ, **रुक्ष** चमकता हुआ, **रूक्ष** रूखा, **उत्स** सं० झरना; **भीषा** स्त्री० भय (अथवा यौगिक धातु **भीष्** से)।

आ—पूर्ववर्ती इ-स्वर के साथ : **तविष** (स्त्री० **तविषी**) सबल, **महिष** (स्त्री० **महिषी**) शक्तिशाली, **भरिषा** (?) पोषण खोजता हुआ, **पुरीष** विष्ठा, **मनीषा** स्त्री० भक्ति; और तुलनीय **रयीषिन्** (? सा० वे०)।

इ—पूर्ववर्ती **उ**-स्वर के साथ, **अरुष** (स्त्री० **अरुषी**) लाल, **अशुष** अतिलोलुप, **तरुष** विजेता, **पुरुष** और **मनुष** (**-उस-अ** ?) आदमी; **पीयूष** अनुग्रह।

११९८—**असि**-प्राचीनतम भाषा में थोड़े-से शब्द इस रूप वाले प्रत्यय से (संभवतः **अस्** में **इ** के योग द्वारा उत्पन्न) बनाये गये हैं।

अ—यथा—**अतसि** घुमन्तू, **धर्णसि** दृढ़, **सानसि** जयशील; तथा **धासि** पुं० पेय, स्त्री० स्थान, **सरसि** (?) जलाशय।

११९९—**अभ**-पशुओं के कुछ नाम, जो अधिकांशतः संदिग्ध व्युत्पत्ति वाले होते हैं, इस प्रत्यय के साथ देखे जाते हैं।

अ—यथा : **वृषभ** और **ऋषभ** बैल, **शरभ** काल्पनिक पशुविशेष, **शरभ** सर्पविशेष, **गर्दभ** और **रासभ** गदहा; पुनः **कनभ**, **करभ** और **कलभ**, **लटस**; **शलभ**; तथा अन्य संयोजन-स्वरों के साथ, **तुण्डिभ**, **नुण्डिभ**, और **कुक्कुभ**। स्त्रीलिंग रूप, यदि प्राप्त है, ईकारान्त होता है; और **कटभी** समान्तर पुंलिंग-रूप के बिना उपलब्ध है। अ० वे० में **स्थूल** के पर्याय रूप में **स्थूलभ** विशेषण मिलता है।

१२००—**त्**, **द्**, **ज्** प्रभृति व्यंजनों में अंत होने वाले तथा अधिकांशतः संदिग्ध धातु-संबंधों को रखनेवाले कुछ शब्द ऊपर ३८३ क (३-५-७) में दिये गये हैं; इनकी आवृत्ति करना यहाँ अनावश्यक है। इनमें से **अत्** अंतवाले कुछ शब्द **अन्त्** अंतवाले कृदन्तक्रियारूपों (११७२) से संभवतः संबद्ध हैं।

१२०१—अन्य मुख्य प्रत्ययों में से कतिपय या तो वैयाकरणों द्वारा अभिहित और संदिग्ध प्रयोगिता वाले उदाहरणों से प्रमाणित हैं अथवा अस्पष्ट संबंध वाले शब्दों से या ज्ञात धातुओं से संबद्ध असंहत शब्दों से संदिग्ध रूप में अनुमेय हैं।

अ—इस प्रकार के कुछ यहाँ निर्दिष्ट किये जा सकते हैं : **अण्ड, करण्ड** और **वरण्ड** तथा कुछ अनुद्धरणीय शब्दों (वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप से प्राकृतीकृत अ-रूपों) में; **एर** और **ओर** अनुद्धरणीय शब्दों में, तथा **एलिम** (ऊपर ९६६ ई; संभवतः **एर** से गौण **इम** के साथ विशेष प्रत्ययान्त रूप); **मर** (**म** या **मन्** में गौण **र** को युक्त करने से) **घस्मर, सृमर** प्रभृति में; **सर** **मत्सर** में, **कर, पुष्कर** और दूसरे अस्पष्ट शब्दों में, **प पुष्प, स्तुप, स्तूप** अन्य कतिपय अस्पष्ट शब्दों में; इत्यादि।

२—गौण-प्रत्यय

१२०२—गौण प्रत्ययविधान के शब्द पहिले से स्पष्ट प्रत्ययों में अंत होने वाली प्रकृतियों में विशेष प्रत्ययों के योग द्वारा बनाये जाते हैं।

अ—किंतु साथ ही, जैसा कि ऊपर (११३७ आ) कहा जा चुका है, सार्वनामिक मूलों में।

आ—पुनः अपवादस्वरूप अवस्थाओं में अवयवों, विभक्तिरूपों तथा पद-समूहों में भी : उदाहरणार्थ—**अन्तर्वन्त्, अपित्व, परतस्त्व, सहत्व, सार्वत्रिक, ऐकध्य, मामक, आमुष्मिक, आमुष्यायण, अप्सुमन्त्, अप्सव्य, किंचन्य, किंकर्तव्यता, क्वाचित्क, नास्तिक, आकिंचिन्मय।**

१२०३—**प्रकृति के परिवर्तन।** प्रकृति जिसमें प्रत्यय युक्त किया जाता है, रूप के विभिन्न परिवर्तनों के विषय बनती है।

अ—स्वर से अथवा **य्** से (इस स्थल में इसका ग्रहण इस प्रकार होता है जैसे कि स्वर **इ** हो) आरंभ होने वाले अंत प्रत्यय से पूर्व अंत्य **आ**-और **इ**-स्वर नियमित रूप से सर्वथा लुप्त हो जाते हैं; जब कि अंत्य **उ**-स्वर का गुण-सबलीकरण होता है और यह **अव्** हो जाता है; **ऋ, ओ** और **औ** (सबके सब अत्यंत विरल प्रयोग वाले) सामान्य संधि-नियम के अनुरूप विकसित होते हैं।

आ—**उ**-स्वर कभी-कभी असबलीकृत बना रहता है : द्रष्टव्य १२०८ उ।

इ—अंत्य **न्** विविध रूप से विकसित होता है, कभी सुरक्षित रहता है, कभी पूर्ववर्ती **अ** के साथ भी, लुप्त हो जाता है; तथा कभी-कभी **अ** लुप्त हो जाता है, जब कि **न्** बना रहता है : यथा—**वृषन्** से **वृषण्वन्त्, वृषण, वृष, वृषत्व, वृष्ण्य।** **अन्त्** में अंत होने वाले प्रातिपदिक का दुर्बल रूप, **अत्** अंत वाला, नियमतः गृहीत होता है : यथा—**वैवस्वत** (**विवस्वन्त्**)।

ई—सामान्यतः, आदिम प्रातिपदिक का पुंलिंग रूप वह है जिससे विशेष गौण प्रत्ययान्त रूप बनाया जाता है। किंतु ऐसी भी खूब विरल स्थितियाँ नहीं

हैं जहाँ इसके स्थान में स्त्रीलिंग रूप गृहीत हैं; उदाहरण हैं **सतीत्व, भार्यात्व, प्रतीतात्वं, भारतीवन्त्, रक्षावन्त्, प्रियावन्त्**। दूसरी ओर अंत्य दीर्घ स्वर-ई, अपेक्षाकृत विरल भाव से **आ**-सामान्यतया स्त्रीलिंग प्रातिपदिक वाला, प्रत्यय-विधान में यदा-कदा ह्रस्वीकृत हो जाता है : यथा—**याज्यवन्त्, प्रशाखवन्त्, गोषतम, वशतमा, सधनित्वं, जरतिका, अन्नादितमा** (तु० ४७१ आ), **रोहिनित्वं** (तै० ब्रा०; **नीत्वं** श० ब्रा०), **पृथिवित्वं, प्रतिपत्निवत्, सरस्वतिवन्त्**।

इ—जैसा कि ऊपर (१११ इ, ई) कहा जा चुका है, गौण प्रत्यय का संयोग कभी-कभी बाह्य संधि के नियमों के अनुरूप होता है। **ईय** (१२१५ उ), **क** (१२२२ ग), **मय** (१२२५ अ), **मिन्** (१२३१ आ), **विन्** (१२३२ इ), **वन्त्** (१२३३ ओ) **वन्** (१२३४ इ), **मन्त्** (१२३५ ऊ), **त्व** (१२३९ इ), **तय** (१२४५ अ), **त्य** (१२४५ इ), **तन** (१२४५ ओ) प्रत्ययों के अंतर्गत ऐसी स्थितियाँ निर्दिष्ट हैं।

१२०४—गौण प्रत्ययविधान में सर्वाधिक प्राप्त परिवर्तन उस प्रातिपदिक के आदि-अक्षर का वृद्धि सवलीकरण है जिसमें प्रत्यय जोड़ा जाता है।

अ—सवलीकृत अक्षर किसी भी प्रकृतिवाला हो सकता है : धातुमूलक, उपसर्गवाला अथवा समास के प्रथम पदवाला—यथा **आश्विनं** (**अश्विन्**) **सौम्यं** (**सोम**), **पार्थिव** (**पृथिवी**), **आमित्रं** (**अमित्र**), **साम्राज्य** (**सम्राज्**), **सौकृत्य** (**सुकृत**), **मैत्रावरुण** (**मित्रावरुणा**), **औच्चैःश्रवस** (**उच्चैःश्रवस्**)। सहवर्ती स्वरपात को लेकर देखिए परवर्ती कडिका।

आ—यदि प्रातिपदिक का आरंभ ऐसे व्यंजन से होता है जिसके बाद **य्** या **व्** हो, तो अंतःस्थ कभी-कभी वृद्धि प्राप्त कर दिया जाता है, मानो यह **इ** या **उ** हो, तथा परिणामी **ऐ** या **औ** में पुनः **य्** या **व्** परगामी स्वर से पूर्व जुड़ जाता है।

इ—इसकी प्राप्ति सर्वाधिक नहीं होती है जहाँ **य्** या **व्** उपसर्गवत् होता है—यथा **नि, वि, सु**—जो परवर्ती आदि स्वर से पूर्व परिवर्तित है : इस प्रकार **न्याय** (जैसे कि **नियाय**) से **नैयायिक, व्यश्व** (मानो **वियश्व**) से **वैयश्व, स्वश्व** (मानो **सुवश्व**) से **सौवश्य**; किंतु यह दूसरी स्थितियों में भी मिलता है, यथा—**स्वर** से **सौवर, श्वन्** से **शौव**, इनके विपरीत **स्वायम्भुव** (स्वयम्भू), इत्यादि। अ० वे० में **कुवेर** से **कावेरक** अनियमित ढंग से बना है (जैसे कि **कवेर** से, श्रुतिमूलक **य्** के मध्यागम के बिना)।

ई—यह सवलीकरण, विशेषतः और अधिक समय, **अ** और **य** प्रत्ययों से पूर्व होता है; साथ ही नियमित रूप से **इ**, **आयन**, **एय** (**इनेय** के साथ) और उत्तरकालिक **ईय** के पूर्व नियमित रूप से; संयुक्त **अक** और **इक** और उत्तरकालिक **अकि** के पूर्व; तथा केवल विकीर्ण उदाहरणों में **न**, **एन**, **र** और **त्व** (?) के पूर्व : देखिए इन विभिन्न प्रत्ययों को नीचे।

उ—कभी-कभी असवलीकृत शब्द इस प्रकार के सवलीकृत शब्द के पूर्व युक्त होता है, जैसे कि सवलीकरण के पहले होकर बाद में समास हुआ हो : उदाहरणार्थ—**इन्द्रदैवत्य** दैवत्य के रूप में इन्द्र वाला (**ऐन्द्रदैवत्य** के स्थान में); **चरमचैपिक** माथे से लेकर पीछे तक, **जीवलौकिक** प्राणियों के संसारवाला, **अन्तर्भौम** जमीन के नीचे, **सोमरौद्र**, **गुरुलाघव** (तुल० **तामसं गुणलक्षणम्**, मनु० १२–३५)। किंतु विशेषरूप से तब, जब शब्द संख्यावाची हो : यथा—**शतंशारद** सौवर्षो का, **पञ्चशारदीय**, **त्रिसांवत्सर**, **बहुवार्षिक**, **अष्टवार्षिक**, **अनेकवर्षसाहस्र**, **दशसाहस्र**, **त्रिसाहस्री**, **त्रिपौरुष**, **चतुराध्यायी**, या—**यिका** चार अध्यायों का, इत्यादि।

ऊ—अधिक समय, सामासिक शब्द के दोनों पदों में आदि सवलीकरण प्राप्त होता है : उदा० **सौमपौष्ण**, **कौरुपाञ्चाल**, **चातुर्वैदय**, **ऐहलौकिक**, **ऐकभौतिक**, **त्रैष्टुब्जागत**, **याजुर्वैदिक**। ऐसे प्रयोग विरल नहीं हैं।

ए—गुणसवलीकरण (अंत्य **उ**-स्वर को छोड़कर, १२०३ अ) केवल सर्वाधिक विरल स्थितियों में गौण प्रत्ययविधान का परिणाम होता है। अपवाद हैं **द्वयं** और **त्रयं** तथा **नंव** (१२०९ ओ)।

१२०५—**स्वरपात**। अ-आदि-वृद्धि सवलीकरण वाले प्रत्ययान्त अपना स्वरपात नित्यरूप से या तो प्रथम या अंतिम अक्षर पर रखते हैं। पुनः यह जैसा कि इन दो स्थितियों में, सामान्यतया इस प्रकार रखा जाता है कि मूल स्वरपात से सर्वाधिक दूर कर दिया जाय; तो भी अविरले यह द्वितीय कोटि के अंत्य से प्रत्यय पर ही हटा दिया जाता है; अपेक्षाकृत कम समय किसी प्रकार के परिवर्तन के बिना यह आदि अक्षर पर सुरक्षित रहता है। केवल एक या दो प्रत्ययों में आदि और अंत्य उदात्त का भेद शब्दों के प्रयोग और अर्थ के किसी पार्थक्य से संबद्ध है (द्रष्टव्य नीचे, प्रत्यय **एय**; १२१६)।

आ—स्वरपात लेकर अन्य कोई सामान्य नियम नहीं दिये जा सकते हैं। सामान्यतया प्रत्यय स्वर का वहन करता है, अन्यथा यह वहीं बना रहता है जहाँ यह मूलतः था; खूब विरले यह पीछे आदि अक्षर पर फेंका जाता है (यथा

आदिवृद्धि वाले प्रत्ययान्त शब्द में); तथा एकमात्र स्थिति (ता : १२३७) में, यह प्रत्यय के पूर्ववर्ती अक्षर पर लाया जाता है।

१२०६—अर्थ। अ। गौण प्रत्ययों में से अधिकांश विशेषण बनाने वाले होते हैं : ये संज्ञाओं से ऐसे विशेषण बनाते हैं जो युक्तार्थक अथवा संबंधार्थक होते हैं तथा अनिश्चित और विविध स्वरूप वाले हैं। किंतु, वस्तुतः यह अनिश्चितता बहुधा विशेषीकरण में प्रवृत्त होती है; इस प्रकार विशेषतः, गोत्र अथवा वंश के अर्थ में जिससे पिता, माता तथा अपत्य अर्थवाले विशिष्ट शब्द प्राप्त होते हैं; अथवा पुनः, संबंधवाचकता में। इसके अतिरिक्त ऐसे विशेषणों के पुंलिंग और स्त्रीलिंग रूप जातिवाचक-जैसे प्रयुक्त होते हैं; नपुंसक भावार्थक-जैसा व्यापक रूप से प्रयुक्त होता है जो विशेषण द्वारा समानाधिकरण ढंग से द्योतित गुण को व्यक्त करता है; तथा नपुंसक भावार्थक उन्हीं प्रत्ययों द्वारा विशेषणों से बनाये जाते हैं। (बहुत कम) विशिष्ट प्रत्यय भी उपलब्ध हैं जिनके द्वारा भावार्थ-शब्द सीधे विशेषण अथवा संज्ञा से बनाये जाते हैं।

आ—कुछ ऐसे प्रत्यय हैं जिनसे मूल वाले शब्द-भेद में कोई परिवर्तन नहीं आता है, किंतु या तो उसकी कोटि (न्यूनता और तुलनीयता) बदल जाती है, या वहाँ अन्य विकार आते हैं, अथवा इसका अर्थ असंगत ढंग से अपरिवर्तित छोड़ दिया जाता है।

१२०७—प्रत्ययों को अब निम्नक्रम में प्रस्तुत किया जाएगा। प्रथमतः विशेषण बनाने वाले सामान्य प्रत्यय, जिनमें आरंभ सर्वाधिक प्रयोग वालों (अ, य और इससे युक्त इ, क) से किया जायेगा; तब, (इन्, वन्त और मन्त् तथा इनके युक्त) विशिष्ट संबंधार्थ रखने वाले; तदनन्तर भाव वाचक की रचना करने वाले (ता और त्व, तथा इनसे युक्त); फिर, तुलनादिबोधक प्रत्यय; अंत में, वे प्रत्यय जिनके द्वारा व्युत्पादित शब्द नित्य अथवा प्रायः नित्य रूप में निपातों से बने हैं।

अ—निर्देश के सुविधार्थ यथावर्णित अपने क्रम में इनकी तालिका यहाँ प्रस्तुत की जाती है :

अ	१२०८-९	मय	१२२५	त्व, त्वता	१२३९
य	१२१०-१३	र, इर आदि	१२२६	त्वन	१२४०
इय	१२१४	ल, लु	१२२७	तर, तम	,,
ईय	१२१५	व, वल, वय		र, म	,,
एय, एय्य	१२१६	व्य	१२२८	थ	,,

एन्य	१२१७	श	१२२९	तिथ	१२४२
अय्य	१२१८	इन्	१२३०	तय	१२४५
आयन	१२१९	मिन्	१२३१	त्य	,,
आयी	१२२०	विन्	१२३२	त	,,
इ, अकि	१२२१	वन्त्	१२३३	न	,,
क, अक, इक	१२२२	वन्	१२३४	तन, त्न	,,
न, आन, ईन		मन्त्	१२३५	वत्	,,
इन, एन	१२२३	ता	१२३७	कट	,,
म, इम, म्न	१२२४	ताति, तात्	१२३८	वन, आल	,,

१२०८—अ-इस प्रत्यय से व्युत्पादित रूपों का अत्यन्त बृहत् वर्ग संज्ञाओं से अथवा संज्ञार्थ वाले विशेषणों से बना है। ऐसे शब्द मौलिक एवं विशेष रूप से विशेषण होते हैं जो अधिक मौलिक शब्द द्वारा द्योतित (अत्यधिक विभिन्न प्रकार वाले) संबंध अथवा संयोग को सूचित करते हैं। किंतु ये निर्बाध विशेष्य-जैसे भी प्रयुक्त होते हैं। सामान्यार्थक-जैसे पुंलिंग और स्त्रीलिंग रूप आते हैं, तो नपुंसक विशेषतः और अधिकांशतः भावार्थक—जैसे। बहुधा इनमें वंशज अथवा अपत्य अर्थ भी मिलता है।

अ—नियमित तथा अधिक व्यापक रूपनिर्माण वह है जहाँ मूल-शब्द, सरल अथवा सामासिक, प्रथम अक्षर के वृद्धि-सबलीकरण के साथ आता है। इस रूपनिर्माण के उदाहरण होते हैं :

आ—हलन्त मूल-शब्दों से : स्वरपात के सामान्य विचलन के साथ, **आयस** लोहे का (**अ॑यस्**), **मानस** मनसंबंधी (**म॑नस्**), **सौमनस॑** मित्रता (**सुम॑नस्**), **ब्राह्मण** पुरोहित (**ब्र॑ह्मन्**), **हैमवत॑** हिमालय से (**हिम॑वन्त्**) **आङ्गिरस॑** अङ्गिरस् वंशज (**अ॑ङ्गिरस**), **हास्तिन** हाथी के समान (**हस्ति॑न**), **मारुत** मरुत् संबंधी (**मरु॑त्**); —अन्त्य से प्रत्यय पर आगे हटाये गये उदात्त के साथ, **शारद॑** शरद् के उपयुक्त, **वैराज॑** विराज् संबंधी **पौष्ण॑** पूषन् संबंधी **गैरिक्षित॑** **गिरिक्षित्** का पुत्र;—अपरिवर्तित उदात्त के साथ, **मा॑नुष** **म॑नुस** की संतान।

इ—**वन्त्** अंतवाले प्रातिपदिकों के मध्य मूल-रूप में (जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है) प्रत्यय जोड़ा जाता है; **मा॑घोन** और **वार्त्रघ्न** में यह दुर्बलतम रूप में युक्त है; अंत प्रत्यय **इन्** अपरिवर्तित बना रहता है; **अन्** सामान्यतया वैसा ही प्राप्त है, किंतु कभी-कभी इसका अ लुप्त हो जाता है, यथा

पौष्ण, त्रैवृष्ण, दाशराज्ञ में—तथा कभी-कभी इसका न्, यथा ब्राह्म, औक्ष, बार्हत्साम में ।

ई—ऋ-अंतवाले मूल शब्दों से : जैत्र जय युक्त (जेतृ या जेतृ जीतने वाला), त्वाष्ट्र त्वष्टर संबंधी, सावित्र सूर्य का वंशज (सवितृ) औभेत्र, पैत्र ।

उ—उ-अंतवाले मूल-शब्दों से : साधारणतया उ के गुण-सवलीकरण के साथ, यथा—वासव वसुसस् संबंधी, आतव ऋतुओं का (ऋतु), दानव दानु की संतान (दानु), सैन्धव सिंधु से (सिन्धु) : किंतु कभी-कभी उनके विना, यथा माधव मधु से परिपूर्ण (मधु), पार्श्व वगल (पर्शु पसली), पैद्व पेदु वाला, तान्व शारीरिक (तनू), याद्व यदु का ।

ऊ—इ और ई, जो स्वरयुक्त प्रत्यय द्वारा हटा दिये जाते हैं, अंत वाले मूल शब्दों से : पार्थिव पृथ्वी का (पृथिवी), सारस्वत सरस्वती वाला, ऐन्द्राग्न इन्द्र और अग्निवाला (इन्द्राग्नी) : पाङ्क्त पँचगुना (पंङ्क्ति) नैर्ऋत निर्ऋतिवाला. पार्थुरश्म पृथुरश्मि से संबंधित, पाशुपत पशुपति संबंधी ।

ए—समानरूप से लुप्त होने वाले आ अंतवाले मूलशब्दों से : यामुन यमुना संबंधी, सारघ मधु आदि (सरघ मधुमक्खी), कानीन प्राकृत संतान (कनीना कन्या) ।

ऐ—कतिपय (एक साथ मिले अवशिष्टों से अधिक) अकारान्त मूल-शब्दों से, जिनका अंत्य प्रत्यय द्वारा प्रतिस्थापित हो जाता है : उदाहरणार्थ, स्वरपात के सामान्य विचलन के साथ, आमित्र विरोधी (अमित्र शत्रु), वारुण वरुण संबंधी, वैश्वदेव सभी देवताओं से संबद्ध (विश्वदेव); नैर्हस्त विना हाथ का होना (निर्हस्त), वैयश्व व्यश्व की संतान; गार्दभ गर्दभ संबंधी (गर्दभ), दैव्य देव संबंधी (देव), माध्यंदिन मध्यदिनवाला (मध्यंदिन), पौत्र पोता (पुत्र बेटा), सौभग सुन्दर भाग्य (सुभग). वाध्र्यश्व वध्र्यश्व के गोत्रज; अपरिवर्तित स्वरपात के साथ (अपेक्षाकृत कम), वासन्त वसंत संबंधी (वसन्त वसंत), मैत्र मित्र से संबंधित, आतिथिग्व अतिथिग्व के गोत्रज, दैवोदास दिवोदास संबंधी । कुछ प्रयोगों में य प्रत्ययद्वारा प्रतिस्थापित होता है : यथा—सौर, पौष याज्ञवल्क ।

औ—इस अंतिम रूप के शब्द कभी-कभी, युक्त प्रत्यय के विना, आंतरिक परिवर्तन द्वारा बने माने जाते हैं । किंतु यह देख कर कि अन्य अंत्य स्वर इस प्रत्यय से हटा दिये जाते हैं, गौण व्युत्पत्तिवाले अन्य विविध प्रत्ययों के पूर्व भी

अ प्रकृत्यन्त्य के रूप में लुप्त हो जाता है, तथा यह देखकर कि प्रत्ययविहीन शब्द-विधान के कोई उदाहरण अ-भिन्न अन्य अंत्य वाले मूल-शब्दों से उद्धरणीय नहीं है, यह अत्यधिक अस्वाभाविक लगता है कि यहाँ भारत यूरोपीय शब्द-विधान की संपूर्ण प्रक्रिया से व्युत्पत्तिगृहीत हो।

औ—इस रूप-निर्माण के विशेषण **ई** लगा कर अपने स्त्रीलिंग रूपों को बनाते हैं (द्रष्टव्य ३३२ अ)।

१२०९—आद्य अक्षर में वृद्धि-परिवर्तन के बिना **अ** के योग से बने शब्द अनेक नहीं हैं, तथा निस्संदेह ये अधिकांशतः अयोगात्मक निर्माण लेकर अन्य अंत्यों के **अ**-शब्दरूप वाले प्रातिपदिकों में अंतरण के परिणाम होते हैं।

अ—अंतरण द्वारा बने अकारांत प्रातिपदिकों के अनेक उदाहरण ऊपर (३९९) दिये जा चुके हैं। इस प्रकार के संक्रमण की स्थितियाँ समास में (१३१२) सर्वाधिक आती हैं: यथा, विशेषरूप से, **अप**–(**अप्** या **आप्** जल के लिए), **ऋच**, **नर**, इत्यादि; **अन्** अंतवाले प्रातिपदिकों से, **अह**, **वृष**, प्रभृति, किंतु साथ ही अह्न, वृष्ण और वृषण; **इ** अंतवाले प्रातिपदिकों से, **अङ्गुल**, **रात्र**, इत्यादि; अञ्च् प्रातिपदिकों (४०७) के दुर्बलतम रूपों से **उरूच**, **नीच**, **पराच**, इत्यादि।

आ—पुनः, समास में विशेष रूप से आनेवाले, तथापि एकल शब्दों की तरह बहुधा स्वतंत्र प्रकृति रखने वाले अकारांत प्रातिपादिक **अस्** (विरले, **इस्**, **उस्**) अंतवाली संज्ञाओं से होते हैं: इस प्रकार, उदाहरणस्वरूप, **तमस**, **रजस**, **पयस**, **ब्रह्मवर्चस**; **सर्ववेदस**, **देवैनस**, **परुष**, **त्र्यायुष** और संभवतः **मनुष**।

इ—**इन्** अंतवाले विशेषणों से उस प्रकार के प्रातिपदिकों को वैयाकरण **इन** प्रत्यय से बने मानते हैं: यथा—**मलिन** दूषित, **परमेष्ठिन्** प्रभृति (देखिए ४४१ य)।

ई—तथाकथित प्रत्यय अंत से बने कतिपय शब्द **अन्त्** अंतवाले प्रातिपदिकों के स्पष्ट अंतरण होते हैं। इनमें से कुछ पूर्वतम काल से ही प्राप्त हैं: यथा—**पान्त** घूँट, **स्वान्त** (?), **वसन्त** वसंत, **हेमन्त** शीतकाल, **वेशन्त** प्रभृति जलाशय, **जीवन्ती** संजीवनी लता विशेष; तथा अन्य उत्तरकाल में मिलते हैं, यथा—**जयन्त**, **तरन्त**, **मधुमन्त**, इत्यादि। इनमें अन्तोदात्त माना जाता है।

उ—**अञ्च्**—प्रातिपदिकों से (४०७) क्-अ अंतवाली कुछ संज्ञाएँ बनायी जाती हैं: यथा—**अनूक**, **अपाक**, **उपाक**, **प्रतीक**, **पराक**, प्रभृति।

ऊ—ऋ-अंतवाले प्रातिपदिकों से, होत्रं, नेत्रं, नेष्ट्रं, पोत्रं, प्रशास्त्रं इत्यादि, पुरोहितों की कोटियों से; साथ ही धात्रं भ्रात्रं इत्यादि।

ए—अन्य विकीर्ण रूप हैं : संविद्युत्तं, आव्युषं, वीरुध, कंकुद, ककुभं, अशुंष, भूस्यं, सख्यं, अंविपत्य, जांस्पत्यं, अरट्वं, पाण्ड्व।

ए—तु अंतवाले भाववाचक संज्ञा-प्रातिपदिकों में अ के योग से बने, (तुअ) त्व अंतवाले वैदिक भविष्यकालिक कृदन्तरूपों का विवेचन पूर्णरूप से (९६६ अ) किया जा चुका है।

ओ—संख्यावाची प्रातिपदिकों से गुण-सवलीकरण के साथ त्रयं और द्वयं प्राप्त होते हैं; नवं तथा इसी प्रकार नुं अव से होता है; तथा अंन्तर स्पष्टतः अन्तंर् से।

औ—भेषजं औषध, भिषंज आरोग्यकर्त्ता से गुण-विकार के साथ होता है : और संभवतः देवं स्वर्गिक, दिव्य, देवता इसी प्रकार दिव् आकाश, स्वर्ग से (प्रकाशार्थ दिव् धातु भाषा में प्राप्त नहीं है)।

१२१०—य-इस प्रत्यय से शब्दों की एक बड़ी संख्या प्राचीन एवं उत्तर दोनों भाषाओं में बनायी जाती है।

अ—य-प्रत्यय रूप, संयोग तथा प्रयोग के व्यापक और भ्रमकारक प्रभेद को परिलक्षित करता है; य-अंश वाले अन्य प्रत्ययों—इय, ईय, एय, आय्य, एय्य, एत्य—के साथ प्रत्यय की संबन्ध आंशिक रूप से अस्पष्ट और अज्ञेय भी है। बहु-संख्यक स्थलों में य, जब यह किसी व्यंजन का परवर्ती होता है, प्राचीनतम भाषा में छन्द मान लेकर द्व्यक्षरिक होता है, या इअ की तरह पाठ अपेक्षित है। ऋ० वे० में, इस प्रकार, २६६ शब्दों में (सामासिकों को छोड़ कर) इअ की तरह होता है, और केवल ७५ में नित्य य; ४६ में कभी इअ-जैसा पढ़ा जाना चाहिए, तो कभी य-जैसा; किंतु इनमें से अनेक के साथ य केवल कादाचित्क स्थितियों में होता है। जैसा कि अपेक्षित है, इअ प्रयोगिता गुरु अक्षर के बाद अधिक प्राप्त है—इस प्रकार ऋ० वे० में ऐसे अक्षर के बाद इअ के १८८ और य के २७ उदाहरण मिलते हैं, तथा लघ्वक्षर के बाद इअ के ७८ और य के ९६ (स्वरित यं—अर्थात् इंअ—जो, जैसा-कि नीचे १२१२ ख निर्दिष्ट किया जाएगा, य या यं की अपेक्षा अधिक विघटनीय होता है)। यह निर्धारित करना विशेष गवेषणाओं का विषय होगा कि य में एकाधिक प्रत्यय, विभिन्न स्वरपात के साथ, और इ-तत्त्व की विभिन्न मात्रा सम्मिलित की जाय या न की जाय; अथवा मूल-शब्द के अंत्य इ में युक्त अ के साथ। यह भी विवादास्पद विषय है कि य मुख्य प्रत्यय है या गौण; भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूपों के तथा

भाववाचक संज्ञाओं के रूपनिर्माण में प्रत्यय मुख्य की तरह कम-से-कम प्रयोग में आता है; किंतु प्रत्ययों को ऐसे दो वर्गों में विभक्त करना असंभव है, तथा इसलिए इनको यहाँ एक साथ प्रस्तुत करना वांछनीय लगता है।

आ—**य** प्रत्यय से बने शब्द प्रथमतः दो कोटियों में विभक्त किये जा सकते हैं, वे जिनमें आद्य अक्षर की सहवर्ती वृद्धि-विस्तृति देखी जाती है, तथा वे जिनके वह प्राप्त नहीं है।

इ—इन दोनों कोटियों के **य** अंतवाले विशेषण नियमित रूप से अपने स्त्रीलिंग रूप या में बनाते हैं। किंतु अनेक अवस्थाओं में ईकारान्त स्त्रीलिंग रूप नित्य अथवा **या** के साथ वैकल्पिक रूप से बनाया जाता है: उदा० **चातुर्मासी, आग्निवेशी, शाण्डिली, आरी** (तथा **आर्या**); **दैवी** (तथा **दैंव्या**), **सौमी** (तथा **सौम्या**); **धीरीं, शीर्षणी स्वरी** इत्यादि।

१२११—**य** अंतवाले शब्द आदि वृद्धि-सबलीकरण को लेकर रूप और अर्थ की दृष्टि से **अ** अंतवालों (ऊपर, १२०४) के सादृश्य का पालन खूब अच्छी तरह करते हैं। किंतु ये उनकी अपेक्षा निश्चितरूप से कम सामान्य हैं (वेद में लगभग तीन-चौथाई में)।

अ—उदाहरण हैं: स्वरपात के सामान्य विचलन के साथ, **दैंव्य** ईश्वरीय (**देव**), **पालित्य** भूरापन (**पालित**), **ग्रैव्य** ग्रीवा संबंधी (**ग्रीवा**), **आर्त्विज्य** पुरोहित का कार्य (**ऋत्विज**), **गार्हपत्य** गृहपति से संबंधित (**गृहपति**), **जानराज्य** लोकाधिपत्य (**जनराज्**), **सांग्रामजित्य** युद्ध में जय (**संग्रामजित्**), **सौवश्व्य** घोड़ों की सम्पत्ति (**स्वश्व**), **औपद्रष्ट्र्य** साक्ष्य (**उपद्रष्टृ**); **आदित्य** अदिति संबंधी (**अदिति**), **सौम्य** सोम संबंधी, **आतिथ्य** अतिथि सत्कार (**अतिथि**), **प्राजापत्य** प्रजापति से संबंधित; **वैमनस्य** विमनता (**विमनस**), **साहदेव्य** सहदेव के वंशज;—अंत्य से आगे प्रत्यय पर स्वरपात लाकर, **लौक्य** लोक-संबंधी (**लोक**), **काव्य** कविवंश का, **आर्तव्य** ऋतु के वंशज, **वायव्य** वायु से संबंधित (**वायु**), **रैवत्य** धन (**रेवन्त्**);—अपरिवर्तित स्वरपात के साथ (बहुत कम) **आधिपत्य** प्रभुता (**अधिपति**), **श्रैष्ठ्य** उत्कृष्टता (**श्रेष्ठ**), **वैश्य** तृतीय जाति से संबंधित (**विश्** लोग) **पौंस्य** पौरुष (**पुंस्**)।

आ—अ० वे० में एक बार **नैर्बाध्य** स्वरितान्त्य के साथ प्राप्त है; यदि अशुद्धि नहीं हो, यह निस्संदेह **नैर्बाध** होकर बना हुआ है; **वैष्णव्यौ** (वा० सं० १-१२) **वैष्णवौ** का द्विव० विभक्तिरूप मालूम होता है।

१२१२—आदि वृद्धि सवलीकरण के विना य अंतवाले शब्द सामान्यतः विशेषण होते हैं, अपेक्षाकृत कम समय (नपुंसक अथवा **या** अंत स्त्रीलिंग) भाववाचक संज्ञाएँ। ये आदि मूल के प्रत्येक प्रकार से वनाये जाते हैं तथा वहुसंख्यक होते हैं (वेद में पूर्ववर्ती कोटि के तीन या चार गुने।)।

अ—इन शब्दों का सामान्य निकाय अपने स्वरपात की दृष्टि से यों विभक्त किया जा सकता है : (१) शब्द जो अपने मूल के स्वरपात को सुरक्षित रखते हैं; (२) निर्वतित स्वरपात वाले शब्द; (३) उदात्त यं (इअं) वाले शब्द; (४) स्वरित यं (इंअ) वाले शब्द। अंत में, भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूपों तथा क्रियार्थसंज्ञाओं वाले शब्द रखे जा सकते हैं जिनमें मुख्य प्रत्ययों का लक्षण विद्यमान है।

(१) आ—अपने मूलों के उदात्त को सुरक्षित रखने वाले **य**–प्रत्ययान्त शब्दों के उदाहरण हैं : **अंश्व्य** अश्वसंवंधी (**अंश्व**) **अंङ्ग्य** अंगोंवाला (**अंङ्ग**) **मुख्य** सवसे आगे (मुख मुँह), **अंव्य** भेड़ से संवंधित (**अंवि**), **गंव्य** गो-संवंधी (**गों**), **विंश्य** जनसंवंधी (**विंश्**), **दुंर्य** द्वार से संवंधित (**दुंर्**), **नंर्य** पुरुषोचित (**नृं**), **वृंष्ण्य** वीर्यवान् (**वृंषन्**), **स्वराज्य** स्वैराधिराज्य (**स्वराज्**), **सुवीर्य** धारण की सम्पत्ति (**सुवीर**), **विश्वंजन्य** सकल मानवीय, **विश्वंदेव्य** सभी देवों से संवद्ध (**विश्वंदेव**), **मयूंरशेप्य** मयूरपुच्छी।

इ—अंतिम शब्दों में तथा कुछ दूसरे शब्दों में **य** (**क** की तरह, १२१२ ऐ, तुल० १२१२ ग) केवल संवंधवाचक समास के निर्माण में सहयोग के लिए प्रत्यय की तरह प्रयुक्त लगता है; तथा इस प्रकार के अन्य और हैं **सुहंस्त्य** (समार्थक **सुहंस्त** के साथ-साथ,) **मधुहस्त्य**, **दंशमास्य**, **मिश्रंधान्य**, **अन्योंदार्य**, **समानोदर्य**।

(२) ई—प्रथम अक्षर पर स्वरपात के विवर्तन वाले उदाहरण (यथा वृद्धि विस्तार वाले प्रत्यय में) हैं : **कंण्ठ्य** कंठ से उत्पन्न (**कण्ठं**)। **स्कंन्ध्य** स्कन्ध संवंधी (**स्कन्धं**), **व्रंत्य** संकल्पात्मक (**व्रतं**), **मेंध्य** मेघों में (**मेघं**), **पिंत्र्य** पितृदेवों से संवंधित (**पितृं**), **प्रंतिजन्य** विपरीत (**प्रतिजनं**)। **हिरण्यय** स्वर्णवाला (**हिंरण्य**) स्वर के अग्रनिक्षेप और मूल के अंत्य अ के सुरक्षण, दोनों दृष्टियों से अनियमित होता है; तथा **गव्यंय** और **अव्यंय** (**अंव्यय** भी) रूपनिर्माण को लेकर इसके साथ तुलनीय हैं।

(३) **उ** प्रत्यय पर स्वरपात वाले उदाहरण होते हैं : **दिव्यं** स्वर्गीय (**दिंव्**), **सत्यं** सच (**संन्त्**), **व्याघ्र्यं** व्याघ्र-संवंधी (**व्याघ्रं**), **काव्यं**

बुद्धिमान् (कवि), ग्राम्य ग्रामीण (ग्राम), सौम्य सोम संबंधी, अनेनस्य निष्कलुषता (अनेनस्), अदक्षिण्य दक्षिणा के अनुपयुक्त।

(४) ऊ—स्वरित य अंतवाले शब्दों के (जो पिछले तीन वर्गों के सम्मिलित से भी अधिक वेद में प्राप्त हैं) उदाहरण निम्न हैं :

ए—हलन्त-प्रातिपदिकों से : विश्य जनपद संबंधी (ऋ० वे० : विश्), हृदय हार्दिक (हृद्), विद्यत्य विद्युत् से संबंधित (विद्युत्), राजन्य राजकीय वर्ग का (राजन्), दोपण्य बाहुसम्बन्धी (दोपन्), शीर्षण्य मस्तकीय (शीर्षन्), कर्मण्य कर्मनिष्ठ (कर्मन्), धन्वन्य समतल-भूमि संबंधि (धन्वन्), नमस्य पूज्य (नमस), त्वचस्य त्वचा संबंधी (त्वचस्), बर्हिष्य बर्हिस् संबंधी, आयुष्य प्राणदायक (आयुस्), भसद्य नितम्बीय (भसद्), प्राच्य पूर्वीय (प्राञ्च्) इत्यादि। अपवाद-भूत रूपनिर्माण-जैसा अर्यम्य आत्मीय (अर्यमन्) होता है, जिसके अंतर्गत निस्संदेह सात्म्य (सात्मन्) और साक्ष्य (साक्षिन्) आते हैं।

ऐ—उदन्त मूलों से, हनव्य जबड़ों में संबंधित (हनु), वायव्य वायु मे संबंधित, पशव्य पशु संबंधी (पशु); इपव्य शरों से संबद्ध (इपु), मधव्य मधु-संबंधी (मधु), अप्सव्य जलस्रोतों से संबंधित (अप्सु स०), रज्जव्य रस्सी संबंधी (रज्जु); शरव्या स्त्री० तीर (शरु, वही), तथा नाव्य नौगम्य (विशेषतः स्त्री० में, नाव्या नौगम्य धारा : नौ नाव) यहाँ रखा जा सकता है। ऋ० वे० में प्राशव्य जिसको बाँटा जा सकता है (प्र + √(अश्)) बिना किसी अनुरूप संज्ञा प्राशु के मिलता है; तथा साथ ही ऊर्जव्य पोषण में समृद्ध (ऊर्ज) बिना किसी मध्यवर्ती ऊर्जु के।

ओ—इस शीर्ष के अंतर्गत, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है (९६४), तव्य अंतवाले तथाकथित भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप, जो तु अंतवाली तुमर्थक संज्ञा में य के योग से बने हैं, होते हैं। प्राचीनतम भाषा में ये सर्वथा अज्ञात हैं, तथा उत्तरकालिक वैदिक भाषा में कठिनता से मिलते हैं, यद्यपि और आगे चल कर तव्य मुख्य प्रत्यय की प्रयोगिता प्राप्त कर लेता है और इससे कतिपय क्रियामूलक शब्द बनते हैं।

औ—इ—और ई-अंतवाले प्रातिपदिकों से उदाहरण शायद ही उद्धरणीय हैं। वा० सं० में दुन्दुभि से दुन्दुभ्य प्राप्त है।

क—अ-स्वरान्त प्रातिपदिकों से : स्वर्ग्य दिव्य (स्वर्ग), देवत्य देवता संबंधी (देवता), प्रपथ्य मार्गदर्शी (प्रपथ), बुध्न्य सारभूत (बुध्न),

जघन्य सबसे अधिक पिछला (**जघन**), **वरुण्य** **वरुण** संबंधी, **वीर्य** बल (**वीर**), **उदर्य** पेट से संबंधित (**उदर**), **उत्स्य** झरने से संबद्ध (**उत्स**); तथा **आ**-अंत वाले प्रातिपदिकों से **उर्वर्य** उपजाऊ भूमि से संबंधित (**उर्वरा**), **स्वाह्य** **स्वाहा**-मन्त्र संबंधी।

ख—प्रत्यय के अन्य रूपों की अपेक्षा स्वरितवाला **य** सामान्यतया अधिक विघटित (**इअ** में) होता है : इस प्रकार, ऋ० में व्यंजन के साथ अंत होने वाले गुरु अक्षर के बाद यह **य**-जैसा कभी उच्चारित नहीं होता है; तथा लघ्वक्षर के बाद भी यह उदाहरणों की तीन चौथाई से अधिक में **इअ** हो जाता है।

ग—कुछ ऐसी स्थितियाँ हैं जहाँ ये विशेपणभूत पूर्वसर्ग के साथ समास-विधान में सहायक-जैसा प्रयुक्त देखा जाता है (परवर्ती अध्याय, १३१० : तुल० १२१२ इ) : यथा—**अपिकक्ष्य** काँख के निकट, **उपपक्ष्य** बगलों में, **उदाप्य** जलधारा के ऊपर; संभवत **उपतृण्य** घास में लेटा हुआ (केवल संबो० में प्राप्त होता है)। किंतु, अन्य स्वरपात के साथ, **अन्वान्त्र्य** अतड़ियों में होकर, **उपमास्य** प्रत्येक मास, **अभिनभ्य** बादलों तक, **अन्तःपार्श्व्य** पसलियों के बीच, **अधिगर्त्य** रथासन पर, अज्ञात स्वरपात वाले, **अधिहस्त्य**, **अनुपृष्ठ्य**, **अनुनासिक्य**, **अनुवंश्य**।

१२१३—**य** प्रत्ययान्त शब्द जिनके विषय में प्रश्न उठ सकता है कि ये, कम-से-कम आंशिक रूप में, आरम्भ में कृदन्तरूप हैं, विशेपतः भविष्यकालिक कृदन्त-क्रियारूप होते हैं, इनके साथ ही वे क्रियार्थ संज्ञाएँ जो आकृति की दृष्टि से इनके अनुरूप हैं; उत्तरकालिक भाषा में भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप निर्माण (ऊपर, ९६३) वस्तुतः कृदन्तरूप बन जाता है।

अ—ऋ० वे० में **य** अंतवाले भविष्यकालिक कृदन्त क्रियारूपों, बहुत कुछ समान रूप वालों, के लगभग चालीस प्रयोग प्राप्त होते हैं: धातु सामान्यतः असबलीकृत है (किंतु **चेत्य**, **भव्य**,-**हव्य**, **मर्ज्य**, **योध्य**; साथ ही, **माद्य**, **वाच्य**, **भाव्य**); स्वरपात धातुमूलक अक्षर पर होता है यदि शब्द सरल हो अथवा सोपसर्ग : यथा—**प्रशंस्य**, **उपसद्य**, **विहव्य** (किंतु सामान्यतः निषेधार्थक उपसर्ग के बाद अंत्य पर : यथा—**अनाप्य**, **अनपवृज्य**)—अपवाद केवल **भाव्य** और संदिग्ध **आकाय्य** होते ते हैं; प्रयोगों की बहुत बड़ी संख्या में **य** **इअ** में विघटित हैं; अंत्य ह्रस्व स्वर के बाद **त्** आता है (**इत्य**, **कृत्य**, **श्रुत्य**, **स्तुत्य** और साभ्यास **चकृत्य**, साथ-साथ **चर्कृति**; **नव्य** और **हव्य** में नहीं), और **आ** **ए** में परिवर्तित है (केवल **देय** में)। यदि ये तद्धितान्त-जैसे माने जायँ,

तो ये **य** लगाकर, इस प्रत्यय द्वारा अन्य रूपनिर्माणों के अनुरूप, अंशत. धातु-संज्ञा से बने हो सकते हैं, यथा—**अनुकृत् य**, अंशतः **अ** प्रत्ययान्त शब्दों से, यथा **भाव्यं** (**भाव** से)।

आ—अ० वे० में इस प्रकार के रूपनिर्माण वाले शब्दों की यत्किंचित् थोड़ी संख्या (लगभग पचीस) प्राप्त होती है; किंतु समान प्रयोगिता वाले **य** व्युत्पादित शब्दों का एक बड़ा वर्ग (पंद्रह) भी : इस प्रकार, उदाहरणार्थ, **आद्य** खाने योग्य, **कार्य** करने योग्य, **समाप्य** प्राप्त करने योग्य, **अतितार्य** अतिक्रमण होने योग्य, **नीविभार्य** कटिवस्त्र-बंध में ले जाने योग्य, **प्रथमवास्य** पहले पहनने योग्य। ये अधिक स्पष्टतः तद्धितमूलक मालूम होते हैं; तथा विशेष रूप से **परिवर्ग्य** परिहार योग्य, **अविमोक्य** छोड़ने योग्य नहीं, जैसे रूप, जहाँ कण्ठ्य-प्रतिवर्तन स्पष्टतः **ग** और **क** अंतवाले मूलों को (२१६ ऐ) संकेतित करता है।

इ—प्राचीनतर भाषा में सर्वत्र इन वर्गों के प्रथम के साथ समान निर्माण वाली नपुंसक भाववाचक संज्ञाएँ सामान्य प्रयोग की होती हैं। संयोग-विधान को छोड़कर अन्यत्र ये विरले प्राप्त होती हैं (अ० वे० में सरलरूपों-जैसे केवल **चित्य** और **स्तेय**), तथा चतुर्थी विभक्तिरूप तुमर्थक की पद्धति में बहुधा चतुर्थी-विभक्ति में प्रयुक्त हैं। उदाहरण हैं : **ब्रह्मज्येय, वसुदेय, भागधेय, पूर्वपेय, शतसेय, अभिभूय, देवहूय, मन्त्रश्रुत्य, कर्मकृत्य, वृत्रतूर्य, होतृवूर्य, अभिहत्य, सन्त्रसद्य, शीर्षभिद्य, ब्रह्मचर्य, नृपह्य**। आपवादिक रूप वाले **ऋतोद्य** (√(**वद्**)) और **सहशेय्य** (√(**शि**)) होते हैं; आपवादिक स्वरपात वाला **सधस्तुत्य**। पुनः अ० वे० में स्वरितान्त्य के साथ एक उदाहरण **रण्य** प्राप्त है।

ई—अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से इनका अत्यंत सजातीय या अंतवाले स्त्रीलिंग शब्दों का एक अपेक्षाकृत छोटा-सा वर्ग होता है : यथा—**कृत्या, विद्या, इत्या, अग्निचित्या, वाजजित्या, मुष्टिहत्या, देवयज्या** इत्यादि।

उ—अपेक्षाकृत न्यून वर्गणीय शब्दों की एक बड़ी संख्या संज्ञाएँ और विशेषण दोनों ही, बच जाती हैं जिनमें से कुछ प्राचीनतर भाषा से उनके संबंध तत्वों के निरूपण के बिना रखे जा सकते हैं : यथा—**सूर्य** (स्त्री० **सूर्या** के साथ), **आज्य, पुण्य, नभ्य; युज्य, गृध्य, इर्य, अर्य** तथा **आर्य, मर्य, मध्य**।

य के स्पष्टतः सर्वाधिक अनुरूप प्रत्ययों को प्रस्तुत करना अब समीचीन होगा।

१२१४—**इय**-यह प्रत्यय वस्तुतः पूर्ववर्ती के समान होता है, केवल एक ही वस्तु का दूसरा लिखित रूप है। यह केवल दो व्यंजनों के वाद प्रयुक्त होता है, जहाँ **य** का सीधा संयोग कठिन उच्चारण का संघटन उपस्थित कर देगा। इसमें **य** वाले स्वरपात का ही वैविध्य प्राप्त है। इस प्रकार :

अ—उदात्त इ॑य (= इ॑अ या य॑) के साथ : उदाहरणार्थ, **अभ्रि॑य** (अभ्रिय॑ भी) मेघों से उत्पन्न (**अभ्र॑**), **क्षत्रि॑य** अधिकार वाला (**क्षत्र॑**), **यज्ञि॑य** पूज्य (**यज्ञ॑**), **होत्रि॑य** हवन योग्य (**हो॑त्रा**), **अमित्रि॑य** विरोधी (**अमि॑त्र**)।

आ—उदात्त **इय॑** (= **इअ॑** या **य॑**) के साथ : उदाहरणस्वरूप, **अग्रिय॑** (**अग्रि॑य भी**) सबसे आगे (**अ॑ग्र**), **इन्द्रिय॑** इंद्र संवंधी (उत्तरकाल में, ज्ञानेंद्रियः **इ॑न्द्र**), **क्षेत्रिय॑** खेत से संवंधित (**क्षे॑त्र**)।

इ—मूल पर उदात्त के साथ : **श्रो॑त्रिय॑** विद्वान् (**श्रो॑त्र**), **ऋ॑त्विय** (**ऋत्विय॑** भी) ऋतु संवंधी (**ऋतु॑**)।

१२१५—**ईय**—यह प्रत्यय भी उत्पत्ति की दृष्टि से स्पष्टतः य, ईय है जिसके पूर्वपद ने श्रुत्यात्मक **य** के मध्य-योग द्वारा अपनी दीर्घ मात्रा को वनाये रखा है। इसमें स्वरपात नित्य **ई** पर होता है।

अ—ऋ० वे० में सामान्य विशेषणों में से केवल **आर्जिकी॑य** और **गृहमेध्यी॑य** आते हैं, तथा उत्तरकालिक वैदिक भाषा में उदाहरण खूव कम हैं: उदा० **पर्वती॑य** पर्वतों से परिपूर्ण (अ० वे०, साथ ही ऋ० वे० **पर्वत्य॑**)। ब्राह्मणों में कतिपय विशेषण प्राप्त हैं जिनमें से कुछ शब्द-समुदायों से (पादों के प्रथम शब्द तथा अन्य): यथा—**अन्यराष्ट्री॑य, पंचवाती॑य, मार्जाली॑य कयाशुभीय, स्वादुष्किलीय, आपोहिष्ठीय** इत्यादि।

आ— ऊपर यह कहा जा चुका है (९६५) कि **अन** अंत वाली क्रियार्थ-संज्ञाओं से **ईय** व्युत्पादित विशेषण उत्तरकालिक वेद में और ब्राह्मण में भविष्य-कालिक कृदन्तक्रियारूपवत् प्रयुक्त होने लगते हैं, तथा श्रेण्य भाषा में भविष्य-कालिक कृदन्तक्रियारूपों की तरह मान्य रूपनिर्माण हो जाते हैं। किंतु **अनीय** अंतवाले विशेषण भी विना भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूपात्मक लक्षण के सामान्य है।

इ—आदि-वृद्धि के साथ ईय प्रत्ययान्त शब्द उत्तरकालिक भाषा में कभी-कभी वनाये जाते हैं : उदाहरणार्थ, **पार्वतीय, पैतापुत्रीय, आपरपक्षीय, वैरकीय**।

ई—**मदीय** प्रभृति सार्वनामिक संबंधवाचक शब्द (५१६ अ) न तो वेद में मिलते हैं, न ब्राह्मणों में; किंतु **द्वितीय** प्रभृति (४८७ आ, इ : **तृतीय** और **तुरीय** अंशवाची शब्दों के साथ; ४८८ अ) संख्येय शब्द पूर्वतम काल से ही प्राप्त होते हैं।

उ—**भगवदीय** और **भवदीय** संबंधवाचक शब्द, मूल के अंत्य के सघोष बन जाने पर, संभवतः—**दीय** अंत वाले सार्वनामिक संबंधवाचकों द्वारा निर्धारित अपना रूप रखते हैं।

१२१६—**एय**—यह प्रत्यय प्रथम अक्षर के वृद्धि-विस्तार के साथ विशेषण शब्दों को बनाता है, जिनमें बहुधा **पितृनाम** अथवा **मातृनाम** वाली प्रयोगिता प्राप्त है। इनका नपुंसक रूप कभी-कभी भाववाचक संज्ञा की तरह प्रयुक्त होता है। स्वरपात अपत्यार्थक विशेषणों में साधारणतया अंत्य पर और दूसरों में प्रथम अक्षर पर होता है।

अ—उदाहरण हैं : **आर्षेय** ऋषि के वंशज (**ऋषि**), **जानश्रुतेय** जानश्रुति का पुत्र, **सारमेय** **सरमा** के गोत्रज, **शातवनेय** शतवनि की संतान, **राथजितेय** रथजित् का पुत्र, **आस्नेय** रक्तसंबंधी (**असन्**), **वास्तेय** मूत्राशय संबंधी (**वस्ति**), **पौरुषेय** पुरुषोचित (**पुरुष**) **पैतृस्वसेय** फुआ संबंधी, इत्यादि।

आ—एय प्रत्ययान्त शब्दों में से सामान्य अनुपात से अधिक **इ** या **ई** अंत वाले मूलों से आते हैं; तथा संभवतः प्रत्यय ने गुणित **इ** में **य** के योग द्वारा अपना रूप पहले प्राप्त किया, यद्यपि बाद में स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त होने लगा।

इ—आ-धातुओं से (ऊपर, १२१३) भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप प्रभृति य अंत वाले शब्द एय-अंत हो जाते हैं; तथा इनके अतिरिक्त ऋ० वे० प्रभृति में **सभा** से **सभेय** प्राप्त है, और **दिदृक्षेय** दर्शनीय स्पष्टतः सन्नन्त संज्ञा **दिदृक्षा** से इनके सादृश्य के आधार पर बना है। मनु० में एक बार √ (**इ**) के पूर्वकालिक क्रियारूप के लिए **अध्येय** मिलता है।

ई—तथाकथित प्रत्यय **इनेय** अंत वाले शब्द—यथा **भागिनेय**, **ज्यैष्ठिनेय**, **कानिष्ठिनेय**—वस्तुतः **इनी** (स्त्री०) अंत वाले सन्निहित शब्दों के आधार पर बने हैं।

उ—नपुंसक भाववाचक **सहश्रेय्य** (ऊपर, १२१३ इ) के अतिरिक्त भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूपार्थ वाला विशेषण **स्तुषेय्य** (धातु में लुङात्मक **स्** के जुड़ने पर) तथा **शपथ** से **शपथेय्य** शापकारी (अथवा **शापित**) **एय्य** अर्थात् **एयिअ** अंत वाले होते हैं।

१२१७—**एन्य**–यह प्रत्यय निस्संदेह तद्धितमूलक है, जो **न**-प्रत्यय अंत वाले शब्दों में **य** के योग से बना है; किंतु समान उत्पत्ति वाले दूसरे प्रत्ययों की तरह यह बहुत-कुछ स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त होता है, विशेषतः प्राचीनतर भाषा में जहाँ इसमें प्रायः भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप विशेषण बनाने वाले उत्तरकालिक **अनीयार्थ** (ऊपर, १२१५ आ) प्राप्त है।

अ—इस प्रत्यय के **य** का उच्चारण प्रायः सर्वत्र स्वर-जैसा अपेक्षित है, तथा स्वरपात (**वरे॑ण्य** को छोड़कर अन्यत्र) **ए** पर होता है : यथा, **ए॑निय**।

आ—भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप ऊपर विभिन्न क्रियारूपों के अंतर्गत, जिनसे ये स्वतः संबद्ध हैं (९६६ आ, १०१९ आ, १०३८), पूरी तरह दिये जा चुके हैं। (ऋ० वे० भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूपविहीन दो विशेषण भी **वीरे॑ण्य** पुरुषोचित (**वीर॑**) और **कीर्ते॑ण्य** प्रख्यात (**कीर्ति॑**), प्राप्त हैं, तथा तै० सं० तथा तै० सं० में **अनभिशस्तेन्य॑** (**अभि॑शस्ति**) मिलता है; **विजेन्य** (ऋ० वे०) संदिग्ध संबंधों का शब्द है, **शिक्षेण्य** शिक्षाप्रद सूत्र में प्राप्त होता है; **प्रावृषेण्य** वर्षाऋतु संबंधी उत्तरकाल में प्रयुक्त होता है।

१२१८—**आय्य**–इस प्रकार प्रत्यय से भविष्यकालिक कृदंतक्रियारूपात्मक विशेषण प्रायः ऋ० वे० में ही बनाये जाते हैं। ये ऊपर (९६६ इ) निर्दिष्ट हो चुके हैं। प्रत्यय का उच्चारण सर्वत्र **आयिअ** की तरह अपेक्षित है।

अ—थोड़े-से विशेषण कृदन्तक्रियारूपात्मक प्रयोगिता के बिना और नपुंसक भाववाचक शब्द भी मिलते हैं : यथा—**बहुपाय्य॑** बहुतों को रक्षा करता हुआ; **नृपा॑य्य** मनुष्यों की रक्षा; **कुडपा॑य्य** और **पुरुमा॑य्य**, व्यक्तिवाचक नाम **पूर्वपा॑य्य** प्रथम पान, **महया॑य्य** उपयोग;—तथा **रसा॑य्य** अधीर और **उत्तमा॑य्य** श्रेष्ठ में कोई क्रियामूल प्राप्त नहीं है। **अला॑य्य** संदिग्ध हैं; साथ ही, **आकाय्ये** जिसका स्वरपात भिन्न रूपनिर्माण का निर्देश करता है, तथा **प्रहाय्य॑** (अ० वे०—√**हि**) संदेशवाहक और **प्रावाय्य॑** (अ० वे०) संदिग्ध प्रयोगिता वाले हैं।

१२१९—**आयन**–ब्राह्मणों में तथा उत्तरकाल में इस प्रत्यय से गोत्रापत्यार्थ शब्द विरल नहीं होते हैं। ये अकारान्त प्रातिपदिकों से बनते हैं और प्रथम अक्षर में वृद्धि सबलीकरण होता है और अंत्य पर स्वरपात है।

अ—ऋ० वे० में इस रूपनिर्माण का एकमात्र उदाहरण **काण्वायन** (संबो०; **क॑ण्व**) है; अ० वे० में **दाक्षायण॑** और स्त्री० **रामायणी॑** पद्य-खण्डों में, तथा **आमुष्यायण** अमुक का पुत्र (५१६) इसके गद्य में मिलते हैं; श० ब्रा० में **राजस्तम्बा॑यन—बायन॑** के साथ-साथ प्राप्त है। ऋ० वे० नाम **उक्षण्या॑यन** विभिन्न निर्माणवाला होता है, जो अन्यत्र अज्ञात है।

१२२०—**आयी**—इस प्रत्यय से केवल बहुत कम शब्द बनाये जाते हैं; उदाहरण-स्वरूप—**अग्नायी** (**अग्नि**) अग्नि की स्त्री, **वृषाकपायी** **वृषाकपि** की पत्नी; तथा उत्तरकाल में **पूतक्रतायी**, और **मनायी** मनु की स्त्री (किंतु **मनावी** श० ब्रा०) ।

अ—ये मूल के अंत्य **इ** के वृद्धि-वर्धन के साथ बने **अ** अंतवाले शब्द के स्त्रीलिंग रूप-जैसे लगते हैं ।

१२२१—**इ**-इस प्रत्यय से बने शब्द अकारांत संज्ञाओं के गोत्रनाम होते हैं । स्वरपात आदि अक्षर पर होता है जिसमें वृद्धि-सबलीकरण प्राप्त है ।

अ—ऋ० वे० में आधे दर्जन के इकारान्त गोत्रनाम पाये जाते हैं : उदाहरणार्थ—**आग्निवेशि, पौरुकुत्सि, प्रातर्दनि, सांवरणि**; अ० वे० में एकमात्र **प्राह्लादि** मिलता है; ब्राह्मणों में ये अपेक्षाकृत अधिक सामान्य होते हैं : यथा—ऐ० ब्रा० में, **सौयवसि, जानंतपि, आरुणि, जानकि**, इत्यादि । अन्य अर्थ वाला एकमात्र शब्द—**सारथि** रथ हाँकनेवाला (**सरथम्**)—ऋ० वे० काल से ही प्राप्त है ।

आ—तथाकथित प्रत्यय **अकि** से बने शब्द—यथा **वैयासकि** व्यास के वंशज—निस्संदेह **क** या **अक** अंतवाले अन्य शब्दों से यथार्थ **इ** प्रत्ययान्त शब्द होते हैं । जैसा कि नीचे निर्दिष्ट किया जायेगा (१२२२, औ), यह गौण प्रत्यय **इक** संभवतः **इ** प्रत्यय में **क** के योग से बना है ।

इ—ऋ० वे० में **तंपुपि**, जो स्पष्टतः **तंपुस्** से गौण **इ** के योग से निष्पन्न है, और व्यक्तिवाचक नाम **शुचन्ति** मिलते हैं; **भुवन्ति** ब्रा० में प्राप्त होता है, और **जीवन्ति** उत्तरकाल में ।

१२२२—क—निस्संदेह यह मूलत. संबंधार्थक विशेषणों के बनाने वाली प्रत्यय-कोटियों में एक है । तथा वर्तमान प्रयोग में भी यह इस अर्थ को रखता है; तथापि केवल थोड़े-से स्थलों में एक ओर अल्पार्थक शब्दों के बनाने वाले तत्त्व में यह विशेषीकृत हो गया है; तथा दूसरी ओर, और अपेक्षाकृत अधिक व्यापक ढंग से, अनिर्धार्य्य अर्थ वाले तत्त्व में क्षीण हो गया है जहाँ यह बहुत बड़ी संख्या की संज्ञाओं और विशेषणों में समानार्थक दूसरों के निर्माण के लिए जोड़ा जाता है—यह अंतिम, वेद में भी तथा अपेक्षाकृत अधिक उत्तरकालिक भाषा में इसका प्रधान कार्य होता है ।

अ—फलतः **क** जिन व्युत्पादित शब्दों के साथ जुड़ता है, उनके अंत्यों में अपने को सहज संयुक्त कर लेता है, और उनके साथ समस्त प्रत्यय-जैसा बन

जाता है और पुनः उसी ढंग से प्रयुक्त होता है। इस उत्पत्ति वाले, जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है (११८०, ११८१) वस्तुतः तथाकथित मुख्य प्रत्यय **उक** और **अक** होते हैं, तथा इसी प्रकार गौण प्रत्यय **इक** (नीचे, औ)।

आ—**क** अंतवाले शब्दों का स्वरपात विविध होता है—स्पष्टतः कोई नियम नहीं होता है, केवल इतना निश्चित है कि सर्वाधिक स्पष्ट भाव से अल्पार्थक स्वरूप रखने वाले शब्दों में स्वरपात सामान्यतः प्रत्यय पर प्राप्त है।

इ—(प्राचीनतर भाषा से), शब्दों के उदाहरण—जहाँ प्रत्यय विशेषण-निर्माणरूप प्रयोगिता रखता है, होते हैं : **अ॑न्तक** (**अ॑न्त**) अंत करनेवाला, **ब॑ल्हिक** (**बल्हि**) वल्हिवाला, **आण्डी॑का** (**आण्ड॑**) अण्डा उत्पन्न करने-वाला, **सूची॑क** (**सूची॑**) छेदनेवाला, **उर्वारु॑क** कूष्माण्ड फल (**उर्वारु॑**), **पर्यायि॑क** (**पर्याय॑**) पर्याय वाला, संख्यावाची शब्दों से **एकक॑**, **द्वक॑**, **त्रिक॑**, **अ॑ष्टक**; **तृ॑तीयक** तीसरे दिन का; सर्वनाम-प्रातिपदिकों से, **अस्मा॑क** हमारा, **युष्मा॑क** तुम्हारा, **म॑मक** मेरा (५१६ ई); पूर्वसर्गों से, **अ॑न्तिक** नजदीक, **अ॑नुक** पीछे, **अ॑वका** लताविशेष (उत्तरकाल में **अधिक**, **उत्क**) तथा प्रथम अक्षर पर निवर्तित स्वरपात के साथ (पूर्वोक्त **अ॑ष्टक** और **तृ॑तीयक** के अति-रिक्त), **रू॑पक** (**रूप॑**) रूपवाला, **ब॑भ्रुक** (**बभ्रु॑** भूरा) एक प्रकार की छिपकली। **भावत्क** श्रीमान् में—अनियमित आदि-वृद्धि प्राप्त है।

ई—उन शब्दों के उदाहरण, जिनमें अल्पबोधक अर्थ न्यूनाधिक संभव है : **अश्वक॑** टट्टू, **कनी॑नक** और **कुमारक॑** बालक, **कनीनका॑** या **कनी॑निका** बालिका, **पादक॑** छोटा पाँव, **पुत्रक॑**–छोटा पुत्र, **राजक॑** युवराज, **शकुन्तक॑** छोटा पक्षी। कभी-कभी इस प्रकार के अल्पबोधक शब्द से निंदार्थ सूचित किया जाता है : सार्वनामिक प्रातिपदिकों से इस अर्थ के रूपनिर्माणों के लिए, देखिए ऊपर, ५२१; अन्य उदाहरण **अन्यक॑** (ऋ० वे०), **अ॑लकम्** (ऋ० वे० : **अ॑लम्** से), तथा साथ ही क्रिया-रूप **यामकि** (**यामि** के लिए : कौ० ब्रा०) होते हैं।

उ—सरल और सामासिक, प्रत्येक प्रकार वाले रूप के मूलों से **क** प्रत्ययान्त शब्द अपरिवर्तित अर्थ के साथ बनाये जाते हैं, तथा वहाँ स्वरपात की वही विविधता प्राप्त होती है जो विशेषण शब्दों में (जिनके साथ मूलतः ये समान हैं)। यथा :

ऊ—सरल संज्ञाओं और विशेषणों से : **अ॑स्तक** आश्रय, **ना॑सिका** नथुना, **म॑क्षिका** मक्खी, **अविका॑** भेंड़ी, **इषुका॑** तीर, **दूरक॑** दूर, **सर्वक॑** सब, **धे॑नुका** (**धे॑नु**) गाय, **नग्नका॑** (**नग्न॑**) नंगा, **ब॑द्धक** (**बद्ध॑**) वन्दी, **अभिन्नतर** किसी प्रकार भिन्न नहीं, **अनस्तमितक॑** सूर्यास्त के पूर्व, **वम्रक॑** चींटी, **अर्भक॑**

छोटा, शिशुकं युवक, अणीयस्क सूक्ष्मतर, एजत्कं काँपता हुआ, अभिमाद्यकं नशीला, पतयिष्णुकं उड़ता हुआ। ऐसे व्युत्पादित शब्द उत्तरकालिक भाषा में असंख्य हैं; प्रायः किसी संज्ञा या विशेषण से क या का (लिंग के अनुसार) अंतवाले तुल्य प्रभावी शब्द बनाया जा सकता है।

ए—सामासिक मूलों से : स्वल्पकं बहुत थोड़ा, विमन्युक क्रोध को हटानेवाला, विक्षिणत्क नाश करने वाला, प्रवर्तमानकं आगे बढ़ाने वाला, विक्षीणकं नष्ट।

ऐ—ब्राह्मणों में तथा उत्तरकाल में क संबंधवाचक विशेषण-समास (१३०७) कभी-कभी निष्प्रयोजन से, किंतु सामान्यतया रूपनिर्माण में अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी मूल के लिए : यथा, अनक्षिक बिना आँख का, अत्वंकक निश्चर्म, अरेतस्क निर्बीज, व्यस्थक अस्थिहीन, सशिरस्क माथे के साथ-साथ, एक-गायत्रींक एकमात्र गायत्री छन्द रखनेवाला, गृहीतंवसतीवरीक वह जिसने पिछले दिन वाले जल का ग्रहण किया है, सपत्नीक अपनी पत्नी के साथ, बहुहस्तिक अनेक हाथी रखनेवाला, सदीक्षोपसत्क दीक्षा और उपसद् के साथ, आहितसमित्क जिसने अपनी लकड़ी रखी है, अभिनववयस्क नव यौवनवाला, अङ्गुष्ठमात्रक अँगूठे के माप वाला।

ओ—क के पूर्ववर्ती स्वर का स्वरूप बहुधा अनियमित मिलता है; तथा विशेष रूप से इका प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग अ अन्तवाले पुंलिंग के साथ इतना साधारण है कि उसे इसका नियमित समानांतर माना जा सकता है (जैसी स्थिति तथाकथित मुख्य अक की होती है, ऊपर ११८१)। ऋ० वे० में एक दूसरे के साथ केवल इयत्तकं और इयत्तिकां प्राप्त हैं; किंतु अ० वे० में अनेक उदाहरण मिलते हैं।

औ—पूर्ववर्ती स्वर और क से बने दो प्रत्यय—उदाहरणस्वरूप, अक और इक—वैयाकरणों द्वारा स्वतंत्र तद्धित प्रत्ययों के रूप में गृहीत हैं, जहाँ मूल के आरम्भ में वृद्धि-सबलीकरण अपेक्षित है। इनमें से दोनों निःसंदेह मूलतः अंत्य इ या अ में क के योग से बने हैं, यद्यपि ये प्रयोग में स्वतंत्र रूप से आने लगे हैं।

क—अक अंतवाले वृद्धि प्राप्त शब्दों के कोई उदाहरण प्राचीनतर भाषा में नहीं देखे गये हैं (यदि मामकं मेरा को ऐसा न माना जाय); तथा ये उत्तरकाल में अधिक सामान्य नहीं हैं : यथा आवश्यक अनिवार्य, वार्द्धक वृद्धावस्था, रामणीयक प्रसन्नता।

ख—इक अन्तवाले वृद्धि-प्राप्त शब्दों के बहुत कम प्रयोग वेद से प्राप्त होते हैं : **वासन्तिक** वसंत ऋतु संबंधी, **वार्षिक** वर्षाऋतु संबंधी, **हैमन्तिक** हेमन्त संबंधी (इनमें से कोई ऋ० वे० में प्राप्त नहीं है); अ० वे० में **कैरातिका** किरातों से संबंधित प्राप्त है यह स्पष्टतः पुं० **कैरातक** का स्त्री० है जो उत्तरकाल तक नहीं मिलता है। अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन काल से (जब कि ये बहुतायत में आते हैं) उदाहरण हैं : **वैदिक** वेदो से संबंधित, **धार्मिक**, धर्मनिष्ठ, **आह्निक** दैनिक, **वैनयिक** सदाचारी, **दौवारिक** द्वाररक्षक, **नैयायिक** न्याय-शास्त्र का वेत्ता।

ग—**क** प्रत्यय से पूर्व कुछ अंत्यों का ऐसा रूप देखा जाता है जिसमें अंतः-संधि की अपेक्षा बाह्यसंधि का लक्षण प्राप्त है। वस्तुतः, अंत्य सघोष स्पर्श अघोष हो जाता है, और महाप्राण अपना प्राणत्व खो देता है (११७ अ, ११४) : तुल०-**उपसत्क**,-**समित्क**, ऊपर ऐ। इसी प्रकार तालव्य भी कण्ठ्य हो जाता है (यथा **त्** प्रभृति के पूर्व : २१७) : उदाहरणार्थ, **स्रुक्क**, **रुक्क**, **त्वक्क**, **अनृक्क**। **आ** के बाद **स्** सुरक्षित रहता है, और परिवर्तक स्वर (१८०) के बाद **ष्** हो जाता है : उदा० **सद्यस्क**, **ज्योतिष्क**, **दीर्घायुष्क**। किंतु अन्य उष्म ध्वनियाँ वही रूप ग्रहण करती हैं जो समास में इनके द्वारा गृहीत होता : यथा— **अदिक्क** (**दिश्**), **षट्क**, **विट्क**, **त्विट्क** (**षष्प्रभृति**)। **अनाशीर्क** (तै० सं० **आशिस्**) असंगत है; तथा ऐसा ही **परुत्क** (आपस्त०) यदि यह **परुस्** से निष्पन्न होता है।

१२२३—कतिपय प्रत्यय, जो आंशिक रूप से विरल प्रयोग और संदिग्ध स्वरूप वाले होते हैं, व्यंजनावयव—जैसे **न्** को रखते हैं, और ये यहाँ एक साथ वर्गीकृत हो सकते हैं।

अ—ऋ० वे० में **आन** अंतवाले कुछ शब्द ऊपर (११७५ अ) दिये जा चुके हैं।

आ—**आनी** (जो संभवतः तद्रूपी स्त्रीलिंग है) के साथ थोड़े-से शब्द, मुख्यतः पत्नीवाची नाम बनाये जाते हैं : यथा—**इन्द्राणी**, **वरुणानी** (ये और इनके साथ **उशीनराणी**, **पुरुकुत्सानी**, **मुद्गलानी**, **ऊर्जानी** ऋ० वे० में प्राप्त हैं) **रुद्राणी**, **मातुलानी**, **मामी**, **शर्वाणी**, **भवानी**, **ईशानानी**, **शक्राणी**, **उपाध्यायानी**, **मृडानी**, **ब्रह्माणी**, तथा **यवानी**।

इ—**त** अंतवाले पुंलिंग प्रातिपदिकों के **नी** और **क्नी** अंतवाले स्त्रीलिंग रूप ऊपर (११७६ ई) निर्दिष्ट हो चुके हैं। **पति** प्रभु, पति का स्त्रीलिंग, स्वतंत्र

शब्द, विवाहिता स्त्री के रूप में तथा विशेषण समास के उत्तरपद के रूप में दोनों जगह **पत्नी** होता है : यथा **दे॑वपत्नी** वह जिसका पति देवता है, **सि॑न्धुपत्नी** सिंधु जिसका स्वामी है। पुनः **परु॒ष॑** कठोर का स्त्रीलिंग प्राचीनतर भाषा में कभी-कभी **प॑रुष्णी** है।

ई—**अञ्च्** अंत्य वाले शब्दों से (४०७ मु० वि०) विशेषणशब्दों की एक पूरी श्रेणी बनायी जाती है; ये शब्द अपना उदात्त उपधा पर रखते हैं, किंतु कभी-कभी अंत्य पर; एक ही शब्द में दोनों प्रकार के स्वरपात प्राप्त हैं : उदाहरणार्थ **अपाची॑न, नीची॑न, प्राची॑न, अर्वाची॑न** और **अर्वाचीन॑, प्रतीची॑न** और **प्रतीचीन॑, समीचीन॑**। इनके अतिरिक्त पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों में कतिपय अन्य विशेषण प्राप्त हैं : उदाहरण हैं **संवत्सरी॑न** वार्षिक, **प्रावृषी॑ण** वर्षा ऋतु संबंधी, **विश्वजनी॑न** सभी लोगों से संबंधित, **ज्ञातकुली॑न** ज्ञातकुल वाला, **अध्वनीन** पथिक (**अ॑ध्वन्** मार्ग), **अश्वीन** घोड़े की पीठ पर दिन की यात्रा (**अ॑श्व** घोड़ा)। ऋ० वे० में एक बार **मा॑कीन** मेरा प्राप्त है।

उ—**एन** लगातार **समि॑ध्** से आदि-सबलीकरण के साथ **सामिधेन॑** (स्त्री०-**नी**) बनाया जाता है।

ऊ—**इन** अंत वाले कुछ शब्दों के लिए, तुलनीय १२०९ इ।

ए—सरल **न** से बने विशेषण अंशतः अन्य शीर्ष के अंतर्गत होते हैं (नीचे, १२४५ ऊ); जहाँ **शूरण** वीरतापूर्ण (?), **फ॑ल्गुन, श्मश्रु॒ण॑**, तथा वृद्धि-सबलीकरण के साथ **स्त्रै॑ण** स्त्री-संबंधी (इसका सह-संबद्ध **पौं॑स्न** उत्तरकाल में आता है) और **च्यौत्न॑** प्रेरक। यदि **द्रो॑ण द्रु** काष्ठ से निष्पन्न हो, तो इसमें गुण-सबलीकरण की अनियमितता प्राप्त है।

१२२४—**म्** रखने वाले कुछ प्रत्यय इसी प्रकार एक वर्ग में रखे जा सकते हैं।

अ—**इम** लगाकर **त्र** अंतवाली संज्ञाओं से अल्पसंख्यक विशेषण बनाये जाते हैं : यथा—**खनि॑त्रिम** खोदाई से बना, **कृत्रि॑म** नकली, **दत्त्रिम, पवित्रम, पूत्रिम**; अन्य अंत्यों में, **कुट्टिम, गणिम, तलिम, तुलिम, पाकिम, उद्गारिम, व्यायोगिम, संव्यूहिम, निर्वेधिम, आसङ्गिम**, सब-के-सब उत्तरकालिक। **अग्रिम** (ऋ० वे०) सबों से आगे में **म** संभवतः संख्येयार्थ-वाला है।

आ—तमवर्थक रूपों (४७४) तथा संख्येय शब्दों (४८७ ई, उ) के निर्माण में सरल **म** के प्रयोग देखे जा चुके हैं, तथा इस प्रकार के बने शब्द विशेषीकृत हो गये हैं।

इ—कुछ नपुंसक भावार्थ शब्द **म** अंतवाले होते हैं : यथा—**द्युम्नं** चमक, **नृम्णं** मनुष्यता; तथा निपातों से **निम्नं** गहराई और **सुम्नं** कल्याण। प्रत्यय संभवतः अयुक्त वाले **मन्** से आता है।

ई—अंत्य **मिन्** रखने वाले शब्दों के लिए, देखिए नीचे, १२३१।

१२२५—**मय**–इस प्रत्यय से विशेषण बनाये जाते हैं जो मूल द्वारा व्यक्त के निर्मित, विहित और साथ ही परिपूर्ण अर्थ को द्योतित करते हैं।

अ—स्वरपात नित्य **मं** पर होता है, तथा स्त्रीलिंग नियमित और सामान्य ढंग से **मयी** अंतवाला होता है। प्राचीनतम भाषा (वे०) में प्रत्यय के पूर्व अंत्य **अस्** अपरिवर्तित बना रहता है : यथा—**मनस्मंय, नभस्मंय, अयस्मंय;** किंतु **द्** का विकास वाह्य-सन्धि में—जैसा होता है : यथा **मृन्मंय;** तथा ब्राह्मणों में और उत्तरकाल में अंत्य सामान्यतः द्वितीय विकास प्राप्त करते हैं : यथा—**तेजोमंय, अदोमंय, आपोमंय, ज्योतिर्मंय, यजुर्मंय, एतन्मंय, असृङ्मंय, वाङ्मंय, अम्मय, प्रावृण्मय।** ऋ० वे० में **अश्मन्मंय** (उत्तरकाल में **अश्ममय**) मिलता है। **हिरण्मंय** (ब्रा० और उत्तरकाल) में मूल (**हिरण्य**) विशिष्ट रूप से क्षयित है। ऋ० वे० में **सूमंय** सुन्दर निर्माणवाला, और **किम्मंय** किससे बना ? प्राप्त हैं।

आ—**या** अंतवाले स्त्रीलिंग रूप के बहुत कम उदाहरण उत्तरकालिक भाषा में आते हैं।

१२२६—**र्**–इस प्रत्यय से कुछ विशेषण शब्द बनाये जाते हैं। मूल के विकास और स्वरपात विविध होते हैं।

अ—**र** के शुद्ध योग से बने हैं, उदाहरणार्थ : **पांसुरं** धूसर, **श्रीर** (**श्लील** भी) **अश्रीरं** विद्रूप में, **धूम्रं** धुँधला (**धूमं** धुआँ), **मधुर** (परवर्ती काल) मीठा। एक या दो उदाहरणों में अनुगामी आदि-सवलीकरण देखा जाता है : यथा—**आग्नीध्र** आग जलाने वाला (**अग्नींध्**), **शाङ्कुरं** शंकु-तुल्य (**शङ्कुं**); तथा **शेखर** (**शिखर**) में गुण-सवलीकरण प्राप्त है।

आ—प्रत्यय से पूर्व, निरङ्गीय स्वर के साथ बने हैं, उदाहरणार्थ, **मेधिर** बुद्धिमान्, **रथिरं** रथासीन; **कर्मारं** धातु का काम करने वाला; **दन्तुर** (परवर्ती-काल) नुकीले दाँत वाला; **अह्वेरं** (? मै० सं०), **श्रामणेर, संगमनेर।**

इ—इ। तुलनार्थ वाले कुछ शब्दों के बनाने में **र** का प्रयोग ऊपर (४७४) देखा जा चुका है, और इस वर्ग के निर्मित शब्द दिये गये हैं।

१२२७—**ल** यह और पूर्ववर्ती प्रत्यय वस्तुतः एक के ही दो रूप हैं। कुछ

शब्दों में ये परस्पर विनिमेय हैं, तथा ल सामान्यतः, किंतु सब समय नहीं, प्रयोग लेकर उत्तरकालिक रूप है।

अ—उदाहरण हैं: बहुलं अधिक, मधुलं (उत्तरकालिक मधुर) और मधूल मीठा, भीमल भयंकर, जीवलं उत्साही, अश्लीलं (और अश्रीरं) नीच; आ के साथ, वाचाल बकवादी (परवर्ती काल); इ के साथ, फेनिल फेनयुक्त (परवर्ती काल: फेन); उ के साथ, वातुल और वातूल हवादार (वात), तथा मातुल मामा मातृ माँ से यत्किंचित् अनियमित रूपनिर्माण है।

आ—उत्तरकालिक भाषा में लु अंतवाले कुछ विशेषण प्राप्त हैं, जहाँ आ प्रत्यय के पूर्व नित्य आता है। उदाहरण हैं: कृपालु और दयालु दयावान्, ईर्ष्यालु ईर्ष्या करनेवाला, उष्णालु गरम, शयालु और स्वप्नालु निद्राशील, लज्जालु लज्जावान्, लालालु लार टपकानेवाला, श्रद्धालु विश्वस्त, क्रोधालु क्रोधी। इस प्रकार के एक या दूसरे शब्द, जिनमें मुख्य प्रत्यय का लक्षण विद्यमान है, ११९२ आ में देखे गये हैं।

१२२८—व-थोड़े-से विशेषणों में यह प्रत्यय (उदात्तयुक्त, अपरिवर्तित मूल में जुड़ा हुआ) प्राप्त है।

अ—उदाहरण हैं: अर्णवं तरंगोंवाला, केशवं केशोंवाला; रास्नावं लपेटा हुआ, अञ्जिवं, चिकना, शान्तिवं शान्तिप्रद, श्रद्धिवं विश्वसनीय, अमणिव मणिहीन, राजीव धारीदार।

आ—बहुत कम विशेषण वल और वय अंतवाले हैं जो यहाँ रखे जा सकते हैं, यथा—कृषीवलं किसान (कृषि खेती), ऊर्णावलं ऊन से परिपूर्ण, रजस्वल, ऊर्जस्वल, पयस्वल, शाद्वल, नड्वल, शिखावल, दन्तावल; द्रुवय काष्ठ पात्र, चतुर्वय चतुर्गुण।

इ—ज्ञाति-वाची संज्ञाओं से व्य लगाकर दो या तीन शब्द बनाये जाते हैं: यथा—पितृव्य चाचा, भ्रातृव्य भतीजा, शत्रु।

१२२९—श—बहुत कम विशेषण इस रूप के युक्त प्रत्यय से बने मालूम होते हैं।

अ—इस प्रकार रोमशं या लोमशं बालोंवाला, एतश (एतशं भी) चितकबरा, अर्वशं या अर्वशं तीव्रगामी, बभ्लुशं या बभ्रुशं और कपिश थोड़ा भूरा, कृष्णश थोड़ा काला, युवशं युवा, बालिश बालक-जैसा, कर्कश रूक्ष, कर्मश (?) व्यक्ति० नाम; तथा गिरिश, वारिश (?), वृक्षश निस्संदेह तथाविध स्वरूप (जहाँ धातु शी नहीं है) वाले होते हैं। हरीमशं, कश्मश, कलश का स्वरूप संदिग्ध है।

आ—उपर्युक्त विशेषण-शब्दों में से अनेक कभी-कभी संबंधार्थ रखते हैं, युक्त, संबंधित का सामान्य अर्थ **मत्वर्थ** में विशेषीकृत है। किंतु कुछ स्पष्ट मत्वर्थीय प्रत्यय भी हैं; तथा इनमें से कुछ अपने प्रयोग की असीमित स्वतंत्रता और अपने प्रयोग-बाहुल्य के चलते व्युत्पत्तिविधान की सामान्य प्रक्रिया के अति प्रमुख अंग बन गये हैं। इनका विवेचन अब किया जायगा।

१२३०—**इन्**—इस प्रत्यय के संबंधवाचक विशेषण प्रायः असीमित रूप में **अ** या **आ** अंतवाले प्रातिपदिकों से बनाये जाते हैं, तथा कभी-कभी (किंतु खूब विरले) अन्य अंत्यों वाले मूलों से भी बनाये जाते हैं।

अ—अंत्य स्वर प्रत्यय से पूर्व लुप्त हो जाता है। स्वरपात प्रत्यय पर होता है। इन विशेषणों के रूप-विधान के लिए, देखिए ऊपर, ४३८ मु० वि०। प्राचीनतर भाषा में इनकी गणना सौओं तक हो सकती हैं, तथा उत्तरकाल में ये समान रूप से अथवा अपेक्षाकृत अधिक संख्यक हो जाते हैं।

आ—अ-प्रातिपदिकों से उदाहरण हैं: **अश्विन्** घोड़ोंवाला, **धनिन्** धनवाला, **पक्षिन्** पाँखवाला, **बलिन्** बली, **भगिन** भाग्यवान् **वज्रिन्** वज्र धारण करनेवाला, **शिखण्डिन्** जूड़ेवाला, **हस्तिन्** हाथोंवाला, **षोड़शिन्** सोलहवाला, **गर्दभनादिन्** गर्दभस्वरवाला, **ब्रह्मवर्चसिन्** ब्रह्मतेजवाला, **साधुदेविन्** सौभाग्यवाला, **कूचिदर्थिन्** सर्वत्र प्रयोजनवाला;—**आ** प्रातिपदिकों से, **मनीषिन्** बुद्धिमान्, **शिखिन्** जूड़नेवाला **ऋतायिन्** पुण्यात्मा।

इ—अन्य प्रातिपदिकों से शब्द तुलना में बहुत कम हैं: इस प्रकार इ-प्रातिपदिकों से, **अतिथिन्** (?), **अभिमातिन्**, **अर्चिन्**, **अशनिन्** **अंभिन्**, **कालनेमिन्**, **खादिन्**, **पाणिन्**, **मरीचिन्**, **मौञ्जिन्**, **मौलिन्**, **योनिन्**, **वेनिन्**, **संधिन्**, **समृद्धिन्** **सुरभिन्** (जो केवल संबंधबोधक समास के अंत में प्राप्त हैं, उनकी प्रकृति संदिग्ध है; क्योंकि इ और **इन्** अंतवाले प्रातिपदिकों के विभक्ति-रूप अविरले परस्पर विनिमेय होते हैं);—उ-प्रातिपदिकों से, **गुर्विन्** **शलाग्विन्** (?), **वेणिविन्** (उ के गुण के साथ);—**अन्** अंतवाले प्रातिपदिकों से, **वर्मिन्**, **कर्मिन्**, **चर्मिन्**, **छद्मिन्**, **जन्मिन्**, **धन्विन्**, **धर्मिन्**, **नामिन्**, **ब्रह्मिन्**, **यक्ष्मिन्**, **शर्मिन्** और **श्वनिन्**;—**अस्** अंत से, **रेतिन्** वीर्य सम्पन्न, और संभवतः **वर्चिन्** व्यक्ति० नाम; साथ ही (संभवतः **स** अंतवाले प्रातिपदिकों से) **शवसिन्** और **सहसिन्**, **मनसिन्**, **वयसिन्**; असंहत हैं **परिस्रजिन्** माला से युक्त और **हिरनिन्** (**हिरन्य**)।

ई—यह ऊपर कहा जा चुका है (११८३) कि **इन्** अन्तवाले शब्दों ने वर्तमान-कालिक कृदन्तक्रियारूपों के अर्थ को लेकर, विशेषतः समासों के अन्त में,

अधिकांश रूपों में मुख्य प्रत्ययान्त शब्दों की प्रयोगिता और प्रकृति का ग्रहण कर लिया है। एक ओर, सम्पूर्ण रूपनिर्माण की यथार्थ तद्धित-प्रकृति निर्भ्रान्ति गौण रूपवाले शब्दों की तरह अतिशय प्रयोग से परिलक्षित होता है यथा—**प्रशिनन् गर्भिन् जूर्णिन् धूमिन्, स्नानिन् होमिन् मत्सरिन्, परिपन्थिन्, ग्रवेपनिन्, संगतिन्**; तथा दूसरी ओर **इन्**, जो केवल अ-स्थानी इन् होगा;—के पूर्व प्रत्यावर्तित तालव्यों (२१६) की प्राप्ति से : यथा—**अर्किन्, भङ्गिन्, सङ्गिन्, रोकिन्**।

उ—कुछ स्थलों में निरङ्गीय प्रकृतिवाले **अ** को पूर्ववर्ती बना कर **य् इन्** के पूर्व आता है : यथा—**धन्वायिन्, तन्त्रायिन्, श्वेतायिन्, कृकायिन्, आततायिन्, प्रति-हितायिन्, मरायिन्, श्रृतायिन्, स्वधायिन्** (वा० सं० : तै० ब्रा०—**विन्**)। इस प्रकार के सभी शब्दों में **य्** स्पष्टतः आ के बाद अंतर्निविष्ट **य्** है (२५८ अ), और इनके लिए **यिन्** प्रत्यय की कल्पना सर्वथा अनावश्यक है।

ऊ—श० ब्रा० के अंतिम खंड में प्राप्त **प्रव्राजिन्, प्रस्यन्दिन्** स्वर-प्रक्रिया निस्संदेह भ्रामक है; तथा **शांकी, संरी, इंरी** (ऋ० वे०, एक बार) के विषय में ऐसी ही शंका की जा सकती है।

ए—**इन्** अंतवाले कुछ शब्दों में संबंधबोधक विशेषीकरण नही हो सका है। **वनिन्** वृक्ष, कुटी, **कपोतिन्** कबूतर की तरह का पक्षी, **अण्डिन्** अण्डे की तरह का (तुल० १२३३ मु० वि०) ऐसे ही हैं।

१२३१—**मिन्**—इस प्रत्यय से अत्यधिक कम संख्या वाले संबंधवाचक विशेषण बनाये जाते हैं।

अ—प्राचीन भाषा में **मिन्** अंतवाले शब्द **मान्त** संज्ञाओं के **इन्** व्युत्पादित रूपों के परिप्रेक्ष्य को रखते हैं, यद्यपि दो या तीन स्थितियों में—**इध्मिन्** और **ऋग्मिन्** ऋ० वे० में, **वाग्मिन्** श० ब्रा० में—उस प्रकार की संज्ञाएँ इनके साथ प्रयोग में नहीं मिलती है। उत्तरकालिक भाषा में **मिन्** स्वतंत्र तत्व-जैसा कुछ शब्दों में प्रयुक्त है : यथा—**गोमिन्** गायोंवाला, **स्वामिन्** (सूत्रों में और उत्तरकाल में) मालिक, प्रभु (**स्व** निज), **ककुद्मिन्** कुब्बड़ वाला।

आ—**ऋग्मिन्** और **वाग्मिन्** दो शब्दों में मूल तालव्य का प्रत्यावर्तन ही नहीं अपि तु सघोषीकरण भी देखा जाता है।

१२३२—**विन्**—इस प्रत्यय से बने विशेषण भी अनेक नहीं होते हैं। इनमें **इन्** अंतवाले शब्दों के समान अर्थ प्राप्त हैं। स्वरपात प्रत्यय पर होता है।

अ—ऋ० वे० में **विन्** अंतवाले दश विशेषण प्राप्त हैं; उत्तरकाल में ये अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त होने लगते हैं। यद्यपि इनके लिए **यिन्** और **मिन्** (ऊपर) अंतवालों की-जैसी समान उत्पत्ति की शंका की जा सकती है, इसके संकेत बहुत कम स्पष्ट रूप में निर्धारित होते हैं।

आ—बहुसंख्यक प्रयोगों में **अस्** के बाद **विन्** लगता है : यथा—**नमस्विन्** सम्माननीय, **तपस्विन्** उष्ण, **तेजस्विन्** तेजवाला, **यशस्विन्** सुन्दर तथा इसी प्रकार **रेतस्विन्**, **एनस्विन्**, **हरस्विन्**, इत्यादि; पुनः **शतस्विन्**, **श्रोत्रस्विन्**, **रूपस्विन्** में उनके सादृश्य के आधार पर अन्तर्निविष्ट **स्** प्राप्त है। अन्य बहुतों में **आ** (कभी-कभी दीर्घीकरण से) आता है : यथा—**ग्लाविन्**, **मेधाविन्**, **मायाविन्**, **सभाविन्**, **अष्ट्राविन्** अंकुश को माननेवाला, **द्वयाविन्** दोनों ओर प्रवृत्त, **उभयाविन्** दोनों प्रकारों से युक्त, **धन्वाविन्**, **तन्द्राविन्**, **आमयाविन्**, **आततायिन्**। अपेक्षाकृत अधिक विरल भाव से, **विन्**, **स्** से भिन्न अन्य व्यंजन के बाद जोड़ा जाता है : यथा—**वाग्विन्**, **धृषद्विन्**, **आत्मन्विन्**, **कुमुद्विन्**, **स्रग्विन्**, **यज्विन्**, **अज्विन्**। संदिग्ध शब्द **व्युरुनुविन्** (वा० सं०, एक वार : तै० ब्रा० **व्यंश्निय**) में प्रत्यय (या **इन्**, श्रुतिमूलक **व्** के साथ) वर्तमान काल-प्रकृति में जुड़ा लगता है।

इ—केवल **वाग्विन्** और **धृषद्विन्** (दोनों वैदिक) में **स्रग्विन्** वाले तालव्य के सामान्य प्रत्यावर्तन के साथ सन्धि का वाह्य रूप देखा जाता है।

१२३३—**वन्त्**—इस प्रत्यय द्वारा प्रत्येक प्रकार के संज्ञा-प्रातिपदिकों से पूर्वतर तथा उत्तर दोनों भाषाओं में वहुसंख्यक विशेषण-शब्द वनाये जाते हैं।

अ—स्वरपात, विना किसी परिवर्तन के, सामान्यतः मूल पर वना रहता है; किंतु मूलान्त्य पर, यदि यह **अ** या **आ** से भिन्न हो, रहने वाला उदात्त बहुसंख्यक स्थितियों में आगे प्रत्ययांश पर चला आता है। रूपविधान, स्त्रीलिंग-रूप-निर्माण प्रभृति के लिए, देखिए ४५२ मु० वि०।

आ—प्राचीनतर भाषा में (२४७) अनेक शब्दों में अंत्य स्वर—अत्यधिक समय **अ**, खूब विरले **उ**—इस प्रत्यय से पूर्व समास में-जैसा दीर्घीकृत हो जाता है। **अन्** अंतवाली संज्ञाएँ अधिक समय **न्** को सुरक्षित रखती हैं।

इ—नियमित रूपनिर्माण के उदाहरण होते हैं : अपरिवर्तित स्वरपात के साथ, **केशवन्त्** केशवाला, **पुत्रवन्त्** पुत्रवाला, **प्रजननवन्त्** उत्पन्न करनेवाला, **पुण्डरीकवन्त्** कमलों से परिपूर्ण, **हिरण्यवन्त्** स्वर्ग से परिपूर्ण, **अपूपवन्त्** पूरियोंवाला, **राजन्यवन्त्** क्षत्रिय से युक्त; **प्रजावन्त्** संतानवाला, **ऊर्णावन्त्** ऊनवाला, **दक्षिणावन्त्** दक्षिणाओं से परिपूर्ण; **सखिवन्त्** मित्रोंवाला, **सप्तर्षि**-

वन्त् सात ऋषियों के साथ; शचीवन्त् बलवान्, तविषीवन्त् उग्र, पत्नीवन्त् पत्नीवाला, धीवन्त् अनुरक्त, द्यावापृथिवीवन्त् (९४ आ) द्यु और पृथ्वी के साथ; विष्णुवन्त् विष्णु के साथ; हरित्वन्त् स्वर्णिम, आवृत्वन्त् यों ढंका, आशीर्वन्त् दूध से मिला हुआ, स्वर्वन्त् प्रतापवान्, शरद्वन्त् अनेक वर्षोंवाला, पुंस्वन्त् पुरुषवाला, पयस्वन्त् धनी, तमस्वन्त् अँधेरा, ब्रह्मण्वन्त् पूजन के साथ, रोमण्वन्त केशवाला (किंतु साथ ही, रोमवन्त्, लोमवन्त्, वृत्रहवन्त्, इत्यादि), ककुभ्वन्त् ककुम्वाला; प्रत्यय पर स्वरपात के साथ, अग्निवन्त् अग्नियुक्त, रयिवन्त् धनवाला, नृवन्त् पुरुषोचित, पद्वन्त् पैरवाला, नस्वन्त् नाकवाला, आसन्वन्त् मुँहवाला, शीर्षण्वन्त् मस्तकवाला (शीर्षवन्त् भी)।

ई—दीर्घीकृत अंत्य प्रातिपदिक-स्वर के साथ : उदाहरणार्थ, अश्वावन्त् (साथ ही, अश्वन्त्) घोड़ेवाला, सुतावन्त् सवन किया हुआ सोमवाला, वृष्ण्यावन्त् वीर्यबल वाला (लगभग तीस ऐसे प्रयोग वेद में मिलते हैं); शक्तीवन्त् बलवान्, स्वधितीवन्त् पशुओं वाला, घृणीवन्त् गरम; विषूवन्त् विभाजक (विषु पृथक)।

उ—कुछ विशिष्ट अनियमितताएँ यों होती हैं :

अंतर्निविष्ट स् इन्द्रस्वन्त्, महिष्वन्त् में; अंतर्निविष्ट न् वनन्वन्त, वृधन्वन्त्, वधन्वन्त्, गर्तन्वन्त्, मांसन्वन्त् में; मूलान्त्य का ह्रस्वीकरण मायवन्त, याज्यवन्त्, पुरोनुवाक्यन्वत्, आमिक्षवन्त्, सरस्वतिवन्त्; संक्षेपीकरण हिरण्वन्त् में अन्तर्निविष्ट आ शवसावन्त्, सहसावन्त्, और विकीर्ण महिमावन्त् में; असंगत स्वरपात कृशनावन्त् में (यदि यह कृशन मोती से निष्पन्न हो)' निपातों से प्रत्यय विधान अन्तर्वन्त् गर्भित, विषूवन्त् में (ऊपर ई)।

ऊ—युक्त के विशेषीकृत अर्थ के स्थान में सदृश, अनुरूप वाले अधिक सामान्यार्थ कतिपय शब्दों में, विशेषतः सार्वनामिक प्रातिपदिकों से व्युत्पादित शब्दों में, पाया जाता है, मावन्त् मेरी तरह, इत्यादि (५१७; ईवन्त्, कीवन्त को जोड़ सकते हैं)। अन्य उदाहरण हैं इन्द्रस्वन्त् इन्द्र के सदृश, नीडवन्त् घोंसले के अनुरूप; नीलवन्त् श्यामल, नृवन्त् पुरुषोचित; पृषद्वन्त् चितला; क्षैतवन्त् राजपुत्रीय; तुलनीय उत्तरकालिक परवन्त् अधीन। यह ऊपर कहा जा चुका है (११०७) कि वत् अंतवाला तुलनार्थक अव्यय इस वर्ग के व्युत्पादित शब्द का द्वितीया विभक्तिरूप होता है।

ए—कुछ शब्दों में मुख्य व्युत्पन्न रूपों के बनाये जाने का लक्षण **वन्त्** में प्राप्त है : यथा—**विवस्वन्त्** (या **विवस्वन्त्**) चमकता हुआ; साथ ही व्यक्ति-नाम **अनुपदस्वन्त्** , **अर्वन्त्** , **पिंपिष्वन्त्** (?) **यह्वन्त्** ।

ऐ—पूर्वसर्गों से; जिनमें इस प्रत्यय के साथ किसी प्रकार का संबंध नहीं मालूम होता है, **वत्** अंतवाले शब्दों के लिए १२४५ औ ।

ओ—जब कि यह प्रत्यय समान्यतया मूल में अन्तःसंधि के नियमों के अनु-रूप जोड़ा जाता है (देखिए उदाहरणों को ऊपर, इ), वाह्य-संधि की तरह प्रक्रिया भी ऋ० वे० में ही, **पृषद्वन्त्** (**पृषत्**) में, आरंभ हो जाती है, तथा उत्तरकाल में अपेक्षाकृत अधिक सामान्य हो जाती है : यथा—**तपोवन्त्**, **तेजोवन्त्**, **अङ्गिरोवन्त्** (साथ ही, **तपस्वन्त्** प्रभृति); **विद्युद्वन्त्** (साथ ही, **विद्युत्वन्त्**), **बृहद्वन्त्**, **जगद्वन्त्**, **सद्वन्त्**, इत्यादि; **त्रिष्टुब्वंत्** (**ककुभ्वन्त्** के प्रतिकूल), **समिद्वन्त्** **विमृद्वन्त्**; **वाग्वन्त्** (**ऋक्वन्त्** के प्रतिकूल) **स्वराड्वन्त्**; **हव्यवाड्वन्त्**; **आशीर्वन्त्** ।

औ—**व्** आदिवाले प्रत्ययों में से किसी में **व्** का **उ** विघटन वेद में नहीं देखा जाता है ।

१२३४—**वन्**—इस प्रत्यय वाले तद्धितान्त शब्द प्राचीनतर भाषा में आते हैं तथा अल्पसंख्यक होते हैं, जिनमें-से बहुत कम के एक या दो से अधिक प्रयोग हैं ।

अ—इनमें कृत् **वन्** और तद्धित **वन्त्** दोनों के सम्मिलित प्रभाव से उत्पन्न होने का लक्षण प्राप्त है । अंत्य ह्रस्वस्वर प्रत्यय के पूर्व साधारणतया दीर्घीकृत होता है । स्वरपात विविध होता है, किंतु अत्यधिक समय मूल को उपधा पर । स्त्रीलिंग रूप (कृत **वन्** अंतवाले शब्दों के-जैसा; ११६९ ऊ) **वरी** अंतवाला होता है ।

आ—वैदिक उदाहरण हैं : अ-प्रातिपदिकों से, **ऋणावन्** या **ऋणवन्** ; (तथा स्त्री०—**वरी**), **ऋधावन्** , **धितावन्**, **सत्यावन्**, **सुम्नावरी** तथा **मेघवन्** ; आ-प्रातिपदिकों से, **सूनृतावरी**, **स्वधावन्** (तथा स्त्री०—**वरी**); इ-प्रातिपदिकों से, **अमतीवन्**, **अरातीवन्** , **श्रुष्टीवन्** , **मुषीवन्** और **कृषीवन्** (केवल विशेष-प्रत्ययान्त **कार्षीवण** में); **धीवन्**; व्यंजनांत प्रातिपदिकों से, **अथर्वन्** , **समद्वन्** , **सहोवन्** (ऋ० वे० **सहावन्** का असंगत अ० वे० रूपांतरण); **हार्द्वन्** (तै० आ० **हार्दिवन्** भी) । यत्किञ्चित् असंगत हैं **सहावन्** , **इन्धन्वन्** (**इन्धनवन्** , के लिए ?) तथा **सनित्वन्** (**संनिति**-

वन् के लिए ?)। विकीर्ण प्रयोग से अविकवाले शब्द ऋतावन्, मघवन्, अथर्वन् होते हैं।

इ—संहोवन् (देखिए आ) वाह्य-संधि का एकमात्र उदाहरण इस प्रत्यय से होता है।

१२३५—मन्त्—यह वन्त् (ऊपर १२३३) का यमज प्रत्यय होता है; ये दोनों प्रत्ययान्त में समानार्थक होते हैं और कुछ अंशों में परस्पर विनिमेय हैं। किंतु मन्त् अंतवाले संबंधवाचक रूप अपेक्षाकृत बहुत कम प्रयुक्त हैं (प्राचीनतर भाषा में लगभग एक तिहाई के), और खूब विरले ही अकारान्त प्रातिपदिकों से बने हैं।

अ—यदि मूलशब्द का स्वरपात अंत्य पर होता है, तो यह प्रयोगों की बड़ी संख्या (लगभग तीन चौथाई) में आगे युक्त प्रत्यय पर चला जाता है; अन्यथा यह अपने स्थान को अपरिवर्तित बनाये रखता है। प्रत्यय से पूर्व अंत्य स्वर कुछ ही अवस्थाओं में दीर्घ कर दिया जाता है।

आ—मूल के अपरिवर्तित स्वरपात के साथ; कण्वमन्त्, यवमन्त् जव से परिपूर्ण तथा विभवमन्त् व्यक्तिनाम (मात्र इतने उदाहरण अ-प्रातिपदिकों से प्राप्त हैं और प्रथम केवल एक बार आया है); अविमन्त् भेड़ों वाला, अशनिमन्त् वज्र से युक्त, ओषधीमन्त् ओषधियों से परिपूर्ण, वाशीमन्त् कुल्हाड़ी वाला, वसुमन्त् संपत्तिवाला, मधुमन्त् माधुर्य से परिपूर्ण, त्वष्टृमन्त् त्वष्ट से साथ, होतृमन्त् पुरोहितों से युक्त, आयुष्मन्त् दीर्घ-जीवी, ज्योतिष्मन्त् आलोक से परिपूर्ण; उल्कुषीमन्त् उल्काओं से युक्त, पीलुमन्त् (?), प्रसुमन्त् पौधों वाला, गोमन्त् गायों से समृद्ध, गरुत्मन्त् पाँखवाला, विद्युत्मन्त् सवन से युक्त, ककुद्मन्त् ककुद्वाला, विद्युन्मन्त् (त् के अनियमित सगीकरण के साथ : वा० सं० में ककुन्मन्त् भी प्राप्त है) प्रकाशमान, विरुक्मन्त् दीप्यमान हविष्मन्त् हविष्य से युक्त, विप्रुष्मन्त् बूँदों वाला।

इ—आगे प्रत्यय पर निक्षिप्त स्वरपात के साथ : असिमन्त् छुरियों से युक्त, अग्निमन्त् अग्निवाला, इषुधिमन्त् तूणीर से युक्त, पशुमन्त् पशुओं वाला, वायुमन्त् वायु से युक्त, पितृमन्त् (अ० वे० पितृमन्त्) पितृदेवों से युक्त, मातृमन्त् माँ वाला; इस वर्ग में प्रत्यय से पूर्व दीर्घ स्वर प्राप्त नहीं होते हैं, तथा केवल एक बार व्यंजन, दस्मंत् (ऋ० वे०, एक बार), आता है।

ई—अंत्य स्वर का प्रसरण त्विषीमन्त्, ध्राजीमन्त्, हिरीमन्त् में देखा जाता है; ज्योतिषीमन्त् में (तविषीमन्त् के सादृश्य के आधार पर)

अनियमित रूप से ई मध्य में रखा गया है; शुचिष्मन्त्, सहिष्मन्त् में स्; सुषुमन्त्, (ऋ० वे०, एक वार) कृदन्तरूप जैसा लगता है।

उ—आशुमंत् अव्यय वंत् अंतवाले अव्ययों से उसी प्रकार संवद्ध है जिस प्रकार मन्त् प्रत्यय वन्त् से ।

ऊ—अंतःसंधि से वने व्युत्पादित शब्दों की कोटि से विद्यन्मन्त् ऋ० वे० तक में मिलता है; तथा इस प्रकार के अन्य रूप उत्तरकाल में आते हैं: यथा—परिस्रुन्मन्त्, ककुन्मन्त्, क्षुन्मन्त्, पुरोरुन्मन्त् वाङ्मन्त्, ककुम्मन्त्, गुदलिण्मन्त्, यशोमन्त ।

१२३६—यह ऊपर (विशेष रूप से अ और य प्रत्ययों के प्रसंग में) देखा जा चुका है कि प्रत्ययान्त विशेषण का नपुंसक रूप भाववाचक संज्ञा की तरह वहुधा प्रयुक्त होता है। किंतु दो प्रत्यय ऐसे हैं जो उत्तरकालिक भाषा में विशेषणों और संज्ञाओं से भाववाचक संज्ञाओं के वनाने का विशिष्ट कार्य रखते हैं; तथा ये प्राचीनतम भाषा में भी, यद्यपि अपेक्षाकृत परिमित मात्रा में, प्राप्त होते हैं, जिनमें से प्रत्येक के स्पष्टतः संवद्ध एक या दो अन्य प्रत्यय हैं।

अ—इमन् प्रत्यय से वने तथाविध प्रयोगिता रखने वाले शब्दों के लिए, देखिए ११६८ ओ–क ।

१२३७—ता—इस प्रत्यय से तत्तद् गुणवोधक स्त्रीलिंग भाववाचक संज्ञाएँ विशेषणों और संज्ञाओं, दोनों से वनायी जाती हैं।

अ—मूल का रूप अपरिवर्तित होता है, और स्वरपात नियत रूप से प्रत्यय के पूर्ववर्ती अक्षर पर है।

आ—उदाहरण (प्राचीनतर भाषा से) हैं: देवता देवत्व, वीरता मनुष्यत्व, पुरुषता मानवीय प्रकृति, अग्निता अग्नि का भाव, अपशुता अपशुत्व, वन्धुता दोस्ती, वसुता संपत्ति; नग्नता नंगापन, सुवीरता संततियों की प्राप्ति, अनपत्यता संततियों की कमी, अगोता पशु का अभाव, अब्रह्मता पूजा का अभाव, अप्रजस्ता संतान का अभाव; साथ ही निश्चित रूप से सूनृता (सूनर से), यद्यपि यह शब्द कुछ वार विशेषण-जैसा (यथा शंताति और सत्यताति : देखिए परवर्ती कडिका) प्रयुक्त है ।

इ—ममता स्वार्थ, त्रेता तिगुनापन, अस्तिता विद्यमानता—शब्द विशिष्ट रूपनिर्माणवाले होते हैं। ऋ० वे० अवीरता अपवाद भूत स्वरपात के साथ मिलता है। जनता वे लोग, ने वर्ग वाले अभावार्थ का ग्रहण किया है; साथ ग्रामता (एक वार) समूहार्थ रूप से गावों को द्योतित करता है।

१२३८—**ताति, तात्**—ये प्रत्यय केवल वैदिक हैं; तथा द्वितीय ऋ० वे० में सीमित हैं। पूर्ववर्ती के साथ इनका संबंध स्पष्ट है, किंतु इसकी प्रकृति लेकर मत विभिन्न हैं। स्वरपात **ता** अंतवाले शब्दों की तरह होता है।

अ—ताति अंतवाले उद्धरणीय उदाहरण होते हैं: **अरिष्टताति** अव्यथित होना, **अयक्ष्मताति** रोग से मुक्ति, **गृभीतताति** पकड़ा जाना, **ज्येष्ठताति** श्रेष्ठता, **देवताति** देवत्व, **वसुताति** संपत्ति, **शंताति** सद्भाग्य, **सर्वताति** संपूर्णता; तथा अपवादभूत स्वरपात के साथ, **अस्तताति** आश्रय और **दक्षताति** निपुणता; **शिवताति** और **शुभताति** (प्रत्येक एक बार) उत्तरकालिक भाषा में आते हैं। **ताति** अंतवाले दो शब्द (निरंगी-रूप में, अथवा समानाधिकरण में ?) विशेषणवत् प्रयुक्त हैं: **शंताति** (ऋ० वे०, दो बार; तथा अ० वे० १९-४४-१ हस्तलेखों में), और **सत्यताति** (ऋ० वे०, एक बार: संबो०)।

आ—**तात्** (स्पष्टतः **ताति** के संक्षेपण से बना) अंतवाले शब्द केवल एक या दो विभक्तिरूपों में मिलते हैं; ये ऊपर निर्दिष्ट हो चुके हैं (३८३ क-२)।

१२३९—**त्व**—इस प्रत्यय से नपुंसक संज्ञाएँ बनायी जाती हैं, इनका अर्थ वही होता है जो **ता** अंतवाली स्त्रीलिंग संज्ञाओं का (ऊपर, १२३७)।

अ—**त्व** अंतवाला नपुंसक भाववाचक शब्द प्राचीनतर भाषा में **ता** अंतवाले स्त्रीलिंग रूपों की अपेक्षा अत्यधिक सामान्य हैं; यद्यपि ये स्वतः भी बहुसंख्यक नहीं हैं। स्वरपात निरपवाद रूप से प्रत्यय पर होता है।

आ—उदाहरण (प्राचीनतर भाषा से) हैं: **अमृतत्वं** अमरता, **देवत्वं** दिव्यता, **सुभगत्वं** सौभाग्य, **अहमुत्तरत्वं** अग्रवर्तिता की चेष्टा, **शुचित्वं** पवित्रता, **पतित्वं** स्वामित्व, **तरणित्वं** शक्ति, **दीर्घायुत्वं** दीर्घजीवन, **शत्रुत्वं** विरोध, **भ्रातृत्वं** भाईचारा, **वृषत्वं** प्रजनन-शक्ति, **सात्मत्वं** आत्मीयता, **मघवत्त्वं** उदारता, **रक्षस्त्वं** इंद्रजाल। **अनागास्त्वं** और **प्रजास्त्वं** में मूल के अंत्य अक्षर का दीर्घीकरण प्राप्त है; तथा **सौप्रजास्त्वं** (अ० वे०, एक बार) में यह आदिवृद्धि के साथ परिलक्षित है (**सौभगत्वं** वस्तुतः **सौभग** से निष्पन्न है, **सुभग** से नहीं); तथा इनमें और **प्रत्यनस्त्वं** में **स्** का अंतर्निवेश है। **सधनित्वं** (ऋ० वे०), **वसतीवरित्वं** (तै० सं०), **रोहिणित्वं** (तै० ब्रा०) में अंत्य स्त्री-प्रत्यय **ई** का ह्रस्वीकरण प्रत्यय के पूर्व होता है। **अस्तित्व** विद्यमानता और **सहत्व** संयोग, विशिष्ट रूपनिर्माण वाले हैं। प्रत्यक्ष स्त्रीलिंग चतुर्थीविभक्तिरूप **यूथत्वायै** और **गणत्वायै** (कौ० सू०) निस्संदेह भ्रामक पाठ हैं।

इ—**सम्यक्त्व, सयुक्त्व** में सामान्य कण्ठ्य प्रत्यावर्तन के अतिरिक्त हमें वाह्य सन्धि **समित्व** (इध्) और **पूर्ववाट्त्व** (वह्) में प्राप्त होती है।

ई—**इषितत्वता** (ऋ० वे० एक वार) उत्तेजित होने का भाव, और **पुरुषत्वता** (ऋ० वे०, दो वार) मानवीय भाव, इनमें **त्व** और **ता** दो समानार्थक प्रत्ययों का योग मालूम होता है।

उ—**त्व** का **व** वेद में केवल एक वार (**रक्षस्तुअ**) **उ**-जैसा पाठ्य है।

१२४०—**त्वन**—इस प्रत्यय से बने शब्द **त्व** की तरह नपुंसक भाववाचक होते हैं। ये प्रायः ऋ० वे० में ही प्राप्त हैं, तथा एकमात्र प्रयोग (**मर्त्यत्वन**) को छोड़कर अन्यत्र इनके साथ त्व अंतवाले समार्थक शब्द विद्यमान हैं। स्वरपात अंत्य पर होता है, और **त्व** विघटन **तुअ** में कभी नहीं होता है।

अ—शब्द हैं: **कवित्वन, जनित्वन, पतित्वन** (जै० ब्रा० भी) **मर्त्यत्वन, महित्वन, वसुत्वन, वृषत्वन, सखित्वन**।

१२४१—कुछ प्रत्यय जिस मूल में जुड़ते हैं उसके शब्द-भेद स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाते हैं, किंतु या तो मात्र आकृतिमूलक संस्थान-जैसे होते हैं अथवा विशिष्ट कोटि वाले परिवर्तन को उत्पन्न करते या अर्थ का अन्य विकार प्रस्तुत करते हैं।

१२४२—तुलनार्थक प्रत्यय तथा क्रमसूचक प्रत्यय अधिकांशतः वर्णित हो चुके हैं, तथा इनका निर्देश मात्र अपेक्षित है।

अ—**तर** और **तम** विशेषणात्मक तुलना के सामान्य गौणप्रत्यय होते हैं; इनके तथाविध प्रयोग के लिए, देखिए ऊपर ४७१-४७३; क्रम आदिसूचक-जैसे **तम** प्रयोग के लिए द्रष्टव्य ४८७-८; पूर्वसर्ग आदि से क्रियाविशेषणात्मक प्रत्ययों के-जैसे इनके द्वितीयाविभक्तिरूपों के प्रयोग के लिए, दे० ११११ उ।

आ—**वृत्रतर** और **पुरुतम** (ऋ० वे०) में स्वरपात नियमविरुद्ध होता है; **मृडयत्तम** में यह आगे कृदन्तक्रियारूप के अंत्य पर खींच लाया जाता है जैसा कि बहुधा समास (१३०९) में प्राप्त है; **शश्वत्तम** (ऋ० वे०) में संख्येय वाला स्वरपात है; **संवत्सरतम** (श० ब्रा०) एक संख्येय-रूप है; **दिवातर** दैनिक (ऋ० वे०, एक वार; भ्रांति ?) साधारण विशेषण है; **सुरभिष्टम** और **तुविष्टम स्** का मध्यागम लाते हैं; **कारोतर** और **कौलितर** संभवतः **अ** अंतवाले वृद्धिरूप-शब्द हैं। **वत्सतर** (स्त्री–री) ऐसा बच्चा जिसे माँ का दूध अभी-अभी छुड़ाया गया हो, **अश्वतर** खच्चर और **धेनुष्टरी** गाय जिसने दूध देना छोड़ दिया है, इनमें प्रत्यय का प्रयोग विशिष्ट और अस्पष्ट है; साथ ही, **रथंतर**, साम विशेष का नाम, में।

ट—र् और म तर और तम की तरह तरवर्थक और तमवर्थक होते हैं; तथा इनमें से द्वितीय संख्येय शब्दों को वनाता है : देखिये ऊपर, ४७४, ४८७ ।

ई—थ तम और म की तरह थोड़े-से संख्यावाची शब्दों से संख्येय वनाता है (ऊपर ४८७ ड); साथ ही (स्त्री०—थी में) तति, कति, यति, इति से : यथा—ततिथं उतना गुना, इत्यादि ।

उ—स्पष्टतः ततिथं के मिथ्या-सादृश्य के आधार पर (ऊपर, ई), अर्ध-संख्येयशब्द तावतिथ, यावतिथ, वहुतिथ वनाये जाते हैं । मानो तिथ प्रत्यय के साथ (कतिथं के लिए कतितिथ भी, उत्तरकालिक); तथा ऐसा ही विधान गण, पूग, संघ-जैसे अनेक या समूह अर्थवाले अन्य शब्दों से माना गया है; किन्तु ऐसे कोई रूप उद्धरणीय नहीं है ।

१२४३—संस्कृत में अल्पवोधक प्रत्ययों के कोई प्राप्त नहीं हैं जिनके अर्थ और प्रयोग स्पष्टतः विकसित हों । वहुत कुछ अस्पष्ट ढंग से, अल्पवोधक शब्दों के निर्माण में क का कादाचित्क प्रयोग ऊपर देखा जा चुका है (१२१२) ।

१२४४—ऊपर दिये गये साधारण-विशेषण वनानेवाले प्रत्ययों में से कुछ यदा-कदा विशेषणों से विशेषण वनाते हैं, जिनमें अर्थ का थोड़ा अथवा अप्रत्यक्ष रूपभेद प्राप्त है । वहुत कुछ इस ढंग से प्रयुक्त होनेवाला एकमात्र क है, जिसके लिए दे० १२२२ ।

१२४५—कुछ प्रत्यय शब्दों के कुछ परिमित एवं विशिष्ट वर्गों से, संख्यावाची तथा निपात शब्दों से, व्युत्पादित शब्दों के निर्माण के लिए प्रयुक्त होते हैं । यथा—

अ—तय संख्यावाची शब्दों से इतने प्रकारों अथवा विभागों के अर्थवाले कुछ विशेषणों को वनाता है (समूहार्थकों—जैसे नपुंसक में प्रयुक्त) : यथा—एकतय (मै० सं०), द्वितय, त्रितय, चतुष्टय (अ० वे०), षट्तय (कौ० ब्रा०; वाह्य सन्धि के साथ), सप्ततय (श० ब्रा०), अष्टातय (ऐ० ब्रा०), दशतय (ऋ० वे०), वहुतय (तै० सं०) । इनका स्त्रीलिंग रूप यी अंतवाला होता है ।

आ—त्य निपातों से विशेषणों का एक वर्ग वनाता है : उदाहरणार्थ, नित्य स्वकीय, निष्ट्य भिन्न, अमात्य साथी, इत्यादि । जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है, मूल का स्वरपात सुरक्षित रहता है । स्त्री० रूप—त्या अंतवाला होता है ।

इ—अन्य उद्धरणीय उदाहरण हैं अपत्य, आविष्ट्य, सनुत्य, अन्तस्त्य, अन्यतस्त्य, ततस्त्य, कुतस्त्य, अत्रत्य, तत्रत्य, यत्रत्य, कुत्रत्य, इहत्य, उपत्य, अवित्य, प्रातस्त्य, दक्षिणात्य (जिस नियमित रूप के स्थान में

दाक्षिणात्य, स्पष्टतः इससे विशेष वृद्धिप्राप्त-शब्द, सामान्यतया प्राप्त होता है : मानो दक्षिणात्यों से संबद्ध), तथा **पाश्चात्य** और **पौरस्त्य** (समान स्वरूप वाले : ये अन्तिम तीन वैयाकरणों द्वारा अन्त्योदात्त माने जाते हैं, जैसा कि वृद्धि-प्राप्त शब्दों में उपयुक्त है); **अपत्य** और **आपत्य** संभवतः इसी प्रत्यय को रखते हैं। **अन्तस्त्य** और **प्रातस्त्य** में वाह्य-सन्धि देखी जाती है।

ई—**त्य** के **य** का पाठ ऋ० वे० में गुरु-अक्षर के वाद नित्य इ–जैसा अपेक्षित है।

उ—त से एकर्त, द्वित और त्रित, साथ ही मुहूर्त क्षण, तथा स्पष्टतः **अवर्त** कुआँ (जल के लिए) वनते हैं।

ऊ—**न्** के साथ **पुराण** प्राचीन, **विपुण** विभिन्न और संभवतः **समान** तुल्य वनाये जाते हैं।

ए—**तन** या (कुछ स्थितियों में) **त्न** लगा कर अव्ययों से, प्रायः सव समय प्रायः सव समय कालवाची अव्ययों से, विशेषण वनाये जाते हैं : यथा—**प्रत्न** प्राचीन, **नूतन** या **नूत्न** वर्तमान, **सनातन** या **सनत्न** स्थायी, **दिवातन** दिनवाला, **श्वस्तन** आनेवाले कल का, **ह्यस्तन** वीते हुए कल वाला। स्वरपात विविध है। स्त्रीलिंगरूप **नी** अंतवाला होता है।

ऐ—अन्य उद्धरणीय उदाहरण हैं : **अग्रेतन, अद्यतन, अधुनातन, इदंतन, इदानींतन, एतर्हितन, चिरंतन, तदानींतन, दोषातन, पुरातन, प्राक्तन, प्रातस्तन, सदातन, सायंतन**; स्थानवाची अव्ययों से, **अधस्तन, अर्वाक्तन, उपरितन, कुतस्तन**; **त्न** के साथ, **परस्तात्न, पुरस्तात्न।** विशेष वृद्धिरूप शब्द, समानार्थक, **नौतन** (तुल० ऊपर इ) परवर्ती काल में आता है। पं० ब्रा० में **त्वत्त** तुझसे संवद्ध एक वार प्राप्त है।

ओ—इस प्रत्यय से पूर्व समीकृत अंत्य म् की स्पष्ट स्थितियों के अतिरिक्त वाह्यसंधि हमें **प्रातस्तन** में मिलती है।

औ—दिशावाची अव्ययों से **वत्** ऊपर उल्लिखित (३८३, क, ख) स्त्रीलिंग संज्ञाएँ वनाता है।

क—**कट,** जो समास में वस्तुतः संज्ञारूप है, **उत्कट, निकट, प्रकट, विकट** (ऋ० वे०, एक वार, संवो०), और **संकट** (सव-के-सव अन्तोदात्त माने गये हैं) में वैयाकरणों द्वारा प्रत्यय-जैसा गृहीत है।

ख—**वन** प्रत्यय **निवर्न, प्रवर्ण** में संभवतः माना जा सकता है; और **आल अन्तराल** में।

ग—संख्यावाची शब्दों और अव्ययों में मुख्य और गौण व्युत्पत्ति-विधान के साधारण प्रत्ययों को लगाकर बनाये गये कादाचित्क व्युत्पादित शब्द ऊपर निर्दिष्ट हो चुके हैं; यथा, देखिए **अन** (११५० घ), **ति** (११५७ ऐ), **अन्त्** (११७२ अ), **उ** (११७८ ओ), **अ** (१२०९ ओ), **क** (१२२२ इ), **म्न** (१२२४ इ), **मय** (१२२५ अ), **वन्त्** (१२३३ उ)।

अध्याय—१८

सामासिक प्रातिपदिकों का रूपनिर्माण

१२४६—सामासन्त शब्दों के निर्माण के लिए सविभक्तिक प्रातिपदिकों का एक-दूसरे के साथ अतिशय संयोग भाषा का प्रमुख लक्षण इसके पूर्वतम काल से ही है, जहाँ ऐसे शब्द स्वरपात, रूपविधान और रचना की दृष्टि से सरल-जैसे गृहीत हैं।

अ—किंतु विहित संयोगों की सूक्ष्मता और दीर्घता को लेकर पूर्वतर और उत्तरकालिक भाषाओं के बीच महत्त्वपूर्ण भेद प्राप्त होता है। वेद और ब्राह्मण में दो से अधिक प्रातिपदिकों का समास विधान खूब विरल होता है—अपवाद स्वरूप अतिप्रयुक्त और परिचित समास हैं जहाँ संपूर्ण शब्द मान कर कभी-कभी विशेष पद जोड़ा जाता है। किंतु काल जितना अधिक परवर्ती होता है, तथा शैली जितनी अधिक विस्तारित होती है, पदों का निचय उतना ही अधिक विषमित और श्रमसाध्य हो जाता है जिससे विभक्तिप्रधान भाषा के प्रभाव तिरस्कृत होते हैं, और वह वाक्यों में निर्मित शब्दों के अपेक्षित वाक्यगत संयोग के स्थान का ग्रहण कर लेता है।

१२४७—संस्कृत समास तीन प्रमुख वर्गों में विभक्त होते हैं :

(१) अ—द्वन्द्व अथवा **समुच्चय समास**, जिनके पद वाक्यार्थ की दृष्टि से एकवर्गी होते हैं—उन शब्दों को एक साथ संयुक्त किया जाता है जो असंयुक्त अवस्था में संयोजक और (विरले या) द्वारा जुड़े होंगे।

आ—उदाहरण होते हैं : **इन्द्रावरुणौ** इंद्र और वरुण, **सत्यानृते** सच और झूठ, **कृताकृतम्** कृत और अकृत, **देवगन्धर्वमानुषोरगरक्षसास्** देवता और गन्धर्व और मनुष्य और सर्प और राक्षस।

इ—ऐसे समास के पद स्पष्टतः दो या दो से अधिक, किसी संख्या के हो सकते हैं। अन्य किसी वर्ग का समास दो से अधिक पद नहीं रख सकता है—जिनके दो में एक अथवा दोनों संयुक्त अथवा दोनों संयुक्त अथवा असंयुक्त हो सकते हैं : (नीचे, १२४८)।

(२) ई—**तत्पुरुष समास,** जिनका पूर्वपद वाक्यार्थ की दृष्टि से निर्धारक अथवा विशेषण रूप अनुबंध-जैसा उत्तरपद के अधीन होता है : (१) यह पूर्वपद या तो संज्ञा (अथवा सर्वनाम) है जो इसे विभक्ति-रूप में सीमित करता है, या (२) विशेषण अथवा क्रियाविशेषण है जो इसका वर्णन करता है। फलतः एक अथवा दूसरे के अनुरूप ये दो उपवर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं : अ—आश्रित समास; और आ—वर्णनात्मक समास। दोनों का भेद नित्य नहीं है।

उ—उदाहरण होते हैं : आश्रित समासों के, **अमित्रसेना** शत्रुओं की सेना, **पादोदक** पाँव के लिए जल, **आयुर्दा** आयु देने वाला, **हस्तकृत** हाथों द्वारा किया गया; वर्णनात्मक समासों के, **महर्षि** महर्षि, **प्रियसखि** प्रिय बंधु, **अमित्र** शत्रु, **सुकृत** अच्छी तरह से किया गया।

ऊ—ये दोनों भेद प्राथमिक प्रयोगिता लेकर हैं; रचना की प्रक्रिया में किसी प्रकार का ऐक्य विधायक परिवर्तन इनमें नहीं हुआ है; शब्द-भेदों की दृष्टि से इनका स्वरूप इनके उत्तरपद से निर्धारित होता है, और ये प्रत्येक पद में संयोग के यथार्थ स्वतंत्र रूप और आकारिक साधन प्रस्तुत करने से समान वाक्यांशों में विघटनीय हैं। ऐसी स्थिति अवशिष्ट वर्ग की नहीं होती है। परिणाम-स्वरूप जितने ये एक-दूसरे से पृथक् हैं वह मूलतः उसकी अपेक्षा अधिक भिन्न इनसे होता है।

(३) ए—**गौण विशेषण समास,** जिनका अर्थ इनके अर्थ इनके संघटक पदों के शुद्ध विग्रह द्वारा प्राप्त नहीं होता है, किंतु जो स्वतः विशेषण होते हैं, यद्यपि इनका उत्तरपद संज्ञा है। पुनः ये दो उपवर्गों के होते हैं : अ—स स्वामित्व-बोधक समास, जो पूर्ववर्ती वर्ग के संज्ञा-समास हैं जिनमें संबंधार्थ युक्त होता है और जो इन्हें संज्ञाओं से विशेषणों में परिणत कर देता है; आ-समास जिनका उत्तरपद संज्ञा होता है जो वाक्यार्थ लेकर पूर्वपद के अधीन है, अर्थात्, (१) पूर्वसर्ग-मूलक समास, जो विशेषण-रूप पूर्वसर्ग और परवर्ती संज्ञा के संयोग होते हैं; (२) कृदन्तक्रियारूपमूलक समास (केवल वैदिक), जो वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप और इसके परवर्ती कर्मकारक रूप के हैं।

ऐ—उपवर्ग आ अपेक्षाकृत छोटा है, और इसका दूसरा विभाग (कृदन्तक्रिया-रूपमूलक समास) कठिनता से उत्तरकालिक वैदिक भाषा में भी मिलता है।

ओ—उदाहरण होते हैं : **वीरसेन** वीरसेना वाला, **प्रजाकाम** संतान की इच्छा वाला, **तिग्मशृङ्ग** तीक्ष्ण शृंगवाला, **हरितस्रज्** हरे रंग की मालाओं को धारण करनेवाला, **अतिमात्र** अत्यधिक; **यावयद्द्वेपस्** शत्रुओं को भगाने वाला।

औ—विशेषण-समास, सरल विशेषणों की तरह, भाववाचक और समूह-वाचक संज्ञाओं के रूप में, विशेषतः नपुंसक लिंग में, तथा अव्ययों के रूप में द्वितीया विभक्ति में प्रयुक्त हो सकते हैं; पुनः इन प्रयोगों से समासों के स्पष्टतः विशिष्ट वर्ग उत्पन्न हुए हैं जो भारतीय वैयाकरणों द्वारा तथाविध प्रतिष्ठित और अभिहित हैं। देशी व्याकरणों में प्रतिपादित वर्गीकरण जो यूरोपीय व्याकरणों द्वारा उसके आधार पर व्यापक रूप से मान्य है, के साथ ऊपर दिये गये वर्गीकरण का संबंध स्पष्ट हो जायेगा जब उन वर्गों का विवेचन विस्तार में करेंगे।

१२४८—एक समास सरलशब्द की तरह दूसरे समास का अंग बन जाता है, और फिर यह किसी दूसरे का, इस तरह किसी निश्चित सीमा के बिना यह प्रक्रिया होती है। किसी भी समास का विश्लेषण, चाहे वह कितना बड़ा क्यों न हो (केवल द्वन्द्व समास को छोड़कर), समद्विभाजनों के अनुक्रमण द्वारा संभव है।

अ—इस प्रकार आश्रित समास **पूर्वजन्मकृत** पिछले जन्म में किया हुआ प्रथमतः **कृत** और वर्णनात्मक समास **जन्मकृत** में विभाज्य है, पुनः यह अपने खण्डों में; **आश्रित सकलनीतिशास्त्रतत्वज्ञ**, सभी आचारशास्त्र के तत्वों को जानने वाला, प्रथमतः धातु-प्रातिपदिक **ज्ञ** √(**ज्ञा**) के लिए जाननेवाला अवशिष्ट से, जो स्वतः आश्रित, है, पृथक किया जाता है; तब यह **तत्व** सार और अवशिष्ट, जो वर्णनात्मक है, में विभाजित है; पुनः यह **सकल** सब और **नीतिशास्त्र** आचार के ग्रन्थ में विभक्त है जिनमें से द्वितीय आश्रित समास है और प्रथम संबंध-बोधक (**स** और **कला** सभी अंगों को एक साथ रखने वाला)।

१२४९—अ—समास में एक प्रातिपदिक का अंत्य दूसरे प्रातिपदिक के आदि के साथ बाह्य-संधि के सामान्य नियमों के अनुसार युक्त किया जाता है; ये अपने अपवादों के साथ ऊपर अध्याय ३ में दिये जा चुके हैं।

आ—यदि प्रातिपदिक में सबल और दुर्बल रूपों का भेद प्राप्त है, तो यह नियमित रूप से पूर्वपद-जैसा अपने दुर्बल रूप को लेकर समास में युक्त होता है; अथवा, यदि इसमें त्रिक भेद प्राप्त है, अपने मध्य रूप को लेकर।

इ—अर्थात् विशेषतः, **ऋ** या **अर्**, **अत्** या **अन्त्**, **अच्** या **अञ्च्** प्रभृति अंतवाले प्रातिपदिकों से समास प्रक्रिया में **ऋ, अत्, अच्** प्रभृति अंतवाले रूप देखे जाते हैं; जब कि **अन्** और **इन्** अंतवाले (यदा-कदा अपवाद मिलते हैं

यथा वृषणश्व, वृषण्वसु) अपना अंत्य न् लुप्त कर देते हैं, और ये इस प्रकार युक्त होते हैं, मानो अ और इ इनके यथार्थ अंत्य हों।

ई—जैसा कि गौण प्रत्यय-विधान (१२०३ ई) में प्राप्त है, उसी प्रकार समास के पूर्वपद के रूप में प्रातिपदिक कभी-कभी अपने अंत्य दीर्घ स्वर को (सामान्यतया ई को, विरले आ को) ह्रस्व कर देता है : यथा, वेद में रोदसिप्रा, पृथिविष्ठा, पृथिविषंड्, धारपूत, धारवाक; ब्रा० में, पृथिवि-दा, भाग,-लोक, सरस्वतिकृत, सेनानिग्रामण्यौ; सू० में, गर्भिनिप्रायश्चित्त, सामिधेनिप्रैष, वसतीवरिपरिहरण, एकादशिनिलिङ्ग, प्रफविदा, देवत-लक्षण, देवतप्रधानत्व; उत्तरकाल में, देवकिनन्दन, लक्ष्मिवर्धन, कुमारिदत्त, मुहूर्तज, इष्टकचित, इत्यादि।

उ—यदा-कदा, समास के पूर्वपद के रूप में ऐसा प्रातिपदिक प्रयुक्त होता है जो स्वतंत्र-शब्द-जैसा प्राप्त नहीं होता है, अथवा उस प्रकार के रूप में नहीं होता है : उदाहरण हैं महा बड़ा (स्पष्टतः वेद में स्वतंत्र रूप से द्वितीयाविभक्ति में प्रयुक्त), तुवि बलवान् (वेद), द्वि दो।

ऊ—अधिक समय, समास का उत्तरपद विशिष्टरूप का ग्रहण करता है, देखिए नीचे, १३१५।

१२५०—किंतु समास के पूर्वपद में विभक्तिरूप भाषा के पूर्वतम काल से ही कदापि विरल नहीं है। यथा—

अ—अत्यधिक समय द्वितीयाविभक्तिरूप, विशेषतः, धातु-प्रातिपदिक या समान अर्थ वाले अ प्रत्ययान्त के पूर्व : उदाहरणार्थ, पतंग उड़कर, जानेवाला धनंजय धन को जीतने वाला, अभयंकर अभय देने वाला, पुष्टिम्भर पोषण करनेवाला, वाचमिङ्ख्य वाणी को उत्तेजित करनेवाला; किंतु कभी-कभी अन्य रूप वाले शब्दों के पूर्व भी, यथा—अश्वमिष्टि घोड़े की इच्छा, शुभंयावन् मंगलगति, सुभागंकरण प्रसन्न करना, भयंकर्तृ भय का उत्पादक। कुछ अवस्थाओं में इनके सादृश्य के आधार पर ऐसे शब्द में द्वितीया विभक्ति रूप होता है जहाँ इसकी प्राप्ति सर्वथा नहीं है : यथा—हृदंसनि, मक्षंगम, वसुंधर, आत्मम्भरि।

आ—अपेक्षाकृत अधिक विरल भाव से, तृतीया विभक्तिरूप : उदाहरणार्थ, गिरावृध्, स्तुति से पोषण, वाचास्तेन स्तोत्रपाठ से चोरी, क्रत्वामघ प्रसन्नता-पूर्वक दान, भासाकेतु प्रकाश से चकमक, विद्मनापस् बुद्धि से क्रियाशील।

इ—खूब कम स्थलों में चतुर्थीविभक्तिरूप : यथा—नरेष्ठा मनुष्य की सेवा, अस्मेहिति हमारे लिए संदेश, तथा संभवतः कियेधा और महेवृध्।

ई—अविरले सप्तमीविभक्तिरूप; तथा यह भी विशेषतः धातु-प्रातिपदिक अथवा अ-अन्तवाले व्युत्पादित शब्द के साथ : यथा **अग्रेगा** आगे जाने वाला, **दिविक्षित्** द्यु लोक में रहने वाला, **वनेषं** वन में व्याप्त होनेवाला, **अङ्गेष्ठा** अंगों में रहनेवाली, **प्रोष्ठेशयं** पलंग पर लेटने वाला, **सुतेंकर** सोमसवन करने-वाला, **दिविंचर** आकाश में चलने वाला; **आरेशत्रु** शत्रुओं को बहुत दूर कर देने वाला, **सुम्नेआप** अनुग्रह के अनुकूल, **मंदेरघु** उत्तेजन में तीव्रगामी, **युधिष्ठिर** युद्ध में दृढ, **अन्तेवासिन्** नजदीक में, रहने वाला; **अप्सुजं** जलस्रोतों में उत्पन्न **हृत्स्वंस्** हृदय में चोट पहुँचाने वाला।

उ—सर्वाधिक कम समय, षष्ठीविभक्तिरूप : यथा, **रायस्काम** धन की इच्छा वाला, **अकस्यविंद्** किसी को न जाननेवाला। किंतु प्राचीनतर भाषा में कुछ उदाहरण प्राप्त हैं जहाँ षष्ठी विभक्तिरूप का संयोग अपनी संवद्ध संज्ञा के साथ प्राप्त है, संयोग का प्रत्येक खंड अपने ही स्वरपात को बनाये रखता है : देखिए नीचे, १२६७ ई।

ऊ—पंचमी विभक्तिरूप **बलात्कार** बलजोरी और **बलात्कृत** में, और संभ-वतः **परात्प्रिय** में देखे जा सकते हैं। पुनः **ऋ** अंतवाला प्रातिपदिक द्वन्द्व-समास में अपने प्रथमाविभक्तिरूप में कभी-कभी मिलता है : यथा—**पितापुत्रौ** बाप और बेटा, **होतापोतारौ** होता और पोता। **अन्योन्य** एक-दूसरा प्रथमाविभक्ति-रूप और अप्रधान विभक्तिरूप का संश्लिष्ट वाक्यांश है।

ए—बहुत कम शब्दों में बहुवचनार्थ बहुवचनरूप द्वारा द्योतित होता है : यथा—**अप्सुजं** प्रभृति (प्रत्यय-विधान में भी **अप्सु** प्रतिपादिक की तरह प्रयुक्त है), **हृत्स्वंस्**, **नृंःप्रणेत्र** मनुष्यों को मार्ग दिखाने वाला, **रुजस्कर** रोगों को उत्पन्न करनेवाला, (तथा द्विवचन) **हनूकम्प** दोनों जबड़ों का काँपना।

ऐ—अपेक्षाकृत अधिक समय लिंगरूपों वाले शब्दों का स्त्रीलिंग रूप समास में प्रयुक्त होता है यदि विशिष्ट स्त्रीलिंगत्व को व्यक्त करना हो : उदाहरणार्थ, **गोपीनाथ** गोपिकाओं का प्रभु, **दासीपुत्र** दासी का बेटा, **मृगीदृश्** मृगी की तरह आँख वाला, **प्रणीताप्रणयन** पवित्रजल का पात्र।

१२५१—समासों का स्वरपात अति विभिन्न होता है, और एक ही प्रकार के रूपनिर्माण की सीमाओं के अंतर्गत भी यह अत्यन्त अनियमितता का विषय बन सकता है : तथा इसका विवेचन विस्तार में नीचे अपेक्षित है। सभी संभाव्य विभिन्नताएँ प्रयोग में प्राप्त होती हैं। यथा :

अ—समास का प्रत्येक पद अपने ही स्वरपात को बनाए रखता है। यह सर्वाधिक असंगत और विरल पद्धति है। कुछ वैदिक द्वन्द्व-समासों में, विशेषतः

देवतावाची नामों से बने समासों (तथाकथित **देवता-द्वन्द्वस्** : १२५५ मु० वि०) में, तथा पूर्वपद के रूप में षष्ठीविभक्तिरूप रखनेवाले अल्पसंख्यक संयोगों (१२६७ ई) में यह प्राप्त है।

आ—समास का स्वरपात अपने पूर्वपद वाला होता है। यह विशेषरूप से स्वामित्वबोधक समासों के बड़े वर्ग की स्थिति है; किंतु साथ ही, उन तत्पुरुषों में, जिनका उत्तरपद **त** और **न** अंतवाला कृदन्तक्रियारूप होता है; उनमें जिनका आरम्भ **अ** या **अन्** निषेधार्थक से होता है, तथा अन्य अपेक्षाकृत अल्पसंख्यक और अल्पविशिष्ट वर्गों में।

इ—समास का स्वरपात उत्तरपद वाला होता है। यह पूर्ववर्ती की तरह बड़े पैमाने वाली स्थिति नहीं है, तथापि यह खूब प्रचलित है; अनेक समासों में, जहाँ उत्तरपद क्रिया-संज्ञा अथवा विशेषण होता है, उन समासों में, जो **द्वि** और **त्रि** संख्यावाची शब्दों अथवा **सु** और **दुस्** उपसर्गों से आरम्भ होते हैं, तथा अन्यत्र अविरल अपवादों में।

ई—अपने संघटक पदों के प्रत्येक से स्वतंत्र रह कर समास अपने अंत्य अक्षर पर अपना ही स्वरपात रखता है (वस्तुतः सब समय पूर्ववर्ती से यह पृथक् नहीं किया जा सकता) इस पद्धति का पालन अधिकांश होता है : विशेषतः नियमित द्वन्द्वों द्वारा, तथा आश्रित और वर्णनात्मक संज्ञा-समासों के एक बड़े वर्ग द्वारा, निषेधार्थक पूर्वसर्ग के साथ आरंभ होने वाले सर्वाधिक संबंधबोधक समासों द्वारा; तथा दूसरों द्वारा।

उ—समास में वैसा स्वरपात प्राप्त है जो उसके पदों के किसी एक के स्वरपात से परिवर्तित कर दिया जाता है। यह सर्वत्र अपवादभूत और विकीर्णरूप से प्राप्त होने वाली स्थिति है, तथा इसके उदाहरण को, जो प्रत्येक रूपनिर्माण के अन्तर्गत नीचे निर्दिष्ट किये गये हैं, यहाँ समाहृत करने की अपेक्षा नहीं है। उदाहरण हैं : **मेधासाति** (**मेध**), **तिलमिश्र** (**तिल**), **खादिहस्त** (**खादि**), **यावयद्द्वेषस्** (**यावयन्त्**); **शकधूम** (**धूम**), **अमृत** (**मृत**), **सुवीर** (**वीर**), **तुविग्रीव** (**ग्रीवा**)। कुछ शब्द—यथा **विश्व**, **पूर्व**, और कभी-कभी **सर्व**—समासों के पूर्वपदों के रूप में सामान्यतया परिवर्तित स्वरपात का ग्रहण करते हैं।

१—द्वन्द्व-समास

१२५२—दो या अधिक संज्ञाएँ—अपेक्षाकृत कम समय विशेषण तथा एक या दो स्थलों में क्रियाविशेषण—जिनमें सवर्गकोटिक रचना इस प्रकार की होती

हैं जैसे कि वे संयोजक द्वारा, विशेषतः 'च' द्वारा संबद्ध हों, समासों में कभी-कभी संयुक्त की जाती हैं।

अ—यह वह वर्ग है जिसे भारतीय वैयाकरण **द्वन्द्व** युग्म, युगल की संज्ञा देते हैं; किंतु विशेषणों का द्वन्द्व उनके द्वारा स्वीकृत नहीं हैं।

आ—ऐसे समास, जिनमें दो पदों का संबंध संयोजनात्मक के स्थान पर वियोजनात्मक होता है, यद्यपि ऐसी स्थिति अपवादस्वरूप ही होती है, खूब विरल नहीं है। उदाहरण होते हैं **न्यूनाधिक** न्यून या विशेष, **जयपराजय** जीत या हार, **क्रीतोत्पन्न** खरीदा हुआ या उत्पन्न किया हुआ, **काष्टलोष्टसम** काठ या ढेले की तरह, **पक्षिमृगता** पक्षी या पशु होने की अवस्था, **त्रिंशद्विंश** तीस या बीस की संख्या, **चतुष्पञ्चकृत्वस्** चार या पाँच बार, **द्व्येकान्तर** एक या दो से भिन्न। संयोजनार्थ का अपेक्षाकृत न्यून विशिष्ट रूपान्तरण **प्रियसत्य** प्रिय किंतु सत्य, **प्रार्थितदुर्लभ** प्रार्थित, पर दुर्लभ-जैसे उदाहरणों में देखा जाता है; अथवा **श्रान्तागत** थका-माँदा आगत में।

१२५३—संज्ञा-द्वन्द्व अपने पदनिर्माण-रूप की दृष्टि से दो वर्गों में विभक्त होते हैं :

(१) अ-समास अपने उत्तरपद के लिंग और शब्द-रूप को प्राप्त करता है, तथा अपने वाक्य के अनुरूप द्विवचन अथवा बहुवचन में होता है, जैसा कि यह दो या दो से अधिक विशिष्ट तत्वों को द्योतित करता है।

आ—उदाहरण होते हैं : **प्राणापानौं** प्रश्वास और निश्वास, **व्रीहियवौं** धान और जव, **ऋक्सामें** ऋचा और साम, **कपोतोलूकौं** कबूतर और उल्लू, **चन्द्रादित्यौ** चाँद और सूरज, **हस्त्यश्वौ**। हाथी और घोड़ा, **अजावयस्** बकरे और भेंडे, **देवासुरास्** देव और राक्षस, **अथर्वाङ्गिरसस्** अथर्वन् और अङ्गिरस, **सम्बाधतन्द्र्यस** चिन्ताएँ और क्लान्तियाँ, **विद्याकर्मणी** ज्ञान और क्रिया, **हस्त्यश्वास्** हाथी और घोड़े; दो से अधिक पदों के (कोई उदाहरण प्राचीनतर भाषा उद्धरणीय नहीं) **शय्यासनभोगास्** लेटना, बैठना और खाना, **ब्राह्मण-क्षत्रियविट्शूद्रास्** ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, **रोगाशोकपरीतापबन्धन-व्यसनानि** रोग, शोक, चिन्ता, बन्धन और दुर्भाग्य।

(२) इ—समास नपुंसक एकवचनान्त समूहवाचक होता है, यदि इसके संघटक पदों के लिंग अथवा सूचित संख्या की अपेक्षा न होती हो।

ई—उदाहरण हैं : **इष्टापूर्तम्** आहूत और समर्पित, **अहोरात्रम्** दिन और रात, **कृताकृतम्** कृत और अकृत, **भूतभव्यम्** अतीत और भविष्य, **केशश्मश्रु** बाल और दाढ़ी, **ओषधिवनस्पति** पौधे और पेड़, **चन्द्रतारकम्** चाँद और

तारे, **अहिनकुलम्** साँप और नेवला, **शिरोग्रीवम्** सिर और गरदन, **यूकामक्षिकमत्कुणम्** जूँ, मक्खियाँ और खटमल।

१२५४—अ—ऋकारांत प्रातिपदिक पूर्वपद में होने से अपने **आ**-अंतवाले प्रथमाविभक्तिरूप का ग्रहण कभी-कभी करता है, इसका उल्लेख, ऊपर १२५० ऊ हो चुका है।

आ—उत्तरपद के रूप में रहने वाला प्रातिपदिक नपुंसक समूहवाचकसमास बनाने में कभी-कभी **अ**-रूप में परिवर्तित हो जाता है: यथा—**छत्त्रोपानहम्** छाता और जूता।

इ—द्वंद्वसमास विधायक पदों के पौर्वापर्य के विषय में वैयाकरण नियम देते हैं: इस प्रकार अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण, संक्षिप्ततर, अजादिपद पहले आता है; तथा अ-अंतवाले पद को अंत में रखा जाता है। किंतु इन सवों के उल्लंघन भी कम नहीं हैं।

१२५५—प्राचीनतर भाषा (ऋ० वे०) में द्वंद्व समास, जिस रूप में ये उत्तरकाल में देखे जाते हैं, बिलकुल विरल हैं, इस वर्ग का प्रतिनिधित्व मुख्यतः देवताओं और अन्य श्रेष्ठ व्यक्तियों के, तथा मानवीकृत प्राकृतिक पदार्थों के नामों के द्विवचन संयोगों द्वारा होता है।

अ—इन संयोगों में प्रत्येक नाम नियमित और सामान्य ढंग से द्विवचनान्त रूप होता है, तथा अपना स्वरपात रखता है; किंतु अति विरल स्थलों (तीन सौ से अधिक प्रयोगों के केवल तीन) में जहाँ प्रथमा-द्वितीया-संबो० के अतिरिक्त अन्य विभक्तिरूप बने हैं, केवल अंत्य पद का विभक्तिरूप प्राप्त है।

आ—उदाहरण हैं: **इन्द्रासोमा, इन्द्राविष्णू, इन्द्राबृहस्पती, अग्नीषोमौ, तुर्वशायदू, द्यावापृथिवी, उषासानक्ता,** (तथा, मध्यागमित शब्दों के साथ, **नक्त..........उषासा**), **सूर्यामासा**। मात्र बहुवचनरूप **इन्द्रामरुतस्** (संबो०) होता है। प्रथमाविभक्ति से भिन्न दूसरे विभक्तिरूपों के उदाहरण **मित्रावरुणाभ्याम्**, और **मित्रावरुणयोस्** (साथ ही, **मित्रयोर वरुणयोः**) तथा **इन्द्रावरुणयोस्** (प्रत्येक केवल एक बार)।

इ—**द्यावापृथिवी** से अतिविशिष्ट षष्ठीरूप **दिवस्पृथिव्योस्** (४ बार: अ० वे० में **द्यावापृथिवीभ्याम्** और **द्यावापृथिव्योस्** प्राप्त हैं) बना है।

ई—एक समास **पर्जन्यवाता** में प्रथम पद (ऋ० वे०, एक बार) में द्विक स्वरपात के साथ-साथ द्विवचन विभक्ति-चिह्न प्राप्त नहीं है (**इन्द्रनासत्या**, संबो०, स्वरपात की दृष्टि से संदिग्ध है) बहुतों में द्विक स्वरपात का अभाव है, जब कि वचन का द्विक निर्देश विद्यमान है: यथा—**इन्द्रापूषणोः** ([illegible]

इन्द्रापूर्षणा), सोमापूर्षभ्याम् (सोमापूषणा संबो०-जैसा मिलता है), वातापर्जन्या, सूर्याचन्द्रमसा, तथा इन्द्राग्नी (इन्द्राग्निभ्याम् और इन्द्राग्न्योस् के साथ) : सोमारुद्रौ केवल श० ब्रा० में उदात्तित है, पुनः इन्द्रवायू में एक जगह रूप और स्वरपात दोनों ही उत्तरकालिक भाषा के अनुरूप होते हैं।

उ—उत्तरकाल में बने द्वंद्वों की तरह अन्य द्वंद्व समासों में बहुवचन अजावयस् द्विवचन ऋक्सामे, सत्यानृते, साशनाशने; साथ ही नपुंसक समूहवाचक इष्टापूर्तम्, विशेष्यवत् प्रयुक्त द्वंद्व-विशेषण का नपुंसकरूप, नीललोहितम् ऋ० वे० में प्राप्त होते हैं। पुनः, नपुंसक बहुवचन रूप अहोरात्राणि दिन और रातें, तथा उक्थार्कौ स्तोत्र और स्तुतियाँ, जिनके उत्तरपद स्वतंत्र शब्दों के रूप में नपुंसक नहीं होते हैं। इन शब्दों में से किसी का प्रयोग एक बार से अधिक नहीं हुआ है।

१२५६—उत्तरकालिक वेद (अ० वे०) में प्रयोग-विधि अधिकतर प्रायः वही होती है जो श्रेण्य-भाषा के अनुरूप है, अंतर इतना ही है कि नपुंसक एकवचन समाहाररूप लगभग अज्ञात हैं।

अ—द्विक द्विवचनरूप वाले शब्द अल्पसंख्यक ही हैं (तीन चौथाई की जगह, जैसा कि ऋ० वे०, केवल एक चौथाई); तथा इनके आधे में एकमात्र स्वरपात है जो अंत्य पर होता है : इस प्रकार ऋ० वे० में प्राप्त रूपों के अतिरिक्त, भवारुद्रौ, भवाशर्वौ; अग्नाविष्णू, संबो०, असंगतरूप वाला होता है। द्वंद्वों की संपूर्ण संख्या ऋ० वे० में प्राप्त की दुगुनी से अधिक है।

अ—दो संज्ञाओं से बने मात्रा वास्तविक नपुंसक समाहार केशश्मश्रु केश और दाढ़ी, आञ्जनाभ्यञ्जनम् अंजन और अनुलेप, तथा कशिपूपबर्हणम् चटाई और तकिया होते हैं, जो दो विशेषीकृत वस्तुओं की यथार्थ एकता के कारण युक्त हैं। इसी प्रकार के समाहारार्थक में प्रयुक्त विशेषण-समासों के नपुंसक एकवचनान्त रूप (ऋ० वे० में प्राप्त रूपों के अतिरिक्त) हैं : कृताकृतम् जो कृत और अकृत है (न कि, जो कृत है और जो अकृत है), चित्ताकूटम् विचार और कामना, भद्रपापम् भला और बुरा, भूतभव्यम् भूत और भविष्य।

१२५७—विशेषणों से बने द्वंद्व समास, जो अपने विशेषण लक्षण को सुरक्षित रखते हैं, इसी ढंग से बनाये जाते हैं, किंतु तुलना में विरल होते हैं।

अ—उदाहरण हैं : शुक्लकृष्ण सफेद और स्याह, स्थलजौदक स्थलीय और जलीय, दान्तराजतसौवर्ण हाथीदांत और चाँदी और सोने का, विभक्तीय रूप से प्रयुक्त; तथा वृत्तपीन गोल और मोटा, शान्तानुकूल शांत और अनुकूल,

हृषितस्रग्रजोहीन नवीन मालाओं को धारण किये और धूलि से रहित, **निषेकादिश्मशानान्त** जन्म से आरंभ कर और मृत्यु में अंत कर, संयुक्त रूप से प्रयुक्त, **नाऽतिशीतोष्ण** न खूब ठंढा या न खूब गरम, पक्षांतर रूप से; **क्षणदृष्टनष्ट** क्षण में दृष्ट और फिर विलीन, **चिन्तितोपस्थित**-जैसा सोचा वैसा हाथ लगा, अपेक्षाकृत अधिक गर्भित अर्थ में।

आ—वेद में जो भी उदाहरण उपलब्ध हैं, वे होते हैं द्वंद्व **नीललोहित** और **इष्टापूर्त** प्रभृति, जो नपुंसक एकवचन में समाहारों-जैसे (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) प्रयुक्त हैं, साथ ही, **ताम्रधूम्र** कालाभूरा; तथा विभक्तरूप वाले **दक्षिणसव्य** दायाँ और बायाँ, **सप्तमाष्टम** सातवाँ और आठवाँ, और **भद्रपाप** शोभन और अशोभन (तद्रूपी नपुंसक समाहारों के साथ-साथ)। **सत्यानृत** सत्य और असत्य, **प्रियाप्रियाणि** अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुएँ, ऐसे समास जिनका प्रत्येक पद विशेष्यवत् प्रयुक्त है, वस्तुतः सामान्य संज्ञा-समासों से पृथक् नहीं किये जा सकते हैं।

इ—एक विशिष्ट स्थिति दिशावाची समास-विशेषणों वाली होती है: यथा **उत्तरपूर्व** उत्तर-पूरब **प्रागदक्षिण** दक्खिन-पूरब, **दक्षिणपश्चिम** दक्खिन-पच्छिम, प्रभृति: तुलनीय १२९१ आ।

१२५८—स्वरचिह्नित ग्रंथों में द्वंद्व समास नियत रूप से प्रातिपदिक के अंत्य पर स्वरपात रखते हैं।

अ—अ० वे० में एक या दो प्रयोगों में अपवाद होते हैं, जहाँ निस्संदेह पाठ भ्रामक हैं: यथा—**वातापर्जन्या** (एक बार: साथ ही—**न्यंयोस्**), **देवमनुष्यास्** (एक बार: श० ब्रा०-**स्यं**), **ब्रह्मराजन्याभ्याम्** (वा० सं० भी); पुनः, **वाकोपवाक्य** (श० ब्रा०), **अशनायापिपासे** (श० ब्रा०)।

१२५९—क्रियाविशेषण द्वन्द्वों के एक या दो उदाहरण पाये जाते हैं: यथा—अहर्दिवि प्रतिदिन, **सायम्प्रातर्** सांझ और सवेरे। ये अपने पूर्वपद पर स्वरपात रखते हैं। उत्तरकाल में **बाह्यन्तर्**, **प्रत्यगुदक्षिणा**, **प्रत्यगुदक्** भी मिलते हैं।

१२६०—**पुनरुक्त शब्द**—भाषा के सभी कालों में संज्ञाएँ और सर्वनाम और विशेषण तथा अव्यय बहुधा पौनः पुन्य-विभाजन अथवा पुनरावृत्ति वाले को द्योतित करने के लिए पुनरुक्त किये जाते हैं।

अ—यद्यपि ये वास्तविक समास नहीं होते हैं, इस स्थल से अन्यत्र कहीं इनके विवेचन का अधिक संगत अवसर नहीं होगा। ये, जैसा कि प्राचीनतर भाषा से परिलक्षित है, समास का एक प्रकार है, जिसका पूर्वपद अपना स्वतंत्र

स्वरपात रखता है, और दूसरा विना उदात्त वाला होता है : परिणामस्वरूप ये सर्वाधिक संगत और वास्तविक रूप में समासों-जैसे (यथा वैदिक **पदपाठों** में) लिखित हैं। इस प्रकार : **जहि॑ ए॑षां वरं॑-वरम्** इनके प्रत्येक श्रेष्ठ व्यक्ति को मार डालो; **दि॒वे॑-दिवे** या **द्य॒वि-द्यवि** दिन-दिन **अङ्गा॑दङ्गाल्लोम्नो॑-लोम्नः पर्व॑णि-पर्वणि,** प्रत्येक अंग से, प्रत्येक केश से, प्रत्येक अंग में; **प्र॑-प्र यज्ञ॑पतिं तिर** यज्ञपति को दीर्घजीवी बनाओ; **भूयो॑-भूयः श्वः॑-श्वः** फिर और फिर, कल और फिर कल; **एकै॑यैकया** एक-एक के साथ; **वयं॑-वयम्** हम ही।

आ—अपवादभूत और विरल स्थितियाँ पुरुषबोधक तिङन्तरूपों की पुनरुक्तिवाली हैं : यथा—**पिब॑-पिब** (ऋ० वे०), **यज॑स्व-यजस्व** (श० ब्रा०), **वेद॑-वेद** (? श० ब्रा०);—तथा दो शब्दों की पुनरुक्तिवाली : यथा—**याव॑द्वा-यावद् वा** (श० ब्रा०), **यत॒मेवा-यतमेवा** (श० ब्रा०)।

इ—कुछ स्थलों में शब्द क्रम में दो वार प्रयुक्त देखा जाता है, दूसरी वार उदात्त के उस लोप के विना ही, जिससे पुनरुक्ति यथार्थ पुनरुक्ति वन जाती है : यथा—**नू॑ नु॑** (ऋ० वे०), **सं॑ सम्** (अ० वे०), **इहे॑ह** (अ० वे०), **अन॑यानया** (श० ब्रा०), **स्तुहि॑ स्तुहि॑** (ऋ० वे०, **पद**-पाठ के अनुसार)।

ई—यहाँ वर्णित संयोगों के वर्ग को देशी वैयाकरणों द्वारा **आम्रेडित** साथ जोड़ा (?) की संज्ञा दी जाती है।

१२६१—अंत में, लगे हाथ सामासिक संख्यावाची शब्द **ए॑कादश** ११, **द्वाविं॑शति** २२, **त्रि॑शत** १०३, **चतु॑ःसहस्र** १००४, प्रभृति (४७६ मु० वि०) द्वंद्वों के विशिष्ट और मूलगत वर्ग के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इनमें उदात्त पूर्वपद पर होता है।

(२) निर्धारक या तत्पुरुष समास

१२६२—संज्ञा अथवा विशेषण पूर्ववर्ती निर्धारक या गुणबोधक शब्द—संज्ञा, या विशेषण, या अव्यय—के साथ वहुधा संयुक्त किया जाता है। ऐसे समास को सुविधानुसार **निर्धारक** कह सकते हैं।

१२६३—यह समासों का ऐसा वर्ग है जो भारत-यूरोपीय भाषाओं की सभी शाखाओं में सर्वाधिक सामान्य और अतिप्रयुक्त है। इसके दो प्रमुख विभाग ऊपर निर्दिष्ट हो चुके हैं : इस प्रकार (१) **आश्रित समास,** जिनमें पूर्वपद विशेष्य शब्द (संज्ञा या सर्वनाम या विशेष्यवत् प्रयुक्त विशेषण) होता है जो दूसरे पद के साथ अपने आश्रित के विभक्ति-संबंध को लेकर अभिव्यक्त होता

है; तथा (२) वर्णनात्मक समास, जिनमें पूर्वपद विशेषण होता है, अथवा अन्य शब्द जो संज्ञा के गुणबोधक विशेषण की प्रयोगिता रखता है; अथवा अव्यय या उसका समरूपक, जो विशेषण का गुणबोधक होता है। परिणामस्वरूप इन विभागों में से प्रत्येक दो उपविभागों में विभक्त होता है, इस आधार पर कि उत्तर-पद, और इसलिए संपूर्ण समास, संज्ञा हैं या विशेषण।

अ—निर्धारकों के संपूर्ण वर्ग को भारतीय वैयाकरण **तत्पुरुष** कहते हैं (नाम वर्ग का नमूना है, जिसका अर्थ होता है उसका आदमी); तथा दूसरे विभाग की, वर्णनात्मक समासों की, विशिष्ट संज्ञा **कर्मधारय** होती है (अस्पष्टार्थक : शाब्दिक अर्थ बहुत-कुछ कार्य-वाहन-जैसा होता है)। उनके निर्देश के रक्षण से दो विभाग यूरोपीय मान्य प्रयोग विधि में क्रमशः इन दो नामों से अभिहित हैं।

(१) आश्रित समास

१२६४—**आश्रित संज्ञा-समास।** इस विभाग में उत्तरपद के साथ पूर्वपद का विभक्ति-संबंध किसी प्रकार का हो सकता है; किंतु एक संज्ञा का दूसरी संज्ञा के साथ सामान्य संबंधों के अनुसार यह संबंध सर्वाधिक समय षष्ठी विभक्ति और सर्वाधिक कम समय द्वितीया-विभक्ति वाला है।

अ—उदाहरण हैं : षष्ठी संबंध के, **देवसेना** देवताओं की सेना, **यमदूत** यम का संदेशवाहक, **जीवलोक** प्राणियों का संसार, **इन्द्रधनुस्** इन्द्र का धनुष, **ब्रह्मगवी** ब्रह्मन् की गाय, **विषगिरि** विष-पर्वत, **मित्रलाभ** मित्रों की प्राप्ति, **मूर्खशतानि** मूर्खों के कितने सौ, **वीरसेनसुत** वीरसेन का बेटा, **राजेन्द्र** राजाओं का नायक, **अस्मत्पुत्रास्** हमारे बेटे, **तद्वचस्** उसका वचन;—चतुर्थी के, **पादोदक** पाँव के लिए पानी, **मासनिचय** महीने के लिए सामग्री;—तृतीया के, **आत्मसादृश्य** निज के साथ समानता, **धान्यार्थ** धान्य के द्वारा प्राप्त धन, **धर्मपत्नी** विवाहिता स्त्री, **पितृबन्धु** पैतृक संबंधी;—पंचमी के, **अप्सरःसम्भव** अप्सरा से उत्पत्ति, **मद्वियोग** मुझसे वियोग, **चौरभय** चोर से भय; सप्तमी के, **जलक्रीडा** जल में विहार, **ग्रामवास** गाँव में वास, **पुरुषानृत** पुरुष के विषय में असत्य;—द्वितीया का, **नगरगमन** नगर जाना।

१२६५—**आश्रित विशेषण-समास।** इस विभाग में केवल अत्यल्प अनुपात के समासों के साथ साधारण विशेषण उत्तरपद के रूप में प्राप्त है; किंतु सामान्यतया कृदन्तक्रियारूप, या कृदन्त-क्रियारूपार्थ वाला कर्त्रर्थक शब्द मिलता है। पूर्वपद ऐसे किसी विभक्ति-संबंध में मिलता है जो इस प्रकार के शब्दों की स्वतंत्र रचना में सभव है।

अ—उदाहरण हैं : सप्तमी संबंध के **स्थालीपक्व** हंडी से पकाया हुआ, **अश्वकोविद** घोड़ों का वेत्ता, **वयःसम** अवस्था में समान, **युधिष्ठिर** युद्ध में स्थिर, **तनूंशुभ्र** शरीर से सुन्दर; तृतीया का, **मातृसदृश** अपनी माता के तुल्य; चतुर्थी का, **गोहित** पशु के लिए हितकारी;—पंचमी के, **भवदन्य** आपसे भिन्न, **गर्भाष्टम** जन्म के आठवें, **दृश्येतर** दृश्य से भिन्न (अर्थात् अदृश्य);—षष्ठी के, **भरतश्रेष्ठ** भरतों में श्रेष्ठ; **द्विजोत्तम** ब्राह्मणों में श्रेष्ठ—कृदन्तक्रियारूपात्मक शब्दों के साथ, द्वितीया-विभक्ति संबंध में, **वेदविद्** वेद जानने वाला; **अन्नाद** अन्न खानेवाला, **तनूपान** शरीररक्षक, **सत्यवादिन** सत्य बोलनेवाला, **पत्रगत** पत्रांकित (शाब्दिक अर्थ, पत्र गया हुआ); तृतीया में, **मधुपू** मधु द्वारा परिष्कृत करनेवाला, **स्वयंकृत** अपने आप बना, **इन्द्रगुप्त** इन्द्र द्वारा रक्षित, **विद्याहीन** विद्या द्वारा त्यक्त (शाब्दिक अर्थ विद्यारहित);—सप्तमी में, **हृदयाविंध** हृदय में चुभने वाला, **ऋत्विज्** ठीक समय में यज्ञ करने वाला; **दिविंचर** आकाश में चलनेवाला,—पंचमी में, **राज्यभ्रष्ट** राज्य से गिरा हुआ, **वृकभीत** भेड़िये से डरा हुआ;—चतुर्थी में; **शरणागत** शरण के लिए आया हुआ।

१२६६—अब हम इन दो शीर्षों के अंतर्गत होने वाले समासों की मुख्य कोटियों में से कुछ को इनकी रूपनिर्माण और प्रयोगविषयक विशिष्टताओं को लेकर इनके आपेक्षिक पुनरावर्तन और इ स्वरपात आदि के निरूपण के लिए प्रस्तुत करते हैं।

१२६७—ऐसे समास जिनके उत्तरपद में साधारण संज्ञाएँ होती हैं (अर्थात् ऐसी कि जिनसे क्रिया संज्ञाओं, भावार्थक अथवा कर्त्रर्थक; का स्वरूप स्पष्टतः परिलक्षित नहीं होता है), अधिक सामान्य हैं। इनका स्वरपात नियमतः और सामान्यतः अपने अंत्याक्षर पर होता है, जो किसी भी संघटक पद के स्वरपात से स्वतंत्र है। उदाहरण ऊपर दिये गये हैं (१२६४ अ)।

अ—स्वरपात लेकर मुख्य अपवाद **पति** स्वामी, प्रभु (और इसका स्त्रीलिंग रूप **पत्नी**) है, जिसके साथ समास साधारणतया पूर्वपद के उदात्तत्व को सुरक्षित रखते हैं : यथा **प्रजापति, वसुपति, अतिथिपति, गोपति, गृहपत्नी** इत्यादि (**ति** अंतवाली कृदन्तसंज्ञाओं की तुलना कीजिए, नीचे १२७४)। किंतु कुछ शब्दों में **पति** अपने स्वरपात को ही बनाये रखता है जैसे—**विश्वपति, रयिपति, पशुपति वसुपत्नी** इत्यादि, तथा अधिक सामान्य नियम **अप्सरापति** और **व्राजपति** (अ० वे०), तथा **नदीपति** (वा० सं०), **चित्पति** (मै० सं० अन्यत्र **चित्पति**) में लागू होता है।

आ—अन्य अपवाद केवल विकीर्ण होते हैं : उदाहरणार्थ, **जनराजन्**,

देववर्मन्, हिरण्यतेजस् पृतनाह्व, गोधूम और शकधूम (किंतु धूम); वाचास्तेन।

इ—ऐसे समासों में विभक्तिरूप का ग्रहण (?) विरल होता है: उदाहरण हैं दिवोदास, वाचास्तेन, उच्चैःश्रवस्, उच्चैर्घोष, दूरेभास (अंतिम तीन संबंधबोधक प्रयोग में)।

ई—कतिपय समासों के दोनों पदों पर स्वरपात प्राप्त है: यथा—शचीपति, सदस्पति, बृहस्पति, वनस्पति, रथस्पति, जास्पति, (जास्पति भी), नराशंस, तनूनप्तृ, तनूनपात (स्वतंत्र शब्द की तरह तनू), । पुनः श० ब्रा० में मातृ-गोत्रनाम की एक लम्बी सूची प्राप्त है जहाँ असंगत स्वरपात है, कौत्सीपुत्र, गार्गीपुत्र, इत्यादि।

१२६८—उत्तरपद के रूप में सामान्य विशेषण-शब्द से युक्त समास अपेक्षाकृत कम हैं (जैसा कि निरूपित हो चुका है)।

अ—जहाँ तक प्राचीनतर भाषा में प्राप्त विरल उदाहरणों से अनुमान किया जा सकता है, ये पूर्वपद के उदात्त स्वर को सुरक्षित रखते हैं: यथा—गविष्ठिर (अ० वे० गविष्ठिर), तनूशुभ्र, मदेरघु, यज्ञधीर, सामविप्र, तिलमिश्र (किंतु तिल); किंतु कृष्टपच्य जोतवाली जमीन में फसल आना।

१२६९—आश्रित समास जिनमें उत्तरपद धातुमात्र—अथवा, यदि यह ह्रस्व-स्वर अंतवाला हो, तो साधारणतया युक्त त के साथ—होता है, भाषा के सभी कालों में बहुसंख्यक हैं जैसा कि कितनी बार निर्दिष्ट हो चुका है (यथा, ३८३ ऊ—ऐ, ११४७)। ये धातु पर उदात्त स्वर का वहन करते हैं।

अ—बहुत कम प्रयोगों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इस उत्पत्ति वाले शब्दों का स्वरपात अन्यथा रखा गया है: यथा—अंसत्र, अंनर्विश; स्वावृज्, प्रत्यक्षदृश, पुरंधि, ओषधि, अरमिष, उशदघ्, वत्सप, अब्द।

आ—अंत्य धातु-प्रातिपदिक से पूर्व विभक्तिरूप अधिक समय देखा जाता है: उदाहरणार्थ, पतंग, गिरावृध्, धियाजुर, अक्ष्णयाद्रुह्, हृदिस्पृश, दिविस्पृश, वनेसह्, दिविषद्, अङ्गोष्ठा, हृत्स्वस् पृत्सुतुर्, अप्सुज।

इ—धातु-प्रातिपदिक कभी-कभी आत्मनेपरक या कर्मवाच्य अर्थ रखते हैं: उदाहरणार्थ, मनोयुज् इच्छा द्वारा प्रेरित (अपने आपको प्रेरित कर), हृदयाविध हृदय को चुभने वाला, मनुज मनु से उत्पन्न।

१२७०—अ अंतवाले धातुजशब्दों—क्रियार्थक और कर्त्रर्थक दोनों—से बने समास बहुसंख्यक होते हैं, तथा सामान्यतः अपने अंत्य अक्षर पर (जैसा कि उपसर्गों के साथ संयोगों में : ११४८ ग) स्वरपात रखते हैं।

अ—उदाहरण हैं : हस्तग्राभ॑ हाथ पकड़नेवाला, देववन्द॑ देवों की स्तुति करनेवाला, हविरद॑ हविष्य खाने वाला, भुवनच्यव॑ संसार को कँपाने वाला, व्रात्यब्रुव॑ अपने आप को व्रात्य कहनेवाला, अक्षपराजय॑ पासे में हार, वषट्कार॑ वषट् का उच्चारण, गोपोष॑ पशुओं वाली सम्पत्ति, अङ्गज्वर॑ अंगों में पीड़ा।

आ—कुछ स्थलों में स्वरपात पूर्वपद वाला (जैसा कि साधारण विशेषणों के साथ समासों में, ऊपर १२६८) होता है : यथा—मरु॑द्वृध, सुते॑कर, दिवि॑चर (तथा अन्य अपेक्षाकृत अधिक संदिग्ध शब्द)। पुनः दू॑घ दुहना, उत्पन्न करना, तथाविध अंत्य-जैसे स्वरपात का वहन करता है : यथा मधुदु॑घ, कामदु॑घ।

धातु के गुण-सबलीकरण वाले अ-व्युत्पन्न विशेषण शब्दों से युक्त समासों के पूर्वपदों में विभक्ति-रूप विशेषतः बहुत मिलते हैं : यथा—अभयंकर॑, युधिंगम॑, धनंजय॑, पुरंदर॑, विश्वम्भर॑, दिवाकर॑, तल्पेशय॑, दिविष्टम्भ॑।

१२७१—अन अंतवाले विशेषणों और धातुज संज्ञाओं के साथ समास बड़ी संख्या में होते हैं, तथा स्वरपात नित्य धातुमूलक अक्षर पर होता है (जैसा कि उपसर्गों के साथ संयोगों में : ११५० उ)।

अ—उदारण हैं : केशव॑र्धन केश का बढ़ना, आयुष्प्रत॑रण आयु का विस्तार, तनूपा॑न शरीर-रक्षा, देवहे॑डन देवताओं की घृणा, पुंसु॑वन बच्चों का जन्म देना।

आ—स्वरपात की दृष्टि से अतिन्यून स्पष्ट अपवाद वस्तुतः वे स्थितियाँ हैं जहाँ व्युत्पन्न शब्द ने अपना धातुज स्वरूप खो दिया है : यथा—यमसादन॑ यम का अधिकार, आछ॑द्विधान रक्षा का उपाय।

इ—द्वितीयाविभक्तिरूप अन अंतवाले शब्द के पूर्व कभी-कभी मिलता है : जैसे, सरूपंक॑रण, अयक्ष्मंक॑रण, सुभागंक॑रण, वनंक॑रण।

१२७२—अ–उत्तरपद के रूप में य-अंतवाली क्रियार्थ संज्ञाएँ (१२१३) समास में विरल नहीं हैं, और अपने ही नियत स्वरपात को (जैसा कि उपसर्गों के साथ संयोग में) रखती हैं। ऊपर पर्याप्त उदाहरण दिये गये हैं (१२१३)।

आ–यही वस्तुस्थिति या अंतवाली समार्थक स्त्रीलिंग रूपों की होती हैं, देखिये ऊपर, १२१३ ई।

इ—प्राचीनतर भाषा में **य**-अंतवाले (१२१३) भविष्यकालिक कृदन्त-क्रियारूप उपसर्गों से भिन्न अन्य अंशों के साथ शायद ही पाये जाते हैं। **नीविभार्यँ** और **प्रथमवास्यं** (द्वितीय वर्णनात्मक) दो उदाहरणों में तद्रूप के स्वतंत्र शब्दों का स्वरपात प्राप्त है; **बलविज्ञायं** और **अंश्ववुध्य** (?) उनके तथा एक दूसरे से प्रतिकूल होते हैं।

१२७३—**त** और **न** वाले कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप के साथ समास अपने पूर्वपद के स्वरपात का वहन करते हैं (जैसा कि उपसर्गों के साथ उन शब्दों से संयोग करते हैं; १०८५ अ)।

अ—उदाहरण हैं: **हस्तकृत** हाथ द्वारा किया हुआ, **वीरंजात** वीर से उत्पन्न, **घोंषवुद्ध** आवाज से जगा हुआ, **प्रजापतिसृष्ट** प्रजापति द्वारा निर्मित, **देवत्त** देवों द्वारा दिया गया; तथा सोपसर्ग कृदन्तक्रियारूपों के साथ, **इन्द्रप्रसूत** इंद्र द्वारा उत्तेजित, **बृहस्पतिप्रणुत्त** वृहस्पति द्वारा भगाया हुआ, **उल्काभिहत** विजली से घायल, **वज्रविहत**, **संवत्सरसम्मित** वर्ष के उपयुक्त। अ० वे० में **अप्सुसंचित** जलधारा द्वारा द्रुतगति प्राप्त—नियम विरुद्ध रूप मिलता है।

आ—अनेक अपवाद मिलते हैं, जहाँ समास का अंत्य अक्षर उदात्त होता है: उदाहरणार्थ, **अग्नितप्तं**, **इन्द्रोतं**, **पितृवित्तं**, **रथक्रीतं** **अग्निदग्धं** (साथ ही, (**अग्निदग्ध**), **कविशस्तं** (साथ ही, **कविंशस्त**), **कविप्रशस्तं**।

इ—एक या दो विशिष्ट प्रयोग उल्लिखित किये जा सकते हैं। कृदन्तक्रिया-रूप **गत** गया हुआ, समास के अंत्य के रूप में विभिन्न प्रकारों के संबंध को अभिव्यक्त करने के लिए उत्तरकालिक भाषा में शिथिल ढंग से प्रयुक्त होता है: यथा, **जगतीगत** संसार में रहने वाला, **त्वद्गत** तुझसे संबद्ध, **सखीगत** सखी-संबंधी, **चित्रगत** चित्र में, **पुत्रगतं स्नेहम्** पुत्र के प्रति स्नेह, इत्यादि। कृदन्त-क्रियारूप **भूत** हुआ, प्राप्त हुआ संज्ञा के साथ संयोग में अपने को विशेपण-रूप बनाने के लिए व्याकरणिक प्रयोग से अधिक कठिनाई से मिलता है: यथा—**इदं तमोभूतम्** यह लोक, अंधकार से होकर (अंधकार की स्थिति में होकर); **तां रत्नभूतां लोकस्य** उसको, संसार के रत्न होने वाली को; **क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्** नारी क्षेत्र मानी जाती है; पुरुष बीज; इत्यादि।

ई—अन्य कृदन्तक्रियारूप समासों के अंत्यों-जैसे केवल विरल रूप से मिलते हैं: यथा—**प्रासकार्मुकबिभ्रत्** भाले और धनुष का धारण करनेवाला, **अशास्त्र-विद्वांस्** ग्रंथों को न जाननेवाला, **अर्जुनदर्शिवांस्** अर्जुन को देखा, **अप्रियख्य-शंसिवांस्** अप्रिय को घोषित करनेवाला, **गौतमब्रुवाणं** अपने को गौतम बतलाते हुए।

१२७४—ति प्रत्यय से बने शब्दों से युक्त समास (सोपसर्ग संयोगों की तरह : ११५७ उ) पूर्वपद पर स्वरपात का वहन करते हैं ।

अ–उदाहरण हैं : धंनसाति धन की प्राप्ति, सोमपीति सोम का पान, देवहूति देवों का आह्वान, नंम उक्ति नम का उच्चारण, हव्यदाति हविष्यों का देना; तथा इसी प्रकार तोकसाति, देवेहिति, रुद्रहूति, सूक्तोक्ति, स्वगाकृति, दिविष्टि ।

आ–नेमधिति मेधसाति, वनधिति, (ऋ० वे०) में पूर्वपद का उदात्त स्वर उपधा से अंत्य पर परिवर्तित कर दिया जाता है ।

इ–जहाँ प्रत्ययान्त शब्द का धातुज स्वरूप नष्ट हो जाता है, अंत्योदात्त का सामान्य नियम (१२६७) चरितार्थ होता हैं : यथा—देवहेतिं देवताओं का शस्त्र, देवसुमतिं देवताओं का अनुग्रह, ब्रह्मचितिं ब्रह्मन्-राशि । साथ ही सर्वज्यानिं सर्वनाश में साधारण संज्ञाओं से युक्त समासों वाला स्वरपात प्राप्त है ।

१२७५—उत्तरपद के रूप में इन् अंतवाले शब्द से युक्त समास जैसा कि अन्य (सभी स्थितियों में) इन् पर उदात्त स्वर का वहन करते हैं ।

अ–यथा—उक्थशंसिंन् स्तोत्रों का गान करनेवाला, व्रतचारिंन् व्रत करनेवाला, ऋषभदायिंन् बैल देनेवाला, सत्यवादिंन् सत्य बोलनेवाला, श्रेणिप्रतोदिंन जाँघ कुचलनेवाला ।

१२७६—इ प्रत्यय वाले शब्दों से युक्त समासों का एक वर्ग है जहाँ स्वरपात उपधा या धातुमूलक अक्षर पर होता है ।

अ–इस प्रकार–पथिरक्षि मार्गरक्षक, हविर्मथि यज्ञ-ध्वंसक, आत्मदूषि आत्महानि करनेवाला, पथिषदि रास्ते में बैठनेवाला, सहोभरि शक्तिधारण करनेवाला, वसुवनि सम्पत्तियों को जीतने वाला, धनसनि धन पानेवाला, मनोमुषि मन को चुराने वाला, फलग्रहि फल धारण करनेवाला; तथा साभ्यास धातु से, उरुचक्रि । सनि और-वनि के साथ समास विशेषरूप से वेद और ब्राह्मण में बहुत मिलते हैं; स्वतंत्र-शब्दों, संज्ञाओं की तरह वे उदात्तयुक्त संनि और वंनि हैं । अनेक अवस्थाओं में शब्द स्वतंत्र-प्रयोग में प्राप्त नहीं हैं । पूर्वसर्गों के साथ संयोग इतनी पर्याप्त संख्या में नहीं मिलते हैं जिनसे पृथक् नियम स्थापित हो सके, किंतु इनमें सर्वाधिक समय स्वरपात प्रत्यय पर (११५५ ऊ) देखा जाता है ।

आ—समास में √ (हन्)-घ्नि और–घ्नी बनाये जाते हैं, जहां स्वरपात प्रत्यय पर होता है : यथा—सहस्रघ्नि अहिघ्नी इवघ्नी; √ (धा) (११५५

ए.) से धि अपने कतिपय समासों में स्वरपात का वहन करते हैं : यथा इषुधिं, गर्भधिं, पुच्छधिं।

१२७७—**वन्** प्रयत्य अंतवाले शब्दों से युक्त समास (उपसर्गों के साथ संयोगों की तरह : ११६९ इ) उत्तरपद के स्वरपात का वहन करते हैं : अर्थात् धातुमूलक अक्षर पर।

अ—अर्थात् **सोमपावन्** सोम-पीने वाला, **वलदावन्** वल देनेवाला **पापकृत्वन्** पाप करने वाला, **वहुसूवन्** वहुत देने वाला, **तल्पशीवन्** पलंग पर सोनेवाला, **रथयावन्** रथ पर जाने वाला, **द्रुषदन्** वृक्ष पर वैठने वाला, **अग्रेत्वरी** स्त्री० आगे जानेवाली। **मातरिश्वन्** और **मातरिभ्वन्** संदिग्ध शब्दों का स्वरपात नियमविरुद्ध हैं।

आ—अंत्य **मन्** से युक्त कुछ समासों में उसी नियम की प्राप्ति मालूम होती है जो **वन्** से युक्त समासों में : यथा—**स्वादुक्षद्मन्** मिठाइयों को वाँटता हुआ, **आशुहेमन्** अश्व प्रोत्साहन।

१२७८—अन्य प्रत्ययान्त शब्दों से युक्त समास,–विरल अथवा विकीर्ण प्रयोग वाले, संक्षेप में निर्दिष्ट किये जा सकते हैं : यथा—इ-अंन्तवाले, **राष्ट्रदिप्सु**, **देवपायु**, **गोविन्दु**, **वनगु** (?) : तुलनीय ११७८ उ;—**नु** या **त्नु** अंतवाले; **लोककृत्नु**, **सुरूपकृत्नु** : तुलनीय ११९६;—**तृ** अन्तवाले, **नृपातृ**, **मान्धातृ**, **हस्कर्तृ**, (**वसुधातरस्** , अ० वे०, निस्संदेह भ्रामक पाठ है)। **अस्** प्रत्यय अंतवाले शब्द समास में (जैसा कि उपसर्गों के साथ संयोग में : ऊपर, ११५१ क) कम प्रयुक्त हैं, तथा साधारण संज्ञाओं की तरह गृहीत-जैसे मालूम होते हैं : यथा, **यज्ञवर्चस्** (किंतु **हिरण्यतेजस्** , अ० वे०)।

२—वर्णनात्मक समास

१२७९—निर्धारक-वर्ग के इस विभाग में पूर्वपद किसी स्पष्ट विभक्तिरूप के संवंध के विना उत्तरपद के साथ रहता है, किंतु विशेषण अथवा क्रियाविशेषण के रूप से उसकी विशेषता वतलाता है, जिस प्रकार वह (उत्तरपद) संज्ञा अथवा विशेषण है।

अ—उदाहरण हैं : **नीलोत्पल** नीला कमल, **सर्वगुण** सब सद्गुण, **प्रियसख** प्रियमित्र, **महर्षि** महर्षि, **रजतपात्र** चाँदी का कटोरा, **अज्ञात** अविदित, **सुकृत** अच्छी तरह से किया हुआ, **दुष्कृत** वुरा काम, **पुरुष्टुत** अधिक प्रशंसित, **पुनर्णव** फिर से नवीन किया गया।

आ—पूर्वपद संज्ञा के पहले नित्य विशेषण नहीं होता है, और न तो विशेषण के पहले सब समय क्रियाविशेषण; अन्य शब्दभेद उस स्थान में विशेषण अथवा क्रियाविशेषण की तरह कभी-कभी प्रयुक्त होते हैं।

इ—वर्णनात्मक और आश्रित समासों के बीच की सीमा नियत नहीं हैं; कुछ स्थितियों में यह संदेहास्पद है, उदाहरणस्वरूप, कि पूर्ववर्ती संज्ञा या विशेष्यार्थ वाला विशेषण विभक्ति-संबंध के साथ अधिक प्रयुक्त है या क्रियाविशेषण की तरह।

ई—पुनः, जहाँ अंत्य पद में ऐसा प्रत्ययान्त शब्द है जो संज्ञा और विशेषण दोनों के अर्थ का वहन करता है, यह अधिक समय संदिग्ध हो जाता है कि विशेषण समास को अंत्य विशेषण के साथ बना वर्णनात्मक समास माना जाय, अथवा अंत्य संज्ञा के साथ बना स्वामित्वबोधक समास। कभी-कभी शब्द का स्वरपात इस प्रसंग में उसके स्वरूप को निर्धारित करता है, किंतु नित्य रूप से नहीं।

उ—वर्णनात्मक समासों का संतोषजनक सहज और स्पष्ट वर्गीकरण संभव नहीं है। हम संज्ञार्थ तथा विशेषणार्थ के समासों को सर्वत्र एक-दूसरे से पृथक् नहीं रख सकते हैं, अपितु इन्हें एक साथ वर्गीकृत करना अधिक संगत होगा, क्योंकि ये विभिन्न प्रकारों के पूर्वाश्लिष्ट रूपों के साथ युक्त देखे जाते हैं।

१२८०—सर्वाधिक सरल स्थिति वह होती है जहाँ अंत्य पद के रूप में संज्ञा के पूर्व गुणबोधक विशेषण पूर्वपद-जैसा आता है।

अ—इस प्रकार के संयोग संज्ञा और विशेषण दोनों किसी प्रकार के, धातुज अथवा अन्य किसी प्रकार के, हो सकते हैं। स्वरपात (जैसा कि आश्रित संज्ञा समासों के तद्रूपी वर्ग में १२६७) अंत्य अक्षर पर होता है।

आ—यथा—अज्ञातयक्ष्मं अज्ञात रोग, महाधनं बड़ी संपत्ति, क्षिप्रश्येनं तेज बाज, कृष्णशकुनिं काला पक्षी, दक्षिणाग्निं दक्षिणवाली आग, उरुक्षितिं विस्तीर्ण निवास, अधरहनूं नीचेवाला जबड़ा, इतरजनं दूसरे लोग, सर्वात्मंन् समग्र आत्मा, एकवीरं अद्वितीय वीर, सप्तर्षिं सप्तर्षि, तृतीयसवनं तीसरा सोमनिष्कासन, एकोनविंशतिं एक कम बीस, जाग्रत्स्वप्नं जागरणशील निद्रा, यावयत्सखं रक्षा करने वाला मित्र, अपक्षीयमाणपक्षं क्षीयमाण अर्ध।

इ—स्वरपात के प्रसंग में कम अपवाद नहीं होते हैं। विशेषतः, अपने स्वरपात की रक्षा करने वाले, विश्व से युक्त समास (रचना में, उदात्तयुक्त विश्वं): यथा—विश्वंदेवास सबके-सब देवता; विश्वंमानुष प्रत्येक आदमी। ति अंतवाले शब्दों के लिए, देखिए नीचे, १२८७ ई। विकीर्ण उदा-

हरण **मध्यंदिन** और **वृषाकपि** हैं जिनके दोनों पूर्वपद में स्वराघात का विचलन प्रस्तुत करते हैं; तथा अन्य कुछ उदाहरण।

ई—कुछ स्थितियों में पूर्वपद विशेषण की बजाय समानाधिकरण की तरह अथवा अर्ध-विशेषणार्थ के साथ प्रयुक्त संज्ञाशब्द होता है : **राजयक्ष्म** राजरोग, **ब्रह्मर्षि** ब्राह्मण-ऋषि, **राजर्षि** राजर्षि, **राजदन्त** वह दाँत जो सब दांतों का राजा है, **देवजन** देवलोग, **दुहितृजन** पुत्रीजन, **शमीलता** शमी नामवाली लता, **मुषिकाख्या** नाम 'मुषिक' **जयशब्द** जयशब्द, **उज्झितशब्द** उज्झित शब्द; अथवा अपेक्षाकृत अधिक उपलक्षण के साथ **गृहनरक** गृह-नरक (घर जो नरक है); **शापाग्नि** शापानल (जलाने वाला शाप)।

उ—यह वर्ग इसलिए महत्वपूर्ण है कि यह संबंधबोधक समासों में खूब विस्तारित है, तथा समानाधिकरण समासों के एक बहुसंख्य वर्ग का निर्माण करता है, द्रष्टव्य नीचे, १३०२।

ऊ—यह संपूर्ण उप-विभाग, पूर्ववर्ती गुणबोधक विशेषणों के साथ संज्ञा शब्दों का, असाधारण नहीं होता है; क्योंकि पुनरावर्तन की दृष्टि से समान रूपवाले संबंधबोधकों का उपवर्ग इससे बहुत आगे (उदाहरणार्थ, अ० वे० में पाँच गुने से अधिक) होता है : द्रष्टव्य नीचे, १२९८।

१२८१—क्रिया विशेषण-रूप जो अत्यधिक स्वतंत्र और सामान्य ढंग से उत्तरपद की विशेषता द्योतित करने के लिए समासों के पूर्वपदों के रूप में प्रयुक्त होते हैं, उपसर्ग और उनसे संबद्ध दिशावाची शब्द तथा अवियोज्य पूर्व-प्रत्यय यथा **अ** या **अन्**, **सु**, **दुस्** प्रभृति (११२१) हैं। ये केवल विशेषणों के साथ युक्त नहीं किये जाते हैं, अपितु अर्ध-विशेषणार्थ रखने वाली संज्ञाओं के साथ भी; परिणामस्वरूप संयोगों के इन दोनों वर्गों को एक साथ निरूपित करना समीचीन होगा।

१२८२—**पूर्ववर्ती अव्ययों के साथ धातुज विशेषण और संज्ञाशब्द।** इस शीर्षक के अंतर्गत सर्वाधिक विशाल और महत्वपूर्ण वर्ग के रूप में वस्तुतः पूर्ववर्ती उपसर्गों के साथ व्युत्पन्न शब्द रखे जा सकते हैं। किंतु ये यहाँ सोपसर्ग धातुओं से निष्पन्न प्रत्ययांत शब्दों के रूप में गृहीत हुए हैं (११४१), तथा पूर्ववर्ती अध्याय में प्रत्यय-विधान के अंतर्गत विवेचित हो चुके हैं। दूसरों को प्रस्तुत करने के लिए हम कृदन्तक्रियारूपों से आरंभ करेंगे।

१२८३—काल-प्रक्रियाओं से संबद्ध कृदन्तक्रियारूप—**अन्त्** (या **अत्**), **मान**, **आन**, **वांस्** अंतवाले—**अ** या **अन्** निषेधार्थक से भिन्न अन्य किसी क्रिया

विशेषणात्मक प्रकृत्यंश के साथ शायद ही युक्त होते हैं, जो प्रकृत्यंश तब उदात्त हो जाता है।

अ—उदाहरण हैं: अनदन्त्, अददत्, अनश्नन्त्, अस्रवन्त्, अलुभ्यन्त्, अदास्यन्त् अदित्सन्त्, अदेवयन्त्; अमन्यमान, अहिंसान, अछिद्यमान, अददिवांस, अविभीवांस् अतस्थान; तथा उपसर्गों के साथ, अनपस्फुरन्त्, अनागमिष्यन्त्, अनभ्यागमिष्यन्त्, अविराधयन्त्, अविचाचलत्, अप्रतिमन्यूयमान।

आ—स्वरपात को लेकर अपवाद बहुत कम होते हैं अरुन्धती; अजरन्ती; अचोदन्त् (ऋ० वे०, एक बार: निस्संदेह भ्रामक पाठ; सरल कृदन्तक्रियारूप चोदन्त); अ० वे० में ऋ० वे० अनिपद्यमान के लिए अनिपद्यमान प्राप्त है (तथा प्रकाशित ग्रंथ में असंयन्त् है, हस्तलेखों के एक अंश के साथ); श० ब्रा० में अकामयमान है।

इ—निषेधार्थक पूर्वप्रत्यय से युक्त समासों से भिन्न दूसरे समासों के—पुनर्दीयमान (अपुनर् में) और सुविद्वांस् वेद में मिलते हैं। अस्तंयन्त् और अस्तमेष्यन्त् अ० वे० की तरह अललाभवन्त् और जञ्जनाभवन्त् (ऋ० वे०) में हमें यौगिक क्रियारूपवाले कृदन्तक्रियारूप (१०९१) प्राप्त हैं जिनमें, जैसा कि हम निर्दिष्ट कर चुके हैं, स्वरपात उपसर्गों के साथ संयोगों में प्राप्त की तरह है।

१२८४—त या न अंतवाले कर्मवाच्य (या भूतकालिक) कृदन्तक्रियारूप अत्यधिक विभिन्न रूप से समस्त किये जाते हैं; तथा सामान्यतः (जैसा कि उपसर्गों की स्थिति में: १०८५ अ) पूर्ववर्ती क्रियाविशेषणरूप अंश स्वरपात का वहन करता है।

अ—इस प्रकार, निषेधार्थक अ या अन् (बहुत-कुछ सर्वाधिक साधारण स्थिति) के साथ: अकृत; अदब्ध; अरिष्ट; अनाधृष्ट; अपराजित; असंख्यात; अनभ्यारूढ; अपरिमितसमृद्ध;—सु के साथ, सुजात; सुहुत, सुसंशित, स्वरंकृत;—दुस् के साथ, दुश्चरित; दुर्धित, और दुर्हित, दुःशत;—अन्य क्रियाविशेषणरूप शब्दों के साथ, दंसुजूत, नवजात, सनश्रुत, स्वयंकृत, त्रिप्रतिष्ठित, अरंकृत और ककजाकृत वस्तुतः यौगिक क्रियारूप के कृदन्तक्रियारूप होते हैं।

आ—स्वरपात के संबंध में अपवाद हैं; अ या अन् के साथ, अनाशस्त, अप्रशस्त, तथा धातु पर कृदन्तक्रियारूप के स्वरपात के निर्वतित होने से, अमृत, अदृष्ट, अचित्त, अयुत दससहस्र, अतूर्त (साथ ही, अतूर्त),

असूर्त (? साथ ही, सूर्त);—सु के साथ (नियमित प्रयोगों की लगभग आधी संख्या वाले) सुभूतं, सूक्तं, सुप्रशस्तं; स्वाक्त, सुकृतं और सुजातं (साथ ही, सुकृत और सुजात), तथा कुछ दूसरे; दुस् के साथ (उतने ही, जितने नियमित प्रयोग) दुरितं (दुरित भी), दुरुक्तं, दुष्कृतं (दुष्कृत भी), दुर्भूतं; स के साथ, सजातं; दूसरे क्रियाविशेषणों के साथ, अमोतं, अरिष्टुतं, तुविजातं, प्राचीनोपवीतं, तदानींदुग्धं, प्रातर्दुग्धं, इत्यादि तथा पुरु के साथ समास, पुरुजातं, पुरुप्रजातं, पुरुप्रशस्तं, पुरुष्टुतं, इत्यादि, पुनः स्वयम् के साथ स्वयंकृतं इत्यादि। व्यक्तिवाचक नाम अषाढं अंषाढ के साथ प्राप्त हैं; तथा अ० वे० में ऋ० वे० अंभिन्न के लिए अभिन्नं मिला है।

१२८५—भविष्यकालिक कृदन्तरूप प्रायः केवल निषेधार्थक पूर्वप्रत्यय के संयोग में ही उपलब्ध होते हैं, और सामान्यतः अंत्य अक्षर पर स्वरपात रखते हैं।

अ—उदाहरण हैं: अनाप्यं, अनिन्द्यं, अबुध्यं, असह्यं, अयोध्यं, अमोक्यं; अद्विषेण्यं; अह्ववाय्यं तथा उपसर्गों के साथ-साथ प्रयोग हैं असंख्येयं, अप्रमृष्यं, अनपवृज्यं, अनत्युद्यं, अनाधृष्यं, अविमोक्यं, अनानुकृत्यं (सरल शब्द का स्वरपात संख्येय प्रभृति है)।

आ—स्वरपात के संबंध में अपवाद हैं: अनेद्य, अदाभ्य, अगोह्य, अजोष्य, अयभ्य। अनवधर्ष्यं और अनतिव्याध्यं (दोनों अ० वे०) दो भविष्यकालिक कृदन्तरूपों के यं-विभागवाले रूप (१२१३ आ) होते हैं, तथा इन्होंने सरल शब्द के स्वरपात रखा है। पुनः अंघ्न्य अघ्न्य एक साथ मिलते हैं।

इ—अन्य क्रियाविशेषण अंशों के साथ इन शब्दों के समास वेद में केवल सुयभ्य (अपने यमज रूप अयभ्य की तरह उदात्तयुक्त) और प्रथमवास्यं (जो अंत्य स्वरित बनाये रखता है), तथा संभवतः एकवाद्यं हैं।

ई—इस रूप की नपुंसक संज्ञाएँ (१२१३ इ; सधस्तुत्य को छोड़कर) अपने ही स्वरपात को क्रियाविशेषणरूप-पूर्वपद के बाद रखती हैं। यथा—पूर्वपाय्य, पूर्वपेय, अमुत्रभूय; तथा सहशेय्य। पुनः निषेधीभूत भविष्यकालिक कृदन्तरूप, जो ऊपर उदाहृत हैं, इस प्रकार की संज्ञाओं से युक्त संबंधक समासों की तरह माने जा सकते हैं।

उ—अन्य धातुज शब्दों में से कुछ, जिनके स्वरपात आदि विषयक स्वतंत्र नियम होते हैं, अब निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

१२८९—धातु-प्रातिपदिक (शुद्ध धातु अथवा अंत्य ह्रस्व स्वर के बाद युक्त त् के साथ : ११४७ ई) अधिक समय विभिन्न प्रकारों के पूर्ववर्ती क्रिया-विशेषण शब्द के साथ संयुक्त किया जाता है; तथा संयोग में यह स्वरपात को सुरक्षित रखता है।

अ—उदाहरण हैं : अवियोज्य पूर्वप्रत्ययों के साथ, अद्रुह् पीड़ा न पहुँचाने वाला, असू जन्म न देने वाचा, अरुच् प्रकाश न करने वाला; सुकृत् सत्कार्य,। सुश्रुत् अच्छी तरह सुनने वाला; दुष्कृत् बुरा काम, दूडाश (१९९ ई) अपवित्र; सयुज् एक साथ जोड़ने वाला, समुद् संघर्ष; सहजा एक साथ उत्पन्न, सहवह् एक साथ ले जाने वाला;—अन्य क्रियाविशेषणों के साथ, अमाजुर् अपने यहाँ वृद्ध होने वाला, उपरिस्पृश् ऊपर छूने वाला, पुनर्भू :पुनहोने वाला, प्रातर्युज् सवेरे प्रस्तुत किया गया, सद्यःक्री उसी दिन खरीद हुआ, साकंवृध् एक साथ बढ़नेवाला, सदंदि सतत बाध्य, विषूवृत् दोनों ओर मुड़नेवाला, वृथासह् सहज परास्त करनेवाला;—क्रियाविशेषणवत् प्रयुक्त विशेपणों के साथ, उरुव्यंच् विस्तार से फैलनेवाला, प्रथमजा पहले उत्पन्न, रघुष्यद् तीव्रगामी, नवसू नवीन जन्म देनेवाली, एकज एक बार जनमा हुआ, शुक्रपिश् समुज्ज्वल रूप से अलंकृत, द्विज दो बार जन्म लेनेवाला, त्रिवृत् तिगुना, स्वराज् स्वतः शासन करना; क्रियाविशेपणवत् संज्ञाओं के साथ शम्भू कल्याणकारी, सूर्यश्वित् सूर्य की तरह चमकने वाला, ईशानकृत् प्रभु की तरह आचरण करनेवाला, स्वयम्भू स्वतः होनेवाला; तथा द्वितीया विभक्तिरूप के साथ, पतंग उड़ते हुए जानेवाला।

आ—किंतु जब धातु-प्रातिपदिक पहले से संयुक्त रहता है, चाहे उपसर्ग के साथ अथवा अन्य स्वरूपवाले अवयव के साथ, विशेपरूप से युक्त निपेधार्थक ही स्वरपात का ग्रहण करता है (जिस प्रकार साधारण-विशेपण की अवस्था में, नीचे १२८६ अ) : इस प्रकार, उदाहरणार्थ, अनाक्षित् न रहने वाला, अनावृत् न मुड़नेवाला, अविद्विप् द्वेप न करनेवाला, अदुष्कृत् बुराई न करने वाला, अनश्वदा घोड़ा न देनेवाला, अपशुहन् पशु को न मारनेवाला, (अनागास् एक अपवाद होगा, यदि इसमें √ (गा) रहे, जो कि खूब अस्वाभाविक है)। सु के साथ इसी प्रकार के समास धातुमूलक स्वरपात को बनाये मालूम होते हैं : यथा—सुप्रतुर, स्वाभू, स्वायुज्; स्वावृज् असंगत अपवाद है।

इ—कुछ अपवाद अधिकांशतः संदिग्ध स्वरूप वाले, प्राप्त होते हैं, यथा प्रतिपाश, सधस्थ, अध्रिगु, तथा अंत्य पद के रूप में अञ्च् को रखने वाले

शब्द (४०७ मु० वि० : यदि इसको प्रत्यय नहीं माना जाय) : तुलनीय १२६९ अ।

१२८७—अन्य धातुज शब्द, जिनका विवेचन विशेषणों के सामान्य वर्ग से पृथक् करना अपेक्षित है, बहुत कम होते हैं और गौण महत्व वाले हैं। इस प्रकार :

अ—अंतवाले शब्द अधिकांशतः संदिग्ध स्वरूपवाले होते हैं, क्योंकि स्वरमित्व बोधक समास के निर्माण के लिए विशेष्यार्थ के साथ इनके प्रयुक्त होने की संभावना है। सर्वाधिक न्यून संदिग्ध, संभवतः वर्तमान-प्रकृति वाले प्रत्ययान्त रूप हैं (११४८ औ), जिनके प्रत्यय पर स्वरपात रहता है : यथा—असुन्वं, अपश्यं, अक्षुध्यं, अविदस्यं, अनामृणं, सदापृणं, पुनर्मन्यं, तथा इनकी कोटि में ऐसे प्रयोग अतृपं, अवृधं, अरंगमं, उरुक्रमं, एवावदं, सत्रासहं पुनःसरं, पुरःसरं; तथा संज्ञाशब्द सायम्भवं, सहचारं, प्रातःसावं, मिथोयोधं। दूसरी ओर विभिन्न रूप से उदात्तयुक्त, यद्यपि स्पष्टतः इसी रूपनिर्माण के अंतर्गत होने वाले, प्रयोग ये हैं : अंनपस्फुर; अंनह्वर (१२८६ आ में उल्लिखित समास तुलनीय), सदांवृध, सूंभर्व, न्यग्रोंध, पुरोडांश, सधमांद, सुदुंघ, सुपंच, सुहंव, इत्यादि। अदंभ, दुहंण, सुकंर, सुयंम—जैसे शब्द संभवतः स्वामित्वबोधक हैं।

आ—वन् प्रत्ययान्त शब्द सामान्यतया, अंत्यपद के स्वरपात को, धातु पर, (तुलनीय ११६९ इ, १२७७) रखते हैं : यथा आशुपंत्वन् और रघुपंत्वन् तेज उड़नेवाला, पुरोयांवन् आगे जानेवाला, सुकृंत्वन् शोभन-कार्य; तथा सुतमंन और सुवंह्मन तथा रघुयांमन संभवतः इनके साथ वर्गीकृत हो सकते हैं। किंतु इनके पूर्व भी निषेधार्थक पूर्व प्रत्यय स्वरपात का वहन करता है : यथा—अंयज्वन्, अंरावन्, अंप्रयुत्वन्; तथा सत्यंमद्वन् (यदि यह संबंधबोधक न हो) अपने पूर्वपद का उदात्त रखता है।

इ—इ अंतवाले कुछ शब्दों में (जैसा कि आश्रित समासों में १२७६) स्वरपात धातुमूलक अक्षर पर होता है. यथा—दुर्गृंभि, ऋजुवंनि, तुविध्वंनि।

उ—ति प्रत्ययांत शब्दों की प्रक्रिया विभिन्न होती है : इनके पूर्व निषेधार्थक पूर्वसर्ग नित्य स्वरपात रखते हैं : यथा—अंचित्ति, अंभूति, अंनाहूति; सु और दुस् के साथ समास में उदात्त कभी पूर्वप्रत्यय पर और कभी अंत्य पर होता है, तथा कुछ शब्दों में दोनों में से किसी पर (सुंनीति और सुनीतिं,

दुष्टुति और दुष्टुतिं); अन्य अंशों के साथ, पूर्वसर्ग का उदात्त ही प्रबल होता है : यथा—संहुति, सधंस्तुति, पुरोहिति, पूर्वपीति, पूर्व्यस्तुति।

ए—इन् अंतवाले शब्दों में, जैसा कि सामान्यतया प्राप्त है, स्वरपात अंत्य प्रत्यय पर होता है : यथा—पूर्वासिन्, बहुचारिन्, साधुदेविन, सवासिन्, केवलादिन। किंतु निषेधार्थक पूर्वप्रत्यय के साथ, अंनामिन, अंवितारिन्।

ए—अन्य संयोग प्रक्रिया में अत्यधिक विभिन्न होते हैं, अथवा स्वरचिह्नित ग्रंथों में इतने कम उदाहरणों द्वारा इनका प्रतिनिधित्व होता है कि इनको लेकर नियमों का निर्धारण संगत नहीं है।

१२८८—अवशिष्ट संयोगों में से जो अवियोज्य पूर्वप्रत्ययों के साथ बने होते हैं, वे कुछ अंशों में स्वतः वर्ग का निर्माण करते हैं।

(१) अ—निषेधार्थक पूर्वप्रत्यय **अ** या **अन्**, जब यह अपने से युक्त शब्द को सीधे निषेधीभूत बनाता है, स्वरपात ग्रहण की सुनिश्चित प्रवृत्ति रखता है।

आ—ऊपर (१२८३) हम देख चुके हैं कि वर्तमान और परोक्ष तथा भविष्यकृदन्तरूपों में भी यह ऐसा करता है, यद्यपि उपसर्ग के साथ संयोग में ये कृदन्तरूप अपने स्वरपात को बनाये रखते हैं (१०८५ : किंतु अपवाद होते हैं; यथा—अवदंन्त्, अपश्यंन्त्, इत्यादि श० ब्रा०); तथा साथ ही, धातु-प्रातिपदिक की स्थिति में, यदि यह अन्य अंश के साथ पहले से युक्त हो (१२८६ आ)। पुनः यही नियम इसके अन्य संयोगों में लागू होता है।

इ—इस प्रकार, विभिन्न विशेषण शब्दों के साथ : अंतन्द्र, अंदभ्र, अंदाशुरि, अंनृजु, अंदेवयु, अंतृष्णज्, अंतव्यांस्, अंनामिन्, अंद्वयाविन्, अंप्रचेतस्; अंनपत्यवन्त्; अंनुपदस्वन्त्, अंप्रमायुक, अंमत्रि, अंप्रजज्ञि, अंविदीध्यु, अंनग्निदग्ध, अंकामकर्शन, अंपश्चाद्दघ्वन्। पुनः, संज्ञा-शब्दों के साथ, अंपति, अंकुमार, अंब्राह्मण, अंविद्या, अंश्रद्धा, अंव्रात्य।

ई—किंतु कतिपय अपवाद होते हैं जहाँ स्वरपात अंत्य अक्षर पर है, अंत्य पद के मौलिक स्वरपात से निरपेक्ष यह होता है : इस प्रकार, उदाहरणार्थ, अचित्रं, अशीरं, अविप्रं, अयज्ञियं, अनास्माकं, अस्थूरिं, अनाशुं, अजरयुं, अनामयित्नुं; तथा अमित्रं शत्रु और अवीरं न पुरुषोचित में अंत्य पद के अंत्य अक्षर से स्वर का निवर्तन इसकी उपधा पर होता है।

(२) उ—**सु** और **दुस्** में यह प्रवृत्ति अत्यल्प मात्रा में प्राप्त होती है, तथा इनके समास विविध ढंग से उदात्तित होते हैं, कभी पूर्वप्रत्यय पर, कभी अंत्य

अक्षर पर, तो कभी अंत्य पद के उदात्तित अक्षर पर; कभी-कभी दो अक्षरों में से किसी एक पर।

ऊ—इस प्रकार, उदाहरणार्थ, सुभद्र, सुविप्र, सुपक्व, सुब्राह्मण, सुभिषज्; सुतीर्थ, सुवसन, सुपारथि, सुपाश, सुचित्र; सुशेव, सुहोतृ: सवीर अवीर की तरह है;—दुर्मित्र, दुष्वप्न्य; तथा दुच्छुना (१६८ आ) (शुन) के अनियमित निवर्तन के साथ।

(३) ए—स से युक्त समास इतने कम हैं कि इनके पृथक् उल्लेख का अवसर नहीं आता है; तथा प्रश्नवोधक पूर्वसर्ग से युक्त वाले समास अपने विभिन्न रूपों में वेद में अत्यधिक विरल होते हैं : उदाहरण हैं कुचर, कत्पय, कबन्ध, कुनन्नम, कुमार, कुयव, कुपव।

१२८९—उपसर्ग सामान्य क्रियाविशेषणात्मक ढंग से कभी-कभी प्रयुक्त हैं, जो परवर्ती विशेषण अथवा संज्ञा की विशेषता अभिव्यक्त करते हैं।

अ—ऐसे संयोगों के उदाहरण वेद में अनेक नहीं है। इनका स्वरपात विविध होता है, यद्यपि स्वर अत्यधिक समय पूर्वसर्ग पर रहता है। इस प्रकार, अधिपति महाप्रभु, अपरूप विद्रूप, प्रतिशत्रु विरोधी शत्रु, प्रपद पाँव का अगला भाग, प्रणपात् प्रपौत्र, विपक्व एकदम समाप्त, संम्प्रिय एक दूसरे का प्रिय; उपजिह्विका पार्श्व जिह्वा (जिह्वा के उदात्त के निवर्तन के साथ); अन्तर्देश मध्यवर्ती दिशा, प्रदिव ऊपरवाला स्वर्ग; प्रपितामह (प्रपितामह भी) प्रपितामह, प्रतिजन विरोधी, व्यध्व मध्यमार्ग। ये समास संबंधार्थ के साथ अपेक्षाकृत अधिक निरंतरित ढंग से प्राप्त है (नीचे, १३०५)।

आ—उपसर्गों का प्रयोग उत्तरकाल में आकर अधिक सामान्य हो जाता है, तथा इनमें से कुछ ऐसे समासों में नियत अर्थ का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार, अति अतिशय को अभिव्यक्त करता है, यथा अतिदूर खूब दूर, अतिभय अतिशय भय, अतिपूरुष (श० ब्रा०) प्रधान पुरुष; अधि श्रेष्ठता का द्योतक होता है, यथा अधिदन्त ऊपरवाला दाँत, अधिस्त्री, प्रधान स्त्री; अभि पौनः-पुन्यबोधक, यथा अभिनम्र खूब विनीत, अभिनव बहुत नवीन, अभिरुचिर रमणीय; आ ईषदर्थक, यथा आकुटिल थोड़ा-बहुत टेढ़ा, आनील किञ्चित् नील उप किसी उपसाधन या गौण भाव को व्यक्त करता है, यथा उपपुराण विशेष पुराण; परि अतिशयार्थक होता है, यथा परिदुर्बल बहुत कमजोर; प्रति वैपरीत्यार्थक है, यथा प्रतिपक्ष विरुद्ध पक्ष, प्रतिपुस्तक प्रतिलेख; वि अंतर अथवा अतिशय के भाव को सूचित करता है, यथा विदूर अत्यंत दूर, विपाण्डु

धूसर, **विक्षुद्र** क्रमशः कम; **सम्** पूर्णता को द्योतित करता है, यथा **सम्पक्व** अच्छी तरह पका हुआ।

१२९०—क्रियाविशेषणरूप पूर्वपदों से युक्त अन्य समास सर्वथा अनियमित ढंग से उदात्तित होते हैं।

इस प्रकार, **पुरु** के साथ समास अंत्य पर (**पुरु** से युक्त कृदन्तक्रियारूप तुलनीय, १२८४ आ): यथा **पुरुदस्यं**; **पुरुप्रियं**, **पुरुश्चन्द्रं**; **पुंनर्** के साथ वाले पूर्वपद पर, यथा—**पुंनर्णव**, **पुंनर्मघ**, **पुंनर्युवन्**, **पुंनर्वसु** (किंतु **पुनःसरं** इत्यादि); **सतंस्**, **सतोनं**, **सत्यं** के साथ वाले तथाविध, यथा—**सतोमहन्त्**, **सतीनंमन्यु**, **सत्यंमुग्र**; पूर्वप्रत्ययों के सजातीय क्रियाविशेषणों के साथ **तृ** और **अन्** अंतवाली संज्ञाओं के कुछ संयोग अंत्य अक्षर पर, यथा—**पुरएतृं**, **पुरः-स्थातृं**, **उपरिशयनं**, **प्रातःसवनं**; तथा विविध स्थितियाँ हैं **मिथोंअवद्यप**, **हरिश्चन्द्र**, **अलपशयु**, **साध्वर्य**, **याच्छ्रेष्ठं** और **यावच्छ्रेष्ठ**, **ज्योगाम-याविन्**।

१२९१—एक या दो अपवादस्वरूप स्थितियाँ यों उल्लिखित की जा सकती हैं :

अ—विशेषण के पूर्व कभी-कभी संज्ञा आती है जो इसके साथ तुलना अथवा सादृश्य को अभिव्यक्त करनेवाले अर्धक्रियाविशेषणात्मक संबंध के साथ स्थान ग्रहण करती है : उदाहरणार्थ, **शुकबभ्रु** (वा० सं०) सुग्गे की तरह भूरा, **ऊर्णातमृदु** (तै० ब्रा०) ऊन की तरह कोमल, **प्राणप्रिय** प्राण-जैसा प्रिय, **कुशेशयरजोमृदु** कमल के पराग के समान कोमल, **बकालीन** बगुले की तरह छिपा हुआ, **मत्तमातङ्गगामिन्** मतवाले हाथी की तरह चलने वाला।

आ—यदा-कदा एक विशेषण की विशेषता दूसरे विशेषण द्वारा व्यक्त होती है : उदाहरणार्थ, **कृष्णेत** कृष्ण-धूसर, **धूम्ररोहित** धूसरित लाल; तथा तुलनीय मध्यवर्ती दिशावाची विशेषण, १२५७ इ।

इ—उत्तरकालिक भाषा में विशेषण **पूर्व** समास के उत्तरपद के रूप में बहुधा प्रयुक्त होता है जहाँ इसका वाक्यार्थ अन्य पद की विशेषता बतलाने वाले क्रियाविशेषण का होता है (जिस अन्यपद में अपने स्वरपात का रक्षण माना जाता है)। इस प्रकार **दृष्टपूर्व** पहले देखा हुआ, **परिणीतपूर्व** पहले से विवा-हित, **अपरिज्ञातपूर्व** पहले अज्ञात, **सोमपीतपूर्व** प्रथमतः सोम पान किया हुआ, **स्त्रीपूर्व** प्रथमतः स्त्री।

३—गौण विशेषणसमास

१२९२—अ-अपने उत्तरपद के रूप में संज्ञा-शब्द से युक्त समास अधिक

समय गौण रूप से विशेषण का अर्थ प्राप्त कर लेता है; जिस संज्ञा की विशेषता यह बतलाता है, उसके अनुरूप होने के लिए इसका रूप तीनों लिंगों में चलता है, और यह विशेषण की सभी रचनाओं से प्रयुक्त होता है।

अ—जैसा कि ऊपर (१२४७–३) उल्लिखित हो चुका है, समासों का यह वर्ग दो विभागों में बँट जाता है, (१) स्वामित्वबोधक समास; जहाँ स्वामित्व के योग से इनमें इनके विशेषणरूप प्राप्त होता; तथा (२) वे समास, जिनमें उत्तरपद वाक्यार्थ की दृष्टि से पूर्वपद का आश्रित अथवा उसका विशेष्यरूप होता है।

१—स्वामित्वबोधक समास

१२९३—स्वामित्वबोधक पूर्ववर्ती वर्ग—निर्धारकों—के, उसके सभी उपविभागों के संज्ञा-समास हैं जिनमें विशेषणरूपप्रक्रिया विहित है, और जो इस प्रकार के विशेषणार्थ का ग्रहण करते हैं, जिसका लक्षण सर्वाधिक सहज और स्पष्ट रूप से निर्धारक के अर्थ में 'वाला' अथवा 'रखने वाला' जोड़ देने से प्राप्त है।

अ—इस प्रकार, आश्रित समास **सूर्यतेजस्** सूर्य का तेज **सूर्यतेजस्** सूर्य के तेजवाला स्वामित्वबोधक बन जाता है; **यज्ञकाम** यज्ञ की इच्छा **यज्ञकाम** यज्ञ की इच्छा वाला होता है। वर्णनात्मक **बृहद्रथ** बड़ा रथ, स्वामित्वबोधक **बृहद्रथ** बड़े रथ वाला हो जाता है; **अहस्त** हाथ नहीं, **अहस्त** विना हाथ वाला, होता है; **दुर्गन्धि** बुरी गंध **दुर्गन्धि** बुरी गंध वाला हो जाता है, इत्यादि।

आ—द्वन्द्व समास विशेषण में सीधे परिवर्तित नहीं हो सकता है, सरल संज्ञा से किसी प्रकार अधिक विशिष्ट नहीं है किंतु उसकी तरह इसमें स्वामित्वबोधक अंत्य प्रत्यय अथवा अन्य साधन अपेक्षित हैं: उदाहरणार्थ, **वाग्घस्तवन्त**, **दोषगुणिन्**, **रजस्तमस्क**, **अशिरोग्रीव**, **अनृग्यजुस**। किंतु अत्यल्प संख्या में अपवाद पाये जाते हैं: यथा—**सोमेन्द्र** (तै० सं०) **स्तोमपृष्ठ** (वा० सं०, तै० सं०), **हस्त्यृषभ** (श० ब्रा०), **दासीनिष्क** (छन्द० उप०), तथा उत्तरकाल में **चक्रमुसल**, **सदानन्द**, **सच्चिदानन्द**, **साङ्ख्ययोग** (व्यक्तिनाम के-जैसा), **बलाबल**, **भूतभौतिक**।

इ—स्वामित्वबोधक समासों को देशी वैयाकरणों द्वारा **बहुव्रीहि** की संज्ञा दी गयी है; यह शब्द इस वर्ग का उदाहरण है जिसका अर्थ होता है अधिक चावल वाला।

ई—स्वामित्वबोधक के स्थान में संबंधबोधक नाम जो इस वर्ग के लिए कभी-कभी प्रयुक्त होता है, सर्वथा भ्रामक है, क्योंकि यद्यपि ऐसे समास का अर्थ

(जैसा कि विशेषण का) संबंध रूप में सहज ढाल दिया जाता है, इसका प्रमुख लक्षण स्वामित्वबोधक भाव होता है जो साथ-साथ युक्त किया जाता है अथवा स्वामित्वबोधक की षष्ठी-विभक्ति, जिसका प्रयोग वांछनीय है : इस प्रकार **महाकवि** और **आयुर्दा**, वर्णनात्मक और आश्रित 'संबंधबोधक' भी होते हैं, **जो महान् कवि** है, और **वह आयु देनेवाला** है, किंतु **बृहद्रथ** स्वामित्व-बोधक का अर्थ होता है, जिसके बड़ा रथ है, अथवा **जिसका एक बड़ा रथ है**।

१२९४—अ–संज्ञा, सरल अथवा संयुक्त, समानाधिकरण के रूप में वस्तुतः विशेषणार्थ के साथ दूसरी संज्ञा में युक्त होती है, तथा ऐसी संज्ञाएँ निरंतर संसर्ग और प्रयोग द्वारा विशेषण-रूप यदा-कदा हो जाँय, ऐसी स्थिति बिलकुल सहज है, और यह अनेक भाषाओं में प्राप्त होती है; संस्कृत-रूपनिर्माण का वैशिष्ट्य दो तत्वों में निहित है। प्रथम, ऐसा प्रयोग सामासिक पदों की अवस्था में पूर्णरूप से नियमित और अनिश्चित रूप से वितान्य हो गया है, जिससे नामिक अंत्यवाला कोई समास परिवर्तन के विना ही विशेषण में परिणत हो सकता है, जब कि सरल संज्ञा में इसके विशेषण प्रयोग के लिए विशेषण बनानेवाले प्रत्ययों का योग आवश्यक है : उदाहरणार्थ, **हस्त** से **हस्तिन्** होना अनिवार्य है तथा **बाहु** से **बाहुमन्त्**; किंतु **हिरण्यहस्त** और **महाबाहु** संज्ञा से विशेषणार्थ में विना किसी समासान्त के परिवर्तित होते हैं। पुनः द्वितीय, समास के साथ विशेष्य-संज्ञा का संबंध सामान्यतया स्वामित्व का हो जाता है, न कि सादृश्य, अथवा उपांगत्व अथवा अन्य किसी संबंध का, जो ऐसी रचना में सहज प्राप्त है : फलतः उदाहरणस्वरूप, हम केवल **महाबाहुः पुरुषः** बड़ी भुजाओंवाला पुरुष कह सकते हैं, न कि **महाबाहुर्मणिः** बड़ी भुजा के लिए, अथवा **महाबाहवः शाखाः** बड़ी भुजाओं की तरह डालें।

१२९५—तथापि प्राचीनतर भाषा में कुछ प्रत्ययान्त विशेषण-समास प्राप्त हैं जो स्वामित्व की बजाय उपांगत्व के संबंध को सूचित करते हैं, और संभवतः स्वामित्वबोधक के रूप में सामान्य वर्ग के विशेषीकरण की पूर्ववर्ती वस्तुस्थिति के अवशिष्ट-जैसे माने जा सकते हैं (स्वामित्वबोधक प्रत्ययों के अन्तर्गत समान अपवादों की तुलना कीजिए : १२३० ए, १२३३ ऊ), उदाहरण हैं : **विश्वानर** सभी मनुष्यों के लिए अथवा के, सबों से संवद्ध (तथा इसी प्रकार **विश्वकृष्टि, चर्षणि, - क्षिति, - गोत्र, - मनुस् , - आयु** तथा **सर्वपशु, सप्तमानुष**), **विश्वशारद** प्रत्येक शरदऋतु, **विपथ** बुरे मार्ग के लिए, **द्विराज** दो राजाओं का (संग्राम), **अश्वपृष्ठ** घोड़े की पीठ पर ढोया हुआ, **वीरपस्त्य** वीरों के

साथ रहता हुआ, **पूर्णमास** पूर्णिमा में, **अदेवक** विना देवत्व के, **बहुदेवत** या **त्यं** अनेक देवताओं के लिए, **अपरिसंवत्सर** पूरे एक वर्ष तक न ठहरने वाला, **एकादशकपाल** ग्यारह पात्रों के लिए, **सोमेन्द्र** सोम और इन्द्र के लिए। पुनः १२९६ आ में निर्दिष्ट **अन** अंतवाले उत्तरपद से युक्त समास संभवतः इसी स्वरूपवाले होते हैं। साथ ही उत्तरकालिक भाषा में तथाकथित **द्विगु** समासों (१३१२) में से कुछ इनमें आते हैं : इस प्रकार, स्वतः **द्विगु**, जिसका अर्थ होता है दो गायों के वरावर, **द्विनौ** दो नावों से खरीदा हुआ; साथ ही **देवासुर** (संग्राम) देवों और दानवों का, **नरहय** पुरुप और घोड़े का, **चक्रमुसल** चक्र और गदा के साथ, **गुरुतल्प** गुरु को शय्या को दूपित करता हुआ।

१२९६—स्वामित्ववोधक समास सामान्यतया स्वरपात भेद की दृष्टि से अपने एकरूप निर्धारक से भिन्न होता है। यह भेद वर्ग के सभी विभागों में समान प्रकृतिवाला नहीं होता है; किंतु अत्यधिक समय, समास के रूप में स्वामित्ववोधक अपने पूर्वपद के सहज उदात्त स्वर को रखता है (जैसा कि ऊपर दिये उदाहरणों के अधिकांश में)।

१२९७—स्वामित्ववोधक के रूप में प्रयुक्त आश्रित समास अथवा स्वामित्ववोधक आश्रित समास निर्धारकों के अन्य विभाग के अनुरूपी समासों की अपेक्षा वहुत कम सामान्य हैं।

अ—विशेप उदाहरण हैं : **मयूररोमन्** मयूर के रोमों वाला, **अग्नितेजस्** अग्नि के तेजवाला, **ज्ञातिमुख** संवंधियों-जैसा रूप दिखाने वाला, **पतिकाम** पति की इच्छा वाला, **हस्तिपाद** हाथी के पैरों वाला, **राजन्यबन्धु** जिसके संवंधी क्षत्रिय हैं।

आ—स्वरपात, जैसा कि दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट है, नियमित रूप से पूर्वपद वाला होता है, तथा अपवाद विरल और संदिग्ध प्रकृतिक हैं। **अन** अंतवाले शब्दों से युक्त कुछ समास उत्तरपद के स्वरपात का वहन करते हैं : उदाहरणार्थ, **इन्द्रपान** इन्द्र के लिए पेय वनानेवाला, **देवसदन** देवों के रहने के उपयुक्त; **रयिस्थान**, जो धन का स्थान है; किंतु इनमें स्वामित्व की कोई विवक्षा नहीं होती है, तथा संभवतः ये अपने स्वरूप की दृष्टि से, आश्रित (किंतु तुलनीय १२९४ आ) होते हैं। साथ ही, कुछ **अस्** अंतवाले, यथा **नृचक्षस** मनुष्यों को देखनेवाला, **नृवाहस्** मनुष्यों को ले जाने वाला, **क्षेत्रसाधस्** क्षेत्र को उन्नत करनेवाला, संभवतः इसी कोटि में गृहीत हो सकते हैं।

१२९८—स्वामित्व वोधक के रूप में प्रयुक्त वर्णनात्मक समास, अथवा स्वामित्व वोधक वर्णनात्मक समास वहुत वड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं, और प्रत्येक प्रकार के स्वरूप वाले हैं; तथा संयोग की कुछ कोटियाँ जो वास्तविक वर्णनात्मक प्रयोग में असामान्य हैं; स्वामित्वबोधक समासों के रूप में खूब सामान्य हैं।

अ—ये पूर्वपद के स्वरूप के अनुसार यथाक्रम नीचे विवेचित किये जायेंगे—चाहे संज्ञा-अंत्य के पूर्व विशेपता वतलाने वाले विशेपण हों, या संज्ञा या क्रियाविशेपण।

१२९९—स्वामित्वबोधक समास जिनमें संज्ञा के पूर्व विशेपता वतलाने वाले साधारण विशेपण होते हैं (जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है, १२८० ऊ) उसी रूप के वर्णनात्मक समासों की अपेक्षा अत्यधिक संख्या में हैं।

अ—ये नियमित और सामान्य रूप से अपने पूर्वपद पर उदात्त-स्वर का वहन करते हैं : यथा—अन्यरूप दूसरे रूप वाला, उग्रवाहु शक्तिशाली भुजाओं वाला, जीवपुत्र जीवित पुत्रों वाला, दीर्घश्मश्रु लम्वी दाढ़ीवाला, बृहच्छ्रवस् प्रख्यात कीर्तिवाला, भूरिमूल अनेक मूलों वाला, महावध बड़े शस्त्र वाला, विश्वरूप सभी रूपों वाला, शुक्रवर्ण चमकीले रंग वाला, शिवाभिमर्शन शुभ-स्पर्श वाला, सत्यसंध सत्य वचनों वाला, सर्वाङ्ग सम्पूर्ण अंगवाला, स्वयशस् स्वकीय कीर्तिवाला, हरितस्रज वासन्तीमालाओं वाला।

आ—तथापि, स्वरपात संवंधी अपवाद विरल नहीं हैं (संभवतः, सम्पूर्ण सख्या का सातवाँ या आठवाँ)। इस प्रकार, स्वरपात कभी-कभी अंत्य पद वाला होता है; विशेपतः अस् अंतवाले शब्दों के साथ, यथा तुविराधस्, पुरुपेशस्, पृथुपक्षस्, तथा दूसरे, जिनमें (जैसा ऊपर, १२९६ आ) निर्धारक स्वरूप की आशंका हो सकती है : यथा, उरुज्रयस् साथ-साथ उरुज्रि; उरुव्यचस्; उरुव्यच् के संग, इत्यादि; किंतु अन्य अंत्य वालों के साथ भी, यथा ऋजुहस्त, शितिकक्ष प्रभृति, कृष्णकर्ण; चित्रदृशीक, तुविशुष्म, ऋजुक्रतु, पृथुपर्शु, पुरुवर्त्मन्, रघुयामन्; वीडुपत्मन्। वहुत कम स्थितियों में स्वरापात अंत्य से द्वितीयपद के आदि अक्षर पर निर्वतित कर दिया जाता है : यथा—अंहुभेद, तुविग्रीव, पुरुवीर, पुरुरूप, शितिवाहु (शितिवाहु भी)। सर्वाधिक विशाल वर्ग उन समासों का होता है जो अपने अंत्य अक्षर पर स्वरपात रखते हैं (आंशिक रूप में जो वस्तुतः उनसे अभिन्न हैं जिनमें अंत्य पद का उदात्त सुरक्षित रहता है) : उदाहरणार्थ, वहन्न, नीलनख, पुरुपुत्र, विश्वाङ्ग, स्वपति, तुविप्रति; पृश्निपर्णी स्त्री०, दर्शतश्री, पूतिरज्जु, असितश्रु, पृथुग्मन्, वहुप्रजस्।

इ—विशेषण विंश्व समास के पूर्वपद में रूप में (तथा प्रत्ययविधान में भी) अपने उदात्त स्वर को विश्वं में नित्य परिवर्तित कर देता हैं; सर्व सम्पूर्ण, सब इस प्रकार कुछ अवस्थाओं में करता है।

१२९९—अंत्य संज्ञापद के पूर्ववर्ती तथा गुणबोधक कृदन्तक्रियारूप से युक्त स्वामित्वबोधक समास अधिक संख्या में होते हैं, यद्यपि इस प्रकार का कोई समास शुद्ध वर्णनात्मक अर्थ में प्रायः अज्ञात है। स्वरपात, कुछ अपवादों के साथ, पूर्वपद पर होता है।

अ—कृदन्तक्रियारूप अत्यधिक समय त या न अंतवाले कर्मवाच्य वाले होते हैं। इस प्रकार, छिन्नंपक्ष कटे पंख वाला, धृतंराष्ट्र स्थिर राष्ट्र वाला, हतमातृं जिसकी माँ मार दी गई है, इद्धांग्नि जिसकी अग्नि प्रज्वलित की गई हैं, उत्तानहस्त फैलाये हाथ वाला, प्रंयतदक्षिण जिसने याज्ञिक दान दिये हैं; तथा पूर्वप्रत्ययित निषेधार्थक के साथ, अंरिष्टवीर जिसके जन अक्षत हैं, अतप्तनु विना जले पदार्थ वाला, अंनमिम्लातवर्ण अम्लान रंग वाला। स्वरपात के संबंध में अपवाद बहुत कम हैं : पर्यस्ताक्ष, व्यस्तकेशी स्त्री०, अछिन्नपर्ण मात्र उदाहरण मिले हैं।

आ—इसी प्रकार की स्थिति में वर्तमानकालिक कृदन्तरूप के उदाहरण मिलते हैं। लगभग आधे (स्वरचिह्नित) उदाहरणों में यह समास में अपने ही स्वरपात को बनाये रखता है : यथा—द्युतंद्यामन्, धृषंद्वर्ण इत्यादि, शुचंद्रथ, रुशद्वत्स प्रभृति। भ्रांजज्जन्मन् इत्यादि, संयंद्वीर, स्तनंयदम, साध-दिष्टि; दूसरों में स्वरपात आगे कृदन्तक्रियारूप के अंत्य अक्षर पर (जैसा कि निर्देशक कृदन्त क्रियारूप के साथ समासों में : नीचे १३०९) खींचा जाता है : इस प्रकार, द्रवंत्पाणि इत्यादि (द्रवंत् क्रियाविशेषण-जैसा भी मिलता है), रप्शंद्धन्, स्वनंद्रथ, अचंद्धूम, भन्दंदिष्टि, क्रन्दंदिष्टि। इन अंतिमों के तुल्य जरंदष्टि वृद्धावस्था को प्राप्त कर करनेवाला, दीर्घजीवी, आकृति की दृष्टि से होता है; किंतु इसका निर्माण अर्थ की दृष्टि से असंगत है।

इ—ऋ० वे० में ऐसे दो सामासिक शब्द प्राप्त हैं जिनके पूर्वपद में परोक्ष आत्मनेपदी कृदन्तक्रियारूप आता है : यथा—युयुजानंसप्ति जुते घोड़ों के साथ (संभवतः अपने घोड़ों का युक्त कर), तथा ददृशानंपवि (नियमित स्वरपात के साथ, दंदृशान के स्थान में, जैसा—कि अन्यत्र इस कृदन्तक्रियारूप में अनियमित ढंग से प्राप्त) पहिये की विशिष्ट हालों वाला।

ई—श्रुंत्कर्ण (ऋ० वे०), सुनने योग्य कान वाला, में पूर्वपद कृदन्तक्रिया-

रूप से मिलते-जुलते स्वरूप को रखने वाला है; तथा संभवतः इसके तुल्य दीद्यग्नि और स्थारश्मन् (ऋ० वे०, प्रत्येक एक वार) होते हैं।

१३००—स्वामित्वबोधक समास, जिनका पूर्वपद संख्यावाची होता है, बहुत साधारण हैं, तथा अधिकांशतः स्वरपात लेकर उसी का पालन करते हैं जो अन्य विशेषणों से युक्त समासों द्वारा पालित होता है : अपवादभूत द्वि और त्रि से आरंभ होने वाले हैं जो सामान्यतया अंत्य पद को उदात्तयुक्त बनाते हैं।

अ—द्वि और त्रि से भिन्न अन्य संख्यावाची शब्दों से युक्त उदाहरण हैं : एकचक्र, एकशीर्पन्, एकपद्, चतुरंग, चतुष्पक्ष, पञ्चाङ्गुरि पञ्चौदन, पडश्व, पट्पद्, सप्तजिह्व, सप्तमातृ, अष्टापद्, अष्टपुत्र, नवपद्, नवद्वार, दशशाख, दशशीर्पन्, द्वादशार, त्रिंशदर, शतपर्वन्, शतदन्त, सहस्रणामन्, सहस्रमूल।

आ—स्वरपात के विषय में अपवाद कम ही होते हैं, तथा अंत्य अक्षर पर सुर का वहन करते हैं, चाहे अंत्य पद वाला मूलतः जो भी हो; ये अधिकांशतः अ अंतवाले प्रातिपदिक होते हैं, जो अन्, इ, या किसी व्यंजनान्त दूसरे प्रातिपदिकों के आदेश स्वरूप प्राप्त हैं : यथा—चतुरक्ष आदि (अक्षन् या अक्षिः ४३१), पडह इत्यादि (अहन् या अहर् : ४३० अ) दशवृप आदि (वृपन्), एकरात्र इत्यादि (रात्रि या रात्री), एकर्च इत्यादि (ऋच्); किंतु कुछ अन्य भी, जैसे—पड्योग, अष्टायोग, शतार्घ, सहस्रार्घ, एकपर (?)।

इ—द्वि और त्रि के साथ समास अधिकांशतः अपने उत्तरपद के उदात्त स्वर का वहन करते हैं : इस प्रकार, उदाहरणार्थ, द्विजन्मन्, द्विधार; द्विबन्धु, द्विवर्तनि, द्विपद्; त्रितन्तु, त्रिनाभि, त्रिशोक, त्रिवरूथ, त्रिचक्र, त्रिशीर्पन्, त्रिपद्। तथापि कतिपय शब्द सामान्य सादृश्य का अनुपालन करते हैं, और संख्यावाची पद को उदात्तित करते हैं : इस प्रकार, यथा द्विपक्ष, द्विशवस्, द्व्यास्य, त्रिपन्धि, त्र्यर, त्र्याशिर्, तथा कभी-कभी द्विपद् और त्रिपद् अ० वे० में। अन्य संख्यावाची समासों की तरह अ अंतवाला प्रतिस्थापित प्रातिपदिक अंत्य पर स्वरपात का वहन कर सकता है : यथा—द्विवृप और त्रिवृप; द्विराज, द्विरात्र, त्र्यायुप, त्रिदिव; तथा त्रि के साथ अन्य स्वरूप के कुछ में यही नियम लागू होता है : यथा—त्रिकद्रु, त्रिनाक, त्रिबन्धु, त्र्युधन्, त्रिबर्हिस् : इत्यादि।

ई—संख्यावाची समासों का नपुंसकरूप, अथवा स्त्रीलिंगरूप भी, समूह या

भाव के अर्थ में बहुधा विशेष्यवत् प्रयुक्त होता है, और तव स्वरपात नियमित रूप से अंत्य अक्षर पर होता है : देखिए नीचे १३१२।

१३०१—स्वामित्व बोधक समास, जिनके पूर्वपद के रूप में ऐसी संज्ञा हो जो अंत्य पद की विशेषता वतलाने में अर्ध-विशेषणार्थ रखती है, अधिक प्रचलित हैं, तथा प्रयोग-प्रक्रिया की कुछ विशिष्टताएँ इनमें देखी जाती हैं।

अ—न्यूनतम विशिष्ट पूर्वपद के रूप में आने वाली द्रव्यवाची संज्ञा होती है (कठिनता से इसका ग्रहण स्वामित्वबोधक आश्रित-जैसा संभव है, क्योंकि द्रव्य का संवंध नियमतः विभक्तिरूप द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता है : २९५) : यथा—**हिंरण्यहस्त** हिरण्यहस्तोंवाला, **हिंरण्यस्रज्** सुनहली मालाओं वाला, **अंयःस्थूण** पीतल आधारों वाला, **रजतंनाभि** रजतनाभि वाला।

१३०२—पूर्वपद के रूप में संज्ञा का प्रयोग अनुरूपता के चलते अथवा सामानाधिकरण्य द्वारा दूसरे की विशेपता वतलाने में विशेषतः प्रचलित है (इस स्वरूप के निर्धारक समासों की कादाचित्क प्राप्ति ऊपर, १२८० ई, उल्लिखित हो चुकी है)। इन्हें सुविधा से समानाधिकरण स्वामित्ववोधक समासों की संज्ञा दी जा सकती है। साधारण स्वामित्ववोधक वर्णनात्मक समासों की तरह इनका स्वरपात पूर्वपदवाला होता है।

अ—उदाहरण हैं : **अंश्वपर्ण** अश्वपक्ष वाला अथवा जिसके घोड़े पंखों की तरह होते हैं (रथ के लिए कहा गया है); **भूंमिगृह** पृथ्वी ही जिसका घर है, **इंन्द्रसखि** इंद्र जिसका मित्र है, **अग्निंहोतृ** अग्नि जिसका होता है, **गन्धर्वं-पत्नी** गन्धर्व जिसका पति है, **शूंरपुत्र** वीर-पुत्रों वाला, **जरांमृत्यु** मृत्युरूप वृद्धावस्था वाला, वृद्धावस्था तक जीवित रहनेवाला, **अग्निंवासस्** अग्निरूप वस्त्र से ढँका, **तदन्त** इसके द्वारा अंत होने वाला, **चारचक्षुस्** जिसके नेत्र गुप्त-चर हैं, **विष्णुशर्मनामन्** विष्णुशर्मा नाम वाला; तथा संज्ञा के स्थान में सर्वनाम के साथ, **त्वांदूत** तू जिसका दूत है, **तंदपस्** यह जिसका है। स्वरपात की दृष्टि से अपवाद यहाँ भी, जैसा कि अपेक्षाकृत अधिक नियमित वर्णनात्मक रूपनिर्माण में, प्राप्त होते हैं : **अग्निजिह्वं, वृपणश्वं, धूमशिखं, पत्नीनसं, असौनांम, तत्कुंल** इत्यादि।

आ—अधिक समय, विशेष्यवत् प्रयुक्त विशेपण इस प्रकार के समास में उत्तरपद होता है : यथा—**इंन्द्रज्येष्ठ** इन्द्र जिसका नायक है, **मंनःषष्ठ** छठे के रूप में मन को रखनेवाला, **सोंमश्रेष्ठ** जिसका सोम उत्तम होता है, **एकपरं** जिसकी इकाई सवसे ऊँची है (?), **अंस्थिभूयस्** जिसकी हड्डी अधिक अंग है, अधिक अस्थिमय, **अभिरूपभूयिष्ठ** सर्वाधिक योग्यरूपों से युक्त, **चिन्तापर**

चिंतन ही जिसका उच्चतम लक्ष्य या प्रवृत्ति है, चिंतनरत, **निःश्वासपरम** निश्वास लेने में अधिक अभ्यस्त।

ड—यहाँ वर्णित समासों में कुछ शब्द विशिष्ट पुनरावर्तन वाले होते हैं, तथा आंशिक रूप में विशिष्ट प्रयोगवाले बन गये हैं।

ई—**आदि** आरंभ, या **आदिक** या **आद्य** प्रथम के साथ ऐसे समास बनाये जाते हैं जो दूसरों के साथ-साथ विशेषीकृत व्यक्ति या वस्तु, ऐसे व्यक्ति या वस्तु प्रभृति, को द्योतित करते हैं। उदाहरणस्वरूप, **देवा इन्द्रादयः** देव जिनमें प्रथम इन्द्र होते हैं, अर्थात् देव इंद्रप्रभृति, **मरीच्यादीन् मुनीन्** मरीचि और दूसरे मुनियों को, **स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवः** स्वायम्भुव प्रभृति, ये सात मनु, **अग्निष्टोमादिकान्** अग्निष्टोम इत्यादि यज्ञों को। अथवा विशेष्यरूप संज्ञा लुप्त हो जाती है, यथा **अन्नपानेन्धनादीनि** भोजन, जल, काष्ठ प्रभृति, **दान-धर्मादिकम् चरतु भवान्** आप दान, धर्म आदि करें। **एवम्** और **इति** अव्यय भी कभी-कभी प्रतिस्थापन द्वारा पूर्वपदों के रूप में प्रयुक्त होते हैं : यथा—**एवमादि वचनम्**, इस प्रकार तथा अन्य प्रकार के वचन, **अतोऽहं ब्रवीमि कर्तव्यः संचयो नित्यमित्यादि** इसलिए मैं कहता हूँ 'संचय सब समय करना चाहिए' इत्यादि।

उ—प्रायः इसी ढंग से, किंतु अपेक्षाकृत कम समय, **प्रभृति** इत्यादि प्रयुक्त होता है : यथा—**विश्वावसुप्रभृतिभिर् गन्धर्वैः** विश्वावसु इत्यादि गन्धर्वों के साथ; विशेषतः क्रियाविशेषण की तरह, स्थान और काल के निर्धारणों में, यथा—**तत्प्रभृति** या **ततःप्रभृति** तब से।

ऊ—अग्रिम, पूर्ववर्ती प्रभृति अर्थ वाले शब्द—यथा **पूर्व, पूर्वक, पुरःसर, पुरस्कृत, पुरोगम**—बहुधा इसी ढंग से प्रयुक्त होते हैं, तथा विशेषतः क्रिया-विशेषण के रूप में, किंतु अधिकांशतः उसकी, जो समास के पूर्वपद द्वारा अभि-व्यक्त है, पुरोगामिता की बजाय सहवर्तिता द्योतित करने के लिए : उदाहरणार्थ **स्मितपूर्वम्** मंदहास के साथ, **अनामयप्रश्नपूर्वकम्** स्वास्थ्यपियक प्रश्नों के साथ, **पितामहपुरोगम** पितामह के साथ।

ए—संज्ञा **मात्रा** परिमाण समास के अंत्य के रूप में मिलती है जो विशेषण की तरह अथवा विशेष्य नपुंसक में अनतिक्रमित सीमा को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त होती है, तथा इस प्रकार **मात्र**, केवल के वास्तविक अर्थ का ग्रहण कर लेती है : यथा—**जलमात्रेण वर्तयन्** केवल जल द्वारा जीता हुआ (शाब्दिक अनुवाद—उससे जो अपने परिमाण या सीमा के लिए जल रखता है), **गर्भच्युतिमात्रेण** केवल गर्भ से निकलने से, **प्राणयात्रिकमात्रः स्यात्** उसे

उतना ही प्राप्त हो जितना प्राणरक्षण से अधिक न हो; **उक्तमात्रे तु वचने** किंतु वचन के कहे जाने पर ही।

ऐ—संज्ञा **अर्थ**, उद्देश्य, प्रयोजन क्रियाविशेषणात्मक नपुंसक द्वितीया-विभक्ति-रूप में **लिए** प्रभृति को द्योतित करने के लिए समास अंत में प्रयुक्त होती है: यथा—**यज्ञसिद्ध्यर्थम्** यज्ञ की पूर्ति के लिए (शाब्दिक० इस ढंग से कि यज्ञ की सिद्धि इसका उद्देश्य हो), **दमयन्त्यर्थम्** दमयन्ती के लिए (प्रयोजन रूप दमयन्ती के साथ)।

ओ—अन्य उदाहरण **आभा, कल्प** सदृश, लगभग के अर्थ में होते हैं: यथा—**हेमाभ** सोने के समान, **मृतकल्प** लगभग मरा हुआ, **प्रतिपन्नकल्प** प्रायः समाप्त;—**विधा** प्रकार, श्रेणीवाला के अर्थ में : यथा—**त्वद्विधा** तेरी तरह वाला, **पुरुषविधा** पुरुष श्रेणी वाला—**प्राय;** अधिकांशतः, बहुधा, प्रभृति के अर्थ में : यथा—**दुःख प्राय** दुःख से परिपूर्ण, **तृणप्राय** घास से भरा, **निर्गमनप्राय** बहुधा निकलनेवाला; **अन्तर** (विशेष्य नपुंसक रूप में), अन्य के अर्थ में : यथा **देशान्तर** दूसरा देश (शाब्दिक० वह जहाँ देश का भेद होता है), **जन्मान्तराणि** दूसरे जन्म, **शाखान्तरे** दूसरी शाखा में।

१३०३—समानाधिकरण स्वामित्वबोधक समासों में, द्वितीय पद, यदि यह शरीरावयववाची हो, तात्त्विक दृष्टि से पूर्वपद द्वारा अभिव्यक्त के उस अंग को, जिस पर या जिसमें यह विद्यमान है, द्योतित करता है।

अ—यथा—**घृतपृष्ठ** घृतपृष्ठवाला, **मधुजिह्व** मधुर जीभ वाला, **निष्कग्रीव** तथा **मणिग्रीव** गले में हारवाला, **पात्रहस्त** हाथ में पात्र लिया हुआ, **वज्रबाहु** बाहु पर वज्र धारण किया हुआ, **असृङ्मुख** चेहरे पर शोणित-वाला, **कीलालोधन** मधुर स्तन से युक्त, **वाजजठर** यज्ञरूप उदर वाला, **वाष्पकण्ठ** कण्ठ में वाष्प वाला, **श्रद्धामनस्** हृदय में श्रद्धा वाला; अनियमित स्वरपात के साथ **धूमाक्षी** स्त्री० धुएँ से भरी आँखोंवाली, **अश्रुमुखी** स्त्री० आँसुओं से भरे चेहरे वाली; तथा **खादिहस्त** हाथ में अँगूठी वाला (**खादि**)। उत्तरकालिक भाषा में हाथ अर्थवाले शब्दों के साथ इस प्रकार के समास असाधारण नहीं हैं : यथा—**शस्त्रपाणि** हाथ में खड्गवाला, **लगुडहस्त** हाथ में लाठी लिया हुआ।

१३०४—पूर्वपद के रूप में क्रियाविशेषण प्रकृत्यंशवाली समासों में सर्वाधिक संख्यावाले प्रायः वे होते हैं जो अवियोज्य पूर्वप्रत्ययों से बने हुए हैं। इनका स्वरपात विभिन्न होता है। इस प्रकार :

अ—अ या अन् निषेधार्थक पूर्वप्रत्यय से (जिनमें से द्वितीय स्वामित्व के लक्षितार्थ को तत्वतः निषेधमूलक बना देता है) युक्त समासों में स्वरपात उत्तर-पद के मूल स्वरपात से निरपेक्ष होकर व्यापक रूप से अंत्य अक्षर पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, अनंतं जिसका अंत नहीं है, अबलं जिसके पास शक्ति नहीं है, अरथं रथ के बिना, अश्रद्धं श्रद्धाविहीन, अमणिं अलंकरण के बिना, अशत्रुं शत्रुरहित, अवर्मन् अकवचीकृत, अदन्त् बिना दाँत का, अपद् बिना पाँव का, अतेजस निष्प्रभ, अनारम्भणं अनधिकृत, अप्रतिमानं अतुलनीय, अदुच्छुनं बिना चोट पहुँचाये, अपक्षपुच्छं बिना पाँखों या पूँछ का।

आ—किंतु कतिपय उदाहरण (उपर्युक्त के अनुपात में कम) पूर्व प्रत्यय को (सरल वर्णनात्मक समासों की तरह १२८८ अ) उदात्तित करते हैं : यथा—अंक्षिति अविनाशी, अंगु बिना गाय का, अंगोपा चरवाहे के बिना, अंजीवन जीवन विहीन, अंब्रह्मन् बिना पुरोहित का, अंव्यचस् बिना विस्तार का, अंहविस् बिना हविष्य का, तथा कुछ अन्य उदाहरण; अ० वे० में अंप्रजस् मिलता है, तो श० ब्रा० में अप्रजंस् अधिक छोटी कोटि में स्वरपात उपधा पर है : उदाहरणस्वरूप, अशंपस्, अजानि, तथा अवीर (निवर्तन के साथ, वीरं से), अपुत्र (वैसा ही, पुत्र से); तथा अ० वे० में अभ्रातृ प्राप्त है, किंतु ऋ० वे० में अभ्रातृं।

इ—सु और दुस्, प्रशंसा और निंदा के पूर्वप्रत्ययों से युक्त समासों में स्वर-पात अधिकांश स्थितियों में अंत्यपद वाला होता है यथा—सुकल्प सहज प्रयोगवाला, सुभंग सुंदर भाग्यवाला, सुनक्षत्र शोभन नक्षत्रवाला, सुपुत्रं उत्तम पुत्रोंवाला, सुगोपां सुरक्षित, सुकीर्ति अच्छी कीर्तिवाला, सुगन्धि जिसकी गंध अच्छी है, सुबाहुं सुंदर बाहोंवाला, सुयंतु सहज अधिकार वाला, सुक्रंतु अच्छी क्षमतावाला, सुहार्द् सुंदर हृदयवाला, सुस्रज् सुंदरमाला वाला, सुवर्मन् सुंदर कवचवाला, सुवासस् सुंदर वस्त्रवाला, सुप्रंणीति सुंदर प्रबंधवाला, दुर्भग बुरे भाग्यवाला, दुर्हशीक बुरे लक्षणवाला, दुर्धरं कठिन नियंत्रण-वाला, दुर्गन्धि जिसकी गंध बुरी है, दुराधि बुरे आशयोंवाला, दुर्धर्तु कठिन नियंत्रणवाला, दुष्टरीतु दुर्जेय, दुरत्यंतु दुस्तर, दुर्धुर् जिसे कठिनता से वश किया जाय, दुर्णामन् कुख्यात, दुर्वासस् बुरी तरह कपड़े पहना हुआ।

ई—तथापि, ऐसे भी उदाहरण कम संख्या में नहीं हैं, जिनमें इन समासों का स्वरपात अंत्य अक्षर पर होता है : यथा—सुशिप्रं सुंदर होठोंवाला, स्वपत्यं अच्छी संतानवाला, सुसंकाशं सुंदर प्रकृतिवाला, स्वङ्गुरिं अच्छी अँगुलियों-वाला, स्वप्रपुं सुंदर तीरोंवाला, सुपीवंस् सुंदर मज्जावाला; तथा अन प्रत्यय

वाले शब्दों से युक्त समास, यथा **सुविज्ञान** सद्विवेकवाला, **सूपसर्पण** सुगम्य, **दुश्च्यवन** कठिनता से हिलने योग्य; तथा अ० वे० में ऋ० वे० के **सुफल** और **सुबंधु** की जगह **सुफल** और **सुबंधु** पाये जाते हैं। **अवीर** की तरह **सवीर** में स्वरपात का निवर्तन देखा जाता है। एकमात्र **दुराशि** उपसर्ग सुरपर रखता है।

उ—समग्र रूप में निर्धारक से स्वामित्वबोधक के स्वरपात द्वारा भेद **सु** और **दुस्** बने शब्दों में किसी अन्य कोटि की अपेक्षा कम स्पष्ट ढंग से देखा जाता है।

ऊ—संपर्क-द्योतक पूर्वप्रत्यय **स** अथवा (अपेक्षाकृत कम समय) **सह** विशेषणरूप–जैसा गृहीत है, तथा यह स्वतः स्वामित्वबोधक समासवाले स्वरपात को रखता है : यथा—**संक्रतु** संयुक्त संकल्पवाला, **संनामन्** समान नामवाला, **संरूप** तुल्य रूपवाला, **संयोनि** समान उत्पत्तिवाला, **संवाचस्** स्वीकृति सूचक शब्दोंवाला, **संतोक** साथ संततिवाला, अपनी संतति के साथ, **संब्राह्मण** ब्राह्मणों के साथ, **संमूल** मूल के साथ, **सान्तर्देश** समान मध्यवर्ती दिशाओं के साथ; **सहगोप** चरवाहे के साथ, **सहवत्स** अपने बच्चे के साथ, **सहपत्नी** अपने पति के साथ रहनेवाली, **सहपुरुष** अपने जनों के साथ।

ए—ऋ० वे० में (एक या दो संदिग्ध स्थितियों को छोड़कर) केवल **सह** ऐसे समासों में 'साथ वाला', किसी के साथ के अर्थ को देता है; तथा, चूँकि **सह** के साथ तृतीया विभक्ति आती है, उससे आरंभ होनेवाले शब्द पूर्वसर्गीय कोटि के होंगे (नीचे, १३१०)। किंतु अ० वे० में **स** और **सह** दोनों ही इस अर्थ को द्योतित करते हैं (जैसा कि ऊपर दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट है); तथा उत्तरकालिक भाषा में **स** के साथ संयोग और भी अधिक संख्या में होते हैं।

ऐ—कुछ अपवाद हैं जहाँ उदात्त अंत्यपदवाला होता है : यथा **सजोष**, **सजोपस्**, **सदृश**, **सप्रथस्**, **सबाधस्** **समन्यु**, और अ० वे० में अंत्य अक्षरवाला स्वरपात **साङ्ग** (श० ब्रा० **साङ्ग**) और विशेष्यीकृत (१३१२) **सविद्युत** में पाया जाता है।

ओ—विस्मयादिवाची **क** प्रभृति पूर्व प्रत्ययों से युक्त स्वामित्वबोधक समास प्राचीनतर भाषा में इतने हैं कि स्वरपात के संबंध में किसी नियम का विधान संभव नहीं है; **कबन्ध** संभवतः ऐसे उदाहरणों में से एक है।

१३०५—स्वामित्वबोधक समास जिनमें उपसर्ग पूर्वपद के रूप में उत्तरपद की संज्ञा की विशेषता बतलाने वाले विशेषणार्थ के साथ प्रयुक्त होता है, प्राचीनतम भाषा में प्राप्त होते हैं, तथा उत्तरकाल में तो और भी अधिक

प्रचलित हो जाते हैं (तुलनीय वर्णनात्मक समास, ऊपर, १२८९, और पूर्वसर्ग-रूप, नीचे, १३१०)। ये सामान्यतया पूर्वप्रत्यय के स्वरपात का वहन करते हैं।

अ—सर्वाधिक प्रचलित वे होते हैं जो **प्र, वि,** और **सम्** से बने हैं : इस प्रकार उदाहरणार्थ; **प्रमहस्** अधिक शक्तिशाली, **प्रश्रवस्** प्रख्यात कीर्तिवाला; **विग्रीव** बुरी गरदनवाला, **व्यङ्ग** नष्ट या दूरीकृत अंगवाला, अंगहीन, **विजानि** स्त्रीरहित, **विपर्व** और **विपरुस्** संधिहीन, **व्यध्वन्** व्यापक मार्गोंवाला, **विमनस्** विशाल मनवाला तथा विना सतर्कता के, दोनों ही, **विवाचस्** विरोधी वाणीवाला; **संपत्नी** अपने साथ पतिवाली, **संसहस्र** हजार के साथ, **संमोकस्** सहावस्थान वाला, दूसरों के उदाहरण हैं : **अत्यूर्मि** फैली लहर वाला, **अधिवस्त्र** वस्त्र से युक्त, **अध्यर्ध** आधे से ऊपर वाला, **अध्यक्ष** ऊपर-ऊपर निरीक्षण करने वाला, **अपोदक** जल के विना, **अभिरूप** समीचीन रूप वाला, **अवतोक** गिरा हुआ, **आमनस्** अनुकूल मन वाला, **उदोजस्** उन्नत शक्ति-वाला, **निर्मन्य** विगत क्रोध वाला, **निर्माय** माया रहित, **निर्हस्त** विना हाथ वाला।

आ—अपेक्षाकृत कम संख्यावाली स्थितियों में स्वरपात भिन्न होता है, तथा सामान्यतया अंत्य पर होता है, यथा **अवकेश, उपमन्यु, विशर्फ, विशिख** (अ० वे० में **विशिख**), **विकर्ण, संमातृ** इत्यादि; एक या दो स्थलों के, अंत्यपद वाला : यथा—**समृशिश्वरी** सामान्य संतति वाली।

१३०६—पूर्वपद के रूप में साधारण क्रियाविशेषण से युक्त स्वामित्वबोधक समास भी भाषा के प्रत्येक काल में प्राप्त होते हैं। इनमें सामान्यतया वही स्वरपात है जो स्वतंत्र शब्द की तरह क्रियाविशेषण का।

अ—उदाहरण हैं : **अन्त्यूति** निकट साहाय्य लाने वाला, **अवोदेव** देवों की अवज्ञा करने वाला, **इतौति** इस पक्ष को सहायता करनेवाला, **इहचित्त** इस ओर मन रखने वाला, **दक्षिणतस्कपर्द** दाहिनी ओर जूड़ा धारण करने वाला, **नानाधर्मन्** विभिन्न प्रकृति वाला, **पुरुधप्रतीक** अनेक लक्षण वाला, **विश्वतोमुख** सभी ओर दृष्टियों वाला, **सद्यौति** तात्कालिक साह्य वाला, **विपुरूप** विभिन्न रूप वाला, **समदूधन्** स्तनवाली, **अधस्ताल्लक्ष्मन्** नीचे चिह्न वाला, **एकतोमुख** एक ओर दृष्टि वाला, **तथाविध** इस प्रकार वाला।

आ—अनियमित स्वरपात के एक या दो उदाहरण मिलते हैं : यथा—**पुरोरथ** सामने रथवाला, **एवंक्रतु** इस प्रकार प्रवृत्त।

१३०७—अ—पूर्ववर्ती अध्याय में (१२१२ ऐ) यह निर्दिष्ट हो चुका है कि स्वार्थक प्रत्यय **क** बहुधा शुद्ध स्वामित्वबोधक समास में सामासिक प्रातिपदिक

को विशेषण रूप में परिवर्तित करने के लिए जोड़ा जाता है, विशेषत: उस स्थिति में जहाँ प्रातिपदिकान्त्य विशेषणात्मक रूपविधान के लिए कम साधारण या उपयुक्त होता है।

आ—पुनः, सामासिक स्वामित्वबोधक प्रातिपदिक यदा-कदा स्वामित्व विधायक प्रत्यय का विशेष ग्रहण करता है : यथा—**यशोभगिन्, सुशिप्रिन्, वरवर्णिन्, दीर्घसूत्रिन्, पुण्यवागबुद्धिकर्मिन्, सुतसोमवन्त्, तादृग्रूपवन्त्, त्रयोदशद्वीपवन्त्, नारकपालकुण्डलवन्त्, अमृतबुद्धिमन्त्।**

इ—अतिशय परिवर्तन, जो समास के अंत में आने वाले प्रातिपदिकों के अंत्य द्वारा प्राप्त हैं, पुनः (१३१५) आगे देखे जायेंगे।

१३०८—स्वामित्वबोधक समास उत्तरकालिक भाषा में विशेषता बतलाने वाले विशेषण के सरल अर्थ के साथ सब समय प्रयुक्त नहीं हैं; बहुधा ये एक संश्लिष्ट अर्थ का धारण करते हैं, और गौण उपवाक्यों के समरूप हो जाते हैं; अर्थात् 'वाला' जो इनमें लक्षित होता है, वस्तुतः भूतकाल के चिह्न के रूप में हमारे (अंग्रेजी) 'हैविंग' के अर्थ को प्राप्त कर लेता है।

अ—इस प्रकार, उदाहरणार्थ, **प्राप्तयौवन** प्राप्त यौवन वाला, अर्थात् यौवनावस्था में पहुँच कर; **अनधिगतशास्त्र** अपठित-ग्रंथों वाला, अर्थात् जिसने अध्ययन की अवहेलना की है; **कृतप्रयत्न** प्रकृष्ट चेष्टा वाला, अर्थात् जिसमें प्रयास विस्तारित हुआ है; **अङ्गुलीयकदर्शनावसान** अवसान के रूप में अँगूठी के दर्शनवाला, अर्थात् अँगूठी के देखने पर अवसान प्राप्त; **उद्धृतविषादशल्यः** शोक-रूपी तीर को उखाड़ फेंक देने वाला, अर्थात् जब मैं नैराश्य के शूल को निकाल रखूँगा; **श्रुत-विस्तारः क्रियताम्** वह विस्तृत विवेचन को जानने वाला बने, अर्थात् वह विस्तृत विवेचन को जान ले, **दृष्टवीर्यो मे रामः** राम ने मेरी शक्ति पहचानी है; **भग्नभाण्डो द्विजो यथा** उस ब्राह्मण की तरह जिसने पात्रों को तोड़ दिया है, **उक्तानृतम् ऋषि यथा** उस ऋषि की तरह जिसने मिथ्या भाषण किया है।

(२) निर्दिष्ट उत्तर-पदवाले समास

१३०९—कृदंतक्रियारूपवाले समास। समासों का यह वर्ग, जिसमें पूर्वपद वर्तमानकालिक कृदंतरूप होता है और उत्तरपद उसका कर्म, छोटा-सा वर्ग (लगभग तीस उदाहरणों का) है, और केवल वैदिक है—वस्तुतः, प्रायः प्राचीनतम वैदिक भाषा (ऋ० वे०) तक सीमित है। स्वरपात कृदंतक्रियारूप के अंत्य अक्षर पर होता है, चाहे इस रूप का स्वरपात स्वतंत्र शब्द के रूप में जिस प्रकार का हो।

अ—उदाहरण हैं : विदद्वसु सम्पत्तियों को प्राप्त करता हुआ, क्षयद्वीर वीरों को दमन करता हुआ (क्षयन्त्), तरद्द्वेपस् शत्रुओं को पार करता हुआ (तरन्त्), आभरद्वसु संपत्ति को लाता हुआ, चोदयन्मति भक्ति को प्रेरित करता हुआ (चोदयन्त्), मन्दयत्सख मित्रों को प्रसन्न करता हुआ, धारयत्कवि ऋषियों को प्रसन्न करता हुआ, मंहयद्रयि धन को देता हुआ।

आ—सादद्योनि गोद में बैठता हुआ, (सादत् बिलकुल असंगत ढंग से सीदत् या सदत् के लिए है) और स्पृहयद्वर्ण कांति की इच्छा करता हुआ, दोनों में उत्तर-पद का विभक्तिरूप-संबंध द्वितीया विभक्ति से भिन्न है। पतयन् मन्दयत्सखम् (ऋ० वे० १-४-७) में पतयत्, तदनुरूप परिवर्तित उदात्त के साथ, पतयत्सखम् का प्रतिनिधित्व करता है, उत्तरपद का ज्ञान आनेवाले शब्द द्वारा होता है। विददश्व अपने व्युत्पन्न वैददश्वि से अनुमेय है। जमदग्नि, प्रतद्वसु (प्रथद् ?), और त्रसदस्यु (त्रसद्दस्यु ? के लिए) इस रूपनिर्माण के मालूम होते हैं। यह ऊपर (१२९९ इ) देखा जा चुका है कि युयुजानसप्ति का ग्रहण, वर्तमान कालिक कृदन्तक्रियारूप के स्थान में परोक्ष-कालिक रूप के साथ, समान स्वरूपवाले विलक्षण समास के-जैसा संभव है; साधदिष्टि अपने स्वरपात की दृष्टि से संभवतः स्वामित्वबोधक है।

१३१०—**पूर्वसर्ग वाले समास।** यह संज्ञा सुविचार्य उन संयोगों को दी जा सकती है जिनमें पूर्वपद वास्तविक पूर्वसर्गात्मक अर्थवाला अव्यय होता है, और उत्तर-पद उसके निर्दिष्ट संज्ञाशब्द। इस प्रकार के संयोग, यद्यपि समासों के अन्य वर्गों की तुलना में अल्पसंख्यक हैं, पूर्वतर या उत्तरकालिक भाषा में से किसी में विरल नहीं हैं। इनका स्वरपात इतना विभिन्न होता है कि इसके संबंध में कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता है।

अ—उदाहरण हैं : अत्यवि ऊन में प्रविष्ट करना, अतिरात्र बीती हुई रात में, अतिमात्र परिमाण अधिक, अधिरथ रथ पर आरूढ, अधिगव गाय संबंधी; अधस्पद पाँवों तले, अधोअक्ष धुरे के नीचे; अनुपथ मार्ग का अनुसरण कर, अनुपूर्व पूर्ववर्ती का अनुसरण कर, या क्रम से, अनुसत्य सत्य के अनुरूप, अनुकूल प्रवाह के नीचे, इत्यादि; अन्तस्पथ (अन्तर् के नियम-विरुद्ध स्वर-परिवर्तन के साथ), मार्ग के बीच, अन्तर्दाव ज्वाला के बीच (?), अन्तर्हस्त हाथ में; अन्तिगृह घर के निकट; अपिप्राण श्वास (प्राण) के साथ, अपिव्रत व्रत से संबद्ध, अपिशर्वर रात्रिप्राय, अपिकर्ण कान के आगे; अभिज्ञु जंघा तक पहुँचा, अभिवीर और अभिसत्वन् वीरों को जीतना;

आ॑पथि रास्ते में, **आ॑देव** देवों के पास जाना, **आजरसं॑** बुढ़ापे तक पहुँचना, **आद्वाद॒शं॑** बारह तक; **उपकक्षं॑** काँख के पास पहुँचना, **उपो॑त्तम** अंत के ठीक पहले, उपांत्य; **उप॑रिबुध्न** अधोभाग से ऊपर, **उप॑रिमर्त्य** मनुष्य के ऊपर उठना; **तिरोजनं॑** लोगों के परे; **निःसालं॑** घर से बाहर; **परिप॑द्** (पाँवों की ओर) फंदा, **प॑रिहस्त** हाथ के आसपास, कंगन; **परो॑क्ष** दृष्टि के परे, **परो॑मात्र** परिणाम से अधिक, **परोगव्यूति॑** खेतों के परे, **परःसहस्र॑** (**प॑रःसहस्र** श० ब्रा०) हजार से ऊपर; **पुरो॑क्ष** आँखों के सामने; **प्रतिदो॑स** सन्ध्याभिमुख, **प्रति-लोम** कण के विरुद्ध, **प्र॑तिकूल** धारा के उद्गम की ओर, **प्रत्य॑क्ष** आँखों के सामने; **बहिःपरि॑धि** घेरे के बाहर; **वि॑पथि** रास्ते से बाहर; **समक्षं॑** आँखों के नजदीक, सामने।

आ—इस लक्षण के समास उत्तरकालिक भाषा में **अधि** के साथ विशेषतः प्रचलित हैं : यथा **अध्यात्म** आत्मा अथवा स्वसंबंधी, **अधियज्ञ** यज्ञसंबंधी, इत्यादि।

इ—प्रत्ययरूप **अ** कभी-कभी अंत्य व्यंजन में जोड़ा जाता है, यथा—**उपानसं॑** शकट पर, **आ॑व्युषं॑** दिन निकलने तक। कुछ स्थलों में प्रत्यय **य** गृहीत है (द्रष्टव्य ऊपर, १२१२ ग); तथा एक शब्द में प्रत्यय **इन्** : यथा—**परि॑पन्थिन्** रास्ते को घेरनेवाला।

ई—पूर्वसर्ग वाले समास विशेषतः क्रियाविशेषण-प्रयोग में आ सकते हैं : द्रष्टव्य नीचे, १३१३ आ।

संज्ञाओं के तथा क्रियाविशेषणों के रूप में विशेषण-समास

१३११—समासांत विशेषण सरल विशेषणों की तरह भाववाचकों और समूहवाचकों—जैसे, विशेषतः नपुंसक में, अपेक्षाकृत कम समय स्त्रीलिंग में, विशेष्य के रूप में निर्बाध प्रयुक्त होते हैं; तथा ये अधिकतर क्रियाविशेषण के रूप में भी, विशेषतः द्वितीया नपुंसक में, प्रयुक्त होते हैं।

अ—इस विषय का विशेष विवेचन केवल इसलिये अपेक्षित है कि संयोग के कुछ रूप अपने प्रयोगों में विशिष्ट पुनरावर्तन वाले हो गये हैं, तथा इसलिए कि भारतीय वैयाकरणों ने इनसे पृथक् नामों के साथ समास के विभिन्न वर्ग बनाये हैं। प्राचीनतर भाषा में ऐसा कुछ प्राप्त नहीं है जो अपने वैशिष्ट्यों के कारण इस शीर्ष के अंतर्गत विशिष्ट निरूपण का विषय बने।

१३१२—विशेष्यवत् प्रयुक्त समास, जिनका पूर्वपद संख्यावाची होता है, आंशिक रूप से इनके साथ-साथ स्वतः विशेषण समास, भारतीयों द्वारा स्वतंत्र वर्ग के रूप में निरूपित हैं, जिन्हें **द्विगु** कहा गया है।

अ—नामकरण इस वर्ग का नमूना है, और इसका अर्थ है दो गायों का, दो गायों के मूल्य के अर्थ में प्रयुक्त कहा गया है; इसी प्रकार **पञ्चगु** पाँच गायों से खरीदा, **द्विनौ** दो जहाजों का मूल्य, **पञ्चकपाल** पाँच पात्रों में बनाया हुआ, इत्यादि।

आ—संख्यावाची भावबोधकों तथा समूहबोधकों के वैदिक उदाहरण है: **द्विराज** दो राजाओं का (युद्ध), **त्रियुग** तीन युग, **त्रियोजन** तीन योजनों की दूरी, **त्रिदिव** त्रिगुण स्वर्ग, **पञ्चयोजन** पाँच योजनों की दूरी, **षडह** छः दिनों का समय, **दशाङ्गुल** दश उँगुलियों की चौड़ाई; तथा प्रत्यय **य** के साथ, **सहस्राह्न्य** हजार दिनों की यात्रा। अन्य, असंख्या-वाची, किंतु मुख्यतः समान स्वरूपवाले हैं, उदाहरणार्थ: **अनमित्र** शत्रुओं से मुक्ति, **निर्किल्बिष** दोष से मुक्ति, **सविद्युत** बिजली के साथ वाली आँधी, **विहृदय** हृदयहीनता, तथा **सहृदय** सदयभाव, **सुदिव** दिन में अभ्युदय, **सुमृग** और **सुशकुन** पशुओं और पक्षियों वाली संपत्ति। ऐसे प्रयोग के स्त्रीलिंग-रूप ऋ० वे० या अ० वे० से उद्धरणीय नहीं हैं; आगे चलकर **त्रिशती** तीन सौ (४८१), **त्रिलोकी** तीनों लोक, **पञ्चमूली** पाँच मूलों का समाहार—जैसे प्रयोग मिलते हैं।

इ—जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है, इस प्रकार प्रयुक्त शब्दों का स्वरपात विभिन्न होता है; किंतु अपने साधारण प्रयोग में विशेषण समासों की अपेक्षा यह अधिक व्यापक रूप से अंत्य अक्षर पर होता है।

१३१३—गौण विशेषण समासों के क्रियाविशेषणवत् प्रयुक्त द्वितीया रूप वाले, जो पूर्वपद के रूप में निर्विभक्तिक अथवा अव्यय रखते हैं, भारतीय वैया-करणों द्वारा समासों के पृथक् वर्ग के रूप में गृहीत हैं, और **अव्ययीभाव** नाम से अभिहित हैं।

अ—यह पद **अव्यय** निर्विभक्तिक और √(**भू**) से बनी यौगिक क्रिया (१०९४) से व्युत्पन्न है, और इसका अर्थ निर्विभक्तिक में परिणमन होता है।

आ—पूर्वसर्ग वाले समास (१३१०) इस प्रयोग में विशेष रूप से पाये जाते हैं। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, **अनुष्वधम्** स्वेच्छया, **अभिपूर्वम्** और **परोवरम्** क्रम से, **आद्वादशम्** बारह पर्यंत, **प्रतिदोषम्** संध्या में, **समक्षम्** सामने। वैयाकरणों द्वारा दिये गये उदाहरण हैं: **अधिहरि** हरि पर, **उपराजम्** राजा की ओर, **उपनदम्** या **उपनदि** नदी के समीप, **प्रत्यग्नि** अग्नि की ओर, **प्रतिनिशम्** हर रात, **निर्मक्षिकम्** मक्खियों के अभाव में।

इ—एक विशाल और महत्त्वपूर्ण वर्ग ऐसे शब्दों से बनाया जाता है जिनमें संबंधबोधक क्रिया विशेषण, विशेषतः **यथा,** पूर्वपद—जैसा मिलता है। इस प्रकार, उदाहरण स्वरूप, **यथावशम्** इच्छानुसार (**वंश** इच्छा), **यथाकृतम्** जैसा किया हुआ (पहले), विधि के अनुरूप; **यथानाम** नाम से, **यथाभागम्** विभिन्न अंश के अनुसार, **यथाङ्गम्** और **यथापरु** अङ्ग-अङ्ग, **यत्रकामम्** स्वेच्छया, **यावन्मात्रम्** जितनी मात्रा, **यावज्जीवम्** जीवन पर्यन्त, **यावत्संबन्धु** बन्धुओं की संख्या के अनुरूप।

ई—ये समास प्राचीन भाषा में प्रचलित नहीं हैं; ऋ० वे० में **यथा** के साथ इनके केवल चार मिलते हैं, अ० वे० में केवल दस; तथा **याच्छ्रेष्ठ** ऋ० वे० **यावच्छ्रेष्ठ** अ० वे० यथासंभव अच्छा—इनको छोड़कर ऐसा कोई उदाहरण विशेषण की तरह प्रयुक्त नहीं है। श० ब्रा० में **यथाकारिन्**, **यथाचारिन्**, **यथाकाम, यथाक्रतु** विशेषणों की तरह आये हैं (प्रत्येक स्थिति में इनके बाद सहसंबद्धता-वाची **तथा** प्रयुक्त हैं)। विशेषणीभूत प्रयोग उत्तरकालिक भाषा में भी क्रिया विशेषणीभूत की तुलना में बिलकुल विरल हैं।

उ—द्वितीया-विभक्तिरूपों से भिन्न अन्य विभक्तिरूप यदा-कदा मिलते हैं। इस प्रकार, तृतीया जैसे—**यथासंख्येन, यथाशक्त्या, यथेप्सया, यथाप्रतिगुणैस्,** तथा पंचमी, यथा—**यथौचित्यात्।**

ऊ—अतिशय प्रयोगवाले क्रियाविशेषणों का वर्ग **स** द्वारा बनाया जाता है : उदाहरणार्थ, **सकोपम्** क्रोध के साथ, **सादरम्** आदर सहित, **सस्मितम्** मुसकान के साथ, **सविशेषम्** विशेष रूप से।

ए—समान स्वरूप वाले अन्य क्रियाविशेषणरूप पूर्वकाल में मिलते हैं, तथा उत्तरकाल में ये सामान्य हो जाते हैं : उदाहरणार्थ, **ऋतेकर्मम्** कार्य के बिना, **नानारथम्** विभिन्न रथों पर, **उभयद्युस्** क्रमशः दो दिन, **चित्रपदक्रमम्** आश्चर्यजनक प्रगति के साथ, **प्रदानपूर्वम्** दान के साथ; इत्यादि।

असंगत समास

१३१४—प्रत्येक भाषा की तरह यहाँ भी ऐसे समास यदा-कदा प्राप्त होते हैं जो असंगत स्वरूप वाले हैं, इनमें ऐसे पदों के संयोग देखे जाते हैं जो सामान्यतः एक साथ नहीं रखे जाते हैं, अथवा न इस प्रकार की प्रक्रिया में और न तथाविध प्रयोजन में। इनमें से कुछ, विशेषतः प्राचीन भाषा में आने वाले, यहाँ रखे जा सकते हैं।

अ—उत्तरपद के रूप में अव्ययवाले समासान्तपद : यथा—**अप्रति** समता न रखने वाला, **तुविप्रति** दृढ़ विरोधी, **अतथा** अस्वीकार, **वितथ** असत्य, **यथातथं**

जैसा कि वस्तुतः यह है, **सुसह** एक साथ संपत्ति, **अनिह** और **अनमुत्र** न यहाँ का और न वहाँ का।

आ—वाक्यांशों में से दो या अधिक पदों के समुच्चय : यथा—**अहम्पूर्व** प्रथम होने को इच्छुक, **अहमुत्तर** उत्कर्ष के लिए संघर्ष, **ममसत्य** प्राप्ति के लिए संघर्ष, **इतिहास** आख्यान (**इति हाऽस**, वस्तुतः, यह हुआ), **नघमार** और **नघारिप** निस्संदेह अम्रियमाण अथवा अक्षय्य, **कुविंत्स** कोई अज्ञात पुरुष, **तदिदर्थ** ठीक इसे ही प्रयोजन बनाने वाला, **कूचिदर्थिन्** सब दिशाओं में प्रयोजन रखनेवाला, **काचित्कर** सभी प्रकारों के कार्य को करनेवाला, **कुह-चिद्विद्** जहां कहीं प्राप्त, **अकुतश्चिद्भय** सभी आशंकाओं से मुक्त, **यद्भविष्य** जो होने को है, इत्यादि।

इ—समुच्चय जिनमें पूर्वपद वाक्यार्थ रूप को सुरक्षित रखता है : यथा **अन्योन्य** और **परस्पर** एक-दूसरे का, **अवरस्पर** विपर्यस्त।

ई—समूह जहाँ नियमित क्रम विपर्यस्त हो गया है : उदाहरणार्थ, **पितामह** और **मातामह** दादा और नाना, **पुत्रहत** हतपुत्रों वाला, **जान्वाक्न** और **जान्वक्त** झुकी जाँघ वाला, **दन्तजात** उत्पन्न दाँत वाला; **सोमापहृत** सोमरहित, **पङ्-क्तिराधस्** दक्षिणाओं की राशियों वाला, **गोजर** बूढ़ा बैल, **अग्रजिह्व**, **अग्र-नासिका**, प्रभृति जीभ की नोक, नासिका का अग्रभाग, प्रभृति। साथ ही, तुलनीय १२९१ इ।

उ—निपातों के समूहन ऊपर (११११ अ) निर्दिष्ट हो चुके हैं; साथ ही, वे स्थितियाँ (११२२ उ), जहाँ **न** और **मा** संयोग में प्रयुक्त होते हैं।

ऊ—उत्तरकालिक संस्कृत में (संभवतः **तद् अनु**, जो नपुंसक द्वितीया की बजाय प्रातिपदिक **तद्** के साथ **तदनु** जैसा गृहीत है, जैसे संयोगों के मिथ्यासादृश्य के आधार) पूर्वसर्ग उत्तरपद के रूप में अपने द्वारा निर्दिष्ट संज्ञाशब्द के साथ कभी-कभी समस्त होता है : उदाहरणार्थ, **वृक्षाधस्** या **वृक्षाधस्तात्** वृक्ष के नीचे, **दंतान्तः** दाँतों के बीच, **भवनोपरि** मकान की छत पर, **सत्यविना** सत्य के बिना।

समास में परिवर्तित प्रातिपदिकान्त्य

१३१५—अपेक्षाकृत कम सामान्य अंत्यों से शब्दरूप के **अ**-रूप में परि-वर्तन, जो स्वतंत्र प्रयोग में विरल नहीं हैं, विशेषरूप से समासों के अंत्य पदों में सामान्य होते हैं। इस प्रकार :

अ—**अन्** अंतवाला प्रातिपदिक बहुधा अपने अंत्य व्यंजन को लुप्त कर

देता है (तुलनीय ४२९ अ, ४३७) : उदाहरण हैं **अक्ष, अध्व, अर्व, अस्थ, अह, तक्ष, ब्रह्म, मूर्ध, राज, लोम, वृष, श्व, सक्थ, साम** ।

आ—इ या ई अ में परिवर्तित कर दिया जाता है : उदाहरण हैं : **अङ्गुल, अञ्जल, अभ्र, कुक्ष, खार, नद, नाभ, भूम, रात्र, सख** ।

इ—अ—कभी-कभी अन्त्य व्यंजन के बाद जोड़ा जाता है, तथा कभी-कभी उ-स्वर अथवा संधि-स्वर (तुलनीय ३९९) के बाद : उदाहरण हैं **ऋच, त्वच; उद, पद, शरद; अप; धुर, पुर, अह्न, अश्मन, ऊध्न, राज्ञ, अनस, अयस, आयुष, उरस, एनस, तमस, मनस, यजुष, रजस, रहस, वर्चस, वेदस, श्रेयस, सरस; भ्रुव, दिव, गव, गाव, नाव** ।

इ—अपेक्षा अधिक विकीर्ण और असंगत स्थितियाँ यों होती हैं यथा : **अपन्न-द (-दन्त्), पञ्च-ष (-षष्), अजैक-प (-पद्), शत-भिषा (-भिषज्) विपश्-चि (-चित्), यथा-पुर (-पुरस्)** ।

समासों के साथ शिथिल रचना

१३१६—असीमित और आकस्मिक संयोग के शैथिल्य के परिणाम-स्वरूप, विशेषतः उत्तरकालिक भाषा में, ऐसी वस्तु-स्थिति कदापि विरल नहीं है, जहाँ रचना में एक शब्द वाक्य में अपने आश्रित अथवा विशेषणीभूत रूप में दूसरे स्वतंत्र शब्द को रखता है, न कि सामासिक रूप में, जिसका अंग यह होता है ।

अ—उदाहरण हैं : **रायस्कामौ विश्वप्स्न्यस्य** (ऋ० वे०) पूर्ण आनंददायक संपत्ति का इच्छुक; **अंहोरुचक्रिः** (ऋ० वे०) रोग से त्राण करने वाला; **महाधने अर्भे** (ऋ० वे०) महाधन में और लघु में; **स्वाहां श्रेष्ठ्यकामः** (आ० श्रौ० सू०) अपने बंधुओं पर श्रेष्ठत्व की इच्छा वाला; **ब्राह्मणान्श्रुतशीलवृत्तसम्पन्नान् एकेन वा** (आ० गृ० सू०) ज्ञान, चरित्र, और आचरण से युक्त ब्राह्मणों को, अथवा (तीनों में से किसी) एक से युक्त को; **चित्तप्रमाथिनी बाला देवानामपि** (महाभा०) लड़की चित्तों को मथनेवाली, देवताओं के भी; **वशिष्ठवचनाद् ऋष्यश्रृङ्गस्य चोभयोः** (रामा०) वशिष्ठ और ऋष्यश्रृङ्ग दोनों के वचन से; **सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणाम् औषधस्य च** (मनु) हलों, शस्त्रों अथवा ओषधि के चुराने में; **ज्योतिषाम् मध्यचारी** (हितो०) तारों के बीच विचरण करनेवाला; **दारुपात्रं च मृन्मयम्** (मनु०) लकड़ी और मिट्टी का पात्र; **स्यन्दने दत्तदृष्टिः** (शकुंतला०) रथ पर दृष्टि लगाये; **तस्मिन्नुल्लम्बितमृतः** (क० स० सा०) उस पर भरा झूलता हुआ ।

परिशिष्ट

अ—निम्नलिखित पाठ इसलिए दिया जाता है (जैसा कि ऊपर, ३ उ प्रस्तावित) कि प्रयोग में संस्कृत छापे की विभिन्नता उदाहरण द्वारा निरूपित हो जाय। इसे दो बार रखा जाता है, तथा यूरोपीय लिपि में रूपांतरण बाद में होगा। पाठ एक कथा है जो हितोपदेश के प्रथम प्रकरण से उद्धृत है।

व्याध, मृग, सूकर और शृगाल

आसीत् कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः। स चैकदा मांसलुब्धः सन्धनुरदाय विन्ध्याटवीमध्यं गतः। तत्र तेन मृग एको व्यापादितः। मृगमादाय गच्छता तेन घोराकृतिः सूकरो दृष्टः। ततस्तेन मृगं भूमौ निधाय सूकरः शरेण हतः। सूकरेणाप्यागत्य प्रलयघनघोरगर्जनं कृत्वा स व्याधो मुष्कदेशे हतश्छिन्नद्रुम इव पपात। यत।

जलमग्निं विषं शस्त्रं क्षुद्व्याधी पतनं गिरेः।
निमित्तं किंचिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते॥

अत्रान्तरे दीर्घरावो नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान्मृतान्मृगव्याधसूकरानपश्यत्। आलोक्याचिन्तयदसौ। अहो भाग्यम्। महद्भोज्यं समुपस्थितम्। अथवा।

अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम्।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते॥

भवतु। एषां मांसैर्मासत्रयं समधिकं भोजनं मे भविष्यति। ततः प्रथमबुभुक्षायां तावदिमानि स्वादूनि मांसानि विहाय कोदण्डाटनीलग्नं स्नायुबन्धं खादामीत्युक्त्वा तथाकरोत्। ततश्छिन्ने स्नायुबन्धे द्रुतमुत्पतितेन धनुषा हृदि भिन्नः स दीर्घरावः पंचत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि।

कर्तव्यः संचयो नित्यं कर्तव्यो नातिसंचयः।
अतिसंचयदोषेण धनुषा जम्बुको हतः॥

āsit kalyāṇakaṭakavāstavyo bhāiravo nāma vyādhaḥ. Sa cāi'kadā māṅsalubdhaḥ san dhanur ādāya Vindhyāṭavī-madhyaṁ gataḥ. tatra tena mṛga eko Vyāpāditaḥ. mṛgam ādāya gachatā tena ghorākṛtiḥ sūkaro dṛṣṭaḥ. tataș tena mṛgaṃ bhūmāu nidhāya sūkaraḥ çareṇa hataḥ. sūka-reṇā'py āgatya pralayaghanaghoragarjanaṁ kṛtvā sa vyādho muṣkadeçe hataç chinnadruma iva papāta, yataḥ :

jalam agniṁ viṣaṁ çastraṁ kṣudvyādhī patanaṁ gireḥ,
nimittaṁ kiṁcid āsādya dehī praṇāir vimucyate.

atrāntare dīrgharāvo nāma jambukaḥ paribhraman āhārārthī tān mṛtān mṛgavyādhasūkarān apaçyat. ālokyā' cintayad asāu : aho bhāgyam mahad bhojyaṁ samupasthi-tam, athavā :

acintitāni duḥkhāni yathāi 'vā'' yānti dehinām,
sukhāny api tathā manye dāivam atrā'tiricyate

bhavatu; eṣām māṅsāir māsatrayaṁ samadhikaṃ bhojanam me bhaviṣyati. tataḥ prathamabubhukṣāyāṁ tāvad imāni svādūni māṅsāni vihāya kodaṇḍāṭanīlagnaṁ snāyubandhaṁ khādāmi'ty uktvā tathā' karot tataçchinne snāyubandhe drutam utpatitena dhanuṣā hṛdi bhinnaḥ sa dīrgharāvaḥ pañcatvaṁ gataḥ, ato'ham bravīmi :

kartavyaḥ saṁcayo nityaṁ kartavyo nā'tisaṁcayaḥ ;
atisaṁcayadoṣeṇa dhanuṣā jambuko hataḥ.

आ—नीचे का पाठ इसलिए दिया जाता है कि स्वराङ्कन की सामान्य विधि जैसा कि ऊपर (६७) वर्णित है, पर्याप्त उदाहरण द्वारा निर्दिष्ट हो जाय। हस्तलेखों में स्वरसंकेत प्रायः नित्य रूप से लाल स्याही में युक्त किये जाते हैं। पाठ एक सूक्त है जो ऋग्वेद के दशम या अन्तिम मण्डल से उद्धृत हैं; परम्परा इसे **वाच्** वाणी (अर्थात् शब्द या ध्वनिसंकेत) द्वारा उक्त मानती है।

सूक्त (१०-१२५) ऋग्वेद से

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये ३ यजमानाय सुन्वते ॥ २ ॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ३ ॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४ ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ६ ॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व ? न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७ ॥

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ ८ ॥

ahám rudrébhir vàsubhiç carāmy ahám ādityāír utá vicvá devāiḥ, aham mitrā́ váruṇo'bhā́ bibharmy ahám indrāgnī́ ahám aç víno'bhā́. 1.

ahám sómam āhanásam bibharmy ahám tváṣṭāram utá puṣáṇam bhágam, ahám dadhāmi dráviṇam havíṣmate suprāvye yájamānāya sunvaté'. 2.

ahám rā́ṣṭrī saṁgámanī vásūnāṁ cikitúṣī prathamā yajñ̃ım yānām, tā́m mā devā́ vy àdadhuḥ purutrā́ bhū́risthātrām bhū́ry āveçáyantīm. 3.

máyā só ánnam atti yó vipáçyati yáḥ prā́ṇiti yáı̄m çṛṇoty uktám, amantávo mā́m tá úpa kṣiyanti çrudhí çruta çraddhivam te vadāmi. 4.

ahám evá svayám idàm vadāmi juṣṭam devébhir utá mānuṣebhiḥ, yám kāmáye tám-tam ugrám kaṇomi tám brahmā́ ṇam tám ṛṣim tám sumedhā́m. 5.

ahám rudrā́ya dhánur ā́ tanomi brahmadv'iṣe çárave hántavā́ u, aham jánāya samádam kṛṇomy ahám dyā́vāṛpthivī́ ā́ viveça. 6.

ahám suve pitáram asya mūrdhán máma yónir apsu àntáh samudré, táto ví tisthe bhúvanā'nu viçvo'tā́'mū́m dyā́m varṣmáṇo'pah spṛçāmi. 7.

ahám evá vā́ta iva prá vāmy ārábhamāṇā bhúvaṇāni viçvā, paró divā́ pará enā́ pṛthivyāí' tāvati mahinā́ sám babhūva 8.

इ—अगले पन्ने में भू होना और कृ बनाना दो प्रचलित धातुओं के लिए प्रत्येक धातु से उसके सरल क्रियारूप में बनने वाले मान्य सभी प्रकारों और

कालों की सुसंबद्ध रूपतालिका दी जाती है (केवल आत्मनेपदी आशीर्लिङ और यौगिक आत्मनेपदी भविष्यरूप कोष्ठगत किये जाते हैं, क्योंकि ये वास्तविक प्रयोग में नहीं मिलते हैं)। प्रत्येक-स्थिति में क्रिया-संज्ञाओं और विशेषणों में से सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप युक्त किये जाते हैं, केवल ये रूप हैं जिनको प्रत्येक क्रिया प्रक्रिया के अंग के रूप में रखना आवश्यक है।

√(भू) होना	वर्तमान-प्रक्रिया	परोक्ष-प्रक्रिया	लुङ्प्रक्रिया	भविष्य-प्रक्रियाएँ
परस्मैपदी				भविष्यामि भवितास्मि
लट्	भवामि	बभूव		
विधिलिङ्	भवेयम्		भूयासम्	
लोट्	भवानि			
कृदन्तक्रियारूप	भवन्त्	बभूवांस्	अभूवम्	भविष्यन्त्
सागम-भूत	अभवम्			अभविष्यम्
आत्मनेपदी				
लट्	भवे	बभूवे		भविष्ये [भविताहे]
विधिलिङ्	भवेय		(भविषीय)	
लोट्	भवै			
कृदन्तक्रियारूप	भवमान	बभूवान		भविष्यमाण
सागम-भूत	अभवे		अभविषि	

कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप भूत ;—तुमर्थकरूप भवितुम्;—पूर्वकालिक क्रियारूप भूत्वा,—भूय ।

√(कृ) बनाना	वर्तमान-प्रक्रिया	परोक्ष-प्रक्रिया	लुङ्-प्रक्रिया	भविष्य-प्रक्रिया
परस्मैपदी				
लट्	करोमि	चकार		करिष्यामि कर्तास्मि
विधिलिङ्	कुर्याम्		क्रियासम्	
लोट्	करवाणि			
कृदन्तक्रियारूप	कुर्वन्त्	चकृवांस्		करिष्यन्त्
सागमभूत	अकरवम्		अकरिष्यम्	
आत्मनेपदी				
लट्	कुर्वे	चक्रे	[कृषीय]	करिष्ये (कर्ता हे)
विधिलिङ्	कुर्वीय			
लोट्	करवै			
कृद० क्रियारूप	कुर्वाण	चक्राण		करिष्यमाण
सागमभूत	अकुर्वि		अकृषि	

कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप कृत;—तुमर्थक कर्तुम् ;—पूर्वकालिक कृत्वा,—कृत्य ।

संस्कृत अभिसूचक

दोनों अभिसूचकों में प्रसंग परिच्छेदों के होते हैं। प्रस्तुत अभिसूचक में कतिपय संक्षेपण प्रयुक्त हैं; किंतु ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये स्वतः स्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ, 'उच्चा०' उच्चारण है; श्रु० श्रुत्यात्मक रूप या श्रुत्यात्मक संयोजन या संधि संबंधी किसी भी तथ्य का निर्देश है; 'वर्त०' वर्तमान-प्रक्रिया के लिए; 'यङ्' यङन्त हैं; सन्० सन्नन्त हैं; इत्यादि। पूर्व में लगी लघुरेखा (हाइफन -) अंत्य प्रत्यय को द्योतित करती है; जो बाद में युक्त है, वह पूर्व प्रत्यय को।

अस् : तुम्० ९७० अ, ९७१ ।
असंन् , **अंसृज्** : ३९८, ४३२ ।

सामान्य अभिसूचक*

* सुविधार्थ देवनागरी वर्णमाला के क्रम में रखा गया है ।

शब्दावली

Abbreviation	संक्षेपण, संक्षेप
Ablative	अपादान, पंचमी
Ablative Case	पंचमी विभक्ति
Ablaut	अवश्रुति
Absolute	भावलक्षण
Absorption	अन्तर्लयन
Accent	स्वर, स्वरपात, स्वराघात, उदात्त
Accompaniment	सहवर्तिता, सहावस्थान
Accordance	समतुल्यता, संवेधन
Accumulated	प्रचित, संचित
Accusative Case	कर्मकारक द्वितीया विभक्ति
Action noun	भावसंज्ञा, क्रिया-संज्ञा, क्रियार्थ-संज्ञा
Acute	उदात्त
Adjacency	संलग्नता
Adjunct	अनुबंध
Adjustment	समन्वय, समायोजन
Admissibility	प्राप्ति, ग्राह्यता
Adversative	प्रतिकूलसूचक
Affricate	स्पर्श-संघर्षी, अनुघर्षी
Agent noun	कारक-संज्ञा, कर्त्रर्थ-संज्ञा
Allophone	उपस्वन
Alphabet	वर्णमाला
Alterant	परिवर्तक
Analysable	विश्लेषणीय
Analysis	विश्लेषण
Analysed	विश्लिष्ट
Analogy	सादृश्य
Analogical	सादृश्यमूलक

Anaptyxis	विप्रकर्ष, स्वरभक्ति, मध्यस्वरागम
Anomalous	असंगत, प्रतिकूल, नियमविरुद्ध
Aphasis	आदि-लोप
Apical	जिह्वाग्रीय, जिह्वाग्रक
Apostroph	वर्णलोप-चिह्न
Appellation	अभिधान
Appendage	अनुबंध, उपांग
Appendix	परिशिष्ट
Apposition	समानाधिकरण, सन्निधान समानोपाधि
Appositional	समविभक्तिक
Appurtenance	उपबंध
Aspect	परिप्रेक्ष्य, प्रकृति, पक्ष, लक्षण
Aspiration	प्राणत्व
Aspirate (sound)	प्राणध्वनि, महाप्राण-ध्वनि
Assibilation	शर् करण । ऊष्मीकरण
Association	साहचर्य्य, समायोजन
Athematic	अथमैटिक । विकरणहीन
Attributive	अन्यपदार्थक
Attributive compound	बहुव्रीहि
Audible quality	श्रवणीयता
Augment	आगम, योग
Back Vowel	पश्च स्वर
Benedictory	आशीर्लिङ्
Cardinal Vowel	मान-स्वर, मुख्य-स्वर
Cardinal number	शुद्ध संख्या, गण संख्या
Causative	प्रेरणार्थक, णिजन्त
Causes of the desired rule	इष्टसाधन
Circumflex	स्वरित
Classical	क्लासिकल, श्रेण्य
Classification	वर्गीकरण, विभाजन
Closed Vowel	संवृत्त स्वर

Closure	संवार
Coalescence	सम्मिलन, संमेल, सन्धि
Collision	संघटन, संघात
Collocation	संस्थिति
Comparative	तरबर्धक, तुलनात्मक
Compound	सं० समास वि० सामासिक
Conditional	हेतुहेतुमद् । लृङ् ।
Conjugation	धातुरूप । क्रियारूप ।
Conjugational	क्रियारूपात्मक । सार्वधातुक ।
Conjunct	संयुक्त
Conjunction	संयोजक शब्द
Connecting	संयोगी
Consonant	व्यंजन । हल्
Contact	स्पर्श । संपर्क
Contamination	संदूषण । संमिश्रण ।
Contiguous	संलग्न
Continued influence	अनुवृत्ति
Continuity	सातत्य, अत्यंत संयोग
Contraction	संकोचन, संकोच, आकुंचन
Contracted	संकुचित, आकुंचित
Convergent	अभिसारी, एकमुख
Conversion	परिवर्तन, परिणमन
Copulative	समाहार, विधिसंहति
Copulative Compound	द्वन्द्व समास
Cuneiform	बाणमुख
Declinable	सविभक्तिक, रूपयोग्य
Declined	रूपायित, सरूप
Declension	शब्दरूप, विभक्तिरूप
Deducible	निष्पन्न, निगम्य
Defence	वरण, निवारण
Degree	कोटि, श्रेणी
Delimitation	सीमानिर्धारण

Denominative	नामधातु
Derived	व्युत्पन्न, निष्पन्न,प्र त्ययित
Derivation	(१) व्युत्पत्ति (२) प्रत्ययविधान (३) प्रत्यय (४) यौगिक
Desiderative	सन्नन्त
Determinative	निर्धारक
Determinative Compound	निर्धारक समास, तत्पुरुष समास
Deviation	व्यतिक्रम, व्यत्यय
Differentiation	विभेदीकरण
Distinction	वैशिष्ट्य, प्रभेद
Divergentic	अपसरण, भिन्नता
Divergent	अपसारी, भिन्न
Diversity	वैविध्य
Dragging	विकर्पण
Echo-word	अनुरणनमूलक शब्द
Emphasis	प्राबल्य, प्राधान्य
Enclitic	उदात्तविहीन । पूर्वाश्रयी
Ending	(१) अंत, (२) अंतप्रत्यय (३) सुप् (४) तिङ्
Epenthesis	अपनिहिति, मध्यागम
Equality	समता
Equivalence	समतुल्यता, एकरूपता
Equivalent	समतुल्य, एकरूप
Etymology	(१) व्युत्पत्ति, (२) व्युत्पत्तिविमर्श
Euphemism	मंगल-भाषण, शिष्टोक्ति
Euphonic combination	सन्धि; श्रुतिसंयोजन
Euphony	श्रुति, श्रुतिमाधुर्य
Evolution	विकास, प्रक्रिया
Exaggerated Statement	अधिकार्थवचन
Explosion	स्फोट, स्फोटन
Explosive	बहिस्पृष्ट, स्फोटकात्मक
Extension	विस्तरण, विस्तार

Flapped	उत्क्षिप्त
Folk Etymology	लौकिक व्युत्पत्ति, लोकनिरु
Form	(१) रूप, (२) पद, (३) स्वर
Formation	रूपनिर्माण
Formative Element	निर्माणावयव
Frequency	बारम्बारिता; पुनरावर्तन
Frequentative	भृशार्थक, यङन्त
Fricative	संघर्षी, घर्षी
Friction	घर्षण
Front	अग्र
Forntal	अग्रगामी
Full, er,-est	पूर्ण, पूर्णतर, परिपूर्ण या पूर्णतम
Fused	संश्लिष्ट
Gender	लिंग
Genitive	षष्ठी विभक्ति
Gerund	पूर्वकालिक क्रियारूप
Glide	विसर्प, अनुश्रुति
Glottis	श्वासद्वार
Grammar, focal	व्याकरण, व्याकरणिक
Grave accent	अनुदात्त
Groove	संकीर्ण
Half-closed (vowel) -open	अर्धसंवृत्त, अर्ध-विवृत्त
Haplology	समाक्षर लोप
Heavy	गुरु
Hiatus	विसंधि, भंग, प्रगृह्य
Hieroglyphic Script	चित्रलिपि
Hindu	भारतीय
Homonym	समनाम
Homophone	समस्वन
Hybrid word	संकर शब्द
Ideogram	भावलिपि
Illative	अनुमेयार्थक

Imperfect	अनद्यतन, लङ्
Imperative mood	अनुज्ञार्थ (क) प्रकार, लोट्
Impersonal construction	भावे प्रयोग
Implosion	अन्तस्पर्श
Implosive	अन्त:स्पृष्ट
Imposed Property	उपाधि
Incomplete Pronunciation	आवचन
Increment	वृद्धि, विस्तार
Incontiguous	असंलग्न, असन्निहित
Index	अभिसूचक
Indiclinable	निर्विभक्तिक, अव्यय
Indicative	निश्चयार्थक, निर्देशक
Indicative mood	निश्चयार्थक प्रकार, लट्
Indo-European	भारत-यूरोपीय
Infix	मध्य प्रत्यय
Inflexion	रूपविधान
Injunctive (mood)	(१) विधि (प्रकार) (२) निबन्धक (प्रकार)
Insertion	मध्यागम, अन्तर्निवेश
Isogloss	सभाषांश सीमा रेखा
Isomarph	समरूप-सीमा रेखा
Isophone	समस्वन-सीमा रेखा
Issue	प्रकृति, प्रभव
Largngeal	कंठनालीय, काकलकीय
Lengthened	दीर्घीकृत, दीर्घित
Linguistic	भाषावैज्ञानिक, भाषाशास्त्रीय
Living Language	जीवन्त भाषा
Metanalysis	पूर्वेतर विश्लेषण, विषमच्छेद
Metathesis	विपर्यय, विपर्यास
Modulation	आरोह अवरोहजन्य परिवर्तन, मूर्छना, अधिमिश्रण
Monotone	एकतान

Mode, Mood	प्रकार
Mora	मात्रा
Morpheme	रूपिम, पदक
Morphology	रूपतत्त्व, रूपप्रक्रिया
Mute (Stop)	स्पर्श
Multiplet	बहुक
Nasal	नासिक्य, अनुनासिक
Nasalisation	नासिक्यीकरण, अनुनासिकीक
Nasalised	नासिक्यीकृत, अनुनासिकीकृत
Native	देशी
Negation	निषेध
Negative Compound	निषेधार्थक समास, नञ्
Nominal	नामिक
Nominal Phrase	नामिक वाक्यांश
Nominative	प्रथमा
Non-conjugation	आर्धधातुक
Non-pevasion	अव्याप्ति
Number	वचन, संख्या
Numeral	संख्यावाची शब्द
Obligation	आग्रह
Optative	विधि, विधिलिङ्
Ordinal	संख्येय । क्रमसूचक संख्या ।
Origion	प्रकृति । उद्भव
Over pervasion	अतिव्याप्ति
Own	नित्य
Paradigm	रूपतालिका, रूपावलि
Paragraph	पैराग्राफ, कडिका, परिच्छेद
Partitive	विभक्तीय
Passive	कर्मवाच्य, कर्मणि प्रयोग, भाव प्रयोग
Peremptory	अलंघनीय
Perfect	परोक्ष, लिट्

Personal	पुरुषबोधक, पुरुषवाची
Personal Ending	तिङ् प्रत्यय, पुरुषबोधक तिङ् प्रत्यय
Phoneme	ध्वनिक। *स्वनिम।
Phonemics	ध्वनिशास्त्र। *स्वनिम-विज्ञान
Phonology	ध्वनि परिवर्तन। ध्वनिमूलक परिवर्तन
Phonetic Change	ध्वनि-परिवर्तन
Phonogram	ध्वनिलिपि
Pictogram	चित्रलिपि
Plosion	स्फोटन
Plosive	स्पर्श, स्फोट।
Polysemy	अनेकार्थता
Potential	विधिलिङ्
Prefix	पूर्व प्रत्यय
Premitive	आदिम, मूल
Preposition	पूर्वसर्ग
Present	वर्तमान। लट्
Primary	(१) मुख्य (२) कृत् (३) प्रधान
Prolongation	(१) विस्तार (२) दीर्घीकरण
Prothesis-thetic	आदिनिर्हिति, आदिनिहत
Proto	अतिआदिम
Protracted	प्रसृत, प्लुत, विलम्बित
Protraction	प्रसरण, विलम्बन
Quality	गुण
Quantity	मात्रा
Quick	द्रुत, क्षेप्य
Quipu	ग्रन्थ चिह्न
Radical	(१) धातुमूलक (२) धातव (३) धातुज
Recurring	आवर्ती, आवर्तक
Reduplication	अभ्यास, द्वित्व
Re-employment	अन्वादेश

Repetition	आवृत्ति, अभ्यास, पुनरुक्ति
Requisition	अधिग्रहण
Resonance	अनुनाद
Resonant	अनुनादी
Resoration	प्रतिस्थापन
Restored	प्रतिस्थापित
Resultant	परिणामी, परिणमित
Resulting	परिणामिक
Retraction	प्रत्याकर्षण, निवर्तन
Reversion	प्रत्यावर्तन, प्रतिवर्तन
Reverted	प्रत्यावर्तित
Rhotacism	(१) रेफ करण (२) रकारीकरण
Root	(१) धातु, (२) मूल, प्रातिपदिक
Rule	नियम
Semantic	अर्थ मूलक
Semantics	अर्थ विज्ञान
Semasiology	अर्थतत्व आर्थिक
Separation	विश्लेष, पृथक्करण, अपाय
Series	श्रेणी, कोटि
Servile sound	परायत्त ध्वनि
Shift	अन्तरण, विचलन
Sibilant	ऊष्म । सिन् ध्वनि
Simple	(१) सरल (२) शुद्ध (३) एकल
Slit	प्रशस्त
Smooth	मसृण
Sonant	(१) घोष (२) कोमल
Sound	ध्वनि
Spirant	सोष्म । संघर्षी
Spirantisation	संघर्षीकरण
Spread	प्रसृत
Standard	परिनिष्ठित

Standardisation	परिनिष्ठीकरण
Stem	(१) मूल; प्रातिपदिक, प्रकृति (३) शब्द
Stem-form	प्रकृतिरूप, प्रातिपदिकरूप
Strengthening	सबलीकरण
Strengthened	सबलीकृत
Strong (er) (est)	सबल (तर) (तम)
Subjunctive	अभिप्रायार्थ, लेट्
Substitution	आदेश, प्रतिस्थापन
Succession	अनुक्रमण
Suffix	(१) अन्तप्रत्यय (२) प्रत्यय
Superseding	बाधक
Surd	अघोष
Survival	संरक्षण, * अतिजीवता
Syllable	अक्षर
Syllabic	आक्षरिक
Syllabic script	अक्षर-लिपि
Syntax	वाक्य-तत्व । वाक्य रचना
System	(१) प्रक्रिया (२) श्रेणी (३) समुदाय
Tautologons Compound	समार्थक समास
Tendency	प्रवृत्ति
Tense	(१) काल (२) लकार
Thematic	थेमैटिक, सविकरण, विकरणयुक्त
Tone	सुर
Trace	(१) सूचक (२) अवशेष
Transfer	(१) अन्तरण (२) परिवर्तन
Transference	(१) अन्तरण (२) संक्रामण
Transition	संक्रमण
Trilled	कंपित
Trough Shaped	द्रोणिकाकार
Umlant	अभिश्रुति

Uncombined	असंयुक्त, प्रगृह्य, अपृक्त
Union-Vowel	संयोजन-स्वर
Unvarying	अपरिवर्ती
Value	अर्थ, प्रयागिता, तत्व-मूल्य
Verbal affix	तिङन्त प्रत्यय
Verbal noun	धातुज संज्ञा, क्रिया संज्ञा
Vernacular	जनभाषा कथ्य भाषा
Vocable	शब्द
Vocabulary	शब्द-भाण्डार
Voice	(१) स्वर प्रक्रिया, सुर संधान (२) वाच्य (३) पद (आत्मने, परस्मै)
Voiced	घोषीकृत, सघोष
Vowel-harmony	स्वर-संगति, स्वर सामञ्जस्य
Whisperd Vowel	(१) फुसफुस स्वर (२) उपांशु स्वर।